

प्रकाशक – प्रकाशचन्द्र जैन मंत्री – मुनि श्री ज्ञानसागर जैन अन्थमाला

> श्रथम संस्करण प्रति १००० माघ शुक्का ४ बी० नि०२४६४ वि० सं०२०२४ फरवरी १६६≒

> > मूल्य ६) रू०

पुस्तक मिलने का पता -गणेकीलाल स्तनलाल कटास्या कपड़ा बाजार, व्यावर (राजस्थान)

> मुद्रक— श्रीकृष्ण भारद्वाज कृष्णा खार्ट प्रेस, नरसिंह गली, व्यावर (राजस्थान)

#### प्रकाशकीय

थीरोदय को पाठकों के हाथों में देते हुए मुफ्ते अस्थन्त हुएं हो रहा है। ब्रम्थमाला को स्थापित हुए सभी दो वर्ष ही हुए हैं। इस प्रक्त प्रविध में यह तीसरा प्रकाशित हो रहा है।

मुनि थी १०६ जानसागर जो महाराज के इतिस्व धीर व्यक्तित्व का विस्तृत परिचय प्राथ-भाना के अवम पुण स्वीवय की अस्तावना में दिवा मया है। यहां संक्षेत्र में इतना कहता ही उचित है कि आपका जन्म विक तं ० १८ ६ में हुआ। स्वाइाइमहाविद्यालय काशी में निव्य आप किया। धर शाने पर स्थतेन व्यवसाम करते हुए पठन-पाठन करते रहे। विवाह नहीं किया धीर अप्य-निर्माण में संलग्न हुए पठन-पाठन करते रहे। विवाह नहीं किया धीर अप्य-निर्माण में संलग्न रहे। कठस्वक्य थीरोदय और अपोदय को अयोवय को महाकाव्यों का संस्कृत माया में निर्माण किया। इनके प्रतिरक्त स्थाम २० प्रत्य ग्रन्थों की भी संस्कृत और हिन्दों में रचना की। विश्वे कर प्रतिरक्त स्थाम २० प्रत्य ग्रन्थों की भी संस्कृत और हिन्दों में रचना की। विश्वे कर प्रतिरक्त स्थाम २० प्रत्य ग्रन्थों की भी संस्कृत और हिन्दों में रचना की। विश्वे कर प्रतिरक्त स्थाम विश्वे कर प्रतिरक्ति स्थाम विश्वे का स्थाम की। विश्वे स्थान की। विश्वे स्थाम स्

जन्य-माला संग्रंथों के प्रकाशनार्थ संग-संवालक श्री-१०६ शुल्लक सन्मतिसायर जो का पूर्ण साहास्य प्रात है। उनकी ही प्रदेशन से वार्थिक सहायता श्राप्त होती रहती है। इसके लिए हम उनके बहुत प्रामारी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन भी पं॰ हीराञ्चलजी सिद्धान्तशास्त्री ने किया है। प्रस्तावना में जिन विषयों को चर्चा की गई है, उससे पाठकों को धनेक नवीन वातों का परिज्ञान होगा। ग्रन्थमाला इसके लिए पंडितजी

को ग्रामार्ग है। कृत्वा पाट प्रेस के मानिक, व्यवस्थापक घोर कार्यकर्ताओं का पत्य मुद्रण-काल में मोजन्य-पूर्ण व्यवहार रहा है, इसके लिए उन्हें घ-यवार है। व्यावस

x-7-885= . .

संत्री-श्री ज्ञानसागर प्रन्यमाला

भव महाबीर के चरित्र का आथम लेकर मुनि श्री ने इस काश्य की रमना की है जिस पर 'आमुक्तम्' धीर प्रस्तायना में पर्याप्त प्रकाश बाला गया है। मुनि कीन ही दसकी प्रांती भाषा में विस्तृत हिन्दी व्याख्या भी लिखी

है हमने उसका मंखित्त नया रूपान्तर मात्र किया है।

प्रस्तावना सिखते समय यह उचित छमझा गया कि उपलब्ध दि० और वेट प्रत्यों को म॰ महाबीर से सम्बन्धित सभी आवश्यक सामग्री भी संक्षेप में दे दी जाय । अतः मुख्य मुख्य बातों में मत-भेड-सम्बन्धी सभी जानकारी प्रस्तावना में दी गई है। यर महावीर के विविध चरित्र जो संस्कृत, प्राकृत अपभास और हिन्दी में पनेक विद्वानों ने लिले हैं भीर जिनके निकट भविष्य में प्रकाशन की कोई जाशा नहीं है उनकी भी धनेक आतब्य बातों का संबद्धत प्रस्तावना में किया गया है। कुछ विद्याब्द सामग्री तो विस्तार के साथ दो वर्ष है जिससे कि विज्ञासु पाठकों को सर्व आयक्यक जानकारी एक साथ प्राप्त हो सके। प्राणा है हमारा यह प्रयास पाठकों को कवि-कर एवं ज्ञान-वर्षक विद्व होगा।

इवे० आगम-वणित स्वलोंके परामर्थ में हमारे स्नेही नित्र श्री पं• कोभाचन्द्रजी भाग्तिल से पर्णाप्त सहयोग मिला है, श्री पं र रघुव स्दत्तजी शास्त्री ने हमारे अनुरोध पर पामुखम् लिखने ली कृपा की है, श्री जैन सांसला लायहेरो के व्यवस्थापक की सुजानमलकी गेठिया से समय-समय पर आवस्यक पुस्तकें पान्त होती रही है। ऐ॰ पन्नालाल दि॰ जैन सरस्वती भदन के ब्रत्यों का सन्यायन और प्रस्तावना-लेखन में भर पूर उपयोग किया है, श्री पं व महेन्द्रकमारणी पाटनी किशनगढ़ ने युद्धि पत्र तैयार करके गेजा है और ग्रन्थमाला के मंत्री भी पंठ प्रशासकत्री का अदैव सद्भाव सुलस

रहा है। इसलिए में इन सदका आभारी हैं।

मुद्रण-काल के बीच-बीच में मेरे वाहिर रहने से तथा दृष्टि-दीप से रह गई अमुद्धियों के लिए मुक्ते लेद है। पाठकों से निवेदन है कि वे पढ़ने से पूर्व खुदिपत्र से पाठ का संशोधन कर लेवें।

-हीराछाछ सिद्धान्त शास्त्री एै पन्नालाल दि॰ जैन सरस्वती भवन,

## याम्यम

मया कविवर्य-श्री १०८ श्रीमुनिज्ञानसागरमहार।ज्ञ-विरिचत द्वाविकतिसगीरमकं 'वीरोदय' नाम महाकाव्यमयछोकितम्। तेन मे मनसि महान् सम्मदः समजनि । यतः प्राकाछिक-कविवर-काछिदास-सारवि-माघ-श्रीहर्षादिशियनेकानि काव्य-नाटकदीनि विरचितानि सन्ति, किन्तु तद्वनन्तरं कश्चिदपि कविरेताहक् सक्छगुणाछङ्कारभृषितं सहाकात्र्यमरीरवदिति च मे दिष्टपथं समायाति । पतादशाङ् नमहा-काञ्यप्रणेतारः श्रीमुनिवस्याः समस्तसंस्कृतविचक्षणानां चन्यवादाद्दी इति निश्चप्रचम्।

निविद्यसभावगुणाळहाराळक् इतमेतन्महाकाव्यं कुण्डितनगर-वास्तव्य - क्षत्रियन्पमुकुटमणि - श्रीसिद्धार्थराजकुमारं श्रीमहावीरं नायकीकृत्य संप्रथितं विद्वत्तल्छजेः श्रीकविकुलालह्वारभूतेम् निवर्यः। अयमेव श्रीमहाबीरः स्वीयाद्भुतवेरास्यशमद्मादितपोवलेन जनसमाजे चटविंज्ञतीर्थहरत्वमळभत । अयमेवास्य महाकाव्यस्य धीरोदासः द्यावीरः, धर्मवीरश्च नायकायते । 'सर्शवन्धो' महाकाव्यम्' इत्यमि-युक्तोत्तया महाकाव्यस्यालिललक्षणानि प्रन्थेऽस्मिन् वरीयर्वन्ते

अस्यानुशीलतेन अस्यकर्तुः प्रगत्भपाणिहरयं कविस्वकृत्तिस्य स्पष्टमनुमीयते । एतद्ध्ययनेन प्राच्यकस्योऽप्येतृणां स्पृतिपश्यमा-यान्ति । तथाहि - एटावान् प्रीटपाविडल्यसम्पन्नोऽपि कविः प्रथमसर्गस्य सप्तमे पर्ये - 'बीरोद्यं यं विद्वातुमेव न शक्तिमाम् भीगणगाजदेवः' इति वर्णयन् स्वीयविनीततामाविष्करोति । अनेन 'क सूर्यप्रभवो वंशः क चाल्पविषया मति: इति निगद्म कालिदासः सायते ।

शान्तरसप्रधानसपीदं सहाकाव्यं प्रायोऽनेकरसभामावगुणाल-द्वारान् विभर्ति । नायकजन्मसमये श्रीदेशीनामागमनं, तासां मातृपरि-

( \$ )

चर्या. रस्तवृष्टिः, इन्द्रादिसुरगणानुष्टितः प्रजुरमोदभारभासुरो महाभिषेक-इत्यादि वर्णनानि नायकस्य सर्वेश्वर्यसम्पन्नस्वमाधिद्विक-वैभवष्य प्रकटयस्ति । द्वितीयसर्गे जन्मुद्वीपादिवर्णनं श्रीहर्षस्य विदर्भ-नगरवर्णनं स्मारयति । एवमेव कविना महाकाव्येऽस्मिन्न।यकजीवन-चरितं वर्णयता स्वाने स्थाने कविसस्प्रदायानुसारं नगरवर्णन, ऋतुव-र्णन, सन्ध्यावर्णनिस्यादि सुललितगीर्वाणवाएय। सन्निबर्खं कस्य काव्यकलारमिकसहद्यस्य मानमं नाहाद्यति ।

नैपचीयचरिते यथा श्रीहर्षमहाकविना प्रतिसर्गान्तं तत्तरसर्गविषय-वर्णत-पुरस्तरं स्वीयप्रशस्तिपद्यमुदृष्ट्रितं तथैवास्मिन् महाकाव्येऽपि महाकविम्निवरुये: सन्दृब्धम् । तथा तृतीयसर्गस्य ३० तमे पर्श महाकवे:, 'अधीतिबोधावरणप्रचारं:' इति वर्णनं नैपधीयचरित्रस्य प्रवसमर्गे चतुर्वपद्ये 'ऋबीतिबोधाचरणप्रचारणदंशाहचतस्त्रः प्रणयन्न -पाधिभिः? इति समारयति ।

एवमेव द्वितीयसर्गे जम्बृद्वीपवर्णने, 'हिमालयोल्लासिगुणः स एप द्वीपाधिपस्येव धनुविशेषः' एतरपणं महाकविश्रीकालिदासविर-चित-कृपारसन्भवीयमः 'अस्यूचरस्यां दिशि देवतास्मा हिमालयो नाम नगः विराजः' इति पद्यं समृतिविषयीकरोति । तथापि तद्पेक्षयाऽत्रा स्ति कश्विद्दिशेषः । तथाहि – श्रीकालिदासेन तु केवलं पूर्वापरसमुद्रा-बगाही हिमालयः पृथिव्या मानद्ग्रहरूपेणेबोत्प्रेक्षितः । किन्तु महाका-व्येऽस्मिन् मुनिवर्यीवॅरोपाभित्रायेण हिमालयो धनुगुणस्पेण वर्णितः। नागर एव तस्य वंश-दरदः । इत्यमेतद् भारतवर्षे जन्मृदीपे धनूरूपं विज्ञेयमिति नेपामभित्रायः। श्रातेनास्य देशस्य विशिष्टश्चात्रशीर्यसम्पन्नत्वं प्रतीयते । खतएवास्थित्रे व देशे वृषभादि-वीरान्ततीर्थहुरादिसदृशा छोकोत्तरा महायोगाः पुरुपपुङ्गवाः समजायन्त, सञ्जायन्ते, सञ्जनि-ष्यन्ते चेति प्रतीयमानार्थः सहद्वयंगन्भाव्यते ।

इत्थमव महिकाब्ये ४६ तमे पद्ये यथा श्रीमहिकविना, धन

तब्द्रेख यस सुचारप हुजम्' इत्यादि प्रयमेकावल्यस्ट्राशस्त्रकृतं केवस् प्राकृतिकसौरत्यवर्णनमात्रमुहिश्य सरिनवद्धं । तथवात्र महाजाव्ये द्वितीयसर्गस्य रेम तमे पर्य ऽपि महामुनिभिः, 'नासी नरो या न विभाति भोगी' इत्यादि वर्णितम्। परमेतदार्मिकभावनाभावितमा-किलिमित्यपि प्रेक्षावतामद्भुतचमत्कारकरं प्रतीयते।

अस्य महाकाव्यस्य तृतीयसर्गे ३८ तमे श्लोके 'प्रवालता मुख्येवरे करे च, मुखंडव्जताडस्याश्चरणे गले च। सुवृत्तता जातुवरे चरित्रे रसाळताऽभूतकुचयोः कटित्रे ॥' इत्यत्र प्रवालता, अवजता, सपृचता, रसाळतापरेषु विचक्षणरलेषचमस्कारः कस्य काञ्यकलाकोविदस्य हृद्यं न चमरकरोति ।

अस्येव तुनीयसर्गे २६ तसे पद्ये, 'पूर्व' विनिर्माय विश्व' विशेष-यत्नाद्विधिरतस्म वमेवमेव ' इत्यादिवर्णनं कुमारसम्भवे महाकवि-कालिदासस्य 'शेषाङ्गनिर्माणविधी विधातुरुविरय उत्पादा इदास यस्तः। दित पार्वतीरूपवर्णनिमव सहद्यहृद्यान्याहाद्यतितराम्।

एवसेवास्य चतुर्थसर्गे वर्षावर्णने वर्षतों रसायनाधीश्वरादिसा-रूप्ये रिल्प्टोरप्रकाल द्वार चमस्कारः श्रीमहाकवे-मांघस्य वर्षावर्णनमध्यति-क्राम्यति । इत्यमेव पष्टमर्गे, 'निह् पळाशतरोर्म् कुळोड्गतिर्वनभुवां नखरञ्जनसन्तिः' इति वर्णन कालिदासीयकुमारसम्भव-वसन्तवर्ण-नमि विभाति । किञ्ज माधस्य 'नवपळाशपळाशवनं पुरः' इत्यपि स्मा-रयति ।

एवमेवामे कवे: शिशिरत् वर्णनमपि विविधालंकारसमन्वितं पाठकाननुरबज्यति । संसारभोगभंगुरतामवलोक्य तथाऽज्ञानतिमि-राच्छन्नस्य मानवसमाजस्य दुष्कृत्यजनितभूरिदुःखान्यालक्ष्य सञ्जात-वराग्येण नायकेन पित्कृतं परिणयाम्रहं विविधयुक्तिभिः प्रत्याख्याप स्वीयलोकोत्तरमहामानवतापद्शेनमतीय हृद्यहारि शिक्षापद्योति नात्र सन्देहतेशः।

खस्याध्ययतेनेद्रमणि जायते यत्तिस्मित्ताले देशेऽस्मित् धृत्याजि-क्येबोपु स्वाविक्यवं प्रवृता पश्चित्रसाऽकियतः । तद्यश्चेक्य नायवस्य चेनामि महह् स्वामभूतः । एवद्य तदा समाजेऽनेकेऽनाचारा कृतिन्यस्य प्रचलिता आसम्। तेनापि द्याद्रहृद्यस्य नायनस्य प्रम-कारूष्य-पूरपृरिवेऽन्तःकरणे स्वभोगसुखापेक्षया सामाजिकोद्धारः समुचिनोऽन्त्रभूयतः । एतद्यमेव महामनस्यी परमद्यालुनोयकः श्लोकोद्धारचिकपर्या सक्छराजपुत्रोपभोगसामग्री विहाय परमक्ष्य-साध्यां श्रमद्मातिसहितां प्रवस्थामक्रीचकारः । प्रवस्य कैनल्यं प्राप्त च सर्व जीवेभ्यो वर्मोगदेशं विधाय समाजस्य विशेषतोऽ-हिसामयारस्य सहदम्यद्यमनुष्ठितवान् ।

इत्यं महाकवेरस्य विविधरप्रभावगुणालंकारालंकुता कविता कस्य सहदयस्य मानसं न हरति । विशेषतः समस्तेऽपि काव्येऽन्त्यानु-

प्राप्तस्तु प्रत्यकत्र रद्भुतं वैद्रुष्यमाविष्कुरुते ।

प्रवासहाक्षतिभम् तिवर्षे व्यक्तिम् सहाकाव्ये गोसूत्रिकारि-विश्वक्षत्रकार्व्यक्रलायां अपि वसस्कारं कतिएय-पद्योषु संप्रदक्षितः । तबाहि—काव्यकास्थान्तिमे सर्वे 'रमयन् गमयस्येष' इत्यादि सप्तितं-शतमे पद्ये गोसूत्रिकायक्षरचना, 'त सनोद्यामि देवेभ्योऽहृद्भ्य' इत्याद्यव्यक्तिमे पद्ये प्रवादक्षरचना, 'पिनयेत मानहीनं' इत्या-वो कोनिर्विक्तिमे पद्ये प्रवादक्षरचना, 'पर्नन सदा समा भारित' इत्यादिक्त्यां : इसे पद्ये च तालद्रस्तप्रधन्ना कस्य सहद्रयस्य विक्ते नाह्यद्येत् । बनेनापि क्षित्वनेपुत्येन सुनिवर्याणामद्रभुतं महाक्षर्वत्याविभवति । यता हि एनादशाद्रभुत-चित्रवत्याव्यक्त्यक्ष्याव्यक्ति। यता हि एनादशाद्रभुत-चित्रवत्याव्यक्ति। स्वित्रविक्ति। स्वाक्ति । स्वाक

अत्यव वयमताहज्ञमहाकाटयस्वियक्षया महाकविश्रीमुनिध्वेषयो वयोपनं वितरत्वस्वामुन्तरोत्तराभिद्वस्य परमास्मानं प्रार्थयामः।

वसंत प्रवर्ग २०२५

रचुवरदत्तशास्त्री, साहित्याचार्य।

## प्रस्तावना

कविता का जनता के हृद्य पर जैसा चमत्कारी प्रभाव पड़ता है, वैसा सामान्य वाणी का नहीं। कविता एक चिन्न-चमत्कारी बस्तु है जो ओताओं के हृद्यों में एक अनिवैचनीय आनन्द उत्पन्न करती है। साधारण मनुष्य अधिक समय तक बोलने पर भी अपने भाव को स्पष्ट रूप से अभिन्यक नहीं कर पाता। परन्तु कवि उसे अपनी सरस कविता के द्वारा अल्प समय में ही अपने मनोगत भाव को स्पष्ट रूप से अभिन्यक कर देता है।

कविता करने की और अपने भावों को सुरदर शब्दों में अभिवयक्त करने की कला हर एक मतुष्य में नहीं होती। जिसे पूर्व भव के संस्कारों से जन्म-जात प्रतिभा प्राप्त होती है और जो इस जन्म में व्याकश्य, साहित्य आदि शान्त्रों का अध्ययन करके व्युत्पत्ति प्राप्त करता है, ऐसा व्यक्ति ही कविता करने में सफल होता है। यही कारण है कि विद्वानों ने किंव का लक्षण "प्रतिभा-व्युत्पत्तिमांश्र कवि:" इन शब्दों में किया है।

साहित्यदर्पण-कारने 'रसात्मक वाक्य' को काव्य कहा है'। इसी का स्पष्टीकरण करते हुए अलङ्कारचिन्तामणि-कार कहते हैं कि जो वाक्य शब्दालङ्कार और अवीलङ्कार से युक्त हों, नी रसों से समन्वित हों, रीति, भाव आदि से अभिराम हों, व्यंग्य आदि के द्वारा अभिश्यक कथन करने वाले हों, दोप-रहित और गुण-समूह से संयुक्त हों नेता या कथा-नाथक का उत्तम चरित्र वर्णन करने वाले हों और दोनों लोकों में उपकारक हों, वे ही वाक्य काव्य कहलाने

१. वावयं रसात्मकं काव्यम् । (साहित्यदपंश १,३)

( 90 )

के दोख हैं और ऐसे काव्य मय प्रवस्थ का रचयिता ही कवि कहा जाता है।

काव्य के पठन पाठन से न केवल जन सनर जन ही होता है, अपित उससे धर्म-जिवासुखों को धार्मिक, नितक, दार्शनिक बान का किसण, कावर जनों को साहस, बीर जनों को उत्साह, तथा शोक-सन्तप्त जनों को डाडस खौर धर्य प्राप्त होता है। धर्मशास्त्र तो कड़वी औषवि के समान अविद्या रूप व्याधि का नाशक है, किन्तु वाव्य आव्हाद-जनक असृत के समान अविदेक रूप रोग का अपहारक हैं?।

काव्य साहित्य समैक विद्वार्तों ने काव्य-रचना के छिए आव-रवक सामग्री का निर्देश करते हुए बतछाया है कि काव्य-कथा का नायक धीरोदात्त हो, कथा-वस्तु चामस्कारिक हो उसमें यथा स्वान पट् ऋतुर्को एवं नव रसों का वर्णन किया गया हो और बह नाना अछहारों से अछङ्कत हो।

इस भूभिना के आधार पर हम देखते हैं कि वीरोदय-कार ले भ॰ महाबीर जैसे सर्वश्रेटठ महापुरुष को अपनी कथा का नायक

 सब्दायां अंकृतीद्धं तव सक्तिक्ति रीतिभावा भिरामं, व्यक्ष्माययं विद्यागं गुलगणकालतं तेतृ सद्धणैता द्वपम्। वोक्टब्दोपकारि स्कृतीयत तत्तु तस्काव्यमस्यं मुखार्थी नाताशास्त्रवद्योगः कदिरतुष्यतिः पुष्पसम्गिरेतृतुम्।।

(अलन्तारचित्तामणि १,७)

२, कदकीपधवच्छास्त्रमविद्याच्याधिनाद्यनम् । आल्ह्यचमृतवल्काच्यमविदेकगदापहम् ॥

(बकोक्ति जीवित)

(88)

चुना है, जिनका चित्र उत्तरोत्तर चमस्कारी है। कवि ने यथा स्थान सर्व खतुष्यों का वर्णन किया है, तथा करण खहार खीर शास्त रस का सुख्यता से प्रतिपादन किया है। वस्तुत: ये तीन रस ही नव रसों में श्रेष्ट माने गये हैं।

दश सर्गों से श्रिथिक सर्गवाले काव्य को महाकाव्य कहा जाता हैं। महाकाव्य के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक सर्ग के श्रम्त में कुछ पद्म विभिन्न छन्दों के हों श्रीर यथास्थान, देश, नगर, प्राप्त, उद्यान, बाजार, राजा, रानी चेत्रादिक का लिलन पद्मों में वर्णन किया गया हो। इस परिवेक्ष्य में भीरोदय' एक महाकाव्य सिद्ध होता है।

काञ्य शास्त्र में खलङ्कार के दो भेद माने तये हैं—श्रादा-लङ्कार और खर्यालङ्कार । प्रस्तुत काञ्य प्रायः सर्वत्र तुकास्त पद-वित्याम होने से खन्य खनुशासालङ्कार से ख्रोत-प्रोत हैं । संस्कृत काञ्यों में इस प्रकार की तुकास्त रचना वाली बहुत कम कृतियां मिलती हैं। वीरोदय-कार की यह विशेषता उनके द्वारा रचे गये प्रायः सभी काञ्यों में पाई जाती हैं। यसक भी यथा स्थान दृष्टिगोचर होता है। अर्थालङ्कार के ख्रतेक भेद-प्रभेद साहित्यवर्षणादि में वत-लाये गये हैं। वीरोदय-कार ने रलेप, उपमा, उत्पेक्षा, बक्कोक्क, खपड़ ति, परिसंख्या, भालेपमा, खप्योक्क, समामोक्कि खित-श्रेयोक्कि, खितदेश, समन्वय, रूपक दृष्टास्त, व्यावस्तुति, सन्देह, विराधोभास, भान्तिमदादि खनेक खर्यालङ्कारों के द्वारा खपने काञ्य को खलङ्कत किया है।

इस फाट्य के चीचे समें में वर्षा खतु, छूठे समें में वसन्त खतु, बारहवें समें में श्रीप्त खतु ख़ौर इक्कीसवें समें में शरद खतुका बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है, जो कि किसी भी शसिख महाकाव्य के समकक्ष ही नहीं, बन्कि कुछ स्वलों पर तो उनसे भी श्रेष्ठ है। समै प्रवम कीर नवस में करण रस, दशम और एकादश सर्ग में शान्त रस, तथा प्रवम और इकासबें सर्ग में शृह्वार रस दृष्टिगोचर होता है।

प्रस्तुत काव्य में उर्दू - कारसी के भी सेवा, भीर, अभीर, नेक, मौका खादि कुछ शब्द दिख्योचर होते हैं। उनमें से कुछ शब्दों की तो टीका में निरुक्त देकर उन्हें संस्कृत रूप दे दिया गया है और कुछ शब्द अधिक प्रचलित होने के कारण स्वीकार कर लिए गये हैं, इस प्रकार किन ने संस्कृत भाषा को खाँर भी समृद्ध करने का मार्ग-वर्शन किया है।

प्रारम्भ के छह सर्ग कुछ किण्ट हैं, अतः विद्यार्थियों और जिज्ञासुओं के सुखाववीधार्य वीरोदय-कार ने स्वयं ही उनकी संस्कृत टीका भी लिख दी है, जो कि परिशिष्ट के प्रारम्भ में दे दी गई है। टीका में रखोक गत खोप आदि का श्वर्य तो ज्यक्त किया ही गया है. साथ ही कहां कीनसा अलङ्कार है, यह भी बता दिया गया है।

प्रस्तुत रचना का जब विद्वान् लोग तुलनात्मक द्राध्ययन करेंगे तो क्लें यह सहज में ही ज्ञात हो जायगा कि इस रचना पर धर्म-समांध्युदय, चन्द्रप्रभ वरिन, मुनिसुत्रत काव्य खोर नीयघ काव्य खादि का प्रमाव है। फिर भी वीरोदय की रचना खपना स्वतन्त्र और मौजिक स्वान रखती है।

इस प्रकार यह बीरोदय एक सहाकाव्य तो है ही। पर इसके भीतर जैन इतिहास और पुरातक्ष वा भी दर्शन होता है, अतः इसे इतिहास और पुराण भी कह सकते हैं। अर्भ के स्वस्थ का

( 38 )

चौथे सर्ग में महारानी विश्वखा देवी को दिखें सोळह स्वप्न और उनके कल का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है, जिससे तीर्थ कर के बन्म की महता चित्र में सहज ही खंकित हो जाती है।

तीर्थंकर के गर्भ में जाने पर कुमारिका देवियों किस प्रकार कनकी माता की सेवा-टहल करती हैं और कैसे कैसे पश्न प्रक्र कर इनका मनोरंजन और अपने ज्ञान का संवर्धन करती हैं, यह बात पांचवें सर्ग में बड़ी अपनी रीति से प्रकट की गई है।

छठे सर्ग में त्रिशला देवी के गर्भ-कालिक दशा के वर्णन के साथ ही कवि ने वसन्त श्रुतु का ऐसा सुन्दर वर्णन किया है कि जिस से उसके श्रुतुराज होने में कोई सन्देह नहीं रहता।

साववें सर्ग में भ० महाधीर के जन्माभिषेक के लिए आने बाले देव और इन्हादिक का तो सुन्दर वर्णन है ही, कवि ने दाची इन्हाणी के कार्यों का, तथा सुमेक पर्वत और श्लीर सागर आदि का बो सजीव वर्णन किया है, वह तात्कालिक हरयों को आंखों के सन्युख उपस्थित कर देता है।

आठवें सर्ग में महाबीर की बाल-लीलाओं और कुमार-कीडाओं का वर्णन करते हुए उनके मानस पटल पर अभरने वाले उच्च विचारों का कबि ने बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। इसी सर्ग में महाराज सिद्धार्थ के द्वारा विवाह का प्रशाब उपस्थित किये जाने पर जिन सुन्दर और सुदद युक्तियों के द्वारा भगवान महाबीर ने उसे असीकार किया है, उससे उनकी जन्म-जात लोकोद्धारक मनोष्ट्रिश का अच्छा परिचय ग्राप्त होता है।

इसमें बतलाया गया है कि संसार के जितने भी बन्धन हैं, वे

वर्णन होने से यह धर्मशास्त्र भी हैं, तथा स्थादाद, सर्वव्रता और अनेकान्तवाद का वर्णन होने से यह न्याय-शास्त्र भी हैं । अनेकी शब्दों का संबद्ध होने से यह शब्द-कोप भी हैं ।

संक्षेप में कहा जाय तो इस एक काव्य के पढ़ने पर ही भक्त महावीर के चरित के साथ ही जैन धर्म और जैन दर्शन का भी परिचय प्राप्त होगा और काव्य-सुधा का पान तो सहज में होगा ही। इसीलिए कवि ने स्वयं ही काव्य को 'त्रिविष्टप' काव्यस्पेम्यहंन्दु' कहकर (सर्ग १ रलीं) २३) साक्षान् स्वर्ग माना है।

## वीरोदय काव्य की कुछ विशेषताएं

काव्य-माहित्य की दृष्टि से ऊपर इस प्रस्तुत काव्य की महत्ता पर कुछ प्रकाश हाला गया हैं। यहां उसकी कुछ ध्वन्य विशेष-ताओं का उल्लेख किया जाता है, जिससे पाठकगण इसके महत्त्व को पूर्ण रूप से समझ सकेंगे। प्रथम सर्ग में खो० ३० से लेकर ३६ तक काव्य-रचिता ने भ० महावीर के जन्म होने से पूर्व के भारत वर्ष की धार्मिक और सामाजिक दुर्दशा का जो चित्र अंकित किया है, वह पठनीय है।

पूर्वकाळ में देश, नगर और श्राम आदिक कैसे होते थे, वहां के मागे और वाजार कैसे सजे रहते थे, इसका सुन्दर वर्णन दूसरे सर्गं,में किया गया है।

राजा सिद्धार्थ और महारानी त्रिशला ट्रेबी के रूप में कवि ने एक आदर्श राजा-रानी का स्वरूप तीसरे सर्ग में वतलाया है।

( 54 )

सब की के बस्यत से उरपल होते हैं। जी के निर्मात से इन्टियां
अमत होती हैं, मतुष्य की खालें मदा की के रूप देखने को उत्मुक
वर्ती रहती हैं। उसे असल रखने के लिए वह सदा उपटन, तेलफुलेलादि से अपने घरोर को सजाता-संवारता रहता है और घरीरपीपण के लिए वाजी करण जीपायों का निरम्य उपयोग करता है।
किये अन महावीर के मुख ने कहलाते हैं कि जो डिन्ट्यों का दास
है, वह समस्त जमत जा दास हैं। अस : इन इन्ट्रियों को जीत करके
हैं। सदाय जागजेता बन सकता है।

इस्हुपकार खपना अभित्राय प्रकट कर उन्होंने पिता से अपने आजीवन अविवाहित रहने की ही बात नहीं कहीं. प्रस्युत सर्विष्य में अपने द्वारा किये जाने वाले कार्यों की खोर भी संकेत कर दिया। यह सारा वर्णन बड़ा ही हदयस्पर्झी हैं।

विवाह का प्रस्ताव आसीकार कर देने के पश्चान अर महावीर के हृद्य में जारकानों की तारकालिक स्थिति को देखकर जो विचार अरवज होते हैं, ये वहे ही मार्मिक एवं हृदय-दावक हैं।

भगवान संसार की स्वार्थ-परता को देखकर विचारते हैं—श्रहों ये संसारी छोग कितने स्वार्थी हैं ? वे सोचने हैं कि मैं ही सुसी रहूँ. भने ही दूसरा दु:ख-कूप में गिरता है, तो गिरे। हमें उससे क्या प्रयोजन है,?

छोगों की मांस खाने की दुष्प्रवृत्ति को देखकर महावीर विचा-रते हैं - आज छोग दूसरे के खुन से खपनी प्यास अक्षाना चाहते हैं, और दूसरों का मांस खाकर खपनी भूख शान्त करना चाहते हैं। खरो यह कितनी द्यानीय स्थिति है। इंबी-रेबताकों के ऊपर की जाने वाली पशु-विल की देखकर मगवान विचारते हैं—'कहो, जगदम्बा कहलाने वाली साता ही बढ़ि क्यने पुत्रों के खून की प्यासी हो जाय, तो समझो कि सूर्य का बहुव ही रात्रि में होने लगा।'

"श्रहो, यह देवतास्त्रळी तो कि देव-सन्दिरों की पावन भूमि कहळाती है, वह पशु-विक्ष होने से कसाई-घर बनकर असस्त्रळी हो रही है ? डोग पशुओं को सारकर और उनके मांस को खा-खाकर अपने पेट को किस्तान बना रहे हैं।"

इस प्रकार के अनेक दारण उपयों का चित्रण करके किये ने नवें सर्ग में बड़ा ही कारुणिक, मर्मस्पर्शी एवं उद्बोधक वर्णन किया है।

जगन् की विकट परिस्थितियों को देखते हुए महाबीर की बेरान्य भावनाएं उत्तरोत्तर बहुनी जाती हैं और अन्त में एक दिन वे भरी जवानी में घर बार छोड़कर और वन में जाकर अञ्जीतत हो जाते हैं और सिंह के समान एकाओ इस मूनल पर विहार करते हुए विचरने टगते हैं। उनके इस उद्याव्य कालिक विहार के समय की किसी भी परीपह और उपमर्ग हर चटना का अधिए किसी के कोई उन्लेख नहीं किया है, नवापि इतना स्पष्ट स्प से कहा है कि भी रामु के इस तपरचरण काल में ऐसे अनेक प्रसंग आये हैं, कि जिनको कथा भी भीर और जनों के रोगटे खड़े कर देती है। "इस प्रसंग्हों और उपसर्गों का विगत बार वर्णन दिए और रवें आयों के आपने से आपों किया गया है। इस प्रहार दसवें सर्ग में में ममहाबीर की आन्तरिक भावनाओं का बहुत सुप्तर वर्णन कि की की से किसी है।

स्वारहवें सम में कि ने एक अनुपम है। से अ० महावीर के पूर्व भवों का वर्णन किया है। सगवान ध्यानावश्या में ही अवधिज्ञान से अपने पूर्व भवों को देखते हैं और विचार करते हैं कि हाय,
हाय है जाज सतार में जो मिण्या ध्यानार देख रहा है, उनका में ही
वो कुवीजमूत हैं, क्योंकि पूर्व भवों में मैंने ही मिण्या मार्ग का
प्रवार एवं प्रसार किया है। वे ही मत-पतान्तर धाज नाना प्रकार
के आसदाचारों के रूप में बुझ धन कर कल फूल रहे हैं। इसकिए,
जगत की विकित्सा करने के पहिले मुझे अपनी ही चिकित्सा करनी
चाहिए। जब तक में स्वयं छुद्ध (नीरोग एवं नीराग) न हो जाऊं,
नव तक दूसरों की चिकित्सा करना कैसे उचित मानी जा सकती
है। इसलिए मुक्ते बाहिरी परिम्रहादि से और धान्तरिक मद-मत्सरादि दुर्मावों से खमहयोग करना ही चाहिए। भगवान विचारते
हैं कि मुक्ते स्वयः अर्थात् आसीय स्वरूप की शांति के छिए परजनों से खमहयोग ही नहीं, बिक्त दुर्मावों का बहिरकार भी करना
चाहिए, तभी मेरा स्व-राज्य-प्राप्ति के लिए किया गया यह सत्वाप्रह
सफल होगा।

यहां यह उल्लेखनीय है कि जब कि अपने इस काव्य की रचना कर रहे थे, उस समय महात्मा गांधी ने स्वराध्य प्राप्ति के छिए सत्यामह संजाम और असहयोग आत्रोळन छेड़ा हुआ बा उससे प्रभावित होकर किन ने उसका उपयोग अध्यात्म रूप स्वराध्य प्राप्ति के छिए किया है।

भः महाबीर के पूर्व भवों की विस्तृत चर्चा इसी प्रस्तावना में आगे की गई है।

बारहवें सर्ग में कवि ने भीष्म ऋतु का विस्तार से वर्णन करते हुए बनलाया कि जब सारा संसार सूर्य की गर्मी से बस्त होकर

(88)

चौथे सर्ग में महारानी त्रिशला देवी को दिखे सोलह स्वप्न और उनके फल का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है, जिससे नीथं कर के जन्म की महता चित्त में सहज ही अंकित हो जाती है।

तीर्थंकर के गर्भ में आने पर कुमारिका देवियां किस प्रकार उनकी माता की सेवा-टहल करती हैं और कैसे कैसे प्रश्न पूछ कर उनका मनोरंजन और अपने ज्ञान का संवर्धन करती हैं, यह बात पांचवें सर्ग में बड़ी अच्छी रीति से प्रकट की गई है।

छठे सर्ग में त्रिशला देवी के गर्भ-कालिक दशा के वर्णन के साथ ही कवि ने वसन्त ऋतु का ऐसा सुन्दर वर्णन किया है कि जिस से उसके ऋतुराज होने में कोई सन्देह नहीं रहता।

सातवें सर्ग में भ० महाबीर के जन्माभिषेक के लिए आने बाले देव और इन्द्रादिक का तो सुन्दर वर्णन है ही, किव ने झाची इन्द्राणी के कार्यों का, तथा सुसेरु पर्वत और श्लीर सागर आदि का जो सजीव वर्णन किया है, वह तात्कालिक दृश्यों को आंखों के सम्मुख उपस्थित कर देता है।

बाठवें समें में महाबीर की बाल-छीलाओं और कुमार-कीडाओं का बर्णन करते हुए उनके मानस पटल पर अभरने वाले उच्च विचारों का किन ने बहुत ही सुन्दर बर्णन किया है। इसी समी में महाराज सिद्धार्थ के द्वारा विवाह का प्रस्ताव उपस्थित किये जाने पर जिन सुन्दर और सुहद युक्तियों के द्वारा भगवान महाबीर ने उसे अस्वीकार किया है, उससे उनकी जन्म-जात लोकोद्धारक मनोयुश्वि

इसमें बतलाया गया है कि संसार के जितने भी बन्धन हैं, वे

(3%)

सब की के बत्यन से उत्पन्न होते हैं। की के निमित्त से इन्द्रियां प्रमत्त होती हैं, मतुष्य की आंखें सदा की के रूप देखते को उत्सुक बनी रहती हैं। उसे प्रसन्न रखने के लिए वह सदा उबटन, तेल-फुलेलादि से अपने शरीर को सजाता-संवारता रहता है और शरीर-पोषण के लिए बाजीकरण औषधियों का निरन्तर उपयोग करता है। कि मे महावीर के मुख से कहलाते हैं कि जो इन्द्रियों का दास है, वह समस्त जगत् का दास हैं। अतः इन इन्द्रियों को जीत करके ही मनुष्य जगन्जेता वन सकता है।

इस्ध्रप्रकार अपना अभिप्राय प्रकट कर उन्होंने पिता से अपने आजीवन अविवाहित रहने की ही बात नहीं कही. प्रस्थुत सविष्य में अपने द्वारा किये जाने वाले कार्यों की खोर भी संकेत कर दिया। यह सारा वर्णन वड़ा ही हृदयस्पर्शी है।

विवाह का प्रस्ताव अध्वीकार कर देने के पश्चात् भ० महावीर के हृदय में जगडतनों की तात्कालिक स्थिति को देखकर जो विचार उद्देशक होते हैं, ये बड़े ही मार्मिक एवं हृदय-दावक हैं।

भगवान संसार की स्वार्थ-परता को देखकर विचारते हैं— अहो ये संसारी लोग कितने स्वार्थी हैं ? वे सोचते हैं कि मैं ही सुखी रहूँ. भले ही दूसरा दु:ख-कूप में गिरता है, तो गिरे। हमें उससे क्या प्रयोजन हैं,?

लोगों की मांस खान की दुष्पवृत्ति को देखकर महाबीर विचा-रते हैं - बाज लोग दूसरे के खून से खपनी प्यास खुझाना चाहते हैं, और दूसरों का मांस खाकर खपनी भूख शान्त करना चाहते हैं। बढ़ो यह कितनी दयनीय स्थिति है। देबी-देवताओं के अपर की जाने वाली पशु-बलि की देखकर भगवान विवारते हैं — 'ब्राहो, अगदस्या फहलाने वाली माता ही यदि ब्रापने पुत्रों के खून की प्यासी हो जाय, तो समझो कि सूर्य का बहुव ही राजि में होने लगा।"

"आहो, यह देवतास्वली जो कि देव-मन्दिरों की पावन भूमि कहलाती है, वह पशु-चलि होने से कसाई-घर बनकर उमस्वली हो रही है ? लोग पशुकों को मारकर और उनके मांस को खा-खाकर अपने पैट को कबिस्तान बना रहे हैं।"

इस प्रकार के झनेक दारुण टरबों का चित्रण करके कवि ने नवें सर्ग में बड़ा ही कारुणिक, मर्मस्पर्शी एवं उद्वोधक वर्णन किया है।

जगन की विकट परिस्थितियों को देखते हुए महाबीर की बैरान्य भावनाएं उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं और खन्त में एक दिल वे भरी जवानी में बर बार छोड़कर और बन में जाकर प्रव्रजित हो जाते हैं और सिंह के समान एकाकी इस भूनल पर विहार करते हुए विचरने लगने हैं। उनके इस छुद्धस्य काल्कि विहार के समय की किसी भी परीषह और उपसर्ग हुए घटना का यथिए किन ने कीई उल्लेख नहीं किया है, तथापि इतना स्पष्ट रूप से कहा है कि ''बीर प्रमु के इस तपश्चरण काल में ऐसे अनेक प्रसंग आये हैं, कि जितकी क्या भी चीर वीर जनों के रोगटे खड़े कर देती है।" इस परीषहों और उपसर्गों का विगत बार क्यान वि० और रवे० प्रत्यों के आश्रय से आगे किया गया है। इस प्रकार दमवें सर्गों में भ० महाबीर की आन्तरिक भावनाओं का बहुत सुन्दर वर्णन किन ने किया है।

( == )

श्रीवलता पाने के लिए प्रयत्त्वाशिल हो रहा था। तब भ० महावीर असीर से ममता छोड़कर पर्वत के शिलारों पर महान ज्यातापन योग से अपने कमों की निर्कार करने में संलग्न हो रहे थे। वर्षाकाल में वे बुक्षों के नीचे खड़े रह कर कमी मल राखाते रहे और शीवकाल में चौराहों पर रात रात मर खड़े रह कर ध्यान किया करते थे। इस अकार कभी एक मास के, कभी दो भास के, कभी चार सास के अश्रीर कभी छह मास के लिए प्रतिमा योग धारण कर एक स्थान पर अवस्थित रह कर आला ध्यान में सग्न रहते थे। भ० महावीर के इस छहास्य काळीन महान तपरचरण का विवरण आगे विगतवार दिया गया है, जिससे पाठक जान सकेंगे कि उन्होंने पूर्व भव-संचित कमों का विनाश कितनी उन्न तपस्या के हारा किया था।

इस प्रकार की उम तपस्या करते हुए पूरे साढ़े बारह वर्ष व्यतीत होने पर भ० महाबीर को बैझाख शुक्छा दशमी के दिन केवल्य विभूति की प्राप्ति हुई। उसके पात ही भगवान के केवल-ज्ञान जीनत दश खतिशय प्राप्त हुए। तभी इन्द्र ने ध्रपने देव परिवार के साथ ब्याकर उस सभा स्वल का निर्माण कराया, जो कि समव-शरण के नाम से प्रस्थात है।

तेरहवें सर्ग में उस समब्बारण की रचना का विस्तार से वर्णन किया गया है। इस समद्रवारण के मध्य भाग में स्थित कमछा-सन पर भगवान चार अंगुळ अन्तरीक्ष विराजमान हुए, उनके सभीप आठ प्रातिहाय प्रकट हुए और देव कृत चीद्द अतिशय भी प्रकट हुए। भ० महावीर के इस समवशरण में स्थर्म से आते हुए देवों को तथा नगर निवासियों को जाते देख कर गीतम प्रथम तो आइचर्य चिकत होते हैं और विचारते हैं कि क्या मेरे से भी बड़ा कोई जानी हो सकता है। प्रशान वे भ० महावीर के पास आते ही इतने

स्यारहवें सग में कवि ने एक अनुपम दंग से भ० महाबीर के पूर्व अवों का वर्णन किया है। अगवान ध्यानावस्था में ही अवधि-ज्ञान से अपने पूर्व भवों को देखते हैं और विचार करते हैं कि हाय, हाय ? आज संसार में जो मिथ्या आचार देख रहा है, उनका मैं ही तो कुबीजभूत हूँ, क्योंकि पूर्व भवों में मैंति ही मिध्या मार्ग का प्रचार एवं प्रसार किया है। वे ही मत-मतान्तर आज नाना प्रकार के असदाचारों के रूप में वृक्ष बन कर फल फुल रहे हैं। इसिंखए जगत की चिकित्सा करने के पहिले मुक्ते अपनी ही चिकित्सा करनी थाहिए। जब तक मैं स्त्रयं शुद्ध (नीरोग एवं नीराग) न हो जाऊं, तब तक दूसरों की चिकित्सा करना कैसे उचित मानी जा सकती है। इसलिए मुक्ते बाहिरी परित्रहादि से और आन्तरिक मद-मत्स-रादि दुर्भावों से असहयोग करना ही चाहिए। भगवान विचारते हैं कि मुक्ते स्व-राज्य अर्थात् आसीय स्वरूप की प्राप्ति के छिए पर-जनों से असहयोग ही नहीं, बल्कि दुर्भावों का बहिष्कार भी करना चाहिए, तभी भेरा स्व-राज्य-प्राप्ति के लिए किया गया यह सस्याप्रह सफल होगा।

यहां यह डल्लेखनीय है कि जब कवि अपने इस काट्य की रचना कर रहे थे, उस समय महारमा गांधी ने स्वराज्य प्राप्ति के लिए सत्यामह संबाम और आसहयोग आन्दोलन हेड़ा हुआ या उससे प्रभावित होकर कवि ने उसका उपयोग अध्यात्म रूप स्वराज्य प्राप्ति के लिए किया है।

भ० महाबीर के पूर्व भवों की विस्तृत चर्चा इसी प्रस्तावना में आगे की गई है।

वारहवें सर्ग में कवि ने बीध्म खनु का विस्तार से वर्णन करते हुए बतलाया कि जब सारा संसार सूर्य की गर्मी से वस्त दोकर

( 38 )

अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने उनका शिष्यतः की शीकार कर लिया और तभी उनके निमित्त से भगवान की दिव्य देशना प्रकट हुई ।

इस सन्दर्भ में भ० महाबीर ने इन्द्रभृति शीतम को छह्य करके जो उपदेश दिया है, वह पठतीय ही नहीं, बल्कि मननीय भी है।

इन्द्रभूति गौतम को भ० महाबीर का शिष्य बना देखकर उनके भाई आप्रभूति और वायुभूति भी अपने अपने शिष्य परिवार के साथ भगवान के शिष्य बन गये और उनके देखा देखी अन्य आठ महा विद्वान भी अपने शिष्य परिवार के साथ दीक्षित हो गये।

यहां यह बात उल्लेखनीय है कि ये सभी आक्षण विद्वान एक महान् यज्ञ समारोह में एकितित हुए थे। उसी समय भर महावीर को केवल ज्ञान हुआ या और ज्ञानकल्याणक मनाने के लिए देवनण आ रहे थे। इस सुयोग ने महा मिण्याली इन्द्रभूति आदि आक्षण आ रहे थे। इस सुयोग ने महा मिण्याली इन्द्रभूति आदि आक्षण आ रहे थे। इस सुयोग ने महा मिण्याली इन्द्रभूति आदि आक्षण आर्म से सम्यक्ती और संयमी बना दिया और ये सभी बिद्वान भगवान् के सुत्ररूप उपदेश के महान् व्याख्याता वनकर गणवर् के रूप में प्रसिद्ध हुए और उसी भव से मुक्त भी हुए। चौदहवें सर्ग में इन न्यारहीं ही गणधरों के जत्म स्वात, माना-दिता और शिष्ट परिवार का विस्तृत वर्णन किया गया है। प्रस्तावना में आगे और भी कई बातों के विवरण के साथ एक वित्र दिया गया है, जिससे कि गणधरों की आयु, दीक्षा-काल आदि अतेक महस्वपूर्ण बातें ज्ञात हो सकेंगी।

परदृहवें सर्ग में भ० महावीर के उपदेश की कुछ रूप-रेखा देकर वतलाया गया है कि गीतम गणधर ने किस प्रकार उनकी वाणी को द्वादशाङ्ग रूप में विभाजित किया और मागध जाति के देवों ने किस प्रकार उसे बूर-दूर तक फेलाया। इसी सर्ग में सगवान् के विहार करते हुए सर्वत्र धर्मीपदेश देने का भी वर्णन किया गया है और बतलाया गया है कि किस-किस देश के कौत-कौन से राज-परिवार भगवान के दिव्य उपदेश से प्रभावित होकर उनके धर्म के अनुवायी वन गये थे।

भ० महाबीर ने जिन सर्वलोक-कल्याणकारी उपदेशों को दिया, उनमें से साम्यवाद, ब्राहिसा, स्याद्वाद श्रीर सर्वहता ये चार सुख्य मानकर चार सर्गों में अन्यकार ने उनका बहुत ही सुन्दर एवं सरल ढन से वर्णन किया है।

साम्यवाद का वर्णन करते हुए कहा गया है—हे आत्मन्, यदि तुम यहां मुख से रहना चाहते हो, तो खोरों को भी सुख से रहने दो। यदि तुम स्वयं दुखी नहीं होना चाहते, तो खोरों को भी दु.ख मत हो। अन्य व्यक्ति को आपत्ति में पड़ा देखकर तुम चुप मत बैठे रहो, किन्तु उसके संकट को दूर करने का शक्ति भर प्रयस्त करो। दूसरों का बढ़ां पसीना बह रहा हो, बढ़ां पर तुम अपना खून बहाने के लिए तैयार रहो। दूसरों के लिए किया गया बुरा कार्य स्वयं अपने ही लिए दुरा फल देता है, इसलिए दूसरों के साथ सदा भला ही व्यवहार करना चाहिए।

अहिंसा का वर्णन करते हुए कहा गया है—जो दूसरों को मारता है वह स्वयं हुमरों के द्वारा मारा जाता है और जो दूसरों की रक्षा करता है, वह हुमरों से रिक्षत रहता हुआ जगत-पूज्य वनता है। आरवर्थ है कि मतुष्य अपने स्वार्थ के वहा में होकर दूसरों को मारते और कष्ट पहुँचाने के लिए तत्पर रहता है और नाना प्रकार के छलों का आश्रय लेकर दूसरों को धोखा देता है। पर यह यह

(33)

सनगह में सर्ग में मनुष्याता या मानवता की व्याच्या करते हुए, बननाया गया है कि जो मनुष्य इसरे का सन्मान करता है और अमेर अमकी छोटी भी भी बात को यही समझता है, बास्तव में बही मनुष्याता को धारण करता है। किन्तु जो अहंकार-वहा औरों को तुन्छ समझता है और उनका अपमान करता है, यह मनुष्य की सबसे बड़ी नीचता है। आसाईत के अनुकुछ आचरण का नाम मनुष्यता है, केवल अपने साथ-साधन का नाम मनुष्यता है, हेवल अपने साथ-साधन का नाम मनुष्यता है है। अतः श्राणिमात्र के छिए हिसकारक प्रवृत्ति करता चाहिए।

आने बताया गया है कि पापाचरण को छोड़ने पर ही मनुष्य उच्च कहला सकता है, केवल उच्च कुल में जन्म लेने से ही कोई उच्च नहीं कहा जा सकता। इसलिए पाप से घूणा करना चाहिए, किन्तु पापियों से नहीं।

मानव कर्त्त क्यों को बतलाते हुए खाने कहा गया है कि दूसरों के दोगों को कभी प्रकट न करे, उनके विषय में सर्वधा मीन ही धारण करे। जहां तक बने, दूसरों का पालन पोपएा ही करे। दूसरे के गुणों को सादर स्त्रीकार करे, उनका अनुसरण करे। खापत्ति आने पर हाथ-हाय न करे और न्याय-मार्ग से कभी स्थत न होते।

इस सन्दर्भ में एक वह मृत्य बात कही गई है कि स्वार्थ (आव्य-अयोजन) से न्युत होना आव्य-विनाश का कारण है और परार्थ से च्युत होना सन्यदाय के विरुद्ध है। इसक्षिए मनुष्य को चाहिए कि अपने स्वार्थ को संभावने हुए दूसरों का उपकार अवश्य करे। यही सारभुत मनुष्यता है।

श्रामे जानि, कुछ आदि के अहंकार की निय एवं वर्जनीय

नहीं सोचता कि दूसरों को घोखा देना वस्तुतः अपने आपको घोखा देना है।

यक्कों में की जाने वाली हिंसा को लक्ष्य करके कहा गया है— पहुसे स्वर्ग मेज रहे हैं" ऐसा कहकर जो लोग वकरे भेंसे आहि के गल पर तलवार का बार करते हैं, वे अपने सेही जनों को बसी प्रकार स्वर्ग क्यों नहीं मेजने ?

इस प्रकार अनेक युक्तियों से अहिंसा का समर्थन करते हुए किन ने कहा है कि भगवती अहिंसा ही सारे जगत् की माता है और हिंसा ही डाकिनी और पिशाचिनी है, इसलिए मनुष्य को हिंसा-डाकिनी से बचते हुए भगवती अहिंसा देवी की ही शरण लेना चाहिए।

श्राहिसा के सन्दर्भ में श्रीर भी श्रानेक प्रमाद-जनित कार्यों का उरलेख कर उनके त्याग का विधान किया गया है और अन्त से बत-छाया गया है कि श्राहिसा-भाव की रक्षा श्रीर गृहि के छिए मतुष्य को मांस खाने का सर्वया त्याग करना चाहिए। जो छोग शाक-पत्र, फलादिक को भी एकेन्द्रिय जीव का श्रंग मान कर उसे भी मांस खाने जैसा बतलाते हैं, उन्हें श्रानेक युक्तियों से सिख कर यह बत-छाया गया है कि शाक-पत्र फलादिक में और मांस में श्राकाश पाताल जैसा श्रानक है। यशपि दोनों ही प्राणियों के श्रंग है, तथापि शाक-फलादिक भक्ष्य हैं और मांस स्थान्य है। जैसे कि दूध और गोवर एक ही गाय-भेंस के श्रंगज-पदार्थ हैं, तो भी दूध ही भक्ष्य है, गोवर नहीं।

इस प्रकार इस सोलहवें सर्ग में साम्यवार और श्राहिसाबाद का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है।

( 33 )

बतलाते हुए खनेक आख्यानकों का उन्लेख करके यह बनलाया गया है कि उच कुल में जन्म लेने बाले खनेक न्यक्ति नीच कार्य करते हुए देखे जाते हैं और खनेक पुरुप नीच कुल में उत्तज होकर के भी डब कार्य करते हुए हिन्दगीचर होते हैं। खनपब उच और नीच का डबवहार जाति और कुलांश्रत न मानकर गुण और कर्माश्रित मानना

इस विषय में इतना विशेष ज्ञातव्य है कि कितने ही लोग जाति और कुछ को अमिट और अटल सिद्ध करने के लिए अनेक प्रकार की कल्पनाएं करते हैं। कोई तो कहते हैं कि ये जालणादि वर्ण ब्रह्मा के द्वारा सुच्टि के छादि में बनाये गये हैं और युगान्त तक रहेंगे। कितने ही छोग इनसे भी आगे बढ़कर कहते हैं कि सभी जातियां अनादि से हैं और अनन्त काल तक रहेंगी। कितने ही लोग जातियों को नाशवान कहकर वर्णों को निस्य कहते हैं, तो कितने ही लोग वर्णों को अतित्य मानकर जातियों को नित्य कहते हैं। कुछ छोरा जाति और वर्ण का भेद मनुष्यों में ही मानते हैं, तो कुछ लोग पशु, पक्षी और बुक्षादिक में भी उनका सद्भाव बनलाते हैं। परन्तु ये सब कोरी और निराधार कल्पनाएं ही हैं। कर्म सिद्धांत के अनुसार गति की अपेक्षा जीवों के मनुष्य देव, नारकी और तिर्यंच ये चार भेद हैं और जाति की अपेक्षा एकेन्द्रिय, दीन्द्रियादि पांच भेद हैं। यशपि एकेन्द्रियादि की उत्तर जातियाँ अनेक हैं, तथापि उनमें उपयु क प्रकार से जाति या वर्ण का भेद भातना न आगम-संगत है स्त्रोर न युक्ति-संगत ही । वस्तुतः वर्ण-व्यवस्या आजीविका की विभिन्नता पर की गई थी। वर्तमान में प्रचलित जाति-व्यवस्था तो देश-काल-जनित नाना प्रकार की परिस्थितियों का फल है। यही कारण है कि इन जातियों के विषय में थोड़ा बहुत जो इतिहास उप-लब्ध है, वह उन्हें बहुत आधुनिक सिद्ध करता है।

जातिबाद को बहुत अधिक सहस्य देने वाले हिन्दुओं के सहान् अन्य महाभारत में लिखा है—

कैवर्ती-गर्भसन्भूतो व्यासो नाम महामुनिः । तपसा बाक्षणो जातस्तस्माञ्जातिरकारणम् ॥१॥ व्यक्ती-गर्भसन्भूतो वशिष्टः सुमहामुनिः । तपसा बाक्षणो जातस्तस्माञ्जातिरकारणम् ॥ २ ॥ श्यपाकि-गर्भसन्भूतः पाराशस्महामुनिः । तपसा बाक्षणो जातस्तस्माञ्जातिरकारणम् ॥ ३ ॥ चारहाळी-गर्भसन्भूतो विश्वामित्रो महामुनिः । तपसा बाक्षणो जातस्तस्माञ्जातिरकारणम् ॥ ४ ॥

अर्थात् - धीवरी के गर्भ से उत्पन्न हुए ज्यास महामुनि तप के प्रभाव से ब्राइण हो गये, उर्वही के गर्भ से उत्पन्न हुए विश्वष्ट महा-सुनि तप के प्रभाव से ब्राइण कहलाये, श्वपाकी (कुते का मांस खाने वाली) के गर्भ से उत्पन्न हुए पाराइण महामुनि तप के प्रभाव से ब्राइण हो गये और चारडाली के गर्भ से उत्पन्न हुए विश्वामित्र महामुनि तप के प्रभाव से ब्राइण हो गये। इसलिए उच्च कहलाने के लिए जाति कोई कारण नहीं हैं, किन्तु आचरण ही प्रधान कारण है।

सारांश यह है कि वर्तमात में प्रचलित जाति और वर्णों को अवादि और अनन कालीन बतलाना सर्वथा असत्य है। हां, यह ठीक है कि साधारणत: उच्च और नीच कुल में जन्म लेने वाले जीवों पर उनके परस्परागत उच्च या नीच आवरण का प्रभाव अवस्य पड़ता है, पर अपवाद सर्वत्र हरिटगोचर होते हैं। कहीं उच्च कुलान लोगों में भी हीनाचरण की प्रवृत्ति देखी जाती है। और कहीं नीच कुलीन लोगों में भी सदाचार की प्रवृत्ति पाईजाती है। इसलिए एकान्त से सर्वथा ऐसा ही नहीं मान लेना चाहिए कि उक कुछ में जन्म लेने वाले छोगों के ही सदाचारपना पाया जायेगा, हीन कुछ में जन्म लेने वालों के नहीं। उच या नीच कुछ में जन्म होना पूर्व जन्म-संवित संस्कारों का फछ है, अर्थोत् देवाधीन है। किन्तु वर्वमान में उच या नीच कार्य करना अपने पुरुषार्थ के अर्थीन है।

इसी संदर्भ में प्रत्यकार ने खाज के प्रचित्त विवाह-बन्धनों की ओर संकेत करते हुए बताया है कि देखो— वसुदेव ने खपने चचरे भाई की पुत्री खर्यान् खाज के सन्दों में खपनी भतीजी देवकी से विवाह किया और उस से जगत् प्रसिद्ध श्री छुष्ण नारायण का जन्म हुखा। इसके साथ ही यहां यह भी उल्लेखनीय है कि भ० नेमिनाथ का विवाह भी उन्हों उपसेन की लड़की राजमती से होने जा रहा था. जो श्री छुष्ण के पहुर्यंत्र से बन्धन-बद्ध पहुष्यों को देख कर नेमिनाथ के संसार से विरक्त हो जोने से संभव नहीं हो सका। नेमिनाथ और राजमती परस्वर चचेरे भाई विहन थे।

वसुदेव ऋौर उप्रसेत का वंश परिचय इस प्रकार है-



( 35)

उक्त बंश-परिजय से बिल्कुल स्थाप्ट है कि जनुषं कार से आज के समान कोई बैबाहिक बन्धन नहीं था और योग्य उन्हें सहित्यों का विवाद-सम्बन्ध कर दिया जाता था।

इसी सर्ग के २१ वें रलोक में वेद के संकल्पिता जिन व्याप इस्मि का उल्लेख किया गया है, वे स्वयं ही धीवरी (कहारिन) वे जरम हुए थे, जिसका प्रमाण अभी ऊपर दिया जा चुका है।

आगों इसी सर्ग के 3& वें श्लोक में हरिपेण कथा कीप के एक कथानक का उल्लेख कर बताया गया है कि राजा ने यमपात्र चाल्डाल के साथ उसकी खहिसक अवृत्ति से हर्पित होकर अपनी पुत्री का विवाह कर दिया था।

यहाँ पर विवाह के इस प्रकरण की, तथा इसी प्रकार के हुछ इस्म उन्तेखों की चर्चा का भी यह अभिप्राय है कि साधारणतः राजमार्ग तो यही रहा है कि मनुष्य अपने कुछ, गुण, सीछ, रूप और विद्या आदि के अनुस्प ही योग्य कत्या से विवाह करते थे और आज भी करना चाहिए। परन्तु अपवाद सदा रहे हैं। इसछिए इस विषय में भी सबंदा एकान्त मार्ग का आअय नहीं लेना चाहिए।

इस प्रकार इस सर्ग में जाति और कुळ की यथार्थता को बता कर अन्त में कहा गया है कि "धर्म-धारण करने में या आल-विकास करने में किसी एक व्यक्ति या जाति का ही अधिकार नहीं है। किन्तु जो अत्तम धर्म का अनुष्ठान करता है, वह समका आदर-णीय बन जाता है।

अठारहर्वे सर्गे में काल की महत्ता बतलाते हुए, इस अवस-विणी काल के प्रारम्भिक तीन कालों को हिन्ह्-मान्यतानुसार सत् (20)

युग बताया गया है, जितमें कि भोग भूमि की रचना रहती है। जब तीसरे काल के अस्त में कल्पवृक्ष नण्ट होने लगे और कुलकरों का जस्म हुआ, तब से त्रेतायुग का प्रारम्भ हुआ। उस समय खितम कुलकर नाभिराय से आदि तीयंकर भ० ऋपभदेव का जम्म हुआ। इलोंने कल्पवृक्षों के लोप हो जाने पर भूक-प्यास से पीड़ित प्रजा को जीयन के उपाय बतलाये। प्रजा का संरक्षण करने वालों को अत्रिय संज्ञा दी, प्रजा का भरण-पोयण करने वालों को वैश्य कहा और प्रजा की सेवा-सुन्था करने वालों को शुरू कहा। उन्हों भ० ऋपभदेव ने पुरुषों की ७२ कलाओं और जियों की दिश्य कलाओं को तिलाया। मिट्टी के बतन बनाना भी उन्होंने सिखाया। जिसके फल-खरूप कुम्भार लोग आज भी 'परजापत' (प्रजापति) कहलाते हैं। आश स्तुनिकार स्थामी समस्तभद्र ने ऋपभदेव की स्तुनि करने हुए अश्वापति के नाम से उल्लेख करके कहा कि उन्होंने ही जीने की इन्ह्युक प्रजा की कृपि, गोपालन स्थादि कार्यों की सर्व प्रथम शिक्षा दी ।

भा अध्यक्ष देव के दीक्षित होने पर उनके साथ दीक्षित होने वाले लोग कुछ दिन तक तो मूल-प्यास को सहते रहे। अन्त में अष्ट होकर बहुन तहा आवरण करने लगे। मं उध्यम देव ने कैवल्य-प्राप्त के बाद उन्हें संबोधा। जिससे कितने ही लोगों ने तो वापिस सुमार्ग स्वीकार कर लिया। पर मरीवि और उनके अनुवायियों ने ने अपना वेप नहीं छोड़ा और कुनार्ग पर ही चलते रहे। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया गया है

विस्तृत विवेचन छागो क्या गया ह इस सन्दर्भ में कवि ने मुनिचर्यो और गृहस्य धर्म का जैसा मुन्दर वर्णन भ० ग्रुपभ देव के द्वारा कराया है, वह मननीय है।

१. प्रजापतियाः अवमं जिजीविषुः शासास ऋत्यादिषु समसु प्रजा । ( स्वस्कृत्योव, दशी० - )

थाने कवि ने भरत वकी दारा जायाणों की उत्पत्ति का वर्णन किया है और बतलाया है कि ये आध्या भ० शीतलनाथ के समय तक तो अपने धर्म पर खिर रहे। पीछे उससे परान्मुख होकर अपने को भर्म का अधिकारी बनाकर सन-माने क्रियाकाएड का प्रचार करने लगे। चीर-धीर वडां तक नीयत आई कि 'अर्जियेप्टव्यं' इस वाक्य के अर्थ पर एक ही क्षीर-कदस्य गुरु से पड़े हुई पर्वत और नारत में उम्र विवाद खड़ा हो गया। जब ये दोनों विवाद करते हुए अपने सहाध्याची वसराजा के पास पहुँचे, तो गुराणी के अनुरोध-वज वसुराजा ने गुरु-पुत्र पर्वत का कथन सत्य कह कर यथार्थ सत्य की हस्या करदी और तभी से तीन वर्ष पुगने-नवीन श्रंकुरोत्पादन के अयोग्य धान्य के खान पर बकरों का यज्ञ में हवन किया जाने छमा, जिसकी परस्परा भ० महाबीर और महाला चुद्ध के समय तक उत्तरीत्तर बढ़ती गई। इस यह-बिंछ के विशेष में उक्त दोनों महान आत्माओं ने जो प्रबल विरोध किया, उसके फलस्वरूप आज पत्त-यह दिल्लाचर नहीं हो रहे हैं। इतना ही नहीं, उनकी खहिसामधी धर्म-देशना का प्रभाव तात्कालिक वैदिक विद्वानों पर भी पड़ा और उन्होंने भी हिसक यहाँ एवं बाहिरी किया-काएडों के स्थान पर श्रात्म-यज्ञ श्रीर ज्ञानसय क्रियाकाण्ड का विधान श्राप्ते उपनिपदी श्रीर जाक्षण-मुत्रों में किया। तया इसी शताब्दी के प्रारम्भ में उत्पन्न हुए प्रसिद्ध आर्थ-समाजी नेता खामी द्यातन्त् सरस्वती में भी उन हिमा-परक येद-मंत्री का आहिंश-परक अर्थ करके आहिंसा की ध्वजा को फहराया।

कवि ने अवसर्पिणीकाल के चौथे भाग को द्वापर युग के नाम से डिल्लिबत कर अपनी समन्त्रय-हिंद्र प्रकट की है । तदनुसार आज को युग कलिकाल है, यह खत मिल ही जाना है । असेक जिनाचार्यों ने 'काले कलें। चले चित्ते ' और 'काट किटवों कलुपाश्ची वा'' इत्यादि;वाक्यों से आज के युग को किटकाट कहा ही है।

उन्नीसर्वे सभी में कवि ने बहुत ही सरळ दंग से अनेकानवाद, स्थाइाद और उसके साम भंगी का वर्णन किया है। दार्जनिक वर्णन साभारणगरः कठित होने से पाठकों को सहज-पाद्य नहीं होना। पर यह प्रत्यकार की महाच कुशख्ता और सुविज्ञता ही समझन। चाहिए कि उतके इस प्रकरण को पहने पर सबै साधारण पाठक भी स्थाइाइ और अनेकान्तवाद के गृह रहस्य से परिचित हो सकेंगे।

द्रुव्य का लक्षण 'सत' (अस्तित्व) रूप माना गया है और सत्' को उत्पाद-अग्न और प्रीव्य रूप कहा गया है विस्का अभि-प्राय यह है कि प्रत्येक वस्तु प्रति समय अपने पूर्व रूप को लोकती रहती है, नवीन रूप तो शारण करती है। किर भी उसका मूल अस्तित्व बना रहता है। पूर्व रूप या आकार के परित्यान को ज्यप, नवीन रूप के धारण करते को उत्पाद और मूल रूप के बने रहने को प्रत्येक कहते हैं। स्वामी समन्त भट्ट ने एक हम्द्रान्त देकर बनलाया है कि जब सोने के घट को मिहाकर उसका मुकुट बनाया जाता है, तब घट के इच्लुक को ओक होता है, मुकुट से अभिलापी को हमें होता है, किन्तु सुवर्णार्थी के मध्यस्थ भाव रहता है। घटार्थी को होता है, किन्तु सुवर्णार्थी के मध्यस्थ भाव रहता है। घटार्थी को काक पटके बिनाझ के कारण हुआ, मुकुटार्थी को हमें मुकुट के उत्पाद के कारण हुआ। किन्तु सुवर्णार्थी का मध्यस्थ भाव दोनों ही दशाओं में सोने के बने रहने के कारण रहा। अतपन यह सिंब होता

श. सोमदेवमूरिने यद्यस्तिलकमें । २. यमनाभद्रावामेने पुक्तपनुवासनमें ।
 ३. सद्द्रव्यनज्ञवम् । उत्पादव्यमभीव्यमुक्तं सत् ।
 ( तस्वार्यमुक्त अ० ४, मू० २६-२०)

## (30)

है कि बस्तु उत्पाद-स्वय और ब्रोक्य रूप से वयासक है. । जैनदर्शन के इस रहस्य को पत्र जालि ने अपने पात्र जाल आस्य में और जुना-रिल भट्ट ने अपने मीमांनारलोकवानिक में स्वीकार किया है, ऐसा निर्देश इस सर्ग के १७ वें रहोक में अन्यकार ने किया है। पाठकों की बानकारी के लिए उक्त दोनों प्रन्यों के यहां उत्तरण दिये जाते हैं—

'दृष्यं हि नित्यमाङ्गितरिनत्या । सुवर्णं कयाचिवाङ्गत्या युक्तं पिषडो भवति, पिषडोङ्गतिमुपम्या श्वस्तकाः कियन्ते, रूपका-ङ्गिपुम्या कटकाः कियन्ते, कटकाङ्गतिमुपम्या स्वस्तिकाः कियन्ते, पुतराषुक्तः सुवर्णापण्डः, पुतरपरवा आङ्गत्या युक्तः स्वदिराङ्गारसदृष्टे । इरुडनं भवतः। आङ्गतिरिनत्या अन्या च भवति, द्रष्ट्यं पुनस्तदेव । आङ्ग्युपमर्देन दृष्यमेषावाद्यारयते।''

(पात अल महाभाष्य १।१।१, योगभाष्य ४।१३ )

अर्थान-द्रव्य नित्य है और खाइति अनित्य है। सोना किसी
आइति-विशेष से युक्त होने पर पिष्ट कहळाता है। पिष्ट रूप
आइति का विनाश कर रूपक बनाये जाते हैं और रूपकरूप आइति का उपपर्देन कर कटक बनाये जाते हैं। पुनः कटक रूप आइति का विनाश कर खासक बनाये जाते हैं। पुनः कटक रूप आइति का विनाश कर खासक बनाये जाते हैं। पुनः कटक रूप आइति कर सुवर्ष पिष्ट बना दिया जाता है। पुनः नथी आधानि से बही स्वर्थ के अंगार-सहश जमकते हुए कुण्डळ बन जाते हैं। इस प्रकार आइति तो अनित्य है, क्योंकि वह नये नये रूप वारण करती रहती है, किन्तु सुवर्ण रूप प्रकार क्यों का त्यों बना रहता है।

मीमांमारखोकवार्तिककार कुमारिछ भट्ट ने स्वामी समन्तभट्ट

 घट-मोनि-मुद्दणीरी,नाहोत्पादिस्यतिष्यसम् । सोद-प्रसोद-माध्यस्य जनो साति सहैतुहम् ॥ (आप्तभीमामा दलो० ४६)

#### (38)

का अनुसरण करने हुए वस्तु का स्वरूप विनाश-क्याद और स्विति रूप से वयास्मक ही माना है। यथा—

वर्धमानकमङ्गे च रूचकः क्रियते बदा । तदा पूर्वार्थिन शोकः शीतिरचाप्युत्तरार्थिनः ॥ हेमार्थितस्तु माध्यरूवं तस्माद् वस्तु त्रवास्त्रकम् । (मीमांसारुठोकवार्तिक पू० ६१६)

अर्थात् जय सोने के वर्धमानक का विनाश करके रूपक बनाया जाता है, तब वर्धमानक के इच्छुक को तो ओक होता है और रूप-कार्थी को प्रसन्नता होती हैं। किन्तु स्वर्णार्थी के तो माध्यस्थ्य भाव बना रहता है। इससे सिद्ध हैं कि प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यव-प्रीव्य रूप से जवाहमक हैं।

इस प्रकार वस्तु की नित्यानित्यासमकता और अनेकथमांसकता को सिद्ध करके जैनदर्शनानुसार उसके चेतन और अचेतन वे दो भेद कर उनके भी उत्तर भेदों का वर्णन किया गया है। साथ ही जीव का आस्तित्व भी संयुक्तिक सिद्ध किया गया है। विस्तार के भय से यहाँ उसकी चर्चा नहीं की जा रही है।

श्रागे बताया गया है कि यतः प्रत्येक वस्तु श्रामादि-निधन है और श्रापने श्रापने कारण-कलापों से उत्पन्न होती है, अतः उसका कोई कर्त्ती, सुध्या या नियन्ता ईश्वरादिक भी नहीं है।

इस प्रकार इस सर्ग में अनेक दार्शनिक तस्त्रों की वर्षा की गई है।

वीसवें सर्ग में आनेक सरल युक्तियों से आतीन्द्रिय ज्ञान का आस्तित्व सिद्ध करके उसके धारक सर्वज्ञ की सिद्धि की गई है। इबीसवंसरों में अरद बहुत का साहित्यिक होन्द से सुन्दर वर्णन करके बन्त में बताया गया है कि कार्निक हाण्या चतुर्दशी की रात्रिक ब्यन्तिस भाग में भ० महाबीर ने पावा नगरी के उपवन से मुक्ति-सक्ष्मी को शाम किया।

बाईसर्वे सर्ग में बताया गया है कि सब महाबीर ने जिस विज्ञात-सन्तुष्ठित धर्म का जगत् के कल्याण के लिए उपदेश दिया था काल के प्रभाव से और विस्मरण आदि से उसकी जो शोचनीय दशा आज हो रही है, उसपर यहां कुछ विचार किया जाता है। भ० महाबीर के पश्चात् और अन्तिम अतकेवली श्री भद्रवाहु स्वामी के समय तक तो जैन धर्म की गंगा एक प्रवाद रूप से ही बहती रही। किन्तु भद्रवाहु स्वामी के समय में पड़े १२ वर्ष के महान् दुर्भिक्ष के परचान वह धारा दो रूप में विभक्त हो गई। उस समय र्जन अमण संघ में २४ हजार साधु थे। सबको भद्रवाहु ने सृचित किया कि उत्तर भारत में १२ वर्ष के दुर्भिक्ष पड़ने की संभावना है, अतः सर्व साधुआं को दक्षिण देश की थोर विहार कर हेना चाहिए। उनकी घोषणा सुनते हो आधा संघ तो उनके साथ दक्षिण देश की स्रोर बिहार कर गया। किन्तु आधा संघ आवर्कों के खारुरोध पर खूलमहाचार्यके नेत्त्वमें उत्तर भारत में रह गया। धीरे-धीरे दुर्भिक्ष का प्रकोप बढ़ने लगा और साधुओं को आहार मिलने में कठिनाई अनुभव होने लगी। तब आवर्की के अनुगंध पर साधुव्यों ने पात्र रख कर आवकों के घर से आहार छाकर अपने निवास-स्थल पर जा करके स्वाना प्रारंभ किया। इसी के साथ ही उन्होंने वस्त्र और द्सडा-दिक भी आसन-पक्षा के लिए स्थीकार कर लिए और इस प्रकार निर्फ्रन्य साधुक्रों में बीरे चीरे शिविलाचार का प्रवेश हो गया। जब १२ वर्ष के उपरान्त दुर्भिक्ष का प्रकोप शान्त दुख्या और दक्षिण की खोर गये हुए युनि जन उत्तर भारत को छीटे, तो उन्होंने बहुत प्रयस्त

(38)

गवा है और वस्तुवाण में भी 'दिगम्बरंग —— जैन धर्मीवरेश:' (प्रथम स्वयु रक्षीः १३) सादि हुए से दिगम्बर मुनियों का वर्णन क्रिया गया है। महाँहरि ने स्वपन वैराम्यकृतक में जैन सुनि को 'पाणिणाओ दिगम्बरं' किस्ता हैं। वाराइसिहर-संहिता में जैन सुनियों को दानां और क्षहंनत्त्व को 'दिखास' किस्ता । अयोतिप स्वय गोडाज्याय में भी जैन साधुक्षों के नग्न रहने का उन्लेख हैं?। मुद्रासाझस में भी इसी प्रकार का उन्लेख पाया जाता है।

बीडों के बातक घटकवा, चुल्छवरंग (चारधार) महाचरण (चारधा च) संयुक्त निकास (राशार्शण) दिल्यावदान (ए० १६४) और दाठावसी ए० १४) दल्यादि प्रत्यों में निर्मर्थों की नम्नता का उल्लेख हैं। चीनी बात्री कहिंबान बीर हुएनस्सांग ने भी अपने बात्रा-विवरणों में जैन मुनियों को नस्त दिखा है।

मधुरा का वर्णन करते हुए फाहियान ने लिखा है— "सारे देश में कोई अधिवासी न जीवहिसा करता है, न मदा पीता है और

एकाकी निःस्पृद्धः वास्तः पाणियात्रो दिगम्बरः ।
 कदा ग्रान्थो प्रविष्यापि कर्मनिर्मुतनसमः ॥

मतृतिरि-वैराम्यशतके इली० ७०।

२. वस्ताम् जिनानां विद्याः १९१६१॥

दिग्लामस्तरनो क्यबांग्स कार्योऽहेतां देव: ॥४४,५८॥।

( गाराहमिहिर-संहिता )

- मम्बीकृता मृण्डिता: । तत्र ४-५ । (गीलाच्याय ३।८-१०)
- ४. देलो पाहितान मात्रा-विवरण पूठ ४६, ६३ पादि ।
- ४ देखो —हपुनत्ताम का भारत-भ्रमण पु० १४३, ३२०, ५२६, ४३३, ४४४, ४७०, ५७३ आदि )

किया कि द्वपर रहे हुए सामुखों में जो शिविश्वाचार आ गया है, वह दूर कर वे छोग इसारे सांव पूर्ववत् मिलकर एक संघ के कम में रहें। पर यह संभव नहीं हो सका। यदा उत्तर भारत में रहे सामुजन खेब-बाब भारण करने छगे थे, अता वे श्वेतान्य सामुखों के नाम से कहे जाने छगे और जो नाम निर्माण वेष के ही जागक रहे, वे दिगस्वर सामुखों के नाम से पुकारे जाने छगे।

यहां बह विशेष ज्ञातन्य है कि स्वेज आजाराङ्ग सुत्र में भी साधु के जिए आजेजन्य ही परम भर्म बताया गया है और खजेजक का मुख्य अर्थ पूर्ण तमता ही हैं। । स्वेज आस्त्रों में राजा उदवनः अपभदन खादि के भी नम् मुनि होने का उल्लेख खाता हैं। स्वेज स्वानाङ्ग सुत्र में भी साधुओं के अन्य कर्तव्यों के साथ नम्नता का विद्यान उपजन्य हैं। भेज महाबीर स्वयं नम्न रहे थे।

वृद्धिक साहित्य 'ऋक् संहिता' (१०१२६-२) में 'मृतवो वातरहाताः' का उल्लेख है। 'जावालोपनिषद्' सूत्र ३ में 'यवाजातहर-बरो निर्धान्यो निष्परिष्ठः का उल्लेख मिळता है। महामारत के आदिपर्व रहो। २२६-२७ में जैन मुनि को 'नम्र स्वपणक' कहा है। विष्णुपुराण में 'नतो दिगम्बरो सुण्डो' (तृतीवाँश ष्ट्र० १७-१८) कहा

- १. के बावेल परिवृत्तिए तस्त जो निकनुस्त जो एव \*\*\* (आनारीन १४१) तं बावेकन वस्त्रमणवारि \*\*\* (बानारीन ११०)
- २. अस्तद्वाए कीरड नग्गभावो जाव तमदु पारोहेड । ( भगवती सूत्र, ततक ६ उहीमक वेडे )
- ३. से जहा नामए अञ्जोमए सम्बाण जिल्लंबाजं तलकात्र मुख्यभवे अध्यानए......अरहा सम्बाणं जिल्लंबाजं नलकात्र वाच वज्रव्यक्ट विसीओ जाव पदुवेहिति । (टाणांग सृत, हेटशबाद संस्करण प्रकर्णें ।

(34)

त उहसून प्याज स्थाता है, सियाय चारडाङ के। जनपद में न कही सनागार (कसाईपर) है और न भव की दुकान हैं। (फाहियान १०३१)

यहां यह वात जातब्य है कि फाडियान ने इंसा की चौधी इती के अन्त में और हुपनस्मांग ने ईसा की मातबी शनी के शरम्भ में मारत की यात्रा की थीं ।

ह्वेतान्वर साधु जब नगराश्रित उपाश्रयों में रहते हो, तो उनका प्रभाव दिगन्वर साधुओं पर भी पढ़ा और उनमें से कितने ही आचार्यों ने कहना प्रारम्भ कर दिया कि साधुओं को इस किंक काल में वन में नहीं रहना चाहिए। इस प्रकार जब साधुओं में शिविलाचार ने प्रवेश कर लिया, तो गृहस्य श्रावकों के आचार में श्री शिविलता आ गई।

यशिप भद्रवाहु के समय सम्राटु चन्द्रगुप ने, उनके पुत्र विन्दु-सार ने और पीत्र अशोक ने, तथा सन्धति आदि अनेक राजाभी ने अपने समय में जैन धर्म को राज्याश्रव दिया. उसका प्रसार किया और विक्रमादित्य के समय तक उसका प्रभाव सारे भारत वर्ष पर रहा, तथापि इस अवधि के सध्य ही वैदिक-सन्धदाय-मान्य कान, आचमन आदि बाह्य कियाकायड ने जैनधर्म में प्रवेश पा दिया और दीतों में अपिन की उपासना. यक्षादिक व्यन्तर देशों की पुद्धा, वर्ष पंचालताभिषेक आदि का प्रचार प्रारस्भ हो गया। जैनों का भी प्रसाद हिन्दुओं पर पड़ा और उनमे से यह-दिसा ने विदाई ले ली।

धीरे-धीरे दि० और खे० दोनों ही साधु-परम्पराओं में बरा-जरा से मतभेदों के कारण अनेक गण-गच्छ आदि के भेद डठ सड़े हुए, जिससे आज सारा जैन समाज अनेक उपभेदों में विभक्त हो रहा है। इन तबीन उपभेशों के प्रवर्तकों ने तो सदा से चळी आई जिन-बिश्व-पूत्रत का भी गृहस्कों के लिए निर्मेश करना प्रारम्भ कर दिया और कितनों ने बीतराग मूर्ति को भी वस्त्राभूषण पहिराना प्रारम्भ कर दिया। कितने ही छोग जतना हो पीने का पानी सुळम करने के लिए कुंबा, बावड़ी के जुदबाने खादि पुष्य कार्यों के करने में भी गृहस्कों हो मना करने छो और हिसी स्थान पर छगी खाग में चिरे जीवां को बचाने के लिए उसे बुझाने को भी जळ-क्यम्न खादि की बिराधना का नाम लेकर पाप बताने छगे।

इस स्वल पर मन्यकार कहते हैं जो धर्म प्राणि मात्र पर मेती और करणा भाव रखने का उपदेश देना है, उसी के अनुसायी कुछ जैन होंग कहें कि साधु के मिनाय अन्य किसी भी प्राणी की उक्षा करना पाप है, तो यह नहें ही आस्त्रयं और दु:स की ही बात है। यवार्य बात यह है कि जो जैन धर्म उनम श्लीत्रय राजाओं के हारा धारण करने योख था और अपनी सर्व कल्याण कारिणी निर्देषि प्रश्नुति के कारण सवका दिनकारी था, वही जैन धर्म आज ज्यापार करने नाल उन वैर्यों के हाथ में आ गया है जिनका कि धन्या ही अपने माल को खरा और अन्य के माल को खोटा चताकर अपनी दुकान चलाता है।

इस प्रकार खपने हा।दक दुःख पूर्ण उद्गारों को प्रकट करते हुए अन्यकार ने इस समें के साथ ही खपने प्रस्थ को समाप्त किया है।

# अवतार-बाद नहीं, उत्तार-बाद

संसार में यह प्रधा प्रचलित रही है कि जो कोई भी महापुरुष यहाँ पेटा हुआ, उसे ईश्वर का पूर्णायतार वा अंशायतार कह दिया गया है। में नहाबीर ने अपने उपदेशों में कभी अपने आपको क्रूबर का पूर्ण या आहि। क अवतार नहीं कहा। त्युत अवतार वाल क्षेत्रवर का निराकरण ही किया है। उन्होंने कहा-देखर तो आसा की श्रुद्ध व्यवस्था का नाम है। एक बार व्यवस्था के श्रुद ही जाने पर फिर उसकी संसार में अवतार लेने वाली अग्रव दुझा नहीं हो सकती। जैसे धान्य के डिलके से अलग हुए चावल का पुनः उत्पन्न होना असंभन्न है, उसी प्रकार कर्म सल से रहित हुए शुद्ध जीव का संसार में मनुष्यादि के रूप से जन्म लेकर अशुद्ध वशा को प्राप्त करना भी असंभव है। जैन धर्म अवतारवादी नहीं. प्रत्यत उत्तारवादी है। इंश्वर का मतुष्य के हप में अवतरण तो अनुवा असके हास या अवनति का योगक है, विकास का नहीं, क्योंकि अवतार का अर्थ है नीचे उतरना । किन्तु उत्तार का अर्थ है -- अपर बहुना, अर्थात् आत्म-विकास करना । अवतारवादी परस्परा में ईश्वर या परमात्मा नीचे उतरता है, मनुष्य वनकर फिर सर्व साधा-रण संसारी पुरुषों के समान राग-द्वेष मयी हीन अवृत्ति करने लगना है। किन्तु उत्तारवादी परन्परा में मनुष्य अपना विकास करते हुए फपर चढ़कर ईश्वर, भगवान् या परमात्मा बनता है। जन वर्स ने पूर्ण रूप से विकास को प्राप्त आत्मा को ही सगवान या परमात्मा कहा है, सांसारिक प्रयंच करने वाले व्यक्ति को नहीं।

भेठ सहावीर ने स्वयं ही बनलाया कि सर्व साधारण के समान में भी अनादि से संसार में जन्म-भरण के चक्कर लगाता हुआ आ रहा था। इस युग के आदि में में आदि महापुरुष खपमदेन को पीन और आदि सहापुरुष खपमदेन को पीन और आदि सहापुरुष खपमदेन को पीन और आपात समान के बचा में होकर मैंने अपनी उस मानव-पर्याय का दुरुपयोग किया और किर ज्ञान-पत्न की अनेक अवश्याओं का प्राप्त हुआ। पुनः अनेक भवा से उत्तरोत्तर आस्म-जिकास करते हुए आज इस अवस्था को प्राप्त कर सका है। अतः सेरे समान ही सभी प्राणी अपना विकास करते हुए भेरे जैसे बन सकते हैं। यही कारण है कि जैनथम ने जगत् का कर्ती-

## (35)

धर्ता ईश्वर को नहीं माता है, किन्तु बढ़तां पुरुष को ही ईश्वर माना है। बैन धर्म का कर्मवाद सिखान्त यही उपदेश देता है कि— 'आला ही अपने सुख-दुःख का कर्ता और ओका है। सुमार्ग पर चलने वाला आला अपना मित्र है और कुमार्ग पर चलने वाला आला अपना शत्रू है ।

# भ॰ महाबीर के पूर्व भव

भगवान् महाबीर का भिल्हराज के भव से लेकर अस्तिम भव तक का जीवन-काल उत्थान पतन की अनेक विस्तय-कारक करूण कहानियों से भरा हुआ है। वर्तमान कालिक समस्त तीर्यंदूरों में से केंग्नल भन्न महाबीर के ही मबसे अधिक पूर्व भवों का वर्णन जैन शास्त्रों में देखने को मिलता है। दिगम्बर और रवेताम्बर दोनों ही सक्वदायों में उनके पूर्व भव का श्री गरीश मिल्लराज के भव से ही पाया जाता है। संक्षेप में मगवान् का यह सब जीवन-कथानक इस प्रकार है:—

भ० इष्टमहेब के पीत्र और भरत बकी के पुत्र सरीचि होने से दो भव पूर्व भ० महाबोर का जीव इसी जन्त्र द्वीप के पूर्व विदेह चेत्र में भीता नदी के उत्तर किनारे पर पुष्कलविनी देश की पुण्डरी-किणी नगरी के समीपवर्ती बन में पुरुरवा नामक का भील था। गन्नव्य मार्ग भूळ जाने के कारण एक दिगम्बर युनिराज उस बन में बिचर रहे वे कि पुरुरवा भीळ ने दृश से उन्हें जाता हुआ। देखकर

१ अप्या कत्ता विकत्ता य दुहाण व मुहाण व । प्रत्या मित्तवर्गित व दुष्पद्विय सुष्पद्विओ ॥

(उत्तराध्ययन प्र० २० गाठ ३७)

## (38)

ह्मीर हिरण समझ कर मारने के लिए क्यों ही चतुव-वाण संमाध्य कि उसकी श्री ने यह कह कर उसे मारने से शेक दिया कि श्वे तो वन के देवता धूम रहे हैं, इन्हें मत मारो । भील ने समीप आकर देखा, तो उसका भ्रम दूर हुआ और खपनी भूल पर परवा-ताप करते हुए उन्हें भीक पूर्वक नमस्कार कर उनसे आस्म-कल्याण का उपाय पूछा। मुनिराज ने उसे मदा, मांच और मधु-सेवन के स्थाम रूप जत का उपदेश दिया, जिसे उसने जीवन पर्वत यालन किया और आयु के समाप्त होने पर वह तीथम सन्ते में एक समार की आयु का धानक देव हुआ। वहां के दिव्य मुखें को भोग कर वह इसी भरत स्तेत्र की अयोध्या नगरी में भ० अध्यक्षेत्र का पींच और आदि सकवर्ती भरत महाराज का पुत्र हुआ, जिसका नाम मरीचि रखा गया।

जब भ० अपभादेष संमार, रेह और भोगों से विश्क होकर ही क्षित हुए, तब अस्य चार हनार महापुरुषों के साथ मरीचि ने भी भगवान की भक्ति-बड़ जिन-दीक्षा की घारण कर खिया। अ० जपभ-देव ने दीक्षा लेने के साथ ही छह साम के उपवास की प्रांत्रज्ञा लेकर मीन धारण कर खिया। वनके दीक्षित हुए ये सभी छोग वनका अनुकरण करते हुए कुछ दिन तक तो भूल-प्यास की बाधा सहत करते रहे, किन्तु जब उतसे भूल-प्यास का कष्ट नहीं सहा गया, तो वे छोग वन के फठ फुछ खाने छगे। चन-देवताओं ने उन छोगों में कहा कि दिरास्वर वेष धारण करने वाले मुनियों का बह माने तही है। येद तुम छोग मुनि धर्म के कठिन माग पर नहीं चढ़ सकते, तो वापिस घर चले जाओ, या अस्य वेष धारण कर लो, पर दिरास्वर वेष में रह कर ऐसी उन्मागं-प्रवृत्ति करना ठीक नहीं है। वे छोग भरत चक्की के मय से अपने घर तो नहीं गयी, किन्तु नाना वेषों को भरत चक्की के मय से अपने घर तो नहीं गयी, किन्तु नाना वेषों को

भारण करके वन में रहते हुए ही अपना जीवन-धापन करने छते।

उस अब् अप्रभदेन को केनल जान प्रगट हो गयां, तन वन्होंने उन अब्द हुए तपरिनयों को सम्बोधन कर मुनि-मार्ग पर चलने का वपदेश दिया। दिससे अनेक तपस्तियों ने पुनः दीक्षा प्रदण कर ली। किन्तु तम तक मरीनि अपने अनेक हिप्पय बना कर उनका मुख्या अस जुका या, खानः उनने जिन-दीक्षा को अमीकार नहीं किया और जब उसे भरत के प्रदेन करने पर अप्यमदेन की दिक्याविन से यह जात हुआ कि में डी आमें चलकर इस युग का अन्तिम नीर्थे दूर होने बाला है, तब नो वह और भी उन्मत्त होकर विकार करा। और खन्मत-मदन्त तस्त्रों का उपदेश देकर एक नये ही मत का प्रचार करने लगा, जो कि आमें जाकर कपिल-दिख्य के नाम पर कापिय या सांस्य मत के नाम से संसार में आज तक प्रसिद्ध है। मरीच का यह भन्न भ० महावीर के ज्ञात पूर्व मयों की हरिट से तीसर। भन हैं।

यशिष सरीचि जीवन-मर उत्मार्ग का प्रवर्तन करता रहा, तथापि कुलर के प्रमाव से मर कर वह पाँचवें नहा स्वर्ग में जाकर देव दरक हुआ। वह मर महाबीर का चौथा भव है। वहां से चय कर पाँचवें मन में वह इसी मध्य छोक में उटिल नाम का जाहाण हुआ। पूर्व भव के दह संस्कारों से इस अब में मी वह अपने पूर्व-अवारित करिल मत का ही साधु बनकर तपस्था करते हुए उसका प्रवार करता रहा और छंडे भव में पुन: सौधमें स्वर्ग में उरस्म होकर देवपद पाया। बहां से चयकर सातवें भव में पुर्व्यप्ति नाम का आहाण हुआ और परिजाजक बनकर छनी मिण्या-मत का प्रचार करता रहा। जीवन के अन्त में मर कर आठवें भव में पुत्र: सौधमें स्वर्ग के देव हुआ। नवें भव में यहां से चय कर पुत्र: इसी मूतल पर अवतीय हुआ और रहा आहण कुल में जन्म लेकर अग्निसह ताम का थारक उम्र तमनी हुआ। इस भव में भी उसने उसी कृपिल मत

का प्रचार किया और मर कर द्वारों भव में सनकुमार स्वर्ग का देव हुआ। स्वारहवें भव में वह पुना इसी भूतल पर जनम लेकर अफि मित्र नाम का जालाण हुआ। और परिवाजक बनकर बसी क्षित्र मत का प्रचार कर जीवन के अन्त में मरा और बारहवें भव में माहेर्द्ध स्वर्ग का देव हुआ। बही से चय कर तेरहवें भव में भारहाज नाम का जालाण हुआ। और उसी क्षिल मत का प्रचार करता हुआ। मर कर चौदहवें भव में पुन: साहेन्द्र स्वर्ग का देव हुआ।

इस प्रकार मरीचि का जीव लगातार आगे के पांचों मनुष्य-भनों में अपने पूर्व हड़ संस्कारों से प्रेरित होकर उत्तरोत्तर मिश्यासका प्रचार करते हुए दुर्मीच दर्शनमोहनीय के साथ सभी पाप कर्मी का उत्कृष्ट बन्ध करता रहा, जिसके फलखरूप चौद्हवें भव वाले खग से वयकर मनुष्य हो तिर्यंग्योति के असंख्यात भवों में लगभग कुछ कम एक कोड़ाकोड़ी सागरीयम काल तक परिश्रमण करता रहा। अतः इन भवों की गणता प्रमुख भवों में नहीं की गई है। तत्पश्चान् कर्म-भार के इलके होने पर मरीचि का जीव गणनीय पन्द्रहवें सब में स्थावर नाम का जापण हुआ। इस भव में भी वापसी बनकर अप्रीर मिथ्या मत का प्रचार करते हुए मरण कर सोलहवें भव में माहेन्द्र स्वर्ग का देव हुआ। यहां से चय कर सत्तरहवें भव में इसी भरत चेत्र के मगध-र्शान्तर्गत राजगृह नगर में विश्वभूति राजा की जैनी नामक स्त्री से विपुल पराकम का धारक विश्वनन्दी नाम का पुत्र हुआ। इसी राजा विश्वभूति का विशासभूति नामक एक छोटा भाई था, उसकी छक्ष्मणा स्त्री से विशाखनन्दी नाम का एक मूर्व पुत्र उत्पन्न हुआ। किसी निमित्त से विरक्त होकर राजा विश्वभूति ने अपना राज्य छोटे भाई को और युवराज पद अपने पुत्र विस्व-नन्दी को देकर जिन-दीक्षा धारण कर छी।

त्तदनन्तर किसी समय युवराज विश्वनन्दी तन्द्रन-वन के

(88)

समान मनोहर अपने उद्यान में अपनी सियों के साथ कीड़ा पर रहा था। उसे देख कर ईंघ्यों से मन्त्रम चित्त हुए विशासनन्दी ने अपने पिता के पास जाकर कहा कि उक्त उद्यान मुझे दिया जाय, प्रत्यक्षा में पा छोड़कर चला जाअंगा। पुत्र-गोह से प्रेरित होकर शजा ने उसे हेने का बारवासन दिया और एक प्रह्यन्त्र रचकर विश्वनन्दी को एक शबु-राजा को जीवने के लिए पाहिर भेज दिया और वह उद्यान अपने पुत्र को है दिया। विश्वतन्दी जब शत्र को जीत कर बापिस आया और उक्त पहचला का उसे पता चला, नो वह आग-ववृता हो गया और विशासनन्दी हो मारने के लिये उधत हुच्या । सब के सारे अपने श्राण बचाने के लिए विशासनन्दी एक कैंथ के पेड़ पर दड़ गया। विश्वनन्दी ने हिला-हिलाकर उस कैंब के पेड़ को जड़ से उत्पाड़ डाला और विशासनन्दी को मारने के लिए ज्यों ही वरात हुआ कि विशासनस्वी वहां से भागा और एक पापाण-स्तम्भ के पीछे छित गया। विश्वनस्त्री ने उसे भी तथाह केंटा और विशासनन्दी अपने प्राण बचाने के लिए वहां से भी भागा। उसे भागते हुए देखकर विश्वनन्दी को करूणा के साथ विरक्ति-भाव जागृत हुआ और राज-भवन में न जाकर बन में जा सम्मृत गुरु के पास जिन-दीक्षा धारण कर ली।

दीक्षा-महण करने के पश्चात में वस तप करते हुए विचरने को और विद्यार करने हुए किसी समय में गोचरी के लिए नगर में उम्रों ही प्रविश्व हुए कि एक सदाः प्रमुखा गाय ने भक्का देकर विद्यानदी मुनि को गिरा दिया। उन्हें गिरता हुआ देख कर अचातक सामने आये हुए विशासनादी ने न्यंग-पूर्वक कहा। 'पुन्हारा वह ऐक और साम्मे को उसाद केंकने बाला पराक्रम अब कहां गया शुं उसका यह व्यंग याण मुनि के हृदय में प्रयिष्ट हो गया और निवान किया कि यदि मेरी तपस्या का कुछ कर हो। नवी में इसे अगसे भव

(88)

में मार्कः । तपस्या के प्रभाव से मुनि का जीव काठारहवें भव में महाछुक स्वर्ग में देव हुआ । आयु के पूर्ण होने पर वह वहां से काकर
इसी भरत ज्ञेव में उनीसवें भव में विष्ठष्ट नाम का प्रथम नारायक
हुआ और विशायनारी का जीव कानेक कुयोनियों में परिश्रमण कर
कावस्त्रीय नाम का प्रथम प्रतिनारायण हुआ। पूर्व मद के बेर माव
के संस्कार से एक को का निस्मा पाकर होनों में प्रमासान युद्ध हुआ।
और त्रिष्ठ ने अश्ववीय को मारकर एक छत्र त्रिवरण्ड राज्य-सुक्ष
भोगा। आयु के काल में मरेकर बीसवें मव में त्रिप्ट का जीव
सातवें नरक का नारबी हुआ।

वहां से निकल कर यह इकीसवें भव में सिंह हुआ और हिंसा-जनित पाप के फल से पुनः बाईसवें भव में प्रथम तरक का नारकी उत्पन्न हुआ। यहां से निकल कर तेईसवें भव में फिर भी सिंह हुआ।

इस सिंह के भव में वह किसी दिन भूख से पीड़ित होकर एक हरिण को पकड़कर जब खा रहा था. तभी भाग्यवश दो चारण सिंत खाकाश मार्ग से विहार करते हुए वड़ां उतने खीर उसे सम्बोधन किया— हे भव्य, तुने जो त्रिपुष्टनारायण के भव में राज्यासिक से चोर पाप उपार्जन किया, उसके फळ से नरकों में घोर यातनाएं मही हैं खीर अब भी तू इस सुग जैसे दीन शाणियों को भारमार कर घोर पाप उपार्जन कर रहा है १ सिंगा के बचन सुनकर सिंह को जाति-समरण हो गया और वह खपने पूर्व भवों को याद करके हरिण को डोड़कर खांखों से खांसू बहाते हुए निश्चल खड़ा हो गया। उन चारण सुनियों ने उसे निकट भव्य खीर खांना तीर्थ कर होनेवाला देख कर धर्म का उपदेश दिया। उनके बचनों को सिंह ने शान्ति-पूर्वक सुना और प्रसुद्ध होकर उनकी तीन प्रदक्षिणा देकर बनके

चरणों में ष्रपना शिर रखकर बैठ गया। मुनिराज ने उसे पशु मारते और सांस खाने का लाग कराया और उसके बोस्य आवक जातों का अपदेश दिया। उन मुनिराजों के चले जाने पर सिंह की प्रयुक्ति एक इस बदछ गई। उसने जीवों का सारना और मांस का खाना छोड़ दिया और अन्य आहार का मिळना सन्भव नहीं था, अतः वह निराहार रह कर बिचरने छना। यह मन में संन्यास-पूर्वक प्राण छोड़ कर प्रथम स्वर्ग का देव हुआ। यह मन सम्मान का गणनीय चौंचीस-बां भव है। वेईसमें सिह भव वक उनका उत्तरोत्तर पतन होता। गया और मुनिरसमागम के परचान उनके उत्थान का भी गरोहा हुआ।

सीधमें खर्ग से चयकर वह देव इस भूतल पर अवतीण हथा। श्रीर पत्रीसवें भव में कनकोज्ज्वल नाम का राजा हुआ। किसी समय वह सुनेरु पर्वत की बन्दना को गया। वहां पर उसने एक मनिराज से धर्म का उपदेश सना और संसार से विरक्त होकर मनि बन गया। अन्त में समाधि-पूर्वक प्राण-त्याग करके छन्त्रीसर्वे भव में छात्तव स्वर्ग का देव हुआ। वहां से चयकर सत्ताईसवें भव में इसी भरत होत्र के साकेत नगर में हरिपेण नाम का राजा हुआ । राज्य मुख भोग कर और जिन-दीक्षा प्रहण करके अट्टाईसर्वे भव में वह महाशक धर्म का देव हुआ। वहां से चय कर उनतीसवें भव में धातकी खरहस्य पूर्व दिशा-सम्बन्धी बिदेह जेत्र के पूर्व भाग-स्थित पुरहरीकिणी नगरी में प्रियमित्र नामका चकवर्ती हुआ। अन्त में जिन-दीक्षा लेकर वह तीसवें भव में सहस्रार स्वर्ग में देव हुआ। वहां से चयकर इकतीसवें भव में इसी भूमण्डल पर नन्दन नाम का राजा हुआ। इस भव में उसने प्रोप्ठिल मुनिराज के पास धर्म का म्बरूप सुना और जिन-दीक्षा धारण कर छी । तदनन्तर पोडल द्वारण भावनाओं का चिस्तवन करते हुए उसने तीर्थ कर प्रकृति का

बन्ध किया और जीवन के अन्त में समाधि-पूर्वक प्राण छोड़कर बत्तीसवें भव में अन्युत स्वर्ग का वह इन्द्र हुआ। वाईस सागरोपस काल तक दिव्य सुखों का अनुभव कर जीवन के समाप्त होने पर वहां से चयकर वह देव अन्तिम तीर्थद्वर महावीर के नाम से इस ससुधा पर अवतीर्ण हुआ। यह महावीर का गणनीय तेतीसवां भव हैं।

इस प्रकार दिगन्वर-परस्परा के अनुसार म० महाबीर के अनिता २२ भवों का बुतान्त मिळता है। रवेतास्वर-परस्परा में भग-वान के २० ही भवों का वर्णन देखने को मिळता है। उनमें प्रारम्भ के २२ भव कुछ नाम-परिवर्तनादि के साथ वे ही हैं जो कि दि० परस्परा में बतळाये गये हैं। शेष भवों में से कुछ को नहीं माना है। यहां पर स्पष्ट जानकारी के ळिए दोनों परस्पराओं के अनुसार भ० महाबीर के भव दिये जाते हैं:—

देगम्बर-मान्यतानुसार-	श्वेताम्बर-मान्यतानुसार-
१. पुरुखा भील	१. नयसार भिल्छराज
२. सीधर्म देव	२. सीधर्म देव
३. मरीचि	३. मरीचि
<ol> <li>श्रह्म स्वर्ग का देव</li> </ol>	४. ब्रह्म स्वर्ग का देव
४. जटिल त्राह्मण	४. कोशिक ब्राह्मण
६. सौधर्म स्वर्ग का देव	६. ईज्ञान स्वर्ग का देव
७. पुष्यमित्र त्राह्मण	७. पुच्यमित्र त्राह्मण
द. सीधर्म स्वर्ग का देव	E. सीधर्म देव
६, अग्निसह ब्राह्मण	<ol> <li>श्रमन्युद्योत त्राह्मण</li> </ol>
१०. सनस्कुमार स्वर्ग का देव	
१०, सनत्कुमार स्वरा का १५	११. अग्निभृति बाह्मण

## (84)

१२. सनकुमार स्त्रगं का देव १२, माहेन्द्र स्वर्ग का देव १३. भारद्वाज बाह्यण १३. भारदाज बाह्मण १४. माहेन्द्र स्वर्ग का देव १४. माहेन्द्र स्वर्ग का देव वस-स्थावर योनिके असंख्यात भव अन्य अनेक भव १४. स्थावर ब्राह्मण १४. स्थावर त्राह्मण १६. ब्रह्म स्वर्ग का देव १६. माहेन्द्र स्वर्ग का देव १७. विश्वनन्दी (मुनिपद्में निदान)१७. विश्वभृति ( मुनिपद्में निदान) १८. महाझक स्वर्ग का देव १६. महाञ्रक स्वर्ग का देव १६ त्रिष्टुष्ठ नारायण १६ त्रिवृष्ट नारायण २०. सातवं नरक का नारकी २०. सातवं नरक का नारकी २१ सिंह २१. सिंह २२ प्रथम नरक का नारकी २२. प्रथम नरक का नारकी २३. सिंह (मृग-भक्षण के समय चारण मुनि द्वारा संबोधन) २४. प्रथम स्वर्ग का देव २४, कनकोञ्ज्वल राजा २६. लान्तव स्वर्ग का देव २७. हरियेण राजा २८. महाशक स्वर्ग का देव २६. प्रियमित्र चकवती २३. पोट्टिल या प्रियमित्र चक्रवर्ती ३०. सहस्रार स्वर्ग का देव २४. महाशुक्र स्वर्ग का देव तन्द् राजा (तीर्थद्वरप्रकृतिः २४, नन्दन राजा (तार्थद्वरप्रकृति-का बन्य) का बन्ध) ३२. अच्युत स्थर्ग का इन्द्र २६. प्राणत स्वर्ग का देव ३३. भ० महाबीर २७. २० सहाबीर

दोनों परन्पराश्चों के अनुसार भ० महाबीर के पूर्व सवों में

(80)

छड भवों का धान्तर कैसे पड़ा ? इस प्रश्न के समाधानार्थ दोनी परभ्यराष्ट्रों के जानमां की छान-बीन करने पर जो निष्कर्ष निकला, बहु इस प्रकार है—

भे महाबीर दोनों परन्दराखों के खनुसार वाईसबें भव में प्रथम नरक के नारकी थे। स्वे परन्दरा के खनुसार वे वहां से निकल कर पोहल या प्रियमित्र चक्रवर्सी हुए। दि० परन्दरा के खनुसार नरक से निकल कर चक्रवर्सी, बलदेव, वासुरेव खीर प्रतिवासु-देव नहीं हो सकते हैं। छक्खंडागमसुत्त की गति-खागित चूलिका में सम्बट क्ष से कहा हैं—

तिसु उवरिमासु पृढवीसु रोरह्या णिरवादो उवद्विदःसमाणा कदि गदीको खागच्छिति ( सू० २१७ ) दुवे गदीको खागच्छिति तिरिक्वार्गिदं मागुस्तादि चेव ( सू० २१८ ) । मागुसेसु उववरणक्ल्या मागुस्ता कहमेजारस उप्पापंति — केइमाभिणिबोहियणाणमुप्पाप्ति, केइ सुदणाणमुप्पाप्ति, केइ सुदणाणमुप्पाप्ति, केइ सम्मामिन्छत्तमुप्पाप्ति, केइ सम्मामिन्छत्तमुप्पाप्ति, केइ सम्मामिन्छत्तमुप्पाप्ति, केइ सम्मामिन्छत्तमुप्पाप्ति, केइ सम्मामिन्छत्तमुप्पाप्ति, केइ सम्मामिन्छत्तमुप्पाप्ति, केइ सम्मामिन्छत्तमुप्पाप्ति। वो वळदेवन्तं जो वासुदेवनस्प्राप्ति। जो चक्कदिन्तमुप्पाप्ति। केइ तिस्वयरत्तमुप्पाप्ति, केइसंतयहा होद्वज्ञ सिक्क्षिति । स्वर्थित स्वयंति परिणिट्याणयंति स्वरंदिवज्ञाणंति। (स्वर्थेट)

इसका अर्थ इस प्रकार है— प्रश्न—उत्तर की तीन पृथिवियों के नारकी वहां से निकल कर कितनी गतियों में खाते हैं ? इत्तर—दो गतियों में खाते हैं— तिर्यगति में और मनुष्याति में। मनुष्य गति में मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य स्थारह परी को उत्पन्न करते हैं—कोई साभिनियोधिक ज्ञान उत्पन्न करते हैं, कोई सुरुद्धान उराज करते हैं, कोई अवधिक्षान उराज करते हैं, कोई मा-पर्ययक्षान उराज करते हैं, कोई केवलशान उराज करते हैं, कोई सम्योगिष्याख उराज करते हैं, कोई सम्यक्त उराज करते हैं, कोई संवद्यासंग्रम उराज करते हैं, कोई संवम उराज करते हैं। किन्तु पे जीव न बलदेशल को उराज करते हैं, वोधुद्धाय को और न चक्र-वर्षिल को उराज करते हैं। वृद्ध होते हैं, युग्ज होते हैं, कोई स्वन्तकृत होकर सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, युग्ज होते हैं, परिनिर्वाण को आत होते हैं और सर्व दुःसां के स्वन्त होने का खतुभव करते हैं। (युग्लहागम पु॰ 5 पु॰ ४६९)

इस आगम-अमाण के अनुसार नरफ से निकला हुआ जीव चक्रवर्ती नहीं हो सकता है और न वासुरेव, वलरेव ही। किन्तु ये तीनों पदवी-धारी जीव स्वर्ग से ही आकर उत्पन्न होते हैं।

अतएव दि० परम्परा के अनुसार वाईसवें भव के बाद भ०
महाबीर का जीव सिंह पर्याय में उत्तल होता है और उस भव में
बारण मुनियों के द्वारा अबोध को आह होकर उत्तरोत्तर आहमविकास करते हुए उनतीसवें भव में चक्रवर्नी होता है, यह कथन
सर्वया बुक्तिसंगत है। किन्तु स्वे० परस्परा में प्रथम नरक से निकल
कर एक दम चक्रवर्नी होने का वर्णन एक आअर्थकारी ही है। खास
कर उस दक्षा में— बच कि उससे भी पूर्व भव में यह सिंह था,
और उससे भी पूर्व वीसवें भय में यह समम नरक का नारकी था।
तय कहां से उस जीव ने चक्रवर्नी होने थे।य पुर्य का उपाजन कर
खिया १ खेतास्वर परस्परा में सिंह को किसी साधु-द्वारा सम्बोधे
जाने का भी उल्लेख नहीं मिळता है। यदि वह सम्बोधिन कर
सन्मार्य की खोर छगाया गया होता, तो उसके नरक जाने का आवसर ही नहीं खाता। स्वे० आगमों की छान-बीन करने पर भगवती

सुत्र के १२ वें झानक के धर्चे बढ़ेश के अनुसार प्रवस नरक का नारकी बड़ों से निकल कर चक्रवर्गी हो सकता है। उसका आधार इस प्रकार है—

(प्र०) के नरदेवा ? (उ०) गोयमा, ने गयाको चाइरंत-चक्रवट्टी उपरणसम्भन्त-रयणपदाणा नवनिहिपदणो समिद्रकोसा बत्तीसं रायवरसहरसारायातसम्मा सागर-वरमेहलाहिददणा मस्मु-स्तिदा से णरदेवा। (प्र०) णरदेवाणं भंते कक्षीहितो उद्यवज्ञति ? किंठ गोरद्रए० पुच्छा। (उ०) गोयमा, गोर्द्रपहितो वि वद्यवज्ञति ? णो तिरि० णो मस्मु० देवेहितो वि उद्यव्यवित (प्र०) जद्द नेरद्रप्-हितो उद्यवज्ञति, कि रवणपद-पुढियोरद्रपहितो उद्यवज्ञति, आव कहं सत्तमपुढिविगोरद्रपहितो उद्यवज्ञति ? (उ०) गोयमा, रवणपद-हापुढिविगोरद्रपहितो उद्यवज्ञति, णो सक्षा जाव नो अहं सत्तम-पुढिवि-गोरद्रपहितो उद्यवज्ञति। (भगवतीसृत, भा० रे, पृ० रम्ह)

इसका अर्थ इस प्रकार है— प्रश्न—नर-देव कीन कहलाते हैं ?
उत्तर—गीतम, जो राजा चातुरन्त चकवर्ती हैं, जिन्हें चकरत्न प्राप्त
हुआ है, जो नव निषियों के स्वामी हैं, जिनका कोष (खजाना) समृद्ध
है, बत्तीस हजार राजा जिनके पीछे चलते हैं और जो समुद्रक्षप उत्तम
मेखला के अधिपति हैं, वे मनुष्यों के इन्द्र तर-देव कहलाते हैं।
प्रश्न—भगवन, ये तरदेव कहां से आकर उत्तल होते हैं ? उत्तर—गीतम, वे नर-देव नरक से भी आकर उत्तल होते हैं शिवर देवाति
से आकर के उत्तल होते हैं। किन्तु तिर्यगति और मनुष्याति
से आकर उत्तल नहीं होते हैं। प्रश्न—भगवन, यदि नरक से आकर
उत्तल होते हैं, तो क्या रत्नप्रभा प्रयिवी के नार्राक्ष्यों से आकर
उत्तल होते हैं, क्या शक्तरा० यावत् अधस्तन सप्तम प्रथिवी के नार्र्

( xo )

नारकियों से खाकर जपन होते हैं, शेष नीचे की छह प्रथिवियों के नारकियों से खाकर उपन नहीं होते हैं।

भगवती सूत्र के उक्त आधार पर प्रथम नरक से निकला जीव चक्रवर्तों हो सकता है, ऐसी इवेट मान्यता भले ही प्रमाणित हो जाय, किन्तु जब नारायण, बलदेव जैसे आर्थचिकियों की उत्पत्ति देवगति से हो बनलाई गई है, तब पूर्ण चक्रवर्ती सम्राट् की उत्पत्ति नरक से विकलने वाले जीव के कैसे सम्भव है ?

जात होता है कि श्वेतास्वर परस्परा के आचार्यों ने आपने आगम की सास्यता के अनुसार ही उक्त भवों का निर्धारण किया है। वहां इतनी बात ध्यान देने के योग्य है कि पट्खरहागम के प्रस्तकारूढ़ होने के भी छगभग तीन सी वर्ष बाद भगवती सुत्र आदि श्वेर आगम तीसरी वाचना के प्रधान पुस्तकारुढ हुए हैं। अनः पट्खरहागम जा पाचीन होना स्वयं निद्ध है। इस सन्दर्भ में एक जात और भी जातक्य है कि दिन परस्परा भी पट्खरहागम की उक्त गति आगमि चृछिका की करांचि व्याख्या-प्रकृष्ति आंग से ही मानती है, जबकि अंत परस्परा मगवती-सुत्र को क्याख्या-प्रकृष्ति नाम से कहती है। ऐना प्रति होता है कि पट्खरहागम-प्रश्नित नाम से कहती है। ऐना प्रति होता है कि पट्खरहागम-प्रश्नित नाम से कहती है। ऐना प्रति होता होता गई। यहा कान को ब्याया और भी क्षाण होती गई, और स्वेर परस्परा में छिनिकड़ होने तक बह बहुत कुछ विस्मृति के समरणों के अवस्था गई। यही कारण है कि अनेक आचार्यों के समरणों के आधार पर स्वेर आगमों का अनिनम संस्करण सम्पन्न हुआ। अतः

प्रस्तुत काट्य में भ० महावीर के पूर्व भवों का वर्णन बहुत ही

( 23 )

सुन्दर इंग से नवारहवें सर्ग में किया गया है। जहां तक सेश अनु-मान है कि यह पूर्व भवों का वर्णन गुणभद्राचार्य-रांचत उत्तरपुराण के आधार पर किया गया है। इसके परवर्ती सभी दि० प्रन्थों में इसी का अनुसरण इंग्डिंगोचर होता है।

सिडान्त प्रत्यों में श्वायोपशिमक सम्यक्त का उत्हरूट काल छवासठ सागरोपम बतलाया गया है। सिंह के जिस भव में चारण सिन्यों ने उसे संबोधन करके सम्यक्त को प्रहण कराया, वह बरा-बर अन्तिम महाबीर के भव तक बना रहा। अर्थात् लगातार १० भव तक रहा और इस प्रकार श्वायोपशामिक सम्यक्त की उत्हरूट स्थिति पूरी करके वह श्वायोक सम्यक्त क्य से परिणत हो उसी भव से उन्हें मुक्ति-प्राप्ति का कारण बना।

पूर्व भवों के इस वर्णन से यह सहज ही जात हो जाता है कि आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ट्रा पर पहुँचना किसी एक ही भव की साधना का परिणाम नहीं है किन्तु उसके छिए छगातार अनेक भवों में साधना करनी पड़ती है।

भ॰ महाबीर के जन्म समय भारत की स्थिति

स० सहावीर के जन्म से पूर्व ऋषांत् आज से अड़ाई हजार वर्ष के पहिले भारत वर्ष की धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति जेसी थी, इसका कुछ दिग्दर्शन प्रस्तुत काव्य के प्रथम सर्ग के उत्तरार्थ में किया गया है। उस समय ब्राह्मणों का बोल बाला बा, सारी धार्मिक सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की बागडोर उन्हों के हाथों में थी। इस समय उन्होंने यह प्रसिद्ध कर रखा था कि 'बतार्थमेत पश्चों हि

सुष्टाः". और विदिकी हिंसा हिंसा न भवति " अर्थात् ये सभी पशु यज्ञ के लिए बाता ने रचे हैं, और वेद-विधान से की गई हिंसा हिंसा नहीं है, अपि तु ध्वर्ग-प्राप्ति का कारण होने से पुरुष है। उनकी इस उक्ति का लोगों पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा, कि लोग यहाँ में केवल बकरों का ही दोम नहीं करते थे. वरन मैंसा, घोड़ा और गाय तक का होम करने छगे थे। यही कारण है कि वेदों में अश्वमेध, गोमेध आदि नामवाले यहाँ का विधान आज भी देखने में आता है। धर्म के नाम पर यह हिंसा का तारडवनृत्य अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया था, जिसके फलस्वरूप नरसेथ यज्ञ तक होने लगे थे-जिनमें कि रूप-यौवन-सम्पन्न मनुष्यों तक को यज्ञाग्नि की आहति बना दिया जाता था । इस विषय के उल्लेख अनेकों अन्यों में पाये जाते हैं। गीतारहस्य जैसे प्रस्य के लेखक लोक-मान्य बालगङ्गाधर तिलक ने अपने एक भाषण में कहा वा कि "पृवकाल में यहा के लिये असंख्य पशु-हिंसा होती थी,इसके प्रमाण मेचदूत काव्य आदि अनेक प्रन्थों में मिछते हैं।"

भ० महाबीर ने इस हिंसा को दूर करने के लिए महान प्रयत्न किया और उसी का यह सुकल है कि भारत वर्ष से याजिकी हिंसा सदा के लिए बन्द हो गई। खयं लोक-मान्य तिलक ने स्वीकार

१. यशायं पदावः सुष्टाः स्वयमेव स्वयम्भवा । यज्ञस्य भूत्यं सर्वस्य तस्माद् यज्ञे वर्षोऽवधः ॥ मनाभें ब्राह्मणेंबंध्याः प्रणस्ता मृग-पत्तिणः ।

२. या वेदविहिता हिसा नियतार्शस्मदचराचरे । वहिंसामेब वां बिखाई दाखमी हि निवंभी ॥

( मनुसमृति ४।२२-३६-४४ )

३. देखो-यहास्तिलकचम्पू, प्रवाधं ।

( 28 )

हुआ भाग, और न उसे धर्म का उपवेश ही वेना चाहिए। यदि कोई गृह को धर्मोपदेश और अत का आदेश देता है, तो वह शुद्ध के साय असर्व नामक अन्यकारमय नरक में जाता है।

शहों के लिए वेदादि धर्म प्रत्यों के पढ़ने का अधिकार तो था ही नहीं. प्रस्कृत यहां तक व्यवस्था का विधान बाह्यणों ने कर रखा बा कि जिस गांव में शुद्र निवास करता हो, वहां बेद का पाठ भी न किया जावे । यदि वेद-ध्वनि शुद्र के कानों में पड़ जाय, तो असके कानों में गर्म शीशा और लाल भर दी ताय वेद वाक्य का उचारण करने पर उसकी जिह्ना का छेद कर दिया जाय और वेद-मंत्र याद कर तेने पर उसके शरीर के दो दुकड़े कर दिये जावें । उस समय

१. न सूबाय मति दशान्नोच्छिप्टं न हविष्कृतम् । त बास्योपदिशेद्धमें न बास्य वतमादिशेत ।। यक्बास्योवदिशेडमं यक्बास्य व्रतमादिशेत् । सोऽसंबुतं तसी घोरं सह तेन प्रपद्यते !। (विणय्य समृति १८।१२-१३) २. अथ हास्य वेदमुशग्रुण्वतस्त्रपु- अतुभ्यां श्रीत्र-प्रतिपूरण-मुदाहरणे जिह्नाच्छेदो घारणे शरीर-भेद: ।

टोका-मथ हेति वाक्यालङ्कारे । उपश्रुत्य बुद्धिपूर्वकमक्षर-बहुषमुक्तवष्यम् । सस्य जूदस्य वेदमुपश्चण्वतस्त्रपु-जतुभ्यां त्रपुणा (शीसकेन) जतुना च द्रबोक्तिन श्रीत्रे प्रतिपुरियतस्ये । स चेद् डिजातिभिः सह वेदाक्षराष्युदाहरेडुच्चरेत्, तस्य जिल्ला छेटा । बारणे सति यदाज्यत्र गतोऽपि स्वयमुच्धारयितु शवनोति, ततः परस्वादिना वारीरमस्य भेदाग् (गौतम घर्म सुत्र, घ० इ. सु० ४ टीका

प्॰ ६६-६० पूना संस्करण, वर्ष १६३१)

किया है कि इस योग हिसा का जावाण धर्म से बिदाई के जाने का श्रंय जैन धर्म के ही हिस्से में है। प्रस्तुत काव्य में इस विषय पर उसम प्रकाश डाला गया है, जिसे पाठक इसका स्वाध्याय करने पर स्वयं ही अनुभव करेंगे।

भ० महाबीर के पूर्व सारे भारत की सामाजिक स्थिति अत्यन्त दयतीय हो रही यी। बाह्मण सारी समाज में सर्व श्रेष्ट समझा जाता था। उसके लिए ब्राह्मण-प्रन्थों में कहा गया था कि द:शील बाबाण भी पूज्य है और जितेन्द्रिय शृह भी पूज्य नहीं है?। बाह्मण विद्वान हो, या मुखं, वह महान देवता है । श्रीर सर्ववा पुज्य हैं । तथा श्रोत्रिय बाह्मण के लिये यहां तक विधान किया गया कि श्राद्ध के समय उसके लिए महान् वेल को भी मार कर उसका मांस श्रोतिय बाद्मण को खिलावे<sup>थ</sup>। इसके विपरीत भ० महाबीर ने वणांश्रम और जातिवाद के विरुद्ध अपनी देशना दी और कहा-मांस को खाने बाला बाह्यण निन्य है और सदाचारी शुद्र बन्य है ।

उस समय ब्राह्मणों ने यहां तक कानून बना दिये थे कि 'शूद्र को ज्ञान नहीं देना चाहिए, न यह का उच्छिट्ट और हवन से बचा

१ देखो-सर्ग १६ आदि ।

२ दुःशीलोऽपि द्विजः पूज्यो म जूडो विजितेन्द्रियः । -पारागर स्मृति ४।३२।

३, अविद्वारचंत्र बिद्वारच बाह्मणो वैदर्श महत्।

— मनुस्मृति हो ३१७ ।

४. एवं यद्यव्यनिष्टेष् वतंन्ते सर्वेत्रमंसु ।

सर्वया जाह्मणाः पृज्याः परमं दैवते हि तत् ॥ - मनुस्मृति ।९।३१६।

४. महाज वा महोल वा श्रीतियाय प्रगल्पवेत ।

इ.[विश्रोऽपि जेन्मांसभुगस्ति निद्याः, सद्-वृत्तभावाद् वृषलोऽपि वन्तः । बीरोदम १७११७

( 22 )

शहों की तीच, अधम एवं अस्पृश्य समझ कर उनकी छाया तक से परहेज किया जाता था। आचार के स्थान पर जातीय श्रेष्टता का ही बोल-बाला था। पग-पग पर हृदियां, कुपवाएं और कुरीतियां का बाहरूय था। स्वार्थ-लोलुपता कामुकता और विलासिता ही सर्वत्र हिट्योचर होती थी। यहाँ में होने वाली पशु-हिंसा ने मनुष्यों के हृद्य निर्देशी और कठोर बना दिसे थे।

थोदों के 'चित्तसम्भूत जातक' में लिखा है कि एक समय ब्राह्मण और बेश्य कुछीन दो स्त्रियां नगर के एक महा-हार से निकल रही थीं, सार्ग में उन्हें दो चाएडाल मिले। चाएडाली के देखने को उन्होंने अपशकुन समझा। अतः घर आने पर उन्होंने शुद्ध होने के लिए अपनी आंखें को घोषा, घर के लोगों से उन चारडालों को खूब पिटवाया और उनकी दुर्गति कराई। मातंग जातक और सद्धर्म जातक बौद्ध प्रन्थों से भी अजुतों के प्रति किये जाने वाले घृणित व्यवहार का पता चलता है।

ब्राद्याणों ने जाति व्यवस्था को जन्म के आधार पर प्रतिष्ठित कर रखा था, अतएव वे अपने को सर्व श्रेष्ठ मानते थे। भरत चक-वर्ती ने जब ब्राक्षण वर्ण की स्थापना की, तब उनकी घासिक प्रवु-त्तियों को देखकर ही उन्हें उत्तम कहा था। किन्तु धीरे-धीरे उनकी गुण-कृत महत्ता ने जाति या जन्म का स्थान ले छिया और उन्होंने अपने को धर्म का अधिकारी ही नहीं, श्रिपि तु ठेकेदार तक होने की घोषणा कर दी थी। इस प्रकार की उस समय धार्मिक व्यवस्था थी।

ऋार्थिक व्यवस्था की दृष्टि से उस समय का समाज साधारणतः सुखी था, किन्तु दासी-दास की वड़ी ही भयानक प्रया प्रचलित थी। कभी-कभी तो दास-रासियों पर अमानुषिक घोर अत्याचार होते

है। विजेता राजा विजित राज्य के सी-पुरुपों को बन्दी बनाकर अपने राज्य में ले आता वा और उनमें से अधिकांशों को चौराहों पर खड़ा करके नीलाम कर दिया जाता था। अधिक बोली लगाने वाला उन्हें अपने घर ले जाता और वस्त्र-भोजन देकर रात-दिन उनसे घरेल कार्यों को कराया करता या। दासी-दास की यह प्रथा अभी-श्रमी तक रजवाड़ों में चलती रही है।

इस प्रकार की धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक विषम परि-स्थितियों के समय भ० महावीर ने जन्म लिया। बाल-काल के व्य-तीत होते ही उन्होंने अपनी दृष्टि चारों स्त्रोर दृौड़ाई स्त्रोर तात्का-लिक समाज का अच्छी तरह अध्ययन करके इस निर्णय पर पहुँचे कि में अपना जीवन छोगों के उदार में ही छगाऊंगा और उन्हें उनके महान् कप्टों से विमुक्त करू गा। फलस्वरूप उन्होंने विवाह करने और राज्य सम्भातन से इनकार कर दिया और स्वयं प्रवृत्तित होकर एक लम्बे समय तक कठोर साधना की । पुनः केवलय-प्राप्ति के पश्चात् अपने लक्ष्यानुसार जीवन-पर्यन्त उन्होंने जरात् को सुमार्ग दिखाकर उसका कल्याण किया, दुःख-संत्रश्त जीवों का दुःखों से विमोचन किया और खर्ग-मुक्ति का मार्ग दिखाकर उसकी छोर उन्हें अप्रसर किया।

प्रतृत काव्य में म० महाबीर के मुख्य उपदेशों को चार भागों में विभाजित किया गया है – ?. साम्यवाद, २. व्यहिंसावाद, ३. स्या-हाद और सर्वज्ञताबाद। इन चारों ही बादों का प्रन्यकार ने बहुत ही सरल और संयुक्तिक रीति से प्रन्य के अन्तिम अध्यायों में वर्णन किया है, जिसे पढ़कर पाठकराण अगवान महावीर की सर्वहित-कारिणी देशनासे परिचित होकर अपूर्वी आनन्द का अनुभव करेरी।

म० महाबीर ने 'कर्मवाद' सिद्धान्त का भी बहुत विशद उप-

( 25)

की माता उत्तमें से १६, चकवर्ती की माता १४; वासुदेव की माता ७ और बलदेव की भाता ४ स्वप्न देखती हैं। यहां यह ज्ञातस्य है कि इवे॰ परस्परा में तीर्यंहर की माता के १४ ही स्वप्न देखने का उल्लेख मिलता है।

दोनों परस्पराद्यों के अनुसार स्वप्रावली इस प्रकार है-

दिगम्बर परम्परा	श्वेतास्वर परस्परा				
१ गज	१ यज				
२ ग्रुपभ	२ वृषभ				
३ सिंह	३ सिंह				
४ लक्ष्मी	४ श्री अभिषेक				
प्र माल्यद्विक	४ दाम (माला)				
<b>६</b> হারি	৭ হাছি				
७ सूर्य	७ दिनकर				
= कुम्भद्विक	<b>५ कुम्भ</b>				
६ झपयुगल	६ झय (ध्वजा)				
१० सागर	१० सागर				
११ सरोवर	११ पदासर				
१२ सिहासन	×				

 वृमिणसस्ये वायालीसं मुमिणा, तीमं महासुमिणा, वावत्तरि सध्वस्मिणा विद्वा । तस्य णं देवाजुण्यियाः अवहंतमायरो वा जवस्वद्रिमायरो वा x x x व उदस महासुमिरो पासिसा गं पहिलुखाति । x x x बासुदेवमायरो वा महासुमिणाणं प्रण्यारे सहा महासुमिर्ण । बलदेवमायरो या महासुमिणाणं अण्णयरे चलारि ।

( भगवती सूत्र शतक १६, उहेश ६ सूत्र १८१ )

देश दिया था। जिसका १६ त काठ्य में ययास्थान 'खकमंतोऽक्षी परि-पाकभर्ती' (सर्ग १६ अरा० १०) आहि के रूप में वर्णन किया ही गया है।

# भ० महावीर का गर्भ-कल्याणक

जैन मान्यता है कि जब किसी भी तीर्थं कर का जन्म होता है. तब उसके गर्भ में आने के छह मास पूर्व ही इन्द्र की आजा से कवर आकर जिस नगरी में जन्म होने वाला है, उसे सुन्दर और सहयव-स्थित बनाता है और श्री ही आदि ४६ कुमारिका देवियां आकर होने वाले भगवान की माता की सेवा करती हैं। उनमें से हित्ती ही देवियां साता के गर्भ का शोधन करती हैं, जिसका अभिप्राय यह है कि जिस कुक्षि में एक महापुरुष जन्म लेने वाला है, उस कुक्षि में यदि कोई रोग आदि होगा, तो उत्पन्न होने वाले पुत्र पर उसका प्रभाव अवस्य पड़ेगा। आज की भाषा में ऐसी देवियों को लेही हाक्टर्स या नर्सेज कह सकते हैं। यत बाहिरी वातावरण का गर्भस्य क्षिशु पर प्रभाव पड़ता है, अतः वे कुमारिका देवियां भगवान के जन्म होने तक साता के चारों खोर का वातावरण ऐवा सन्दर और नयन-मन-हारी बनाती हैं कि जिससे किसी भी प्रकार का क्षांभ या संक्लेश माता के मन में उत्पन्न न होने पावे। इसी सब सावधानी का यह सफल होता है कि उस माता के गर्भ से उत्पन्न होने वाला बालक श्रात्ल बली, तीन ज्ञान का धारक और महा प्रतिमाशाली

साधारणत यह नियम है कि किसी भी महापुरुष के जन्म जेने के पूर्व उसकी माता को कुछ विशिष्ट स्वप्न आते हैं, जो कि किसी महापुरुष के जन्म लेने की सूचना देते हैं। स्वप्न शास्त्रों में ३० विज्ञिष्ट स्वप्न माने गये हैं। जैन शास्त्रीं के उल्लेखानुसार तीर्यहर

( SE )

१२ विमान १३ देय-विमान १४ नाग-विमान १३ रत्स-उषय १५ रस्त-राशि शिखि (अग्नि) १६ निर्मुम अग्नि

बोनों परम्परास्त्रों में तेरह स्थान तो एक से ही हैं। किन्तु दि० परम्परा में जहां झप (मीन) का उल्लेख है, वहां श्बे० परम्परा में झय (ध्वज) का उल्लेख है। ज्ञान होता है कि किसी समय प्राकृत के 'झस' वे स्थान पर 'झय' या 'झय' के स्थान पर 'झस' पाठ के मिछने से यह मत भेद हो गया। इन चौदह स्वप्नों के अतिरिक्त दि० परम्परा यें २ स्त्रप्न ऋीर ऋधिक माने जाते हैं, उनमें एक है सिहासन श्रीर दूसरा है भवनवासी देवों का नाग-मन्दिर या नाग-विमान।

र्वे० परस्परा के भगवती सूत्र आदि में माता के चौदह स्वप्नों का स्पष्ट उल्लेख होते से उनके यहां १४ स्वप्तों की मान्यता स्वीकार की गई। पर आश्चर्य तो यह है कि उन चौद्ह स्वप्नों के लिए 'तंजहा' - कह कर जो गाथा दी गई है, उसमें १४ स्वप्नों का स्पष्ट निदंश है। वह गाथा इस प्रकार है-गय"-तसह "-सीह "-अभिसेय"-दाम"-सिन "-दिणवरं" स्यं कुम्भं । पडमसर १०-सागर ११-विमाण १२-भवण १३ रथगा च्चय १४ सिहि च १४॥

इस गाथोक क्षप्रों के ऊपर दिये गये खंकी से स्वप्नों की संख्या १४ सिख होती है। विमलस्रि के पत्रमवरित में दी गई गाया में भी स्वप्नों की सख्या १४ ही प्रमाणित होती है। वह गाया इस प्रकार है-वसह ' गय' सीह वरसिरि दामें प्रसि रिवि झर्य व कलसं च ।

सर १ ९ सायर १ १ विसाणं १ वरभवणं १ वरण १ ४ कुडमी १ ॥

(पडमचरित्र, तृह पहुँ श, गा० ६२)

समझ ने नहीं खाता कि जब दोनों ही गाथाओं में 'भवत' या 'बर भवत' का गटट उल्लेख पाया जाता है, तब श्वें आचारों ने उसे क्यों छोड़ दिया। ऐसा प्रतीत होता है, कि भगवती सुत्र खादि में १४ स्वप्तों के देखने का स्पष्ट विधान ही इसका प्रमुख कारण सहा है।\*

सेरे विचार से। दि० परम्परा में १६ स्वप्त-सूचक गाथा इस प्रकार रहीं होगी—

वसह<sup>\*</sup>-गव<sup>\*</sup>-तीह<sup>\*</sup> वरसिरि<sup>\*</sup>-दामं<sup>\*</sup> सिम<sup>\*</sup> रवि <sup>\*</sup> झसं<sup>\*</sup> च कुन्भजुरां<sup>‡</sup> सर<sup>\*</sup> सागर<sup>\*</sup> सिंघासण<sup>\*</sup> विमाण<sup>\*\*</sup> भवण<sup>\*\*</sup> रथण<sup>\*</sup>\* कृहगी।<sup>\*</sup> व

गाया के पदों पर दिये गये अंकों के अनुसार तीर्थंकर की माता को दीखने वाले स्वप्नों की संख्या १६ सिद्ध हो जाती है।

चकवर्ती से तीर्थंकर का पत दोनों ही सम्प्रदायों में बहुत उच्च नाना गया है, ऐसी स्थिति में चकवर्ती के गर्भीगम-काल में दिखाई देने वाले १४ स्वप्नों से तीर्थं कर की माता को दीखने वाले स्वप्नों की संख्या अधिक होनी ही चाहिए। जैसे कि चलदेव की माता को दिखने वाले ४ स्वप्नों की अपेक्षा वासुदेव की माता को ७ स्वप्न दिखाई देते हैं।

¥रवे० शास्त्रों के विशिष्ट अध्यासी श्री प० शोभाचन्द्र जी मारिष्ट से ज्ञान हुआ है कि नाया-पठित १४ स्वप्नों में से तीर्य कर की माना केवल १४ ही स्वप्न देखनी है। स्वप्न से आने वाल तीर्य कर की माना को देव-विभान स्वप्न में दिखता है, नाग-भवन नहीं। इसी प्रकार नरक से आने वाले तीर्य कर की माना को स्वप्न में नाग-भवन दिखना है, देव-विमान नहीं। उक्त दोनों का समुख्य उक्त गाया में

( == )

कुल में जन्म नहीं लेते. वरन राजन्य कुछ में, झात वंश में, क्षत्रिय वंश में, इक्ष्याकु वंश में और हरिवंश में ही जन्म लेते हैं। अतः उसने हिरगोगमेनी देव को गर्भ-परिवर्तन की आज्ञा दी और कहा कि 'तम इसी समय भरत देत्र के बाझण-कुरह माम में जाओ और वहां देवानन्दा बाबाणी के गर्भ में से भावी तीर्थंदूर महावीर के जीव को निकाल कर क्षत्रिय-कुएड के राजवंशी क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में जाकर रख दो। तथा त्रिशला के गर्भ में जो लड़की है, उसे वहां से निकाल कर देवानन्दा के गर्भ में ले जाकर रख दो। इन्द्र की आज्ञानुसार हिरगोगमेशी देव ने देवानन्दा के गर्भ से भ० महावीर को निकासकर विशासादेवी के गर्भ में रख दिया और उसके गर्भ से कृत्या को निकाल कर देवानन्दा के गर्भ में रख दिया। जिस राजि को यह गर्भापहरण किया गया और स० महाबीर त्रिशला के गर्भ में पहुँचे, उसी आसोज कृष्णा १३ की रात्रि के अस्तिम पहर में विश्वला ने १४ स्वप्न देखे। प्रातःकाल उसने जाकर अपने पति सिद्धार्थ राजा से सब स्वप्न कहे। उन्होंने स्वप्न-शास्त्र के कुशल विद्वानों को बुलाकर उन खप्नों का फल पूछा श्रीर स्वप्न शास्त्र-वैत्ताओं ने कहा कि इन महा खानों के फल से तुन्हारे तीन लोक का स्वामी और धर्म-तीर्थं का प्रवर्तक तीर्थंहर पुत्र जन्म लेगाः ।

इस गर्भापहरण पर अनेक प्रश्त ठठते हैं, जिसका कोई समुचित समाधान प्राप्त नहीं होता है। प्रथम तो यह बात बड़ी अटपटी छगती है कि पहिले देवानन्दा आक्षणी उन्हों स्वप्तों को देखती है, और उनका फल उसे बताया जाता है, कि तेरे एक भाग्यशाली पुत्र होगा। पीछे पर दिन के बाद त्रिशला उन्हों स्वप्तों को देखती है। स्वप्तासाय-वेत्ता जिस स्वप्तों का फल अवश्यम्भावी और उत्तस दि० मान्यतानुसार सिद्धार्थ राजा की रानी विश्वला देवी ने ही १६ स्वप्न देखे और भ० महाबीर उनके ही गर्भ में आये। छप्पन कुमारिका देखियों ने त्रिश्चला की ही सेवा की। इन्द्रादिक ने भी भगवान का गभीवतरण जानकर सिद्धार्थ और त्रिश्चला की ही पूजा की। इन्ह्रों के घर पर पन्द्रद मास तक रस्त-सुत्रणीदिक की वर्षा हुई। किन्तु श्ले० मान्यता है कि भ० महाबीर आक्षण-कुप्ड नामक प्राम के कोडाल गोत्रीय खप्परत्त त्राह्मण की जालंधर गोत्रीया परती देवानन्दा की कुलि में अवतरित हुए। वे जिस राजि को गर्भ में आये, उसी राजि के अन्तिम पहर में देवानस्दा ने चीदह स्वप्न रेखे। उसने वे स्वप्न खपने पति से कहे। उसके पति ने स्वप्नों का कल कहा—

"हे देवानुष्रिये, नुमने उदार, कल्याण-रूप, शिव-रूप, मंगलमय क्रोर शोक्षा-पुक्त स्वप्नीं को देखा है। ये स्वप्न क्रारोग्य-दायक, कल्याण-कर क्रीं। मंगलकारी हैं। तुन्हें लक्ष्मी का, भोग का, पुत्र का क्रीर सुख्र का लाभ होगा। ६ मास श्रीर ७॥ दिवस-रात्रि बीतने पर तुम पुत्र को जन्म दोगी।"

देवातन्द के गर्भ बढ़ने लगा और मर दिन तक भर महावीर भी उसी के गर्भ में बुद्धिगत हुए। तब अचानक इन्द्र के मन में विचार आया कि तीर्थ हुए, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि शलाका पुरुष शुद्ध, अधम, तुल्ल, अलग, निर्यन, कृपण, मिलुक या बाह्यण

किया तथा है। पर दि० परस्पराजुसार देव-विभान अर्थ्व छोक के अधिपतित्व का, सिहासन सध्यछोक के स्वासिस्व का और नाग-विभान या भवन अधोछोक के आधिपत्य का सूचक है। जिसका अभिप्राय है कि गर्भ में आने वाछा जीव तीनों छोकों के अधिपतियों द्वारा पृज्य होगा।

( 53 )

बतलांते हैं, वह देवानन्दा को कहां प्राप्त हुआ १ दूसरें ⊂र विज नक इन्द्र कहां सोता रहा १ जो बात उसे इतने दिनों के बाद याद आई. वह सभावतरण के समय ही क्यों याद नहीं आई १

तीसरे यह बात भी अदपदी लगती है कि गर्भकल्याणक कही अन्यत्र हो और जन्मकल्याणक कहीं अन्यत्र हो। गर्भकल्याणक के समय अवभदत्त जाहाण और देवानत्दा जाहाणों की पूजा इन्द्रादिक करें और जन्म कल्याणक के समय ये ही सिद्धार्थ और त्रिशल। रानी की प्रजा करें।

चौथे यह बात विचारणीय है कि गर्भ-शोधनादि किसी और का किया जाय और भगवान का जन्म किसी और के गर्म से होते।

पांचवं — कुरेर-द्वारा रतन-सुवर्ण की बृष्टि प्रारम्भ में म सास २२ दिन तक किसी खाँर के घर पर हो, पीछे ६ मास और म दिन किसी खाँर के वहां हो, तथा छप्पन कुमारिका देवियां भी दसी प्रकार प्रारम्भ में किसी खाँर की सेवा करें और पीछे किसी खाँर की।

इन सभी वातों से भी अधिक अनुचित बात तो यह है कि भले ही बाह्यण के याचक कुछ से गभीपहरण करके श्वित्रयाणी के गर्भ में भ० महाबीर को रख़ दिया गया हो, पर वस्तुत: उनके अरीर का निर्माण तो बाह्यण-बाह्यणी के रज और बीर्य से ही प्रारम्भ हुआ कहलायगा। यह बात तो तीर्यहर जैसे महापुरुष के लिए आरम्स ही अपमानजनक है।

इस सन्दर्भ में एक बात खास तौर से विचारणीय है कि जब तीर्थंद्वरों के गर्भोदि पांची की कल्याणकों में हेव-देवेन्द्रादिकों के आसन कल्यायमान होते हैं और दि० खेठ दोनों ही परस्पराओं के अनुसार वे अपना अपना नियोग पूरा करने आते हैं, तब दि०

परम्परा में एक स्वरूप में स्वीकृत कुमारिका देवियों के गर्भावतरण से पूर्व ही बाने के नियोग का श्वेश परम्परा में क्यों उल्लेख नहीं मिलता है १ यदि श्वेट परस्परा की और से कहा जाय कि उस कुमारिका देवियों का कार्य जन्मकालीन कियाओं को करना मात्र है. तो यह उत्तर कोई महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि भगवान् के जन्म होते से पूर्व अर्यात् गर्भकाल में आकर माता की नी मास तक सेवा करना और उनके चारों और के वातावरण को आनन्दसय बनाना अधिक महस्य रखता है और यही कारण है कि दि० परम्परा में उन देवियों का कार्य गर्भागम के पूर्व से लेकर जन्म होने तक बत-लाया गया है। इस विषय में गहराई से विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि यतः श्वे० परम्परा में जब भगवान महावीर का पहिले देवानन्दा बाहाणी के गर्भ में आने और पीछे गर्भापहरण करा के जिशला देवी के गर्भ में पहुँचाने की मान्यता स्वीकार करली गई, तो उससे कुमारिका देवियों के गर्भागम-ममय में आने की बात असंगत हो जाती है कि पहिले वे देवानन्दा की सेवा-टहल करें और और पीछं त्रिशला देवी की सेवा को जावें। अतः यही उचित समझा गया कि उन कुमारिका देवियों के गर्भ-कल्याणक के समय आने का उल्लेख ही न किया जाय। जिससे कि उक्त प्रकार की कोई

ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय ब्राझणों का प्रभाव बहुत अधिक या और जैनों के साथ उनका भयं कर संघर्ष चल रहा था। अतएव बाक्षणों को नीचा दिखाने के लिए यह गर्भायहरण की कथा कल्पित की गई है। यद्यपि आज का शल्य-चिकित्सा विज्ञान गर्भ-परिवर्तन के कार्य प्रत्यक्ष करता हुआ दिखाई दे रहा है, तथापि तीर्थद्भर जैसे महापुरुष का किसी अन्य स्त्री के गर्भ में आना और किभी अन्य जी के उदर से जन्म लेना एक अपमान-जनक एवं अशोभनीय ही है।

विसंगति नहीं रहने पाये।

## ( 55 )

मिद्रा से मुला कर चौर एक मायामयी बालक की उनके समीप रख कर भगवान को उठा लाई और इन्द्र की सौंप दिया। वह सर्व देवों के साथ सुगेरु पर्वत पर पहुँचा और खों ही १००८ कलशों से स्तात कराने को उदात हुआ कि उसके मन में यह शंका उठी-'यह बालक इतने जल का प्रवाह कैसे सहन कर करेगा " भगवान ने अवधि ज्ञान से इन्द्र के मन की शंका जान ली और उसके निवार-णार्थ अपने वार्ये पांच के अंगुठे से मेरु-पबत को जरा सा द्याया कि सारा गेरु पर्वत हिल उठा रे। इन्द्र की इसका कारण अवधि ज्ञान से ज्ञात हुआ कि मेरे मन की शंका को दूर करने के लिए ही भगवन ने पांव के अंगुठे से इसे दबाया है, तब उसे भगवान के अनुल परा-करी होते का भान हुआ और उसने मन ही मन भगवान से क्षमा

इस सन्दर्भ में कुछ वातें वल्लेखनीय हैं--जिस प्रकार दि०

१. पादाङ्गाठेन यो मेरमनायासेन कम्पयन् । नेभे नाम महावीर इति नाकालयाविषात् ॥

(पद्मपुराण, पर्व २, वलो० १)

२ सहस्रमरी न्त्रणको कहेम तित्थेमरी जलुष्पील'। सहिद्दी सुरसत्थेण समकालमही खिविज्जेते ॥१॥ इय एवं कयसके छोहीए जिणवरी णाउ । बालड मेरु बलणंगुलोए बल-दंसणट्टाए ॥३॥

(महाबीर-चरिंड, पत्र १२०) ३ तथो दिव्यन।ण-मृणिय जिणचलण-चपणुङ्कापिय मेधवद्यरो तक्त्रण महरियकोबुरगमो निदियनियकुवियणो सामिऊण बहुत्याार विमेसर भगवंत''' भणितमाउसी ।

(महाबीर-चरित्र, पत्र १९१)

भ० महाबीर का जनम

भ० महाबीर का जन्म इसबी सन् से ४६६ वर्ष पूर्व चैत्र शका त्रयोदशी के अपराह में हुआ। उस समय उत्तरा फालगुनी तक्षत्र के साथ चन्द्र का थोग था, एवं रोप प्रहों की उच्चता कल्पसूत्र की टीका के अनुसार इस प्रकार थी-

मेषे सूर्य: १० । बूपे सोम: ३ । मृगे मंगल: २= । कत्यायां वयः १४। कर्के गुरुः ४। सीने शुक्रः २७। तुलायां क्रानिः २०।

तदनुसार भ० महावीर की जन्मकुण्डली यह है-



स० महावीर का जन्म होते ही सौधर्मेन्द्र का आसन कम्पाय-मान हुआ। शेष कल्पवासी देवों के यहाँ घंटा बजने छगे, ज्योतिषी देवों के यहां सिंहनाद होने लगा। भवनवासी देवों के यहां शंख-नाद श्रीर ज्यन्तरों के यहां भेरी-निनाद होने लगा। सभी ने उक्त चिन्हों से जाना कि भगवान का जन्म हो गया है, अतः वे सब अपने-अपने परिवार के साथ कुण्डनपुर पहुँचे । इन्द्राणी ने प्रमृति-गृह में जाकर माता की तीन प्रदक्षिणा की और उन्हें नमस्कार कर तथा अवस्वापिनी

( 200 )

प्रस्परा में तीर्थं कर के गर्भ में आने के भी छड़ मान पूर्व से नगरी की रचना, रत्न-सुवर्ण की वर्षा और छप्पन कुमारिका देवियों का आकर अगवान् भी माता की सेवा आदि का विधान पाया जाता है, बैसा इबे० प्रस्परा में नहीं मिलता। उनके शाखों के अनुसार उक्त सब कार्य तीर्बहर के जन्म तोने पर ही प्रारम्भ होने हैं उससे पूर्व नहीं।

दि॰ परम्परा के अनुसार तीर्थहर की माता को दिखाई देने बाले स्वप्नों का फल नीयंहर के पिता ही उसे बनलाते हैं रे, किन्तु श्वेत्र

- १. सुराः ससंत्रमाः सद्यः पाकशासन-शासनात् । तां पुरी परमानन्दाद् व्यघुः सुर-पुरीमिव ॥ ७० ॥ बिश्वदर्वितयोः पुत्रो जनितेति शतकतुः। तयोः पूजां व्यथत्तोचर्चरभिषेकपुरस्तरम् ॥ म३ ॥ पहिमासिरथैतस्मिन् स्वर्गाद्वतरिष्यति । रत्नवृष्टि दिवो देवाः पातयामासुरादरान् ॥ ५४ ॥ वरमासानिति सापप्रत् पुरुषे नाभिनृपालये। स्वर्गीवतरणाद् भतुः प्राक्तरा चु न्नसन्तिः ॥ ६६ ॥ पश्चाच नवमासेषु वसुधारा तदा मता। खहो महान् प्रभावोऽस्य तीर्थक्रस्यम्य भाविनः ॥ ६७ ॥ तदा प्रभृति सुत्रामशासनात्ताः सिपेविरे । दिवकुमार्योऽनुचारिएयस्तस्काछोचितकर्मभिः ॥ १६३ ॥ ( महापुराण, पर्व १२ )
  - अयाऽघोलोक-वासिन्यः सद्यः प्रचलितासनाः । दिक्कुमार्थः समाजग्मुरघ्टौ तत्सृतिवेश्मनि ॥ २७३ ॥ इस्यादि । ( त्रिपच्टिशलाका-पुरुष-चरित, पर्व १, सर्ग २ )
  - मङ्गळेश्च प्रबुद्ध-याञ्च स्नात्वा पुरुय-प्रसाधना । सा सिद्धार्थ-महाराजमुपागन्य कृतानितः ॥ २४५ ॥ सस्त्राप्तार्थासना स्वप्नाम् यथाकनसुदाहरत्। सोऽपि तेर्पा फलं भावि यथाक्रममवृतुषत् ॥ २४६ ॥ ( उत्तर पुराण, पर्व ७४ ।

परस्परा में हो तन पाये जाते हैं — कल्प सूत्र के अनुसार तो स्वप्नी का कुछ स्वप्रशास्त्र के बेचा ज्योतियी लोग कहते हैं गूँ। किन्तु हेमचन्द्रा-वार्य के मतानुसार इन्द्र आकर उनका फल कहते हैं?।

इसी प्रकार एक बात और भी जातच्य है कि दि० परस्परा के अनुसार सीयमेंन्द्र ऐरावत हाथी पर चढ़ कर तीर्थ हुरों के जन्माभि-पंक के समय बाना है । किन्तु श्ये० परम्परा के अनुसार वह पालक विमान पर बैठ कर छाता है ।

तए ण ते: सुचिण-छक्कण-पादगा सिद्धत्यस्स स्वतियस्स व्यतिए एवम्हें सुवा निसम्भ हट्ट तुट्ट० जाव हियया ते सुमिरों सम्मं श्रोगि-ग्डंति, श्रोगिग्डचा x x x सुसिणसत्याइ' उच्चारेमाणा र सिद्धत्यं खित्रयं एवं वसासी ॥ ७२ ॥ (कल्पसूत्र )

<sup>२</sup>. तस्काळं भगवन्मातुः स्वप्रार्थमभिशसितुम् । सुहदः इतसङ्केता इवेन्द्रास्तुल्यमाययुः ॥ २३२ ॥ ततस्ते विनयानमृधिन घटिता खलिकुडमलाः । स्वप्नार्थं स्कुटयामासुः सूत्रं वृत्तिकृतो यथा ॥ २३३ ॥

( त्रिपण्टिशलाका-पुरुषचरित, पर्व १, सर्ग २ ) ३ श्रय सीधमंकल्पेशो महैरावतदन्तिनम्। समारुख समं शच्या प्रतस्थे विद्युर्थवृतः ॥ १७॥

( आदि पुराण, पर्व १३ ) आदिशस्यालकं नाम वासवोऽप्याभियोगिकम्। असन्भाव्य-प्रतिमानं विमानं क्रियतामिति ॥ २४३ ॥ पञ्चयोजनशखुन्यं विस्तारं लक्ष्योजनम् । इच्छानुमानगमनं विमानं पालकं ज्यधान् ॥ २४६ ॥ दिङ मुखप्रतिकलितेशी दाश्यदिवाऽभितः। सौवर्षसभ्यतोऽचाछीन तद्-चिमानं हरीच्छया ॥ ३६२ ॥ (त्रिपटिटक्रहाका-पुरुषचरित, पर्व १, सर्ग २)

## वीर का बाल-काल

भव महाबीर के गर्भ में आने के पूर्व छह मास से लेकर जन्म होने तक की विशेष कियाओं एवं घटनाओं का धर्णन, तथा भगवान की बाल-कीडाओं का उल्लेख प्रस्तुत काव्य में चीचे सर्ग से लेकर आठवें सर्ग तक किया गया है, अतः उनकी चर्चा करने की यहां आवश्यकता नहीं है। प्रकृत में इतना ही ज्ञातब्य है कि इन्द्र ने जन्मा-भिषेक के समय भगवान् का 'बीर' यह नाम रखा। भगवान् के गर्भ में आने के बाद से ही उसके पिता के यहां सब प्रकार की श्री समृद्धि बड़ी, अतः उन्होंने उनका नाम 'श्री बर्धमान' रखा।

भगवान जब बाहक थे और अपने साथियों के साथ एक समय आमलकी-क्रीड़ा कर रहे थें। उस समय एक संगमक देव ने आकर उनके धीर-बीर पने की परीक्षा के लिए उस युक्ष के तने की सर्प का हप धारण कर वेर लिया, तब सभी साथी बालक तो भय से भाग खड़े हुए. किन्तु बालक बीर कुमार निर्मय होकर उसके मस्तक पर पर सबते हुए बुक्ष पर से नीचे उतरे और उसे हाथ से पकड़कर

नसरबात् बालको ने पुड़-सवारी का खेल खेलना प्रारंभ किया। इस खेल में हारने बाला बालक घोड़ा बनता और जीतने वाला सवार यनकर उसकी पीठ पर बढ़कर उसे उधर-उधर दीहासा । बह देव भी सप का हप छोड़कर और एक बालक का हुप रखकर उनके खेल

अवस्थापतिकां देवयां मस्देवयां विनिर्ममे ॥ ४१५ ॥ नाशिस्नोः प्रतिच्छन्द विद्धे सपवा ततः। देवयाः श्री मरुदेवायाः पार्वे तं च स्ववेद्ययन् ॥ ५१६॥ ( त्रिपच्डिशलाका-पुरुपचरितं पर्य १, सर्ग २ )

इस सन्दर्भ में एक बात और भी जातव्य है कि दि? परस्पर। के अनुसार सीथर्सेन्द्र की इन्द्राणी ही प्रसृति स्थान में जाकर और मायामयी बालक को रखकर अगवान को बाहिर छाती है और अपने पति इन्द्र को से पती हैं। किन्तु श्वे० मान्यता है कि स्वयं सीधर्मेन्द्र ही प्रसृति गृह में जाकर, साता की स्तुति कर और उन्हें निद्रित कर के भायामधी शिशु को रखकर भगवान को बाहिर ले आता है?।

माता के प्रसृति-गृह में इन्द्र का जाना एक लोक-विरुद्ध बात है, खास कर तकाल ही जन्म के समय। किन्तु इन्द्राणी का स्त्री होते के नाते प्रसृति-गृह में जाना और भगवान, को बाहिर लाना आदि कार्य लोक-मर्यादा के अनुकूल ही हैं। श्वे० शाखों में इस समय इन्द्राणी के कार्य का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

- १ प्रसवागारभिन्द्राणी ततः प्राविशदुत्सवात्। तन्नापश्यत् कुमारेण साधै तां जिनमातरम् ॥ २७ ॥ इत्यभिष्टुत्य गृहाङ्गी तां मायानिद्रयाऽयुजन् । पुरो विधाय सा तस्या मायाजिञ्जमयापरम् ॥ ३१ ॥ तत. कुमारमादाय त्रजन्ती सा वभी मुशम्। चौरिवार्कमभिन्याप्रनभसं भासुरांश्रुभिः ॥ ३४ ॥ ततः करतले देवी देवराजस्य तं न्यधान्। बालार्कमीद्ये सानी प्राचीव प्रस्तुरन्मणी। ३६॥ ( आदि पुराण, पर्व १३ )
- २. ततो विमानादुत्तीर्थं मानादिव महामुनिः। प्रसन्नमानसः शको जगाम स्वामिसन्निधौ ॥ ४०७॥ अहं सीयमेंदेवेन्द्रो देवि त्वत्तनु-जन्मनः। अर्हतो जन्ममहिमोत्सवं कर्तुं मिहाऽऽगम् ॥ ४१४ ॥ भवत्या नैव भेतव्यभित्यदीर्य दिवस्पतिः।

(80)

में जा मिला। देव के फेल में हार जाने पर उसे भोड़ा बनने का अवसर आया। यतः बीर कुमार विजयी हुए थे, अतः वे ही उस पर मवार हुए। उनके सवार होते ही वट देव उन्हें के भागा और बीइते हुए ही उसने विकिया से अपने शरीर की उत्तरोत्तर बहाना अक्त कर दिया। श्रीर कुमार इस देव की चालाकी को समझ गये। ख्रतः उन्होंने उसकी पीठ पर जोर से एक मुट्टी मारी, जिससे उस छबाबेगी का गर्व खब हो गया। उसने अपना रूप संकृतित किया। बीर कुमार तीचे उत्तरे श्रीर उस छदावेपी ने अपना यवार्य हुए प्रकट कर, उत्तरे क्षमा-यापना कर तथा उतका नाम 'महाबीर' रहाकर उनकी स्तृति की और अपने स्वान को चला गया। तब से भगवान् का यह नाम सर्वत्र अचलित हो गया ।

#### वीर का विद्यालय-प्रवेश

श्ये० झास्त्रों के अनुसार चीर कुमार को आठ वर्ष का होने पर उनके पिता ने विद्याध्ययन के छिए एक विद्याख्य में भेजा। अध्यापक जो कुछ उन्हें बाद करने के लिए देवे, उससे अधिक पाठ बीर कुमार त्रम्त सुना देवें। आध्यर्य-चित्रत होकर अध्यापक ने प्रति दिन नवीन नवीन विषय पढ़ाये और उन्होंने तत्काल ही सर्व पठित विषयों को उसों का त्यों ही नहीं सुनाया, बल्कि अध्यापक की भी श्रज्ञात-ऐसी विशेषताश्रों के साथ सुना दिया। यथार्थ बात यह थी कि बीर कुमार तो जन्म से ही मति, अत और अवधि इन तीन जान के घारी थे। पर समवान के पिता को यह पता नहीं या। जब कुछ दिनों के भीतर ही अध्यापक त्रीर कुमार को लेकर राजा मिदार्थ के पास पहुँचा और उनसे निवेदन किया-महाराज, ये राजकुमार तो इतने प्रवर बुद्धि और अवुट जानी हैं कि उनके सामने में खर्म भी

१ यह क्यानक द्वेच बन्धी में पाया जाता है । — सम्पादक

त्राएव है। महाराज सिद्धार्थ यह सुन कर अत्यन्त प्रसन्न हुए और काजापक को वर्धोचित पारितोषिक रेकर विदा किया। दि० मान्यता के अनुसार तीर्थहर किसी गुरु के पास पड़ने को नहीं जाते हैं।

वीर के सम्मुख विवाह-प्रस्ताव

जब बीर कुमार से बीवन खत्यका में पदार्थण किया, तो बारों खोर से उनके विवाह के लिए प्रस्ताव खाने छोंगे कहा जाता है कि राजा सिखांच की महारानी प्रियकारिणी और उनकी बहिन ज्योदिया जो कि किल्पन्टेंग के महाराज जिनशत्र को राशी थी—एक साथ ही गभैवती हुई। राजों साले-बहनोई महाराजों में यह तब हुआ कि बरि एक के गभी के क्या और दूसरे के गभी से पुत्र उत्तक हो, तो उनका परस्पर में विवाह कर देंगे। यहा समय सिद्धांय के वहां बीर कुमार ने जन्म लिया और जितशत्र के वहां कता ने जन्म लिया। जब बीर कुमार के विवाह के प्रस्ताव खाने लगे, तब भाग महाबीर की वर्ष गांठ के खबतर पर जितशत्र असनी कत्या को लेकर राज-परिवार के साथ कुण्डनगर लागे और महाराज सिद्धांय को पूर्व प्रतिज्ञा को बाद दिलाकर यशोदा के साथ बीर कुमार के विवाह का प्रस्ताव

् मवाश्र कि श्रेणिक बांस भूगति गरेम्ब्रसिद्धार्थकनीयसीयतिम् । इसं श्रीसङ्गीवतवनुमान्यया प्रतापवस्तं जितस्य मण्डलम् ॥ जिनस्वरीरस्य समुद्धवरस्य तदाऽऽत्रतः कुण्डलुरं मृद्धत्यरः । सूर्यत्रतः कुण्डलुरस्य सून्ता नृपीऽस्यास्त्रव्यतनुस्ययिकसः ॥ स्वीदसाम् सून्या स्वाध्या विषया श्रीर्यवसहस्य कृत्य । जनकर्मापरिवास्याहस्यमीशित् तुन्तमनीरसं तथा ॥ हरिवंश पुराण, सर्ग ६६, स्वीच ६-०॥ सहाराज सिखाने और रानी त्रिकाळा राजकुमारी यकीदा के कर-ळावरूप, सौन्दर्य आदि गुणों को देखकर उसे अपनी पुत्र-वपू बनाने के ळिए उत्सुक हुए और उन्होंने अपने हृदय की बात राजकुमार महाबीर से कही। सिखार्थ के इस विवाह-प्रसाव को महाबीर से बही ही शुक्तियों के साथ अस्वीकार कर दिया।

किन्तु रवे० सान्यता है कि महावीर का विवाद यकोदा के साव हुआ और उससे एक लड़की भी उत्पन्न हुई, जिसका नाम प्रिय-दर्शना रखा गया और उसका विवाद महावीर की बहिन सुदर्शना के पुत्र जमालि से हुआ।

दि० परम्परा में पांच तीर्थंकर बाल-त्रक्षचारी श्रीर कुमार-काल में दीक्षित हुए माने गये हैं — १ बाह्मपुड़्य, २ मल्लिनाय, ३ खरिष्ट-नेमि, ४ पाश्वेनाव श्रीर ४ महावीर । श्रे० परम्परा में भी इन पांचों को कुमार-श्रमण श्रीर अविवाहित माना गया है, जिसका प्रमाण आवस्यक्र-निर्मु कि की निम्न लिखित गावाएं हैं —

बीरं अस्टिनेमिं पासं महिंठ च वासुपुत्रं च। एते मोत्तृण जिले अवसेसा आसि रावाणो ॥ २२१॥ रायकुर्तेसु वि जाया विसुद्धवंसेसु खित्तयकुर्तेसु। न य दक्षियाभिसेया कुनार-वासम्मि पत्रवद्या॥ २२२॥

आगमोदय समिति से प्रकाशित आवश्यक नियुक्ति में 'इत्य-याभिसेवा' ही पाठ है जिसके कि सम्पादक सागरानन्द सृषि हैं। टीकाकारों ने इसके स्थान पर 'इन्डियाभिसेया' पाठ मानकर 'इप्सि-ताभिषेका:' अर्थ किया है और उसके आधार पर स्थे० विद्यान, कहते हैं कि इन दोनों गायाओं में उक्त पाँचों तीर्यंकरों के विना राज्य-सुख भोगे ही कुमारकाल में दीक्षा लेने का उन्लेख हैं। विवाह से उनका

( 48 )

संबद नहीं है। वहि ऐसा है, तो वे उन प्रमाणों को प्रकट करें - जिनसे कि बादि के बार तीर्घड़ों का बाद-नक्षयारी रहना बतलाया गया हो। बाहन में बे होना ही गावार्ए पांची ही तीर्घड़ारों के बाद-नक्षयारी बोर कुनार-होस्तिपने का ही प्रतिपादन करती हैं। किन्तु पीछे से जब महाबीर के बिवाह की बात खीकार कर ही गई, तो उक्त गावा-पित 'इस्विवाभिसेया' पाठ को 'इस्लियाभिसेया' मानकर 'ईस्तिताभिषेका' सर्थ किया जाने लगा।

श्री कल्याण विजयजी अपने दारा लिखित 'असण भगवान महाबीर' नामक पुस्तक में महाबीर के विवाद के बारे में सदिख हैं। चन्होंने लिखा है कि-"कल्पसूत्र के पूर्ववर्ती किसी सूत्र में महावीर के गृहस्थालम का अथवा उनकी भाषाँ बशोदा का वर्णन हमार हिट-गोचर नहीं हुआ। (अमण भगवान् महाबीर, पृ० १२ ) दूसरे एक बा खास तीर से विवारणीय है कि जब महावीर घर त्यान कर दीक्षित होने के लिए चले. तो स्वे शास्त्रों में कहीं भी तो यशोदा के साब महाबीर के मिछने और संसार के छोड़ने की बात का उल्लेख होना चाहिए था। नेमिनाय के प्रज्ञतित हो जाने पर राजुल के दीक्षित होने का जैसा उल्लेख मिलता है। वैसा उल्लेख यशोदा के दीक्षित होते या न होने आदि का कही पर भी टिप्टिगोचर नहीं होता। इसके विपरीत दि॰ प्रत्यों में स्पष्ट उल्लेख है कि महावीर के द्वारा विवाद प्रश्वाव अस्त्रीकार कर दिये जाने पर बक्रोदा श्रीर उसके पिता को बहुत आधात पहुँचा और ये दोनों ही दीक्षित होकर तप करने चले गये। जितारि तो कलिंग (वर्तमान उदीसा) देश-स्थित बदबागिरि पर्वत से मुक्ति की प्राप्त हुए और यशोदा जिस पर्वत पर

( 02 )

दीर्घकाल तक तपस्या करके खगे को गई, वह पर्वत ही क्षापी पर्वत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। खारवेल के जिल्लानेल में इस कुपारी पर्वत का उल्लेल हैं '।

## सन्मति-नाम

विजय और संजय नामक दो चारण मुनियों को किसी स्हम-तच्च के विषय में कोई सन्देह उत्पन्न हो गया, पर उसका समाधान नहीं हो रहा था। भे भहाबीर के जन्म के कुछ दिन बाद ही वे उनके सनीप आये कि दूर से ही उनके दर्शन मात्र से उनका सन्देह दुर हो गया और वे उनका 'सन्मति देव' नाम रखते हुए चले गये'।

## भ० महाबीर का छग्रस्य या तपस्या-काल

भ० महाबीर ने तीस वर्ष की अवस्था में मार्गाजीए १० के दिन जिन-दीक्षा की और उम्र तपरचरण में संकान हो गये। दि० प्रन्यों उनके इस जीवत-काल की घटनाओं का बहुत कम उक्लेख पाया जाता है। किन्तु रवे० बन्यों में इम १२ वर्ष के छद्यास्य खीर तपरच-रण काल का विस्तृत विवरण मिलता है। यहां पर उपयोगी जानकर उसे दिया जाता है।

- १ तेरसमे च बसे सुपबत विजय चके कुमारी पवते खरहयते......। (स्वारवेल शिलालेख पंकि १४)
- २, सञ्जयस्यार्थ-सन्देहं सञ्जाते विजयस्य च । जस्मातनतःसेवेनसभ्येत्यालोकमात्रतः ॥ रेनर ॥ तत्सन्देहं सवे तास्यां चारणाभ्यां स्वभक्तितः । जस्येव सम्मनिद्वो भावीति समुदाहतः ॥ रेनरे ॥ (उत्तर पुराण, पर्व ७४)

संबंध नहीं है। बदि ऐसा है, तो वे उस प्रमाणों की प्रकट करें-जिसमें कि आदि के बार तीर्यद्वरों का बाल-बढ़ाचारी रहता बनलाया गया हो। बानव में ये दोनों ही गावाएं पांची ही तीर्थंदूरों के वाल-ज़ब्ध-चारी और कुमार-शक्षितपन का ही प्रतिपादन करती हैं। किंग्तु पीछे से जब महाबीर के विवाह की बात स्वीकार कर ली गई, तो उक्त गाथा-पठित 'इतियगिभसेया' पाठ को 'इच्छियाभिसेया' मानकर 'ईदिमताभिषेकाः' अर्थ किया जाने लगा।

श्री कल्याण विजयजी अपने दारा लिखित 'श्रमण भगवान् महाबीर' नामक पुस्तक में महाबीर के विवाद के वारे में सदिग्ध हैं। उन्होंने लिखा है कि- 'कल्पसूत्र के पूर्ववर्ती किसी सूत्र में भहाबीर के गहस्थालम का अववा उनकी मार्थी यशोदा का वर्णन हमारे हरिट-गोचर नहीं हुआ। (अमण भगवान महावीर, पु० १२) दूसरे एक या। खास तीर से विचारणीय है कि जब महाबीर घर त्याग कर दीक्षित होने के लिए चले, तो खें - शाखों में कहीं भी वो यशोदा के साय महाबीर के मिलते और संसार के छोड़ने की बात का उल्लेख होना चाहिए था। नेमिनाय के प्रज्ञतित हो जाने पर राजुल के दीश्चित होने का जैमा उल्लेख मिछना है। बैमा उल्लेख यशोदा के दीक्षित होने या न होने अपदि का कही पर भी दिख्टगीचर नहीं होता। इसके विपरीत दि॰ अन्धों में स्पष्ट उल्लेख है कि महाबीर के हारा विवाह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिये जाने पर यशोदा और उसके पिता को बहुत आधान पहुँचा और वे दोनों ही दीक्षित हो कर तप करने चले गये। क्षितारि भी कल्पि ( वर्तभान उड़ीसा ) देश-स्थित इद्यगिरि पर्वत से मुक्ति की प्राप्त हुए और यशोद। जिस पर्वत पर

1051

प्रथम वर्ष भ० महाबीर ने बातुखरहबन में दीक्षा लेने के बाद आगे की विहार किया। एक महते दिन के शेष रहने पर वे कर्मार गांव जा पहुँचे और कायोत्सर्ग धारण कर ध्यान में संख्यन हो गये । इसी समय कोई स्वाला जंगल से अपने बेलों को लेकर घर लीट रहाथा। वह उन्हें चरते के लिए भ॰ महाबीर के पास छोड कर गायें दुहने के लिए घर चला गया। बैल घास चरते हुए जंगल में दूर निकल गये। म्वाला ने घर से वापिस आकर देखा कि मैं जहां बैठ छोड़ गया था; वे वहां नहीं है, तब उसने भगवान से पूछा कि मेरे बैछ कहां गये १ जब भगवान की श्रोर से कोई उत्तर नहीं मिला, तो वह समझा कि इन्हें मालूम नहीं है, अतः उन्हें हु दूने के छिए जंगल की श्रोर चल दिया। रात अर बह हूं इता रहा, पर बेल उसे नहीं मिले। प्रातःकाल लौटने पर इसने बेंछों को भगवान के पास बेंठा हुआ पाया। खाला ने क्रोधित होकर कहा-बेंडों की जानकारी होते हुए भी आपने मुक्ते नहीं बतलाया ? और यह कह कर हाथ में ली हुई रस्सी से उन्हें मारने को झपटा। तभी किसी भद्र पुरुष ने आकर खाले को रोका कि श्चरे, यह क्या कर रहा है ? क्या तुके मालूम नहीं, कि कल ही जिन्होंने दीक्षा ली है ये वे ही सिखाय राजा के पुत्र महावीर हैं, यह मुन कर खाला नत-मस्तक होकर चला गया।

दूसरे दिन महावीर ने कमीर प्राप्त से विहार किया और कोल्डागसन्तिवेश धहुँचे । वहां पारणा करके वे मोराक-सन्तिवेश की श्रोर नाल विसे। मार्ग में उन्हें एक तापसाश्रम मिला। उसके कुल-पति ने उनसे ठहरने और अधिम वर्णावास करने की प्रार्थना की। मराबान उसकी बात को सुनते हुए आगे चल विये । इस प्रकार बनेक तगर, प्राप्त और बनादिक में लगभग ७ मास परिश्रमण के परनात् वर्षोकाल प्रारम्भ हो गया । जब महाबीर ने श्वास्थिमाम में

दीर्घकाल तक तपस्या करके स्वर्ग को गई, वह पर्वत ही कमारी पर्वत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। खारवेल के जिलालेख में इस कुमारी पर्वत का उल्लेख है।

#### सन्मति-नाम

विजय और संजय नामक दो घारण मुनियों को किसी सहम-तस्य के विषय में कोई सन्देह उत्पन्न हो गया, पर उसका समाधान मही हो रहा था। भव महायीर के जन्म के कुछ दिन बाद ही वे उनके समीप आये कि दूर से ही उनके दर्शन मात्र से उनका सन्देह दूर हो गया और वे उनका 'सत्मति देव' नाम रखते हुए चले गये"।

# भ० महावीर का छग्रस्थ या तपस्या-काल

भ० महाबीर ने तीस वर्ष की अवस्था में मार्गेजीर्ष १० के दिन जिन-दीक्षा ली और उम्र तपश्चरण में सलग्न हो गये। दि० मन्यों उसके इस जीवन-काल की घटनाओं का बहुत कम उल्लेख पाया जाता है। किन्तु रवे० जन्यों में इस १२ वर्ष के छद्यास्य और तपर्च-रण काल का विस्तृत विवरण मिलता है। यहां पर उपयोगी जानकर उसे दिया जाता है।

- १ तेरसमे च वसे सुपत्रत विजय चकं कुमारी पथते अरहयते .....। (खारवेल जिलालेख पंक्ति १४)
- २, सञ्जयस्यार्थ-सम्देहं सञ्जाते विजयस्य च । जनमानस्यरमेर्वनसभ्येत्यालोकमात्रतः ॥ २५२ ॥ तस्सन्देहे गते नान्यां चारणाभ्यां स्वभक्तित.। श्चस्त्रेप सन्मतिद्वो भावीति समुदाइतः ॥ २५३ ॥ ( उत्तर पुराण, पर्व ५४ )

( 440 )

चातमांस चिताने के लिए प्राप्त के बाहर अवस्थित शुरुपाणि यक्ष मन्दिर में ठहरने का विचार किया, तब छोगों न कहा - यहां रहने वाला यक्ष महा दुष्ट है, जो कोई भी भूला भटका इस मन्दिर में छ। ठहरता है उसे यह यक्ष मार डालना है। यह सुनकर भी महाबीर ठहर गये और कायोत्सर्ग धारण करके ध्यान में तन्छीन हो गये। महाबीर को अपने मन्दिर में ठहरा हुआ देख कर यक्ष ने रात भर नाना प्रकार के रूप बना-बनाकर असहा असंख्य पातनाएं दी, पर महावीर पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। अन्त में इताझ हो कर वह भगवान के चरणों में पड़ गया, अपने दुष्कृत्य के लिए श्रमा सांगी और उनके गुण-गान करके अन्तर्हित हो गया। कहा जाता है कि उपसर्ग को दूर होने पर म० महात्रीर को रात्रि के अन्तिम सुहुत में कुछ चणों के छिए नींद आई और तभी उन्होंने कुछ खप्न मी हेखें। इसके परचान् तो वे सारे जीवन भर जागृत ही रहे और पूरे छदास्थकाल के १२ वर्षों में एक क्षण को भी नहीं सोये। 🕏

💸 छउमत्योवि परकाममाणो छउमत्यकाले विरहतेणं भगवता जयंतेण भुवंतेणं परकमंतेणं ण कयाइ पमात्रो कथा। अविसहा णवरं एकस्सिं एको अंतोसुहुत्तं अद्वियगामे सबसेव अभिसमागाए। (आचारांग चूर्णि, रतलाम प्रति, पत्र ३२४)

तत्र च तत्कृतां कदर्थनां सहमातः प्रतिमास्य एव स्वन्यं निदाणो

भगवान् दश स्वप्नानवलोक्य जजागार्।

(कल्पस्तार्थप्रवीचिनी टीका ए० १३७)

किन्तु भगवती सूत्र के अनुसार उक्त १० खप्न भ० महाबीर ने छदास्थकाल के अन्तिम रात्रि में, अर्थात् केवलोलित के पूर्व देखे।

समग्रे भगवं महावीरे छडमत्यकालियाण, अंतिमराङ्गंसि इसे दस महासुमिरो पासित्ता णं पडिसुद्धे । ( भगवती स्व० शतक १६ उरे शक ६, स्० १६)

अपने इस प्रथम चातुर्गास में सगवान ने १४-१४ दिन के आठ अर्थमासी उपवास किये और पार्णा के लिए केवल आठ बार उठे।

केहा जाना है कि भगवान महावीर अपर नाम वर्धमान के के द्वारा इस असहा उपसरों को जीतने और शूलपाणि यक्ष का सदा के लिए झान्त हो जाने के कारण ही आर्थ-आम का नाम 'वर्धमान नगर' रख दिया गया, जो कि आज 'वर्दवान' नाम से पृश्चिमी बंगाल का एक प्रसिद्ध नगर है।

# हितीय वर्ष

प्रथम चातुर्मास समाप्त करके महावीर ने अखिशाम से विहार किया और मौराक सनिवेश पहुँचे । वहां कुछ दिन ठहर कर बाचाछा की खोर बिहार किया। आगे बढ़ने पर छोगों ने उनसे कहा- 'आर्थ, यह मागे ठीक नहीं है, इसमें एक भयानक भुजंग रहता है, जो अपनी टब्टि के बिप-द्वारा ही पथिकों को भस्स कर देता है, अतः आप इधर से न बाकर अत्य मार्ग से जावें। महावीर ने उन लोगों की बात सुनकर भी उस पर कुछ ध्यान नहीं दिया और वे इसी मारा से चलकर एक यक्ष-मन्दिर में जाकर ध्यानारुढ़ हो गयें। बहां रहने बाला सांप जब इधर उधर घूम कर अपने स्थान की वापिस छौट रहा था, तो उसकी हिंद्र ध्यानारूट महाश्रीर पर ज्योंही पड़ी त्यों ही वह क्राधित होकर फ़ुंकार करते हुए महावीर की खोर बढा और उसने महावीर के पांव में काट खाया। पांव से रक्त के स्थान पर दूस की धारा वह निकली। यह विचित्र बात देख कर पहले तो वह स्तब्ध रह गया। पर जब उसने देखा कि इन पर तो मेरे काटने का कुछ भी असर नहीं हुआ, तो उसने दो बार और भी काटा। मगर तब भी विष का कोई असर न देखकर सर्प का रोप शान्त हो गया।

( 0= 1

चपने इस प्रथम चातुर्मोस में भगवान ने १४-१४ दिन के आठ कर्षमासी उपयास किये और पारणा के छिए केवल चाठ बार बटें।

हा। जाता है कि भागवान महातीर अपर नाम वर्धमान के के द्वारा इस अनुसा उपनारों को जीतने और शुरूपाणि बहुत का सदा के विष्ठ आन्त ही जाने के कारण ही अधिक आम का नाम 'वर्धमान नगर' रख दिवा गया, जो कि आज 'धर्वशान' नाम से पश्चिमी वैपाछ का एक प्रसिद्ध नागर है।

# हितीय वर्ष

प्रवम चातुमीस समाप्त करके महावीर ने अस्विधास से विहार किया और मोराक भनियेश पहुँचे । वहां कुछ दिन ठहर कर बाचासा की ओर बिहार किया। आगे बढ़ने पर छोगों ने उनसे कहा- 'आर्य, यह सामें ठीक नहीं है, इसमें एक भयानक भूजंग रहता है, जो अपनी हरिट के विष-द्वारा ही पश्चिकों को अस्म कर देना है, अतः आप इधर से न बाकर अन्य मार्ग से जावें। महावीर ने दन छोगों की बात सुनकर भी उस पर कुछ ध्यान नहीं दिया और वे इसी मारा से चलकर एक यक्ष-मन्दिर में जाकर ध्यानारुह हो गये। वहाँ रहने बाला सांग जब इधर उधर धूम कर अपने स्थान को वापिस छोट रहा था. तो उसकी इंटिट ध्याताकृद महाबीर पर ब्योंडी पड़ी त्यों ही वह क्रोचित होकर फुंकार करते हुए महावीर की ओर बढ़ा और इसने महाबीर के पांव में काट खाया। पांव से रक्त के स्थान पर दुध की धारा बह निकड़ी। यह विचित्र बात देख कर पहले तो बह स्तब्ध रह गया। पर जब उसने देखा कि इन पर तो मेरे काटने का कुछ भी असर नहीं हुआ, तो उसने दो बार और भी काटा। मगर तब भी विष का कोई असर न देखकर सर्प का रोप शास्त हो गया।

तब भें महाबीर ने उसके पूर्व भेव का नाम लेते हुए कहा - चरह-क्रीझिक, ज्ञान्त होखों। अपना नाम सुनते ही उसे ज्ञानिस्मरण ही गया और सदा के लिए उसने जीवों को काटना छोड़ दिया।

भ० महाबीर यहां से विहार करते हुए कमशः खेताम्बी नगरी पहुँचे। यहां राजा प्रदेशी ने भगवान की अगवानी की और अखन्त बहुत । बहुत । भक्ति से उनके चरणों की बन्दना की । वहां से भगवान ने सुर्भन-पुर की और विहार किया। आगे जाने पर उन्हें गंगा नदी मिछी। उसे पार करने के लिए महाधीर की नाज पर बैठना पड़ा। नाब जब नदी के मध्य में पहुँची, तब एक भयंकर तुकान आया, नाव भवर में पड़कर चकर काटने लगी। यात्री प्राण-रक्षा के लिए बाहि-बाहि करने लगे। पर महावीर नाय के एक कोने में सुमेश्वत् ध्यानस्य रहें । अन्त में भगवान के पुरवोदय से कुछ देर बाद तुकान शान्त हो गया और नाव किनारे जा लगी। सब यात्रियों ने अपना-अपना मार्ग पकड़ा और महाबीर भी नाव से उतर कर गंगा के किनारे चलते हुए श्रृणाक पहुँचे। मार्ग में अंकित पद-चिह्नों को देखकर एक सामुद्रिक-वेत्ता आश्चर्य में हुव गया और सोचने छगा कि वे पद-चिह्न तो किसी चकवर्ती के होना चाहिए। श्रतः वह पद-चिह्नों को देखता हुआ वहां पहुँचा, जहां पर भगवान अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ खड़े थे। उनके सर्वाङ्ग में ही चक्रवर्ती के चिह्न देखकर वह वड़ी चिन्ता में पड़ा कि सभी राज-चिह्नां से विभूपित यह पुरुष साधु बनकर जगलों में क्यों तूम रहा है ? जब उसे किसी भद्र पुरुष से जात हुआ कि ये तो अपिमित लक्षण-वाले धर्म-चक्रवर्ती भ० महावीर हैं, तब वह उनकी बन्दना कर अपने स्थान को चला राया ।

थूणाक-सन्निवेश से विहार करते हुए भ० महावीर नालंदा

( 102 )

तब भर महाधीर ने उसके पूर्व भव का नाम लेते हुए कहा - करह-कीशिक, शान्त होत्रों। अपना नाम सुनते ही उसे जातिसमण ही सथा और सद। के लिए उसने जीवों को काटना छोड़ दिया।

मठ महाबीर यहां से बिहार करते हुए क्रमशः खेतास्वी मगरी पहुँचे। यहां राजा पदेशी ने भगवान की अगवानी की और अल्पन भक्ति से उनके चरणों की वन्दना की। बड़ां से भगवान ने सुर्श्नि-पुर की जोर विहार किया। आगे जाने पर वन्हें गंगा नदी मिली। उसे पार करने के लिए महाबीर को नाव पर बैठना पड़ा। नाव इब नदी के मध्य में पहुँची, तब एक भयंकर तुकान आया, नाव भवर में पड़कर चकर काटने लगी। यात्री प्राण-गक्षा के लिए ब्राहि-ब्राहि करने लगे। पर महात्रीर नाव के एक कोने में सुसेरवत ध्यानस्थ रहें। अन्त में भगवान के पुरुवोदय से कुछ देर बाद तुकान ज्ञान्त हो गया और नाव किनारे जा लगी। सब यात्रियों ने अपना-अपना मारा पकड़ा और महावीर भी नाव से उतर कर गंगा के किनारे चलते हुए थुणाक पहुँचे । मार्ग में श्रंकित पद-चिह्नों को देखकर एक सामुद्रिक-वेत्ता आश्चर्य में हुब गया और सोचन लगा कि बे पद-चिह्न तो किसी पक्रवर्ती के होना चाहिए। अतः वह पद-चिह्नां को देखता हुआ वहां पहुँचा, जहां पर भगवान अभोक दुख के नीचे ध्यानारुढ़ खड़े थे। उनके सर्वाङ्ग में ही चक्रवर्ती के चिह्न देखकर वह वहीं जिन्ता में पड़ा कि सभी राज-चिह्नों से विभूपित यह पुरुष साधु बनकर जगलों में क्यों जूम रहा है ? जब उसे किसी भद्र पुरुष से ज्ञात हुआ कि ये तो अपरिमित लक्षण-वाले धर्म-चक्रवर्ती भ० महावीर हैं, तब वह उनकी वन्दना कर अपने स्थान की

थुणाक-समिवेश से विहार करते हुए भ० महावीर नार्छेद।

पहुँचे । वर्षाकाल प्रारंभ ही जाने से उन्होंने वहीं चातुमीस विताने का निश्चय किया और एक मास का उपवास अंगीकार कर ध्यान में अवस्थित हो गये। इस चातुमीस में मंखळी-पुत्र गोशाला की भगवान् से भेंट हुई और वह भी चातुमांस विताने के विचार से बही उहर गया। एक मास का उपवास पूर्ण होने पर महाबीर गोचरी के लिए निकले और वहां के एक विजय सेठ के यहां उनका निरन्त-राय बाहार हुआ। दान के प्रभाव से हुए पंच व्याश्चर्यों को देखकर गोशाला ने सोचा- वे कोई चमस्कारी साधु प्रतीत होते हैं, अतः मैं इनका ही शिष्य बनकर इनके साथ रहुँगा। गोचरी से छौटने पर उसने भगवान से प्रार्थना की कि आप मुक्ते अपना शिष्य बना लेवें। किन्तु भगवान् ने कोई उत्तर नहीं दिया और पुनः एक मास के उपवास का नियम करके ध्यानारुढ़ हो गये। एक मास के बाद पारणा के लिए वे तगर में गये और आनन्द आवक के यहां पारणा हुई। पुनः वापिस आकर एक मास का उपवास लेकर ध्यानारूढ़ हो गये । तीसरी पारणा सुतन्द आवक के यहां हुई । पुनः एक मास के उपवास का नियम कर भगवान ध्यानारूढ़ हो गये।

कार्तिकी पूर्णिमा के दिन चौथी पारणा के लिए जाते समय गोझाला ने भगवान् से पूछा कि आज सुक्ते भिक्षा में क्या मिलेगा ? भगवान् ने उत्तर दिया—'कोडों का बासा भात, खट्टी छांछ और दक्षिणा में एक खोटा रुपया।' भगवान् के बचनों को सिध्या करने के उद्देश्य से बद्द श्रमेक धनिकों के घर भिक्षा के लिए गया, किन्तु

है. दिव्य गंबोबक बृष्टि, पुरुर बृष्टि, मुर्गभ वायु-संवाद, देव-दुःदुंभि-वादन कौर अही दान की स्थित, इन पांच आश्वर्य-कारी वातों को पंच आश्वर्य करते हैं। —सम्बादक

( 53

कोल्हाम संजिवेश से विहार करते हुए भगवान जाडाण गांव पहुँचे। यहां पर भगवान की पारणा नो निरन्तराय हुई। किन्तु गोशाया को गोचरी में बामा भाग मिला, जिसे लेने से उसने इनकार कर दिया और देने वालों की से बोला – तुन्हें बामा भाग देने लग्जा नहीं जानी। यह कह कर और आप देकर विना ही भिक्षा लिए वह वापिस लीट जाया।

जाक्रण गांव से भगवान चम्पा तगरी गए श्रीर तीसरा चातु-सीस बढी पर ज्यतीत किया। इसमें भगवान् ने दोन्दो मास के उपनास किये।

चौथा वर्ष

चन्यानगरी से भगवान ने काळायम सिंजिये की ओर विहार किया। वहां पहुँच कर उन्होंने एक स्वंद्धहर में ध्वानावस्थित होकर रात्रि विताई। एकान्त समझ कर गांव के मुखिया का व्यभिचारी पुत्र किमी दासी को लेकर वहां व्यभिचार करने के लिए आया और व्यभिचार करके आपिस जाने लगा, तो गोझाळा ने स्त्री का हाथ पकड़ लिया। वह देखकर उस मनुष्य ने गोझाळा की स्त्रृव पिटाई की। दुमरे दिन भगवान ने प्रश्वान किया और पत्रकाळये पहुँचे। भगवान वहां किसी एकान्त स्थान में ध्यानाह्नद्ध हो गये। दुर्भाग्य से पुत्र दिन जैसी घटना यहां सी घटी और यहां पर भी गोझाळा पीटा गया।

पत्रकाळय से भगवान् ने कुमाराक सम्निवेश की खोर विद्वार किया। वहां पर चन्यक रमणीय उद्यान में पाहर्वस्य साधुखां को हेखा, जो वस्त्र और पात्रादिक रही हुए:थे। गोशाळा ने पूछा—खाप किस प्रकार के साधु हैं १ उन्होंने उत्तर हिया—हम निर्मस्य हैं। कहीं पर भी उसे भिक्षा न मिली। अन्त में एक लुहार के वहां से बही कोडों का बासा भान, सही छोछ और एक घोटा रुपया मिला। इस घटना का गोशाला के मन पर बढ़ा भागे प्रभाव पढ़ा। वह 'नियतिवाद' का पढ़ा समर्थक हो गया। उसकी यह दह घारणा हो गई कि जो कुछ जिस समय होने वाला है. वह उस समय होकर के ही रहेगा।

चातुर्मास पूर्ण होते ही महावीर ने नालन्य से विहार किया और कोल्लाम सिन्निक पहुँचे । नालंदा से भगवान ने जब विहार किया, तब गोंशाला भिक्षा लेने के लिए गया हुआ था। वापिस आने पर जब उसे महावीर के विहार कर जाने का पता चला, तो वह भी हु हते-हूं हते कोल्लाग-सिन्निक जा पहुँचा। इसके पश्चान वह लगा-तार छह चातुर्मासों तक भगवान के साथ रहा।

तीसरा वर्ष

कोल्लाग सिन्नवेश से भगवान ने सुवर्णवल की बोर विहार किया। मार्ग में उन्हें कुछ खाल मिले, जो मिट्टी की एक हांडी में बीर एका रहे थे। गोशाला ने भगवान से कहा—जरा ठहरिये, इस बीर फो खाकर फिर जागे चलें।। भगवान ने कहा—यह खीर पकेंगी ही नहीं। बीच में ही हांडी फूट जायगी और सब खीर नीचे लुड़क जायगी। वह कहकर भगवान नो आगे चल दिये। किन्तु बीर बाते के लोभ से गोशाला वही ठहर गया। हांडी दूध से भरी हुई यो और उसमें बावल भी अधिक डाल दिये गये थे। अतः जब बावल इले तो हांडी फट गई और सब खीर नीचे लुड़क गई। खालों को बाशा पर पानी फिर गया और गोशाला अपना सुख नीचा किये हुए वहां से चल दिया। अब उसकी यह धारणा और भी दह हा गई कि 'जो लुल होने वाला है, वह अन्यथा नहीं हो सकता।'

( 53

गोजाला ने कहा— 'आप कैसे निर्मत्य हैं, हो इकना परिषद स्व करके भी खपते आपको निर्मत्य बनलाने हैं। जान होता है कि अपनी आजीविका चलाने के लिए आप लोगों ने होंग रच स्वाहै। सच्चे निर्मत्य तो हमारे धर्माचार्य हैं, जिनके पास एक भी बस्त्र और पात नहीं हैं और वे ही त्याग और नपस्था की साक्षान मूर्नि हैं। ।' इस प्रकार उन सप्रस्थी साधुओं की सत्येना करके गोजाला वापिस सगवान के पास आ गया और उनसे सब बुनान्त कहा।

कुमाराक-सिन्निवेश से चलकर भगवान चोराक सिन्निवेश गरे।
यहां के पहरेदार चोरों के भय से बढ़े सातक रहते थे और वे किसी
अपरिचित व्यक्ति को गांव में नहीं आने देते थे। जब भगवान गांव में पहुँचे. तो पहरेदारों ने भगवान से उनका परिचय पृष्ठा। किन्तु भगवान ने कोई उत्तर नहीं दिया। पहरेदारों ने उन्हें गुप्तवर समझ कर पकड़ लिया और बहुत सताया। जब सोमा और जयसी नामक परिजाजिकाओं से भगवान का परिचय मिला, नव उन्होंने उन्हें छोड़ा और अपने दुष्हस्य के लिए श्रमा मांगी।

चोराक से भगवान ने पृष्टचम्या की खोर विहार किया और यहीं पर चौथा चातुमीस व्यक्तीत किया। इस चतुमीन में भगवात् ने पूरे चार मास का उपवास रखा और खनेक योगासनी से तपस्या करते रहे। चातुमीस समाप्त होते ही नगर के बाहिर पारणा करके भगवान् ने क्यंगला सक्षिवेश की खोर विहार किया।

 गोशाला का स्थे० शास्त्रोल्लिखित यह कथन सिद्ध करता है कि भ० महावीर बस्त्र और पात्रों से रहित पूर्ण निर्माण थे।

- सम्पादक

## पांचवां वर्ष

क्यांगांठा में सद सहाबीर ने नगर के बाहिरी आग के एक इश्चान में बने देवालय में निवास किया। वे उसके एक कोने में कायोत्सर्ग कर ध्यान-मन्न हो गये। उस दिन देवालय में राजि-जागरण करते हुए कोई धार्मिक उत्सव मनाया जाने वाला था, खतः राजि प्रारम्भ होते ही नगर से स्त्री खीर पुरुष एकवित होने लगे। गाने-बजाने के साथ ही बीरे थीर स्त्री खीर पुरुष मिलकर नाचने लगे। गोशाला को यह सब कुछ खच्छा नहीं लगा खीर वह उन लोगों की निदा करते लगा। खन्नों निदा सुनकर गांव वालों ने उसे मन्दिर से बाहिर निकाल दिया। बह रात भर वाहिर टंड में ठिटुरता रहा।

प्रातः काल होने पर भगवान ने वहाँ से आवस्ती की ओर विहार कर दिया। गोवरी का समय होने पर गोशाला ने नगर में बलने को कहा। गोवरी में यहां एक ऐसी घटना घटी कि जिससे गोशाला को विस्वास हो गया कि 'होनदार तुर्निवार हैं.'

श्रावस्ती से भगवान इङ्गिट्य गांव की ओर गये। वे नगर के बाहिर एक कुछ के नीचे ध्यान-स्थित हो गये। रात में बहाँ कुछ याजी ठहरें और ठंड से बचने के लिए उन्होंने खाग जलाई। प्रातः काल होने के पूर्व ही याजी लोग तो चल दिये, पर खाग बदती हुई भगवाल के पास जा पहुँची, जिससे उनके पर मुलस गये। भगवान ने यह बेदना आनि-पूर्वक सहन की और खाग के बुझ जाने पर उन्होंने नगल गांव को खार दिहार किया। वहाँ गांव के बाहिर भगवान तो वासुदेव के मन्दिर में ध्यान-स्थित हो गये, किन्तु वहां सेलने वाले एक्डकों में गीडाला ने आंख दिखारहर दरा दिया। लड़के गिरते-वृद्धके पर हो भागे और उनके आभिश्रावकों ने आकर गोझाला को सूब पीटा।

( 48 1

## छठा वर्षे

कदली समागम सं भगवान जम्बूखंड गये और वहां से तम्बाय समिवेश गये और गांव के बाहिर व्यान-स्थित हो गये। यहां पार्व-सलातीय नन्दिरण खावार्य रात्रि में किसी चीराह पर व्यान-व्यान से, तब वहां के केंद्रुशल के पुत्र ने उन्हें चोर समझ कर भाने से मार हाला। गोझाला ने इसकी सूचना नगर में दी और वापिस भगवान के पास था गया।

तस्वाय-सन्निकेश से भगवान् कृषिय-सन्निकेश गये। यहाँ के होगों में कहें गुमकर समझ कर पकड़ लिया और खूब पीटा। बाद में उन्हें हैंद करके कारागृह में डाज दिया। इस बाग को सूचना जब पाइवेगाव-सरवानीय विजया और प्रगत्भा साध्वियों को मिलो, तो उन्होंने कारागृह के अधिकारियों से जाकर कहा 'श्वरे यह क्या किया है क्या तुम लोग मिदार्थ के पुत्र भ० महावीर को नहीं पिह-चानते हो है उन्हें भीन मुक्त करों। भगवान का परिचय पाकर उन्होंने अपने दुख्या पश्चर पश्चर पश्चर मातते हो है उन्हें भीन मुक्त करों। भगवान से हमा मोंगी और उन्हें केंद्र से मुक्त कर दिया।

कृषिय-सित्रवेश से भगवान ने बेशाली की और विहार किया। इस समय गोशाला ने भगवान से कहा— 'मगवान, न नो आप भेरी रक्षा करते हैं और न आपके साथ रहने में मुक्ते काई सल है। स्वृत्त कर ही भोगता पढ़ते हैं और भोजन की भी विन्ता बनी रहते हैं । यह कहन गोशाला राजगृह की और चला गया। भगवान बशाली पहुँच कर एक करमारशाला में ध्यान-स्थित हो गये। दुन्तर दिन अब उसका खामी आया और उसने भगवान के वहां खड़ा देखा तो तबोड़ा लेकर उन्हें भारने के लिए अपदा, तब किसी भद पुरुष ने आकर उन्हें बचाया।

नंगला से विहार कर भगवान आवर्त गांव पहुंचे और वहां नगर से बाहिर बने बलरेव के मन्दिर में रात भर ध्यान-विकार है। दूसरे दिन वहां से चलकर चोराक-संजिवेश पहुँचे और वहां भी वे नगर से बाहिर ही किसी एकान्त स्थान में ध्यान-खित रहे। पर गोजाला गोचरी के लिए नगर की और चला और लोगों ने उसे गुमचर समझकर पकड़ लिया और खूब पीटा।

बोराक-सिनिवेश से भगवान जब कलंबुका-सिनिवेश की और जा रहें थे तो मार्ग में सीमा-रक्ष कों ने उनसे पूछा कि तुम लोग कीन हो ए उत्तर न मिलने पर दोनों को पीटा गया और पकड़ कर वहां के स्वामी के पास भेज दिया गया। उसने भगवान को पहिचान लिया और उन्हें मुक्त कर अपनी भूल के लिए क्षमा मांगी।

यहां से भगवान् ने लाइ देश की खोर निहार किया । वहां कहें उहरने योग्य स्थान भी नहीं मिलता था, खतः बहां कहीं कंक-रीळी-पथरीली विषम मूमि पर ठहरना पढ़ता था । वहां के लोग भगवान् को मागते खोर उन पर कुत्ते लोह देते थे। वहां खाहार भी जब कभी कई-कई दिनों के बाद रूखा-सूखा मिलता था । पर भगवान् ने उस देश में परिभ्रमण करते हुए इन सब कहां को बड़ी शानित से सहन किया। जब भगवान् बढ़ां से लौट रहे थे, नव सीमा पर मिले हुए हो चोरों ने उन्हें बड़ा कह पहुँचाया।

वहां से आकर समवान ने भरिया नगरी में पांचवां बातुमांस किया। यहां पूरे चार मास का उपवास खगीकार कर विधिध आसनों से ध्यान-स्थित रहे और आस्म-चिन्तन करते रहें। बातु-मांस समाप्त होते ही नगर के बाहिर पारणा करके भगवान ने कदली समाग्रा की ओर बिहार किया।

( 50 )

वैज्ञाली से विहार कर भगवान प्रामक-सम्बिवेश आये और गांव के वाहिरी यक्ष-मन्दिर में ध्यान-स्थित रहे। वहां से चलकर भगवान झाळीशीर्प आये और यहां पर भी नगर के बाहिर ही किसी उद्यान में ध्यान-स्थित हो गये। माघ का महीना या. कड़ाके की ठंड पड़ रही थी और भगवान नी नम्र थे ही। ऐसी ऋति भवंकर शीत-वेदना को सहते समय ही वहां की अधिष्टात्री कोई व्यन्तरी आई और संन्यासिनी का रूप बनाकर अपनी विन्यरी हुई जटाओं में बल भर कर भगवान के ऊपर छिड़कते लगी और उनके कन्धे पर चढ़ कर अपनी जटाआ से हवा करने लगी। इस भयंकर शीत-बेदना को भगवान ने रात भर परम ज्ञान्ति से सहा । प्रातः होते ही वह अपनी हार मान कर वहां से चली गई खाँर उपसर्ग द्र होने पर भगवान से वहां से भहिया नगरी की छोर विहार किया। छठा चातमांस भगवान् ने भहिया में ही विताया। इस चीमासे भर भी भगवान ने उपवास ही किया और अखरह हुए से आत्म-चिन्तन में तिरत रहे। इघर गोझाला छह माम तक इवर-उधर वृम कर स्त्रोर अनेक कच्ट सहन करके भगवान के पास पुनः आ गया।

चातुर्मीत समाप्त होने पर पारणा करके भगवान् ने सगव देश की ओर बिडार किया।

#### सातवां वर्ष

भगवान शीन और भीवम छतु के पूरे आठ मास तक मगध के अनेक प्रामों में विचरते रहे। भोशाला भी साथ रहा। वर्षा काल समीप आते पर चातुमोस के लिए भगवान आलंभिया पुरी आये। यहां पर भी उन्होंने चार साम का उपवास अलोकार किया और आस्म-चिन्नन में निरंत रहे। चौमामा पूर्ण होने पर पारणा करके भगवान ने कुडाक-सन्नियेश की और विहार किया।

## आठवां वर्ष

कुंडाक-सिलवेश में भगवान वासुदेव के मन्दिर में कुछ समय तक रहे। पुनः वहां से विदार कर महल-सिलवेश के बलदेव-मन्दिर में उद्देर। पुत्रान्त वहां से चल कर बहुसालग गांव में पहुँचे और शाल-वन में घ्यान-ध्यित हो गये। यहां पर भी एक ज्यन्तरी ने भगवान के ऊपर घोरातिधोर उपसर्ग किये और अन्त में हार कर वह अपने क्षान को चली गई। उपसर्ग दूर होने पर भगवान ने भी वहां से विदार किया और लोडार्गल। पहुँचे। वहां के पहरेदारों ने इनका परिचय पूछा, कुछ वत्तर न मिलने पर उन्होंने पर भगवान का पूर्व पत्रिचत उत्पल क्योतिथी चेटा हुआ था. वह भगवान को देखने हो परिचय उदाल क्योतिथी चेटा हुआ था. वह भगवान के देखने हो उठ खड़ा हुआ और भगवान को नमस्कार कर राजा से बोला—राजन, ये तो राजा सिद्धार्थ के पुत्र धर्म-चकवर्ती तीर्थकुर मगवान महाबीर हैं. गुनचर नहीं हैं। तब राजा ने उनके बन्धन खुलबाधे और क्षमा मांग कर उनका आदर-सत्कार किया।

होहागें हा से भगवान ने पुरिमतालपुर की ओर विहार किया और नगर के बाहिरी उद्यान में कुछ समय तक ठहरें। पुरिमताल से भगवान उन्नारा और गोभूमि होकर राजगृह पहुँचे और वहीं आठवां चातुर्मास किया। इस चीमासे भर भी भगवान ने उपवास ही रलकर आत्म-चिन्तन किया। चातुर्मास के समाप्त होने पर पारणा करके भगवान ने वहां से विहार कर दिया।

## नवां वर्ष

राजगृह से भगवान ने पुनः लाड देश की और विहार किया और वहां के वक्र-भूमि, सुन्द-भूमि जैसे अनार्य प्रदेश में पहुँचे।

( 60 )

भाग्य से एक परिचित व्यक्ति तभी वहां आया। उसने भगवान् को पहिचान कर नाविक को उनराई दी और भगवान् को मुक्त कराया।

बहाँ से विकार कर भगवाम् वाणिष्यधाम के बाहिर ध्यान में स्थित हो गये। जब वहाँ के निवासी श्रमणोपासक श्रानन्द को भग-बाम के प्रधारने का पता चला, तो उसने आकर भगवाम् की बन्दना की। वहाँ से विहार कर भगवाम् श्रावस्ती प्रधारे और दशवां चातु-मांस आपने यहीं पर विताया।

यहां यह ज्ञातच्य है कि गोशाला ने चातुर्मास के पूर्व ही मग-बान् का साथ छोड़ दिया था और तेजोलेश्या की साधना कर स्वयं नियतिवाद का प्रचारक यन गया था।

# स्वारहवां वर्ष

आवस्ती से भगवान् ने सानुकहिय सिनियेश की खोर विहार किया। इस समय खापने भद्र, महाभद्र खोर सर्वतीभद्र तपस्याओं को करते हुए सोळह उपवान किये। तपका पारणा भगवान् ने झानन्द उपासक के यहां किया और हद्वसूमि की खोर विहार कर दिया। मार्ग में पेटाल-उथान के चैत्य में जाकर तेला का उपयास महण कर एक खिला पर ही ध्यान-स्थित हो गये। एक रात्रि को जब भगवान् ध्यानारूद्ध थे, तय संगमक देव ने रात भर भयंकर से भयंकर नाता प्रकार के उपसां किये। पर वह भगवान् को ध्यान से विचलित न कर सका। प्रातःकाल होने पर वह अन्तर्थान हो गया और भगवान् ने वालुका की खोर बंदार किया। वहां से सुयोग, सुन्हेत्ता, मलय और हस्तिशीय खादि गांवां में विचरते हुए तोसिल गांव पहुँचे। मार्ग में वह संगमक देव कुछ न कुछ उपद्रव करता ही रहा, मगर भगवान् निवैकार रहते हुए सबैन्न विजय पाते रहे।

यहां पर ठहरने योग्य स्थान न मिलने से वे कभी किसी युद्ध के नीचे और कभी किसी खंडहर में ठहरने हुए विचरने छने। यहां के छोग और कभी किसी खंडहर में ठहरने हुए विचरने छने। यहां के छोग भगवान की हंसी बहाते। उन पर धूळि और पत्थर फेंक्टों को देने और उन पर बिकारी छुने छोड़ते थे। पर इन सारे कच्टों को देने और उन पर बिकारी छुने छोड़ने थे। पर इन सारे कच्टों को सहते हुए कभी भी भगवान के मन में किसी प्रकार कोई का रोप या आवेश नहीं छाया।

बातुर्मास आ जाने पर भी भगवान को ठहरने योग्य कोई खान नहीं मिला, अतः पूरा चौमासा उन्होंने वृक्षों के नीचे या खंड-खान नहीं मिला, अतः पूरा चौमासा उन्होंने वृक्षों के नीचे या खंड-खान नहीं में रहकर ही विताया। चातुर्मास समाप्त होने पर भगवान ने वहां से विहार कर दिया। यहां यह ज्ञातस्य है कि भगवान इस अनार्य देश में छह मान तक विचरण करते हुए रहे, पर एक भी दिन आहार नहीं लिया, अर्थात छह मान के लगातार उपवास किये।

# द्शवां वर्ष

श्रतार्थ देश से निकल कर भगवान ने सिद्धार्थपुर की ओर विहार किया और कमशः विचरते हुए वेशाली पहुँचे। एक दिन नगर के बाहिर आप कायोत्सर्ग से ध्यानाविध्यत थे कि वहां के लड़कों ने आपको पिशाच समझ कर बहुत परेशान किया। जब वहां के राजा की दस बात का पता चला, तो वह भगवान् के पास आया और पहिचान कर उत्तसे लड़कों के दुष्कृत्यों की क्षमा मांगी और बन्दना की।

वैज्ञाली से भगवान ने बाणिज्य शाम की क्योर विद्वार किया। मार्ग में गण्डकी नदी मिली। भगवान ने नाव-द्वारा उसे पार किया। नदी के उस पार पहुँचने पर नाविक ने उतराई मांगी। जब कुछ उत्तर था उतराई नहीं मिली, तो उसने भगवान को रोक लिया।

( 83 )

तोसिल गांव से भगवान मोमिल गांव पहुँचे और वहां के उतान में कायोत्मर्ग लगावर ध्यान खित हो गये। यहां संगमक ने उपद्रव करन । प्रारंभ किया और चोर कह कर राज्याधिकारियों से पकड़वा दिया। यहां के राजा ने खायसे कई प्रश्न पूछे। पर जब कोई उत्तर नहीं मिला, तब उसने कोध में खाकर खायकों कांभी लगाने का हुक्न हे दिया। भगवान के गांवों में कांमर खायकों कांभी लगाने का हुक्न हे दिया। भगवान के गांवों में कांमर खायकों का नदा खार खाँर उसों ही नीचे का तस्ता हटाया गया. त्यों ही लेदा टूट गया। इस प्रकार खात बार कांमी लगायी गयी और सातों ही बार कहा टूटता गया वह देख कर सभी खायकारी आहचयं-चित्रत होकर राजा के पास पहुँचे। राजा इस घटना से यहा प्रभावित हुखा और उनने सगवान के पास जाकर क्षमा मांगी और उन्हें बन्धन से मुक्त कर दिया।

मोस्रिटिशाम से भगवान् सिद्धार्थपुर गये। यहां पर भी भगवान् को बोर समझ कर पकड़ िट्या गया। किन्तु एक परिचित व्यक्ति ने उन्हें छुड़था दिया। वहां से भगवान् बज्जमम गये। जब वे पारणा के टिए नगर में विचर रहे थे, तो वहां भी संगमक ने आहार में अन्तराय किया। तब भगवान् आहार टिए विना ही वापिस चले आये। इस प्रवास में पूरे छह मास के पश्चात् भगवान् की पारणा वज्रमाम में एक बुढ़ा के यहां हुई।

वजन्नाम से भगवान् आर्छिभया, सेविवया आदि मार्मो में विचरते हुए आवस्ती पहुँचे और नगर के बाहरी उद्यान में ध्वात- स्थित हो गये। पुनः वहां से विहार कर कौजास्थी, बाराणसी, राजगृह, मिथिला आदि नगरों में विहार करते हुए बैंआली पहुँचे और स्थारहवां चातुमीस आपने यहीं पर ज्यतीत किया और पूरे चातुमीस मर भगवान् ने द्वावास किये।

#### बारहवां वर्ष

वैज्ञाही से भगवान ने मुंसुमारपुर की खोर विहार किया और कमशा भोगपुर और नन्द्रशम होते हुए मेहियबाम प्यारे। वहां पर भी एक गोपालक ने भगवान की कट्ट देने का प्रयास किया।

मेडियमाम से भगवान कौशास्त्री गये और पीप कृष्णा प्रतिपदा के दिन भगवान ने गोपरी को जाते समय यह अभिन्नह लिया कि "यदि शिर से मुंडित, पेरों में बेड़ी, तीन दिन की उपासी, पके हुए ठडद के बाकल सप के कोने में लेकर द्वार के बीच में खड़ी हट, दासीपने को शप्त हुई किसी राजकुमारी के हाथ से भिछा मिलेगी, तो प्रहण करू गा, अत्यया नहीं।" ऐसे अटपटे अभिग्रह को लेकर भगवान् लगातार चार मास तक नगर में गोचरी को जाते रहे। मगर अभिन्नह पूरा नहीं हुआ। सारे नगर में चर्चा फैछ गई कि भगवान भिक्षा के लिए आते तो हैं, परन्तु विना कुछ लिए ही लीट जाते हैं। यहां के निवासियों ने और राजा ने भी अभिमह जानने के लिए अनेक प्रयत्न किये, पर कोई सफलता नहीं मिली। इस बकार पांच दिन कम छह सास बीत गये। इस दिन सदा की भांति भगवान गोजरी को आये कि अभिग्रह के अनुसार पन्दना को पहिमाहते हुए देखा श्रीर अपना अभिग्रह पूरा होता देखकर उसके हाय में आहार ले लिया। भगवान के आहार प्रहण करते ही चन्द्रना की सब वेडियां जुल गई और आकाश में जय जय कार ध्वनि ग्रंजने लगी। सगवान खाहार करके इधर वापिस चले खाये और उधर राजा ज्ञतानिक को जब यह बात ज्ञात हुई, तो वह चन्द्रना के समीप पहुँचे। चन्दना को देखते ही रानी मृगावती ने उसे पहिचान लिया और बोली - अरे यह तो मेरी बहित हैं ऐसा कर कर उसे वहां से राज-भवन ले आई। पुनः उसने अपने पिता के यहां यह समाचार

## ( 83 )

कारी और गायकों को गात हुए देखकर शस्या-पाल पर आग-ववूला होकर उससे पूछा कि गायकों को अभी तक विदा क्यों नहीं किया? उसने विनम्न होकर उत्तर दिया - महाराज, में संगीत सुनने में तन्मय हो गया और आपका आदेश भूल गया। शस्या-पाल के उत्तर से नारायण और भी कुद्ध हुए और अधिकारियों को आदेश दिया कि इसके दोनों कानों में पिघला हुआ गर्म शीशा भर दिया जाय। बेचारा अस्या-पाल गर्म शीश के कानों में पढ़ते ही छटपटा कर मर गया। उस समय का बद्ध यह निकाचित कर्म महावीर के इस समय उदय में आया और अनेक योतियों में परिश्रमण के बाद उसी शय्या-पाल का जीव गुवाला बना और पूर्व भव के वैर से वैलों का निमित्त पाकर उसका रोप इतना बढ़। कि उसने महावीर के दोनों कानों में सालाकाएं ठोक दी।

छन्माणि से विहार करते हुए भगवान् मध्यमपावा पधारे और गोचरी के लिए वृमते हुए सिद्धार्थ वैश्य के घर पहुँचे। ब्राहार करते समय वहां उपस्थित खरक वैंद्य ने भांपा कि भगवान् के हारीर में मैं कोई शल्य है। ब्राहार कर भगवान् गांव के बाहिर चले गये और उद्यान में पहुँच कर ध्यानारुढ़ हो गये। सिद्धार्थ भी वैंद्य को लेकर वहां पहुँचा और शरीर की परीक्षा करने पर उसे कान में ठोकी हुई कीलें दिखाई दी। तब उसने संहासी से पकड़ कर दोनों शलाकाएं कानों से खींचकर बाहिर निकाल दी और कानों में याव भरने वाली खींपधि हाली। पुनः बन्दना करके वे दोनों वापिस गांव

इस प्रकार भयानक उपसर्ग और परीपह सहन करते हुए, तथा नाना प्रकार के तपश्चरण करते हुए भगवान ने साढ़े बारह वर्ष इयतीत किये। भेजा और राजा चेटक बेझाली से चन्द्रना को अपने घर लिवा लेगाये। कालान्तर में यही चन्द्रना भगवान के संघ की प्रथम साध्यी हुई।

कीशास्त्री से विहार कर भगवान सुमंगळ, सुर्ग्छेता, पाळक प्रामों में विचरते हुए चन्नापुरी वहुँचे और चार मास के उपवास का निवम लेकर वही चौमासा पूर्ण किया। चातुमीम के पश्चान विहार करके अभियमाम गये।

## तेरहवां वर्ष

जिभियमाम में कुछ दिन रहने के पश्चात भगवान वहां से मेडियमाम होते हुए छन्माणि गये और गांव के बाहिर ही ध्यान में स्थित हो गये। रात के समय कोई गुवाला भगवान के पाम बैठ छित हो गये। रात के समय कोई गुवाला भगवान के पाम बैठ छोड़कर गांव में चला गया और जब वापिस खाया तो उसे बैठ वहां मेंदी मिले। उसने भगवान से पूछा—देवार्य, मेरे बैठ कहां गये है भगवान की ओर से कोई उत्तर नहीं मिलने पर कोचित होकर अस्ता कांस की शलाकाएं दोनों कानों में युसेड़ दी और पत्वर से उसने कांस की शलाकाएं दोनों कानों में युसेड़ दी और पत्वर से पंत्रा ठोका कि कात के भीतर वे खापस में मिल गई। कान से बाहिर निकली शलाकाओं को उसने तोड़ दिया, ताकि कोई उनको देख न सके।

श्में शास्त्रों में इस उपसर्ग का कारण यह बतलाया तथा है कि जब सहावीर का जीव त्रियुष्ट नारायण के भव में था, तब एक दिन रात्रि के समय वह सुख से अपनी अध्या पर लेटे थे और उनके सामने अनेक संगीतज सुन्दर संगीत-गाम कर रहे थे। नारायण ने अध्या-पाल से कहा कि जब सुक्ते नींद आ जाय, तो इन गायकों को विदा कर देना। संगीत की सुरीही तान के सुन्ते में वह अध्या-पाल इतना तस्मय हो गया कि नारायण के सो जाने पर भी गायकों को विदा करना भूल गया और सारी रात गायक गाते रहे। नारायण

#### ( FX )

इस छदास्य काल में भगवान् के द्वारा किये गये तपश्चरण का विवयण इस प्रकार है—

5 TIT		2	पक्षोपवास	05
छह मासी अनशन तप	au	-3	भद्र प्रतिमा २ दिन	8
पांच दिन कम छह मासी		1	महाभद्रप्रतिमा ४ दिन	3
चातुर्मासिक	11	0	सबतोशद्र प्रतिमा १० दिन	5
त्रेम।सिक	22		पच्छोपवास (बेला)	385
अदाई मासिक	55	6	ब्राब्टमभक्त (तेला)	35
दो मासी	13	2	पारणां के दिन	38€
डेड मासी	31		दीक्षा का दिन	3
एक मासी	31	12	71.00	

इस उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भ० महावीर ने अपने छड़ाश्य जीवन के इन १२ वर्ष ६ मास और १४ दिन के तपश्चरण-काल में केवल ३४० दिन ही भोजन किया और रोप दिनों में उन्होंने निर्जल ही उपवास किये हैं।

१ जो ख तवो अगुचित्रो वीर-वरेण महागुआवेण । छउमाव-काळियाए अहक्कमं कित्तहस्सामि ॥ १ ॥ नव किर चाउस्मासे छ किर दो मासिव खोवासी अ । बारम व मासियाइ वावत्तरि खडमासाई ॥ २ ॥ इक्कं किर छन्मासं दो किर तेमासिए उवासी अ । खड्डाइउजाइ दुवे दो चे वर दिवहुमासाइ ॥ ३ ॥ भई च महाभइ पहिम तत्तो अ सब्बधो भई । दो चत्तारि दसेव य दिवसे ठासी यमगुचढ ॥ ४ । गोथरमभिग्गहजुआं स्त्रमणं छन्मासियं च कासी अ । पंच दिवसेहिं उणं खब्बहिको वच्छनयरीए ॥ ४ ॥ सन् महाबीर के छद्रास्थकाल के तपश्चरण और उपसर्ग आदि का उक्त वर्णन खेन आगमों के आधार पर दिया है। इससे पाठक जान सकेंगे कि साई बारह वर्ष के लग्ने समय में कैसे-केंस उपसर्ग और कहट सन् महाबीर को सहन करना पड़े थे। दिन जैन पुराणों में एक और उपसर्ग का वर्णन मिलता है। वह इस प्रकार है—

यक समय भगवान् विहार करते हुए उडवियती नगरी पहुँचे और वहाँ के अतिमुक्तक नामक स्मद्रान भूमि में रात्रि के समय प्रतिमा बीग भारण करके बढ़े हो गये। अपनी क्षी के साथ घुमता हुआ भन नामक कह बढ़ां आया और मगवान् को ख्यानस्य देखकर आग-बबूला हो गया। उसने रात भर अनेक प्रकार के उपसर्ग किया-भगवने कुल बना कर भगवान् को हराना चाड़ा, उन्हें च्यान से विच-कित करने के लिए अपसराखों का जुल्य दिखाया गया। इस प्रकार

दस दो हिर महप्पा ठाइ मुणी एगराइयं पडियां । अइम-भत्तेण जह इकिकं चरमराई खं ॥ ३॥ तो चेव च च्छ्डहम्प खरणातीते उ वासिक्यो भयव । ते चेव च च्छ्डहम्प खरणातीते उ वासिक्यो भयव । त कथाइ तिक्वमस्यं चरध्यस्य सं त्या त्या । ता । वास्त वासे खरिए छट्ट भरो जहन्य खामि । ता । तिक्ति सप हिन्दार्ग खरणाय खासि वीरस्त ॥ ६ ॥ तिक्ति सप हिन्दार्ग ठिव पडियाण मए वहुत ॥ ६ ॥ पव्यक्ति तिवस्य हिन्दार्ग ठिव पडियाण मए वहुत ॥ ६ ॥ पव्यक्ति तिवस्य हिन्दार्ग हिव प्रविक्ति विकार्ण । । स्वर्ध क्षेत्र हिन्दार्ग । त्या अस्ति वे व्यक्ति क्षेत्र ते तिवसेह ॥ १२॥ आरस्य चेव य वासा मासा छच्चेत्र खद्धारानो य । वीर-वरस्स भगवश्रो एसा छव्यत्व परिवाधी ॥ ११॥

(आवश्यक-नियु कि पूर्व १००-१०१)

सारी राजि भर उपद्रव करने पर भी जब भगवान विचलित नहीं हुए और सुमेहनत अडोल-अकस्प बने रहे, तब बहु भी भगवान के बरणों में नत-मरूक हो गया। उसने अपने दुष्हर्यों के लिए भगवान से अमा मंगी, नाना प्रकार के स्तोबों से उनका गुण-मान हिया और 'अतिवीर या महति महावीर ' कहकर उनके नाम का जययोग किया।

सतवान के चार नामों की चर्चा पहिले कर आये हैं। यह सगवान का पांचवां नाम रखा गया। इस प्रकार मगवान के र नाम तभी ले प्रचलित हैं—बीर, अीवर्थमान, महाधीर, खितथीर या महति महाधीर खीर सम्मति। प्रमिद्ध राश्चीनक विद्वान श्री सिद्ध-सेनावार्थ को भरावति यह नाम बहुत विष्य रखा और इसी से उन्होंने खपने दांशीनक प्रव्य का नाम ही सम्मति सुद रखा। खाभी समस्त सुद आवक्ष करेड़ ने श्रीवर्थमान नाम से ही भगवान की स्नुति ही है। बीर खीर महाबीर नाम से तो सर्व साधारण जन मखी-मांति परिचित ही हैं।

## भ० महाबीर के केवल ज्ञान की उत्पत्ति और गणधर-समागम

वैशास शुक्ला दशमी के दिन भ० महाबीर को जीभय बाम के बादिर ऋजुबालुका नदी के उत्तर तटपर स्थामाक नामक किसानके

किरात-संस्कृतपणि पापोपार्जन-परिवतः।
 विद्या-प्रभावसम्भावितोपसर्गर्भयावतैः ॥ ३३४ ॥
 सत्र्य स्वत्रितुं चेतः समाधेप्तमर्थकः ।
 स महित-महाबोपाल्यां कृत्या विविधाः सुतीः ॥ ३३६ ॥
 उमया सममाल्याय नर्तित्यागादसस्तरः ॥ ३३० पृष्पीर्थे ॥
 ( क्तप्यूराण, पर्य ७४ )

#### ( == )

सेत वर्ती जालवृक्ष के नीचे चौथे पहर से केवळज्ञान उत्पन हुआ। उस समय इन्द्र का आसन कन्यायमान हुआ। उसने अविध ज्ञान से बाला कि में महाबीर को केवळज्ञान उत्पन्न हुआ है, अत्यव तुरन्न ही सब देशों के साथ भगवान की यन्द्रना के लिए आया। इन्द्र के आहेज से कुनेर ने एक विशाल सभा-मण्डण रचा, जिसे कि जैन आएगों की परिभाषा में समबसरण था समयशरण कहते हैं। इस पर का सर्थ है सर्व और से आने वाले छोगों को समान रूप से अरण देने वाला स्थान।

जिस दिन भ० महाशीर को केवल जान उत्पन्न हुआ, उसके कुछ समय पूर्व से ही मध्यम पावापुरी में सोमिल नाम के जाड़ाण ने अपनी बजहारता में एक बहुत बढ़े यज का आयोजन किया था स्त्रीर उसमें सम्मिलित होने के लिए उसने उस समय के प्राय: सभी प्रमुख एवं प्रयान जावाण बिढानों को खपनी शिष्य-मण्डली के साथ आमन्त्रित किया था।

उस यह में भाग लेने के छिए इन्ह्रभूति, अग्निभूति और वायु-भूति वे तीनों ही गीतमगोत्री विद्यान् ...जो कि समें भाई थे ... अपने-अपने पांच-पांचसी क्षित्र्यों के साथ आये हुए थे। ये सगब देश के गोवर अमा के निवासी थे और इसके पिता का नाम वसुभूति और भागा का नाम पुल्वी था। यहिन ये तीनों ही विद्यान पेद-वेदांगादि चौदह विशाख्य के जाता थे, तथापि इन्द्रभूति को जीव के विषय में, अग्निभृति को कर्म के विषय में और वायुभृति को जीव और शरीर के विषय में शंका थी।

उसी बत-समारोह में कोल्डाग-सम्निवेश-वासी आर्यव्यक्त नाम के विद्यान भी सम्मिलित हुए थे। इनके पिता नाम धनसिन और माता का नाम बारणी था। इनका गोत्र भारदाज था। इन्हें पंथमूतों के विषय में झंडा थी, अधीत में जीव की उत्पत्ति पृथ्वी,

#### ( EE )

जल, श्राम, वायु सौर जानाश इन पंच मूतो से ही मानते थे। जीव की रवतन्त्र सत्ता है कि नहीं, इस विषय में इन्हें जेका थी। इनके भी पांचसी जिल्ल थे। उनके साथ ये यह में आये थे।

उसी कोल्डाग-सन्नियेश के सुधमो नाम के विदान भी यज में आये भे, जो अप्रियेश्यायनगोत्री ये। इनके पिना का नाम धनिमह बा और माना का नाम भहिला था। इनका विश्वास वा कि बर्तनान में जो जोव जिस पर्याय (अवस्था) में है, वह मर का भी उसी पर्याय में उत्पन्न होता है। पर आगम-प्रमाण न मिलने से ये अपने मत में सन्दिग्व थे। इनके भी पांचसी शिष्य उनके साथ यह-समारोह में शामिल हुए थें।

उसी यक्ष में मीर्थ-सिन्नयेश के निवासी मण्डिक और मीर्थ-पुत्र नामक विद्वान भी अपने सादे तीन-तीनसी शिष्यों के साव सिन्मिलित हुए। मण्डिक वशिष्ठगोत्री थे, इनके पिता का नाम धन-देव और माता का नाम विजया था। इन्हें बच्च और मोक्ष के विषय में झंका थी। मीर्थ-पुत्र कश्यपभोत्री थे। इनके पिता का नाम मीर्थ और माता का नाम विजया था, इन्हें देवों के अस्तित्व के विषय में अंका थी।

उस यह में भाग लेते के लिए खकस्पित, खनलजाता, मेतार्य, खीर प्रभास नाम के चार खन्य निहान भी खाये थे, (इनके पिता-मातादि के नाम चौरहवें समें में दिये हुए हैं )) इनमें से प्रत्येक का शिष्य-परिवार तीन सी शिष्यों का था। खनिन को तरक के विषय में, खनलजाता को पुष्य के सम्बन्ध में, मेतार्थ को परलोक के सबच में और प्रभास को मुक्ति के सम्बन्ध में बात थी। खनियत मिखिला के थे और उनका गीतम गोत्र वा। खनल जाता कीशल के वे और उनका गीत्र हारित था। मेतार्थ कीशम्बी के समीपवर्ती तुर्गिकमान के थे और उनका गीत्र हारित था। मेतार्थ कीशम्बी के समीपवर्ती तुर्गिकमान के थे और उनका गीत्र हारित था। मेतार्थ कीशम्बी के समीपवर्ती तुर्गिकमान के थे और उनका गीत्र हारित था। समास राजगृह के थे उनका

भी गोत्र कौण्डिन्य था। वे सभी विद्वान त्राद्मण थे और वेद-वेदाङ्ग कं पारगामी थे। परन्तु अभिमात-वड़ा ये अपनी शंकाओं को किसी अत्य के सम्मुख प्रकट नहीं करते थे।

जिस समय इधर समयशरण में आकाश से देवराण आ रहे थे उसी समय उधर सोमिल बाह्मण के यहां यहां भी हो रहा था और उपयुक्ति विद्वान अपने-अपने शिष्य परिवार के साथ वहां उपस्थित थे, अतः उन्होंने उपस्थित छोगां से कहा—देखो हमारे मत्रों के प्रभाव से देवराण भी यह में शामिल होकर अपना हवय-अंश लेने के लिए आ रहे हैं। पर जब उन्होंने देखा कि ये देवराण तो उनके यहास्यल पर न आकर ट्सरी ही ओर जा रहे हैं, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। मनुष्यों को भी जब उसी श्रोर को जाते हुए देखा, तो उसके विस्मय का ठिकाना न रहा और जाते हुए छोगों से पूछा कि तुम छोग कहां जा रहे हो ? लोगों ने बताया कि महाबीर, सर्वज्ञ तीर्थंकर यहां आये हुए हैं, इनका धर्मीपरेश सुनने के लिए हम छोग जा रहे हैं और हम ही क्या, ये देव लोग भी स्वर्ग से उतर कर उनका उपदेश सुनने के लिए जा रहे हैं। उनका यह उत्तर सुनकर इन्द्रभूति गौतम विचारने लगा — क्या वेदायं से शुस्य यह महावीर सर्वज्ञ हो सकता है ? जब में इतना बड़ा विद्वान होने पर भी आज तक सर्वज्ञ नहीं हो सका, तो यह वेद-बाह्य महाचीर केंसे सर्वज्ञ हो सकता है ? चलकर इसकी परीक्षा करना चाहिए और ऐमा सोच कर बह भी उसी और चल दिया जिस क्योर कि सभी नगर-नित्रासी जा रहे थे।

भ० महाबीर के समवदारण में गौतम इन्द्रभृति और उनके अन्य साथी विद्वान् किस प्रकार पहुँचे, इसका ऊपर जो उल्लेख किया मया है, वह खें ब्रास्त्रों के आधार पर किया गया है। दि० झास्त्रों के अनुसार भगवान् को कैवल्य की प्राप्ति हो जाने के पश्चात् समय-शरण की रचना तो इन्द्र की आज्ञा से कुचेर ने वैशाख शुक्ता १० के

दिन ही कर दी। सपरिवार चतुर्निकाय देवों के साथ आकर के इन्द्र ने केवल-कल्याणक भी मनाया ज्यीर भगवान की पूजा करके अपने प्रकोष्ट में जा बंठा नथा भगवान के मुखारविन्द से धर्मी रहेश सुनने की प्रतीक्षा करने छगा। प्रतीक्षा करने-करने दिन पर दिन बीतने लगे। तब इन्द्र बड़ा चिन्तित हुआ कि भगवान के उपदेश नही देने का क्या कारण है ? जब उसने अपने अवधिज्ञान से जाना कि धाणधर' के न होने से भगवान् का उपदेश नहीं हो रहा है, तब वह र णधर के योग्य व्यक्ति के अन्वेषण में तत्पर हुआ - और उस समय के सर्व श्रेष्ट विद्वान एवं वेद-वेदांग के पारगामी इन्द्रभृति गीतम के पास एक जिल्ला का रूप बना कर पहुँचा और बोला कि एक गाथा का अर्थ पुछने को आपके पान आया है। इन्द्रभृति इस शर्न पर

१. पटखरहागमकी धवला टीका में वह गाया इस प्रकार दी है-पंचेव श्रत्यिकाया, छःतीवणिकाया महत्वया पंच । श्रद्ध य प्रवयणमादाः सहेउश्रो वंध-मोक्खो य ॥

(षदखंडागम, पु० ६, पु० १२६)

संस्कृत प्रन्थों में उक्त गाया के स्थान पर यह श्लोक पाया जाता है-

त्रकाल्यं द्रव्यपटकं नवपद्सहितं जीवपटकायलेश्याः, पञ्चान्ये चास्तिकाया जनसमितिगतिज्ञानचारिजभेदा । इत्येतन्योक्षमृळं त्रिभुवनमहितैः शोक्तमहंद्भिरीज्ञैः, प्रत्येति अह्याति स्पृश्ति च मतिमान् यः स व श्रुद्धहरिटः ॥

(तर्गाधम्बः अत्रभाका)

कुछ ष्यस्य प्रस्थों में यही श्लोक पूछ पाठ-क साथ भी मिलना है। समादक

( 803)

माया का अर्थ बताने के लिए राजी हुए कि अर्थ जानने के बाद वह बनका शिष्य बन जायगा। जब इन्द्रभूति गौतम ने उससे पृछा कि बह गाथा तुने कहां से सीखी है ? तब उसने उत्तर दिया—मैंने यह अपने गुरु सहाबीर से सीखी है, किन्तु उन्होंने कई दिनों से मीन धारण कर लिया है', श्रातः उसका अर्थ जानने के लिए में आएके पास आया हैं। ये नाथा सुनकर बहुत चकराये। और समझ न सके कि पंच अस्तिकाय क्या हैं, छह जीव-निकाय कीन से हैं, बाठ प्रवचन मात्रा कीनसी हैं ? इन्द्रमूर्ति जीव के अस्तित्व के विषय में स्वय ही शंकित थें, अतः और भी असमजस में पड्डर इससे बोले-चल,तेरे गुरु के ही सामने इसका अर्थवनार्जागा। वह कह कर इन्द्रमृति उस छद्मक्ष-धारी शिष्य के साथ भ० महावीर के पास पहुँचे। भगवान ने आते ही उनका ताम लेकर कहा-अहो इन्द्रभूति तुन्हारे हर्य में जो यह शंका है कि जीव है, या नहीं है सो जो ऐसा बिचार कर रहा है, निश्चय से वहीं जीव है,

१ अहुणा गुरू सो मडणें लंठिड, कहड ण किपि उझाणपरिद्वित । एव्यहिं तुन्ह प्यहमङ् णिसुणिय सत्यत्यहं ब्रङ् कुलळ वियाणिय। तडी कब्बहु अखाँखर स्त्रायर, कहहु तंत्रि महु वियस्टिय मायर ॥

(रययुक्त-महाबीर चरित-पत्र ४६) मुझ गुरु माँन छीयुं, वर्थमान तेह नाम। तेह मणी तुझ पृछित्रा, आज्युं अर्थ गुणमाम ॥

(महाबीर रास, पत्र १२० A)

लचीवसमजणिद-चत्रः मलसुति संपर्योण बन्हरोण गावसमी-वेण सवलदुरस्दिवारएण जीवाजी र - विस्तवसंदेह - विणासणह-मुष्याय-बङ्गाणपादम्लण इदमृदिणावहारिदो।

( पट्छारडागम, पुस्तक १, पू० ६४ )

( FOR )

उसका सर्वया अभाव न कभी हुआ है और न होगा। भगवान के बसका सत्त्रमा कार्या द्वारा अपनी मनोगत शका का उल्लेख स्त्रीर उसका समाधान हारा अपना निवास सुनकर इन्द्रियूति ने भक्ति से विद्वल होकर तरकाल उनका शिष्यस्व धुनकर शाक्ष्या और दीक्षा लेकर दिगम्बर साधु वन गये। गीतम इन्हर्भृति का निमित्त पाकर इस प्रकार ६६ दिनके बाद शावण-हरणा प्रतिपदा को भगवान का प्रथम धर्मीपदेश हुआ।

बीरसेनाचार्य ने जयधवला टीका में इस विषय पर कुछ रोचक प्रकाश डाला है, जो इस प्रकार है-

शंका-केवल ज्ञानीत्यत्ति के बाद ६६ दिन तक दिव्यध्वनि क्यों प्रकट नहीं हुई १

समाधान-गणधर के अभाव से।

शंका - सीवमं इन्द्र ने तत्काल ही गणवर को क्यों तही हु बा ? समाधान-काल-लब्धि के विना असहाय रेवेन्द्र भी गणधर को ढुंढने मं असमधं रहा।

ज्ञका—अपने पादमूल में आकर महात्रतों को स्वीकार करने वाले पुरुष को छोड़ कर अन्य के निमित्त से दिश्यध्वनि क्यों नहीं प्रवृत्त होती है।

समावान-ऐसा ही स्वभाव है और स्वभाव में प्रश्न नहीं किया जा सकता है अत्यवा फिर कोई ब्यवस्वा ही तहीं वन सकेगी?।

१. वासस्य पढममासे सावणणामन्मि बहुल पडिवाए । अभिजीणकवत्तरिम य उप्पत्ती धम्मतित्वस्य ॥ (तिलीयप०, १६८)

केवलणाएं समुष्यएएं। वि दिव्यवस्णीए किमह्र तत्थापउत्ती १ गणिदाभावादो। सोहर्मिम्देण तक्ख्यों चेव गणिदो किरण ढोइदो ? ण, काललढीए विणा असहेज्जस्स, देविदस्स तड्डोयण- राण भट्टाचार्य ने भी इपयने उत्तर पुराण में यह उल्लेख किया है कि गीतम-हारा जीव के झरिनटा के विषय में प्रश्त किये जाने पर भगवान का उपदेश प्रारम्भ हुआ?।

इन्द्र ने बाह्यण वेष में जाकर जिस गांधा का अर्थ गीतम से पूछा आ, उसमें निर्दिष्ट तस्त्रों के कस से भगवान की वाणी प्रकट हुई। सर्व प्रथम सब उट्यों के कक्षरण-स्वरूप "उवडजेड़ वा विगमेड वा घुवेड़ वा" (प्रत्येक वस्तु प्रति समय नवीन पर्याय रूप से उत्पन्न होती है, पूर्व पर्याय रूप से विनष्ट होती है और अपने मूळ स्वभाव रूप से खूब रहती हैं।) यह माहका-पद दिव्यक्वित से प्रकट हुआ। पुनः "जीवो उवओगमधों अमुल कत्ता सदेहपरिमाणो। भोत्ता संसारको सिंहो सो विरस्ताहुगई (जीव जान-दर्शनरूप उपयोगमय है, अमूल है, कमों का कत्तो और भोक्ता है, स्वदेहपरिमाणा है, संसारी रूप भी है और सिंह-स्वरूप भी है, तथा स्वभाव से ऊर्थ्याति-स्वभावी है।) ये सम तस्त्र नक पदार्थ-पूजक बीज पद प्रकट हुए। इसी प्रकार गायोक गित, लेखा आदि के प्रतिवादक बीजप द प्रकट हुए। इसी प्रकार साथी विद्वानों की समस्त्र शकाओं का समाधान हो गया। तभी उन सब ने भगवान से जिन-दीक्षा प्रहण कर छी। मर महाबीर के दिव्य साविष्य से गीतमक जूत हानावश्य कर्म का विविष्ट अयोगशम प्रकट हुए। अपीर के द्वादशाङ्ग भूत के येता हो गये। उसी दिन अपराह में उन्होंने मगवान की वाणी का हादशाङ्गरूप से विभाजन किया।

सत्तीण अभावादो। सगपादमूलिम पहित्रस्यामहत्त्रवयं मीलूण असण सुद्दिमिय दिल्बन्तृणी किरण पयट्टे १ साहावियादो। ण च सहाओ परपञ्जणित्रीमारुहो, अञ्चवस्यापत्तीदो। (कसायण पुस्तक १. ए० ७६)

खरित कि नास्ति वा जीवस्त्रसम्बद्धं निरूप्यताम्। इत्यत्राक्षमतो मखं सगवान् सत्त्वत्सलः ।३६८॥ (३८५० ए ७४)

9	ą		3	8	y
गणधर	पिता क	T	माता का	गोत्र	जन्म
नाम	नाम		नाम	नाम	নঞ্জ
१ इन्द्रभृति	वसभूति त्रा	द्याण	पृथ्वी	गीतम	व्येष्ठा
२ अग्निभृति	11 1	,	11	11	क्रविका
३ वायुभूति		13	11	31	स्वाति
४ व्यक्त			वारुणी	भारद्वाज	अवण
४ सुधर्मा		33	भहिला	श्रमिवैश्यायन	उत्तराफाल्
६ मंडिक	5	"	विजया	वशिष्ठ	सवा
७ मीर्यपुत्र	0.0	57	विजया	काश्यप	रोहिणी
= अकस्पित		59	सन्दा	हारीत	सुगेशिर
६ अचलभाता	1	55	जयन्ती	गीतम	उत्तराया
१० मेतार्य			वरुणा	कौडिन्य	अश्विन
११ प्रभास		11	अतिभद्रा	33	पुष्य
	200	11			

पू॰ १०४ (ख) श्वे॰ शास्त्रों के आधार पर

	गणधरों	का	जीवन-परिचय	Į
--	--------	----	------------	---

	६ जन्म	७ गृहस्थ	= दीक्षा	ह. शिष्य	१० छदास्थ	११ केवलि	१२ मर्व	१३ निर्वाण	१४ निर्वाण
ш	स्थान	जीवन	स्थान	संख्या	काल	का	ऋायु	काल	स्थान
1	गोवर ग्राम				वर्ष	वर्ष	वर्ष	वर्ष	
1	(मगध) ,,	४० वर्ष	मध्यम पावा	200	३०	१२	53	88 10	
	"	४६ ,,	31	200	१२	१६	७४	, % ,	4
<b>y</b>	"	82 ,,	"	200	१०	१८	90	35.18	- ko
	कोल्लाग (मगध)	Xo ,,	22	200	१२	25	50	30€	मगु
<b>ु</b> नी	11	٧0 ,,	"	200	४२	5	800	अं रे	( राजगृह ) 🛧
18	मौर्य सन्निवेश	¥3 ,,	,,	३४०	58	१६	=3	ू ४ ४ केबछोत्प	
ш	,,	ξ× ,,	33	३४०	88	१६	23	३० १६	गिरि
T	मिथिला	४६ ,,	27	३००	85	58	७२	महाबीर	₩
ढा	कोशल	85 ,,	22	300	3	33	95	१६ कि	वैभार
1	तुंगिक सन्निवेश	३६ ,,	35	300	१०	१६	६२	२६ ० म	1
	राजगृह	१६ ,,	13	३००	5	१६	80	₹8 #	

## महाबीर-कालिक मत-मतान्तर

भर महाबीर के समय अजितकेश कंबल, प्रकृत कारवायत, मंललि गोशाल, पूरण काश्यप, गीतम बुढ और संजय बेलडि-पुन, य अपने को तीर्थं कर कह कर अपने अपने मतों का प्रचार कर रहे थे।

उनके अतिरिक्त श्वे० औपपातिक सूत्र की टीका में तथा अन्य शास्त्रों में भ० महाबीर के समय में तिन्त छिस्वत नापसों का उल्लेख भिलता है-

- १ होत्तिय-अग्निहोत्र करने वाले
- २ पोत्तिय-वस्त्रधारी तापस
- ३ को चिय-भूमि पर सोने वाले
- ४ जरणई-यज्ञ करने वाले
- ४ संबुई श्रद्धा रखने वाले
- ६ साँछई-अपना सामान साथ लेकर घूमने वाले
- ७ हुँबउट्टा-कुरिटक साथ में लेकर भ्रमण करने वाले
- द दंतुक्खलिया—फल म्बाकर रहने वाले
- ह उम्मडजका उत्मडजन मात्र से स्तान करने वाले
- १० सम्मज्जका कई बार गोता लगाकर स्नान करने वाले
- ११ निम्मज्जका क्षण मात्र में स्तान कर लेने वाले
- १२ संपक्षळा-मिट्टी घिस कर स्तात करने वाले
- १३ दक्तिवण-कुछगा-गंगा के दक्षिण दिनारे पर रहने वाले
- १४ उत्तर-कृलगा गंगा के उत्तर किनारे पर रहने वाले
- १४ संख-धन्मका-शंख बजाकर भोजन करने वाले
- १६ कूल-धम्मका-तट पर शब्द करते के भोजन करने वाले
- १७ मिगलुद्धका -पशुक्षी की शिकार करने वाले
- १८ इत्थितावसा-हाथी मारकर अनेक दिनों तक उसके मांस-मोजी

## [ 808 ]

- १६ उइगडका दगह उपर करके चलने वाले
- २० दिमापोकिश्वणा-चारो दिशाओं में जल छिड़क कर फल-फूल
- २१ बाक्तबासिण-बल्कळधारी
- २२ श्रबुवासिण जल में रहने वाले
- २३ विलवासिण बिल-गुकादि में रहने वाले
- २४ जलवासिण-जल में हुय कर रहने वाले
- २४ वेळवासिण समुद्र-तट पर रहने वाले
- २६ स्टबम् लिया पृक्षों के नीचे गहने वाले
- २७ अंबुमिक्बण-हेवल जल पीकर गहने वाले
- र= वायुमक्लिण-पवन मक्षण कर रहने वाले
- २६ सेवालमक्विण-सेवाल (काई) साकर रहने वाले
- ३० मुळाहारा केवळ मुळ खाने वाले
- ३१ कंदाहारा केवल करद स्वाने वाले
- ३२ तयाहारा केवल बूक्ष की छाल खाने वाले
- ३३ पचाहारा केवल पत्र खाने वाले
- ३४ पुष्काहारा -- केवल पुष्प खाने वाले
- ३४ बीयाहारा केंबल बीज खाने वाले
- ३६ परिसक्तियक्तंदमूलनयगत्तपुष्ककलाहारा —केंद्र, मूल, छाल, पत्र, पुच्य, फल-भाजी
- ३७ जलाभिसेय हडिणगायम्या--विना स्तान के भोजन न करने वाले
- ३८ आयावणाहि- थोड़ा आताप सहन करने वाले
- ३६ पंचिमातावेहिं-पंचामि तपने वाले
- ४० इ'गालमोल्लिया श्रंगार पर मेंक कर खाने वाले
- ४१ कंडुसोल्डिया-तथे पर सेंक कर खाने वाले
- ४२ कटुंभोल्छिया-छकड़ी पर पकाकर भाजन करने वाले
- ्द अनुकासिया-आत्वा में ही उत्कर्ष मानने वाले

## ( 800)

- ४४ भृडकिन्सया ज्वर खादि के दूर करने के लिए मृति ( शल. भस्म ) देने वाले
- ४४ को उयकारया--कौतुक करने वाले
- ४६ धम्मचितका- धर्म-शास्त्र को पढ़ा कर मिश्रा लेने वाले
- ४७ गोवबङ्या--गोव्रत-धारक, गाय के पालने वाले ४८ गोखमा -- छोटे बैलों का चलना सिखा कर भिक्षा मांगने वाले
- ४६ गीतरई-गा-गाफर लोगों को मोहने वाले
- yo चंडिदेवगा -चक्र को धारण करने वाले. चंडी देवी के मक्त
- ४१ दगसोयारिय-पानी से भूमि को सीच कर चलने वाले
- प्र कम्मारभिक्लु—देवताओं की दोणी लेकर भिक्षा मांगने वाले
- ४३ कुन्बीए-दाढ़ी रखने वाले
- ४४ पिंडोलवा-मिश्चा-पिएड पर जीवन-निर्वाह करने वाले
- ४४ ससरक्खा-शरीर की धूलि लगाने वाले
- y६ वणीमग-याचक, घरघर से चुटकी आटा आदि मांगने वाले
- ४७ वारिभद्रक सदा ही जल से हाथ-पैर आदि के धोने में कल्याण मानने वाले
- ४८ वारिखल-मिट्टी से वार-वार मार्जन कर पात्रादि की शुद्धि करने वाले।

इनके अतिरिक्त बौद्ध-भिन्न, बैदिक, बेदान्ती, आजीवक, कापा-लिक, गैरुक, परित्राजक, पांडुरंग, रक्तपट, वनवासी, भगवी आदि अनेक प्रकार के अन्य भी साधुओं के होने का उल्लेख मिलता है।

दि० और खे० दोनों ही परस्पराक्षों के शास्त्रों में ३६३ मिध्या-वादियों का भी सेद-प्रशेद सहित वणत मिलता है, जो कि इस प्रकार है -

(१) कियावादियों के १८० भेद - जो किया-कारड में ही धर्म मानते थे।

- (२) अक्रियावादियों के ६४ भेद जो क्रिया-काएड को व्यर्थ मानते थे।
- (३) अज्ञानवादियों के ६७ भेद—जो कि अज्ञानी बने रहने में धर्म मानते थे।
- (8) विनयवादियों के ३२ भेद जो कि हर एक देवी-देवता की विनय करने को धर्म मानते थे।

इन सब का बिगतवार वर्णन दोनों परम्पराओं के शास्त्रों में उपलब्ध है।

स० महाबीर के समय में अनेक प्रकार के मिण्यात्व-वर्धक पाखरडी पूजा-पाठ भी प्रचलित थे। यहां पर उनमें से कुछ का दिग्दर्शन इस प्रकार है—

- (१) इन्द्रमह इन्द्र को प्रसन्न करने वाली पूजन
- (२) रुद्रमह-महार्वेव को प्रसन्न करने वाली पूजन
- (३) स्कन्दमह-महादेव के पुत्र गरोश की पूजन
- (४) मुकुन्दमह, या वासुरेवमह-श्रीकृष्ण की पूजन
- (४) नागमह-सपौं की पूजन
- (६) वैश्रमणमह-कुवेर की पूजन
- (७) यक्षमह-यक्ष देवताओं की पूजन
- (प। भूतमह-भूत-पिशाचीं की पूजन।

भ० भड़ाबीर की इत सैंकड़ों प्रकार के पालएडों और पास-रिडवों के मतों का सामना करना पड़ा और अपनी दिख्य देशना के द्वारा उन्होंने इन सबका निरसन करके और शुद्ध धर्म का उपदेश देकर भूल-भटके असंख्य प्राणियों को सन्माग पर लगाया।

## ( ११० )

"में वस्त्र-रहित होकर नग्न रहा, मैंने अपने हाथों में भोजन किया, मैं अपने लिए बना हुआ उदिष्ट भोजन नहीं करता था, निमन्त्रण पर नहीं जाता था। मैं शिर और दाढ़ी के वालों का लोंच करता था। मैं आगे भी केशज़ च करता रहा। मैं एक जल-बिन्दु पर भी द्या करता था। मैं सावथान रहता था कि सूक्स जीवों का भी पात न होने पाये'।"

"इस प्रकार मैं भयानक वन में अकेला नर्मी और सर्दी में भी नंगा रहता था। अाग से नहीं तापता था और मुति-चर्या में लीन रहता थारे।"

छगभग छह वर्ष तक घोर तपश्चरण करने और परीषह-उप-सर्गों को सहने पर भी जब उन्हें न केवल्य की प्राप्ति न हुई और न कोई ऋदि-सिद्धि ही हुई, तब वे उम्र तपश्चरण छोड़कर और रक्ता-क्यर घारण करके मध्यम सार्ग का उपहेश हेने छगे। यद्यपि वे जीव-यात को पाप कहते थे और उसके त्याग का उपहेश हेते थे। तथापि स्वयं मरे हुए प्राणी का मांस खाने को बुरा नहीं समझते थे। मांस को वे द्य-दही की श्रेणी में और मशादिक को जछ की श्रेणी में

१. अवेळको होमि " लाभिहतं न उहिस्सकतं न निमत्तण सादि वामि, केस-मस्युळोचकोवि होमि, केसमस्युळोचनातुबोग अनुयुक्ते । बात उद-विन्दुन्मि पिये द्या पच्च पट्टिता होमि, याहं लुद्दके पाएं। विसमगते संघात आयदिस्सति ।

२ सो तत्तो सो सो ना एको तिसतके वने। नग्गो न च अग्नि असीनो एसना पसुत्तो सुनीति॥

( महासीइनादसुत्त )

# भ० महाबीर और महात्मा बुद्ध

भ० महाबीर के समकाछीन प्रसिद्ध पुरुषों में शाक्य श्रमण गौतम बुद्ध का नाम उल्लेखनीय है। आज संसार में बीढ़ वर्मा- त्यायियों की संस्था अत्ययिक होने से महात्मा बुद्ध का नाम विश्व- विस्थात है। चीन, जापान, श्रीलंका आदि अनेक देश आज उनके अक्त हैं। किन्तु एक समय था जब भ० महाबीर का भक्त भी अगणित जन- समुदाय था। आज चीनी और जापानी बीढ़ होते हुए भी आमिप-(मांस-) भोजी हैं। बौद्ध धर्म की स्थापना तो शाक्य पुत्र गौतम बुद्ध ने की, परन्तु जैन धर्म तो युग के आदि काल से ही चुळा आ रहा है।

दि० जैन शास्त्रों के उल्लेखों के अनुसार बुद्ध का जन्म महावीर से कुछ पहिले कपिछ-वस्तु के महाराज ग्रुहोदन के यहां हुआ या। अब उनका जन्म हुआ, उस समय भारत में सर्वत्र बाद्याणों का बोछ बाछा था और वे सर्वेपिर माने जा रहे थे, तथा वे ही सर्व परिस्थितियां थी, जिनका कि पहिले उल्लेख किया जा चुका है। बुद्ध का हृश्य उन्हें देखकर दिवत हो उठा और एक बुद्ध पुरुष की जरा-अजीरत दक्षा को देखकर वे ससार से विरक्त हो गये। उस समय भ० पार्श्वनाथ का तीर्थ चछ रहा था, अतः पिहितास्त्रय नामक गुरु के पास पछास नगर में सर्यू नदी के तीर पर जाकर उन्होंने दैन-स्वरी दीक्षा ले छी। और बहुत दिनों तक उन्होंने जैन साधुओं के कठिन आचार का पाछन किया। उन्होंने एक स्थळ पर स्वयं ही कही है—

 सिरिपासणाइ-तिस्थे सरयूतीरे पलासणयरखो । पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो बुद्धिकित्तमुणी ॥ ६ ॥ (दर्शनसार )

## ( 888 )

मानने छगे और उनका उपयोग स्वयं भी करने छगे। फल यह हुआ कि उनके धर्म का अनुयायी वर्ग भी धीरे धीरे मद्य-पात्री और मास-भोजी हो गया।

खान-पान की शिथिछता रखने पर भी उन्होंने लोगों में जिली (भैनी) मुदित (प्रमोद) करुणा और मध्यस्थता रूप चार प्रकार की धार्मिक भावनाएं रखने का उपदेश दिया। उस समय जो आध्यों का प्रावर्थ था और जिसके कारण वे स्त्रयं हीनाचारी पापी जीवन विवात हुए अपने को सर्वोंच मानते थे, उसके विरुद्ध वहे जोर-शार के साथ अपने आवाज युळन्द की। उनके इन धार्मिक प्रवक्ते सार्वेंच संस्कृत (धर्मपद) के नाम से प्रसिद्ध है और जिसे आज युळन्दों का संबद (धर्मपद) (धर्मपद) के नाम से प्रसिद्ध है और जिसे आज युळनीता भी कहा जाता है। यह धर्मपद युद्ध की वाणी के रूप में प्रस्वात है। उसमें के आध्यान-वर्ग का यहां उद्धरण दिया जाता है। आध्यण को लक्ष्य करके युद्ध कहते हैं—

है शहाण, त्रिपय-विकार के प्रवाह को वीरता से रोक और कामनाओं को दूर भगा । जब तुन्हें उथ्यक्ष हुई नाम रूप वाली बस्तुओं के नाश का कारण समझ में आ जायगा, तब तुम अनुस्त्रत्र बस्तु को जान लोगे॥शा

- तिमिपूरणासऐहि अहिराय-पवजाओ परिवमहो ।
   रत्तं वरे धरित्ता पविद्यं तेण पर्यतं ॥ अ।
   मंसस्स णिख जीवो ज्हा फले दृष्टिय-दुद्ध-सकरण ।
   तम्हा तं विद्यातं तं मक्खंतो ण पाविद्वो ॥ पा
   मञ्जं ण वजाणिङ्जं द्वदुद्धं जह जलं तहा एवं ।
   दृष्टि लोप बोसित्ता पविदृषं सद्य सावज्जे ॥ है।। (दर्शनसार)
- २. छिन्द सोतं परकस्म काये पनुद बाह्मण । संखारानं खयं जत्या अकतव्ज्ञ्चिस बाह्मण ॥१॥

जिस समय बाह्मण भ्यान और सयम इन हो मार्गो में उपुत्पन्न हो जाता है, उस समय उस ज्ञान-सम्पन्न पुरुष के सब बन्धन कट जाने हैं ॥२॥

जिस पुरुष के लिए खार-पार कुछ भी नहीं रहा, अर्थात् भीतरी और बाहिरी इन्द्रियों से उत्पन्न हुए सुख-दुख में राम-हेप नहीं है, उस निर्भय खाँर विमुक्त पुरुष को में जाग्रण कहना हूँ ॥३॥

जो विचारशील, निर्दोण, स्थिर-चित्त, करोब्य-परायण एवं कृत-कृत्य है, विषय-विकार से रहित है और जिसने उचतम आदर्श की प्राप्ति कर ली है, उसे में बाह्मण कहता हूँ ।।।।।

जिसने पाप का त्याग कर दिया है, वह बाह्मण है। जो समभाव से चळता है वह अमण है और जिसने अपनी मिळनता को दूर कर दिया है वह प्रबजित कहळाता है।।१।।

में उसी को ब्राह्मण कहता हूँ जो शरीर, वाणी और मन से किसी का जी नहीं दुखाता और जो इन तीनों ही बातों में संयमी है ॥२॥

यदा इयेषु धन्मेषु पारम् होति जाडाणो ।

श्रवस्य सब्वे संयोगा अत्यं गन्छीति जानतो ।२॥

यस्सं पारं अपारं वा पारापारं न विवजति ।

वीतहरं विसंयुन्तं तमहं जूमि आक्षणं ॥३॥

शायि विरजनासीनं कतिकच्चं धनासवं ।

उत्तमत्यमनुष्पन्तं नमहं जूमि आक्षणं ॥३॥

वाहितपापो ति जाक्षणे समचरिया समणो ति युन्ति ।।

पत्याजयमत्तनो मळं तस्मा पञ्चिततो ति युन्ति ॥४॥

यस्स कायेन वाचा य मनसा नित्व दुक्तं ।

संयुतं वीहि ठानेहि तमहं जूमि आक्षणं ॥६॥

मनुष्य अपने जटा-जट, जन्म और गोत्र के कारण बाह्मण नहीं बन जाता, किन्तु जिसमें सत्य और धर्म है, वही पवित्र है, और वहीं बाह्मण है।।७॥

क्रो मूर्ख, जटा-जुट रखते से श्रीर मृत-चर्म धारण करने से क्या लाभ ? भीतर तो तेरे वृष्णारूपी गहन बन है। किन्तु तृ बाहिरी सुद्धि करता है।।मा

ह्याद करता है । जाना जिसने धूमिल वस्त्र पहिने हैं, शरीर की कशता से जिसकी नसें दिखाई पड़ती हैं और वन में एकाकी व्यान करता है, मैं उसे

बाह्मण कहता हूँ। है।
अमुक माता-पिता से उत्पन्न होने के कारण पुरुष बाह्मण नहीं
अमुक माता-पिता से उत्पन्न होने के कारण पुरुष बाह्मण नहीं
होता। किन्तु पाहे वह अकिंचन (दिन्द्र हो या सर्किचन (धनिक),
होता। किन्तु पाहे वह अकिंचन (दिन्द्र हो या सर्किचन (धनिक),
होता। किन्तु पाहे वह अकिंचन से स्वित हो, मैं उसे ही बाह्मण
पर जो सर्व प्रकार की मोह-माया से रहित हो, में उसे ही बाह्मण
कहता हूँ। हिंदी

जिसने सर्व प्रकार के बन्धन काट दिये हैं, जो निर्भय है, जो स्थाधीन है और बन्धन-रहित हैं मैं उसी को बाह्यण कहता हूँ ॥११॥

न जटाहि न गोशेन न जरुवा होति शाक्षणो ।
यस्टि सरुवं च थम्मो च सो सुची नो च ब्राह्मणो ॥७॥
किं ते जटाहि दुम्मेष कि ते च ब्राह्मणो ॥७॥
किं ते जटाहि दुम्मेष कि ते च ब्राह्मणो ॥७॥
च्राह्मनरं ते ग्रह्मनं ब्राह्मरं परिमञ्जित ॥६॥
पंसु क्ट्रवरं जन्तुं किसं थमिनस्थतं ।
एकं वनस्मं झायन्तं तमहं ब्रुमि ब्राह्मणं ॥६॥
न चाह ब्राह्मणं वृत्ति योनिज मिनतंभवं ।
भोवादी नाम सो होति स चे होति सर्कंचनो ॥४७॥
सञ्चसंजोयनं छेत्या यो वे न परितरस्थि ।
संगातिमं विसंयुक्तं तमहं ब्रुमि ब्राह्मणं ॥१९॥
सन्यसंजोयनं छेत्या यो वे न परितरस्थि ।

#### ( 888 )

जिसने द्वेपरूपी. रागरूपी डोरी, अश्रद्धारूपी जंजीर, और उसके साथ सम्बन्ध रखने वाली अन्य वस्तुओं को एवं अज्ञानरूपी अर्मेला (सांकल) को तोड़ डाला है, मैं उसे श्राद्धाण कहता हूँ ॥१२॥

जो आक्रोश (गाली-गलीज) यघ और बन्धन को द्वेप किये बिना मंत्री भाव से सहन करता है, क्षमा के बलवाली ही जिसकी सेना है, मैं उसे बाझण कहता हूं॥१२॥

जो कोध-रहित है, व्रतवान है, शीलवान है, तृष्णा-रहित है, संयमी है और जो अन्तिम शरीर-धारी है, में उसे बाद्यण कहता हूँ॥१४॥

जैसे कमल-पत्र पर जल-विन्दु नहीं ठहरता और सुई की नोक पर सरसों का दाना नहीं टिकता, उसी प्रकार जो काम-भोगों में लिप्न नहीं होता है, मैं उसे ही बाह्मण कहता हूँ ॥१४॥

जो यहां पर ही अपने दुःख का अन्त जानता है, ऐसे भार-विमुक्त और विरक्त पुरुष को में बाह्मण कहता हूँ ॥१६॥

हेंस्वा नित्य वरत्तं च सन्दानं सहनुक्तमः।
इित्य चपित्रियं बुद्धं तसहं त्रूमि त्राह्मणं।।१२॥
अकीसं वयं वर्षं च खदुद्धो यो नितिकखितः।
स्वेतीयळं वळातीकं तसह त्रूमि त्राह्मणं।।१३॥
अकीयनं वतवंतं सीळवंतं खनुस्तदः।
दतं खतिम सारीरं तसहं त्रूमि त्राह्मणं।।१४॥
वारि पोक्खर-यत्तं व खारमोरिव सासयो।
यो न ळिपति कासेष्ठ तसहं त्रूमि त्राह्मणं।(१४॥
यो दुक्लस्य पजानाति इधेव खयसत्ततो।।
पत्रसारं विसंयुक्षं तसहं त्रुमि त्राह्मणं।।१३॥

## ( 88x )

जिसका जान गम्भीर है, जो संघाधी है, सुमान और कमाने को जानता है और जिसने उत्तमार्थ को प्राप्त कर लिया है, मैं उसे

ब्राह्मण कहता है। १९७। जो गृहस्य और अनगार मिल्लुओं से अलग बहता है, जो घर-पर भीख नहीं मांगता, अलग इच्छा वाला है, उसी को मैं ब्राह्मण घर भीख नहीं मांगता,

कहता है।।१८॥ जो विरोधियों पर भी अविरोध-भाव रखता है, जो दण्ड-धारियों में भी दण्ड-रहित है और जो प्रहण करने वालों में भी आदान-रहित है में उसी को त्राह्मण कहता हूँ।।१८॥

जो जन स्त्रीर स्थावर प्राणियों पर ढंडे से प्रहार नहीं करता, न स्वयं मारता है स्त्रीर न दूसरों से घात कराता है, मैं उसी को जाह्मण सहता है ॥२०॥

कहता हूँ ॥२०॥ जिसके राग, देष, मान खौर मस्सर भाव इस प्रकार से नृष्ट हो गये हैं जिस प्रकार से कि सुई की नोक से सरसों का दाना सबबा दूर हो जाता है, मैं उसी को जाहाण कहता हूँ ॥२१॥

राभीरपञ्जं मेघावी समामम्मस्य कोविदं। उत्तमत्वं अनुष्पत्तं तमहं कृमि प्राक्षणं ॥१७॥ असंसहं गरहे हि अनामारे हि चूभयं। अनोकसारि अष्पिक्छं तमहं कृमि जाह्मणं ॥१६॥ अविरुद्धं विरुद्धे सु अत्तरं हेसु निक्षत्वं। ॥१६॥ सादानेसु अनादानं तमहं कृमि जाह्मण ॥१६॥ निधाय दंडं भूतेसु तसेसु थावरेसु च। यो न हित न घातित तमहं कृमि जाह्मणं ॥२०॥ यस्स रागो च दोसो च मानो भक्स्तो च पातितो। सासपोरिव आरम्मा तमहं कृमि जाह्मणं ॥६१॥ सासपोरिव आरम्मा तमहं कृमि जाह्मणं ॥६१॥

जो कठोरता-रहिन, सत्य एवं हिनकारी मधुर वचन बोलता है, और किसी का अपने कड़ सत्य से जी भी नहीं दुखाता है, मैं उसी को जाक्रण कहता हूँ ॥२२॥

जो इस संसार में वही या छोटी, सुक्ष्म या स्थूछ, खीर शुम या अशुम किसी भी प्रकार की पर वस्तु को बिना दिये तहीं लेता है, में दसी को शाबण कहता हैं ॥२३॥

जिसे इस लोक या परलोक-सम्बन्धी किसी भी प्रकार की खालसा नहीं रही है, ऐसे बासना-रहित विरक्त पुरुष को ही में बाह्मण कहता हूँ ॥२४॥

जिसके पास रहते को घर-मकान आदि किसी भी प्रकार का आख्य नहीं है, जो स्त्रियों की कया भी नहीं कहता है, जिसे सन्तोष रूप अस्त प्राप्त है और जिसे किसी भी प्रकार की इच्छा कृष्णा उत्पन्न नहीं होती है, मैं उसी को बाद्यण कहता हैं।।रूप।।

जो पुरव और पाप इन दोनों के संग से रहित हैं, शोह-रहित कर्म-रज से रहित और शुद्ध है, मैं ऐसे ही पुरुप को जाजण

अककसं विव्वापित गिरं सच्चं उद्दीरये।
याय नाभिसने किंचि तमहं जूमि जान्नणं ।।२२।।
योच दीचं रहस्मं वा जाणुं थूळं सुभासुभः।
छोके अदिन्तं नादियति तमहं जूमि आन्नणं ॥२२॥।
छोके अदिन्तं नादियति तमहं जूमि आन्नणं ॥२२॥।
आसा यस्स न विञ्चति अस्मि छोके परस्ति च।
तिराससं विसंयुक्तं तमहं जूमि जान्नणं ॥२४॥
यसाळ्या न विज्जति अखाय अक्यंकवी।
असतोगद् अनुपन्तं तमहं जूमि जान्नणं ॥२४॥
योध पुक्तं च पाप च संगं अपच्चगा।
अज्ञोकं विरजं सुक्तं नमहं जूमि जान्नणः॥२६॥

जो चन्द्रमा के समान विमल है, शुद्ध है, सुप्रमल है और कलक-रहित है, जिसकी सांसारिक कृष्णाएं विलक्षक नष्ट हो गई हैं, मैं ऐसे ही पुरुष को आक्षण कहता हैं।15%।

भोह से रहित होकर जिसने कुणा हुयी कीचड़ से स्थपन, बुर्गम संसार समुद्र को तिर कर पार कर लिया है, जो श्रास ख्याती है, पाय-रहित है, इत कुस्य है, जो कमों के उपादान (प्रहण) से रहित होकर निवृद्ध (मुक्त) हो खुका है, मैं ऐसे ही ममुख्य को ब्राह्मण कहता हूँ ॥२६॥

जो काम-भोगों को परित्याग करके अनगार यनकर परित्रजित हो गया है, ऐसे काम-विजयी मनुष्य को ही मैं त्राक्षण कहता हूँ ॥२६॥

जो तृष्णा का परिदार करके गृह-रहित होकर परित्राजक बन तथा है, ऐसे तृष्णा-विजयी पुरुष को ही मैं त्राज्ञण कहना हूँ ॥२०॥

जो मानवीय बन्धनों का त्याग कर खोर दिवय (देव-सम्बन्धी) भोगों के संबीग को भी त्याग कर सर्व प्रकार के सभी सांसारिक

चंदं व विमछं सुद्धं विष्यसन्नमनाविछं ।
नंदी भवपरिक्छोण तमहं त्रूमि त्राह्मणे ॥२७॥
यो मं पिछपचं दुरगं संसारं मोहमचगा ।
तिरणो पारगतो झागी खंनेको खक्यंक्यी ।
खनुपादाय निरुद्धतो तमहं त्रूमि त्राह्मणं ॥२६॥
योध कामे पहस्तानं खनगारो परिक्वते ।
कास-भवपिक्तीण तमहं त्रूमि त्राह्मणं ॥२६॥
योध तसहः पहस्तानं खनगारो परिक्वते ।
तस्हाभवपरिक्षीणं तमहं त्रूमि त्राह्मणं ॥ १०॥
हिस्ता मानुसकं योगं दिव्यं योगं उपच्यता ।
सर्वयोग-विसंपुत्तं तमहं त्रुमि त्राह्मणं ॥ २९॥

#### ( 58= )

बन्धनों से विसुक्त हो गया है, मैं इसी पुरुष को नाह्मण कहता हु ॥३१॥

जो रवि (शम) श्रीर श्ररति (हेय) भाव को स्थान कर परम आस्त दशा को प्राप्त हो गया है, सर्व प्रकार की उपाधियों से रहित है, ऐसे सर्व लोक-विजयी बीर प्रथप को मैं शुक्रण कहता हूँ । १२॥

बो सर्व रुखो (प्राणियों) के च्युति (सरण) और उस्पत्ति को जानता है, दो सर्व पदायों की खासकि से रहित है, ऐसे सुगति और बोधिको प्राप्त सुगत बुद्ध पुरुष को ही मैं आक्षण कहता हूँ ॥३३॥

जिसकी गति (जानका दशा) को देव, गरुपर्व खीर मनुष्य नहीं जान सकते, ऐसे झीण-आस्मय वाले खग्हन्त को ही में जाडाण कहता हूँ। ३२॥

जिसके जाते. पीछे या मध्य में ( वर्तमान में, सामने) कुछ भी नहीं है, ऐसे आंक्ष्यन और जनादान (जासकिनहित होकर कुछ भी बहुण नहीं करने वाले) पुरुष को ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ । ३४॥

हिस्ता रितं च खर्रातं च सीतीसूत तिरूपर्थि। सन्बद्धोकासिसुं बीरं नमहं खूमि आहाणं ॥३२॥ खुर्ति वो बेदि सत्तान उपपत्तिं च सन्बुसी। असत्तं सुगतं बुद्ध त्याहं कृमि आहाणं ॥३२॥ यस्त गति न जानितं देवा गंबत्य-मानुसा। श्रीणासवं खरहतं नमहं कृमि आहाणं ॥३४॥ इस्त पुरं च परछा च गउसे च नत्यि दिवन। खर्किचनं खनादानं तमह कृमि आहाणं ॥१४॥

#### ( 388 )

जो तुपस (धर्म का धारक) है, सर्व श्रेष्ट है, बीर है, महिंप है, बिजेता है, निष्कष्प है, निष्पाप है, स्तातक है, मुद्ध है, ऐसे पुरुष को ही मैं बाह्मण कहता हूँ ॥३६॥

जो पूर्व निवास अर्थान् पूर्व-जन्मां को जानता है, जो स्थां और नरक को देखता है, जो जन्म-मरण के चक्र को अप कर चुका है, जो पूर्ण जानवान् है, स्थानी है, मुनि है और ध्येय को प्राप्त कर सर्व प्रकार से परिपूर्ण है, ऐसे पुरुष को ही में जाडाण कहता हूँ।।३७॥

ध्येतास्वी उत्तराध्ययन सूत्र में भी पच्चीसवें 'तत्तरव्य' आध्य-यन के आन्तर्गत 'आहाण' के स्वरूप पर बहुत अच्छा प्रकाश हाला गया है, उससे भी यह सिद्ध होता है कि भूठ महावीर के समय में यदि त्राह्मणों का बहुत प्रभाव था तथापि ये यथाये आहाणांव से तिरे हुए थें। स्वेट मान्यता के अनुसार उत्तराध्ययन में भठ महावीर के आत्तम समय के प्रवचनों का संगद है। भठ महावीर ब्राह्मणों को स्वकृष्य करके कहते हैं—

जो आने बाजे स्तेही जनों में आसक्ति नहीं स्थता, प्रजीवत होता हुआ बोक नहीं करता और आर्थ पुरुषों के बचनों में सदा आनन्द पाता है, उब हम जाडाण कहते हैं ॥१॥

उसमं पवरं बीरं महेसि विजितायितं। अनेतं न्दानक बुद्धं तसदं त्र्मि त्राद्मणे ॥३६॥ पुरुवनिवास यो वेदि सम्गापायं च परसति। अयो जातिकत्वयं पतो खभिकता वोसितो सुनी। सरुव-वोसित-वोसानं तसदं त्रूमि त्राह्मणं ॥३०॥ ( पम्मपद, त्राह्मण-वर्ग)

जो न सजनद आगंतु पठत्रयंतो न सोयई। रमद अवत-नवणस्मि तं वयं त्रम् सादणं ॥१॥ बो यथाजात-रूप का धारक है, जो अग्नि में डाल कर युद किये हुए और केसीटी पर कसे हुए सोने के समान निर्मल है, जो राग, देप और भय से रहित है, उसे हम आक्षण कहते हैं।।रा।

जो तपस्वी है, जो शरीर से इहा (हुबळा-पतळा) है, जो इन्द्रिय-निम्नही है, जम तप:साधना के कारण जिसका रक्त और मांस भी सूख गया है, जो शुद्ध ऋती है, जिसने आत्म-शान्ति रूप निर्वाण पा ळिया है, उसे इम माझण कहते हैं ॥३॥

जो त्रस और स्थावर सभी प्राणियों को माठी मांति जानकर वनकी मन, वचन और काय से कभी हिंसा नहीं करता; उसे हम बाह्मण कहते हैं ॥४॥

जो क्रोध से, हास्य से, लोभ से अथवा भय से असस्य नहीं बोखता है, उसे हम बाह्यण कहते हैं ॥४॥

जो अल्प या बहुत, सचित्त या आचित्त वस्तु को मालिक के दिए विना चोरी से नहीं लेता, उसे इम ब्राह्मण कहते हैं ॥६॥

जायह्वं जहामहुं निद्धंतमळपावगं।
राग-दोस-भयाईवं तं वयं वृम माहणं।।२॥
तवस्तिवं किसं दंतं अविचय-मंस-सोणियं।
सुठ्वयं पत्तिव्वाणं तं वय वृम माहणं।।३॥
तस पाले विचाणित्ता संगहेण य थावरे।
जो न हिंसई तिविहेणं तं वय वृम माहणं।।४॥
कोहा वा जह वा हासा छोहा वा जह वा भया।
सुसं न वयई जो उ तं वय वृम माहणं।।४॥
विचामंतम्वित्तं वा अप्पं वा जह वा बहु।
न गिरहह अदत्तं वे तं वयं वृम माहणं।।६॥

( १२३ )

मात्र से कोई मुनि नहीं होता, और ने कुशा से बने वस्त्र पहिन क्षेत्रे मात्र से कोई तपस्त्री ही हो सकता है।। ११॥

कत नाम प्रकार को धारण करते से अमण होता है, ब्रह्मचय को क्षित्र समता को धारण करते से अमण होता है, ब्रह्मचय को धारण करते से ब्रह्मण होता है, ज्ञान से मुनि होता है ज्ञीर तपरच-रण से तपस्यी बनता है। १९॥

मनुष्य उत्तम कर्म करने से ही त्रावाण होता है, कर्म से ही अध्य होता है, कर्म से ही वश्य होता है और शूद्ध भी कर्म से ही होता है। इस्वीत् वर्ण भेद जन्म से नहीं होता है, किन्तु जो मनुष्य जैसा अच्छा या बुरा कार्य करता है, वह विशा ही ऊंच या नीच कह्छाता है। ११ ॥

इस माति पत्रित्र गुणों से युक्त जो द्विजोत्तम (अंग्र बाह्मण ) हैं। बाह्मत में ये ही अपना तबा दूसरों का उद्धार कर सकते में समर्थ होते हैं।। १४।।

भः महाबीर खीर सहात्मा खुद्ध के द्वारा निरूपित उक्त आक्षण के स्वरूप में से कुछ सहस्त्रपूर्ण निष्कर्ष प्रकट होते हैं । यथा —

(१) जैन शाखों की मान्यता है कि पंच याम (महाब्रत) का उपदेश आदि और अन्तिम तीधकरों ने ही दिया है। शेष मध्यवर्ती

समयाए समणी होइ बंभ चेरेण वंभणी।
तालेन नुणी होइ तवेण होइ तावसी।। १२।।
कन्मुणा बंभणी होइ कन्मुणा होइ स्वत्तिख्रो।
बड्भो कन्मुणा होइ सुद्धो हवइ कन्मुणा।। १३।।
वर्ष गुण-समाउत्ता ने भजीत दिउत्तमा।
वे समस्या समुद्धन् परमण्णाणमेव य।। १४॥
(कत्तराध्ययनसूत्र, षर १४)

जो देव, मनुष्य एवं तिर्यक्ष-एम्बन्धी सभी प्रकार के मेंधुन का सन वचन स्पीर काय से कभी सेवन नहीं करता, उसे हम बाह्यण कहते हैं॥ ७॥

कहत है।। पा जिस प्रकार कमल जल में उत्पन्न होकर भी जल से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार जो संसार में रहकर भी काम-भोगों से सर्वया अलिप्त रहता है, उसे हम बाह्मण कहते हैं।। ⊏।।

जो अलालुप है, अनासक जीवी है, अनगार (गृह-रहित) है, अकिवन है और गृहस्थों से अलिप रहता है, उसे हम जाजग अहते हैं ॥ ६॥

जो स्त्री-पुत्रादि के स्तेद-वर्ध क पूर्व सम्बन्धों को, जाति-विरादरी के सेल-जोल को, तथा बन्धुजनों को त्याग कर देने के बाद किर उनमें किसी प्रकार की आसिक नहीं रखता और पुनः काम-ओगों में नहीं फंसता है, उसे हम बाझण कहते हैं। १०॥

सिर मुंडा लेने मात्र से कोई अमण नहीं होता, 'आम्'का जाप कर लेने मात्र से कोई बाझण नहीं होता, निर्जन वन में रहने

दिहय-मार्गुस-तेरिच्छं जो न सेवइ मेहुण ।
मणसा काय-वन्नकेण तं वयं वूम माहण ॥ ७ ॥
जहा पोस्मं जले जायं नोबल्लिपड बारिणा ।
एवं ऋतिरां कामेहिं तं वयं वूम माहण ॥ ६ ॥
अलेलुयं मुहाजीविं ऋणगारं ऋकिचणं ।
ऋतंसरां गिहल्लेसु तं वयं यूम माहणं ॥ ६ ॥
जहित्ता पुरुवसंजीगं नाइसंगे य वंथवे ।
जो न सङ्जद सोगेसु तं वयं यूम माहणं ॥ १० ॥
न वि मुंहिएण समणो न ऑकारेण वंभणे ।
स मुणी रएणवासिण कुमचीरेण ण नावसो ॥ ११ ॥

#### ( १२३ )

बाइँस तीर्षं करों ने तो चातुर्यास का ही उपदेश दिया है। तदनुसार भ० पार्श्वताथ ने भी खर्डिसा, सस्य, खर्चीय खीर खरिशव इन बार यम धर्मों का उपदेश दिया था। उन्होंने स्त्री को परिवृद्ध मानकर खर्यियद्व मानकर खर्यियद्व मानकर खर्यियद्व मानकर खर्यियद्व मानकर कर्याच्या के खर्नुसार द्वार ने पिहले जैन दीक्षा ठी थी। श्रेष्ठ पहिले बतला आये हैं।) अतः ये स्वयं भी चातुर्योम के भारक प्रास्क में रहे हैं। यह बात उनके द्वारा निक्रपित बाक्या वर्ष में में हिंगी के भारक प्रास्क में रहे हैं। उपर जो बाक्या का स्वक्रप बतलाया है उनमें से गाखाङ्क २० में बाक्या के खिल दुडवर्डमा का और गा० २१ में भावाद्विसा का स्थाग खावश्यक बनलाया है, इस प्रकार दो गावाब्रों में खर्दिसा महाजत का विधान किया गया है। इसके ब्रामो गा० २१ में सस्य महाजत का। गा० २३ से खबीण बन का और २४-२२ वी गावाब्रों में खर्पियद का। गा० २३ से खबीण बन का और २४-२२ वी गावाब्रों में खर्पियद का। निवास है। कहन का मान यह कि चर्दों पर ब्रह्मवर्ष माहजत का कोई उन्लेख तहों है।

किन्तु भ० नहाथीर ने जहायसे को एक स्वतंत्र यमरूप महात्रत कहा और पांचवें यमरूप से उसका प्रतिपादन किया। ऊपर उत्तरा-ध्ययन की जो जाह्मण-स्वरूप-बाली गायाएं दी हैं उनमें यह स्पष्ट दिखाई देना है। वहां गायाह ६ में अचौर्य महात्रत का निर्देश कर गा० ७ में बहाययं नाम के एक यमत्रत या महात्रत का स्वस्ट विधान किया गया है।

- (२) उक्त निष्कर्ण से बुद्ध का पार्श्वनाथ की परस्परा में दीक्षित होता और चातुर्याम धर्म से प्रमाधित रहना मी सिद्ध होता है।
- (३) महावीर की ब्राह्मण-स्वरूप प्रतिपादन करने वाली केवल १४ ही गायाएं उत्तराध्ययन में मिलती हैं, किन्तु धन्मपद में बैसी गायाएं ४१ हैं। उनमें से केवल ३७ ही जपर दी गई हैं। गायाओं

भाव से कोई मुनि नहीं होता, और म खुशा से वने वस्त्र पहिन सेने भाव से कोई तपस्त्री ही हो सकता है ॥ ११ ॥

ित्तु समता को धारण करने से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्च को धारण करने से ब्राह्मण होता है, ज्ञान से मुनि होता है और तपश्च-रण से नपश्ची बनता है। १९॥

भतुस्य उत्तम कर्म करने से ही बाह्यण होता है, कर्म से ही ज़िब होता है, कर्म से ही बेरब होता है और शुद्ध भी कर्म से ही होता है। अर्थान् वर्ण भेद जन्म से नहीं होता है, हिन्तु जो मतुस्य जैसा अच्छा या बुरा कार्य करता है, वह बेसा ही कंच या तीच कहुछाता है। १२।

इस भांति पत्रित्र गुणों से युक्त जो द्विजोत्तम (श्रष्ट आक्षण ) हैं, बास्तव में वे ही अपना तथा दूशरों का उद्धार कर सकने में समर्थ

होते हैं ॥ १४ ॥ भ० महाबीर खोर महास्मा युद्ध के द्वारा निरूपित उक्त आक्षण के स्वरूप में से कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ण प्रकट होते हैं । यथा —

(१) जैन शान्त्रों की मान्यता है कि पंच याम (महात्रत) का वपदेश श्रादि और अन्तिम तीयकरों ने ही दिया है। शेष मध्यवर्ती

समयाण समाणो होई बंभनेरेण बंभणो । नाणेन सुणी होई तवेण होई तावसो ॥ १२ ॥ कम्पूणा बंभणो होई कम्पूणा होई खत्तिखो । बढ़ियो कम्पूणा होई सुद्धो हवई कम्पूणा ॥ १३ ॥ एसं गुण-समाउता ने भनंति दिवत्तमा । ते समत्वा समुद्धन् ं परमध्याणमेव य ॥ १४ ॥ ( वत्तराध्ययनसूत्र, ख० १४ )

#### ( 888 )

की यह अधिकता हो बातें सिद्ध करती है एक-उस समय जाहाणवाद बहुत बोर पर था। वो-ब्राह्मण अपने पवित्र कर्तव्य से गिरकर हीना-चरणी हो गये थे।

(थ) बक्त चातुर्यामबाळी गाथाएं दोनों ही प्रन्थों में प्रायः शब्द और अर्थ की ट्रॉस्ट से तो समान हैं ही, किन्तु अत्य गायाएं भी दोनों की बहुत कुछ शब्द और अर्थ की ट्रॉस्ट से समानता रखती हैं। स्था-

धम्मपद---वाहित-पापो ति बाझणो समचरिया समणोत्ति बुचित ।
 पट्वाजयमत्तनो मळं तस्मा पट्विजनो त्ति बुचित ।।

उत्तराध्ययन—समयाए समणो होइ बंभचेरेण बंभणो। नागोण मुणी होइ तवेण होइ तापसो।।१२॥

२. धन्मपद —वारि पोक्खर-परो व आरगोरिव सासपो । यो न लिपति कम्मेसु तमहं लुमि लाग्रणे ॥११॥

उत्तराध्ययन-बहा पोम्मं बले बायं नोविखपड् वारिणा। एवं खेलिसं कम्मेहिं तं वयं वृम् माहणं॥म॥

३. धम्मपद — छेला नन्धि वरशं च सन्दानं सहतुक्तमं । उक्तित पछिषं बुद्धं तमहं ब्रुमि ब्राह्मणं ॥१२॥

उत्तराध्ययन-बहित्ता पुरुवसंजोगं नाइसंगे य वधवे । जो न सज्जइ भोगेसु तं वयं वृम साहणं ॥ १०॥

प्र. धम्मपद—असंसर्छ गहर्छे हि श्रणागारेहि चुभयं। अनोकसारि अपिच्छ तमहं वृत्ति त्राह्मणं॥१८॥

उत्तराध्ययन-ऋछोतुयं मुहातीविं ऋणमारं ऋकित्यणं। ऋसंभत्तं मिहत्थेमु तं वयं सूम माहणं ॥६॥ बाईस तीर्बंकरों ने तो चातुर्योम का ही उपदेश दिया है। तदनुसार भ० पार्श्वनाय ने भी खर्डिला, सत्य, खर्चीर्य ख्रीर खर्माम्बद इन चार यम धर्मी का उपदेश दिया था। उन्होंने स्त्री को परिषद सानकर खर्पारमह सहात्रत में ही उसका खर्ममांव किया है। यता जैन मान्यता के खनुसार सुद्ध ने पिड़ले जैन दीक्षा ही थी, (यह पिड़ले वनला आये हैं।) खता वे स्वयं भी चातुर्योम के बारक प्रारम्भ में रहे हैं। यह बात उनके द्वारा निरुप्त बाद्याण वर्ग में भी हिंदुसीचर होती है। करर जो बाद्याण का खहर पत्रतलाया है उनमें से गाथाइ २० में बाद्याण के लिए द्रश्विमा का खीर गा० २१ में भावहिंसा का त्याग खावश्यक बनलाया है, इस प्रकार दें। गाथाख्री में खर्हिसा महात्रन का बिधान किया गया है। इसके खाने गा० २१ में सत्य महात्रन का, विधान किया गया है। इसके बाने गा० २१ में सत्य महात्रन का, गा० २३ से खानियान है। कहने का भाव यह कि यहां पर त्रक्षाचर्य माहत्रन का विधान है। कहने का भाव यह कि यहां पर त्रक्षाचर्य माहत्रन का कोई उन्होंस तही है।

किन्तु भ० नहाबीर ने जहाबर्य को एक स्वतंत्र वसहप महावत कहा और पांचवें वसहप से उसका प्रतिपादन किया। कपर उत्तरा-ध्ययन की जो जाह्मण-स्वहप-वाली गायाएं दी हैं उनमें यह स्वष्ट दिखाई देता है। वहां गायाहु ६ में अवीर्य महाजत का निर्देश कर गा० ७ में बहाचर्य नाम के एक यमजन या महाजत का स्वष्ट विद्यान किया गया है।

- (२) उक्त निष्कर्ण से बुद्ध का पार्श्वनाथ की परम्परा में दीक्षित होना और चातुर्थोम थर्म से प्रभावित रहना भी सिद्ध होता है।
- (३) सहावीर की ब्राह्मण-स्वरूप प्रतिपादन करने वाली केवल १४ ही गायाए उत्तराध्ययन में मिलती हैं, किन्तु धनमपद में बैसी गायाए ४१ हैं। उनमें से केवल ३७ ही ऊपर दी गई हैं। गायाओं

#### ( १२४ )

४. ब्राह्मणों के द्वीनाचारी जीवन को देखकर बुढ़ और महा-बीर ने अपनी उक्त देशनाएं की यह बात दोनों के उक्त प्रवचनों से राष्ट्र ज्ञात होती हैं। फिर भी बुढ़ के ब्राह्मण-सन्दर्भ में किये गये प्रवचनों से एक बात मही-मांति परिलक्षित होती है कि वे ब्राह्मण को एक ब्रह्म-निच्छ, शुद्धास्त-स्वरूप को भाग और राग-द्रेप-भयातीत वीतरात, सबेंड और पुराय-पाप-द्रयातीत नीरज, छुढ़, बुढ़, सिढ़ परमासा के आदर्श रूप को प्राप्त आस्मा को ही ब्राह्मण कहन आहते हैं, जैसा कि ब्रह्मण छुड़ास-स्वरूप निर्मा बागा उस सिक्षक से अर्थ प्रकट होता है। (देखों ऊपर दी गई धन्मपद की री, रई, रस, ३१, ३३ आदि तन्यर वाली गायाएं।)

महावीर बाह्यणवाद के विरोध में बुद्ध के साथ रहते हुए भी आहिंसाबाद में उतसे अनेक कदम आगे वह जाते हैं। यगिर बुद्ध ने अस-स्थावर के घात का निषेध बाह्यण के छिए आवरयक बताबा है, तथापि स्वयं मरे हुए पहु के मांस खाने को आहिंसक बतला कर आहिंसा के आदिश्वों से ने सब्ये गिर गये हैं, और उतकी उस उस-धी छुट होने का यह फळ हुआ है कि आज सभी बौद्धधर्मानुवायी मांस-भोजी हिंगोचर हो रहे हैं। किन्तु महाधीर की आहिंसा-व्याक्ष्या इतनी विशव और करणामय थी कि आज एक भी अपने को जैन-या महाबीर का अनुवायी कहने वाला व्यक्ति प्राण-घातक और मांस-भोजी नहीं मिलेगा।

मुहाभारत के शान्ति पर्व में जासण का स्वरूप इस प्रकार

वतलाया गया है--

ं जो सदा अपने सबैहवापी स्वरूप से स्थित होने के कारण अकेले ही सन्पूर्ण आकाश में परिपूर्ण-सा हो रहा है और जो असंग

येन पूर्णीमवाऽऽकाशं भवत्येकेन सर्वदा । शून्यं येन जनाकीणं तं देवा बाह्यणं विदुः ॥१॥ होने के कारण छोगों से भरे हुए स्थान को भी सुना समझता है, उसे ही देव-गण बाह्मण मानते हैं । १।।

जो जिस किसी भी (वस्त्र-वन्कल) आदि वस्तु से अपना शरीर डक लेता है, समय पर जो भी रुखा-सुखा मिछ जाय, उसी से भूख मिटा लेता है और जहां कहां कहीं भी सो जाता है, उसे ही देवता स्रोग बाह्यण कहते हैं ॥२॥

जो जन-समुदाय को सर्प-सा समझकर उसके निकट जाने से हरता है, स्वादिष्ट भोजन-जनित तृप्ति को नरक सा मानकर उससे हूर रहता है, और स्त्रियों को मुद्दि के समान समझकर उनसे विरक्त रहता है, उसे ही देवता छोग आक्षण यहते हैं ॥३॥

जो सम्मान शाम होने पर हिंपेंत नहीं होता, खपमानित होने पर कुपित नहीं होता, और जिसने सूर्व शाणियों को अभयदान दिया है, उसे ही देवता छोग बायण कहते हैं ॥४॥

जो सर्व प्रकार के परिग्रह से विमुक्त मुनि-स्वरूप है, आकाश के समान निर्लेप और स्थिर है, किसी भी वस्तु को अपनी नहीं मानता, एकाकी विचरण करता हुआ शान्त भाव से रहता है, उसे ही देवता छोग जाहाण कहते हैं ।।४।।

येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः। यत्र कचन शायी च तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥२॥ अहेरिव गणाद भीतः सौहित्यास्ररकादिव। कुपणादिव च स्त्रीभ्यस्तं देवा बाह्मणं विदुः ।।३॥ न कु ध्येस प्रहृत्येच्च मानितोऽमानितर्च यः। सर्वभूतेष्वभयदस्तं देवा ब्राह्मणं विद्रः ॥४॥ विमुक्तं सर्वसङ्गं भ्यो मुनिमाकाशवन् स्थितम्। अस्वमेकचरं ज्ञान्तं तं देवा त्राह्मणं विदुः ॥४॥

#### ( १२५ )

हे बाह्यण, जिसके सभी कार्य आशाखों के बन्धनों से रहित हैं, जिसने स्थाम की खाम में खपने सभी वाहिरी खीर भीतरी परिषड खीर विकार होस दिये हैं, वही सच्चा त्यागी जीर वृद्धिमान अधाण है ॥१०॥

महाभारत के उपयुक्त उल्लेख से भी यही ,सिद्ध होता है कि वक्त गुण-सम्पन्न जावण को एक आवशे पुरुष के हर में माना जाता या। फिन्तु जब उनमें आचरण-हीनता ने प्रवेश कर लिया, सब भः महाबीर और मः बुढ़ को उनके विरुद्ध आपना धार्मिक अभियान प्रारम्भ करना पड़ा।

#### भ० महाबीर का निर्वाण

इस प्रकार भ० महाबीर ऋहिंसा-मूलक परम धर्म का उपनेहा सर्व-संप-सहित सारे भारत वर्ष में विहार करते हुए अपने जीवन के अस्तिम दिनों तक देते रहे। इनके छगभग तीस वर्ष के इतने दीर्घ काल तक के उपदेशों का यह प्रभाव हुआ। कि हिंसा-प्रधान यज्ञ-सामादि का होना सदा के लिए बन्द हा गया। देवी-देवताक्यों के नाम पर होने वाली पड़ा-बंखि की कुनवा भी अनेक देशों से उठ गई, मुहताओं एवं पाकरही से छोती की छुटकार। विखा और छोत सत्य धर्म के अनुयायी यते।

जब म० महाबीर के जीवन के केवल दो दिन शेष रह गये। सब उन्होंने बिहार-इप काय-बाग की और धर्मीपटेश-इप बचन-

यस्य सर्वे समारम्म। निराशीर्वेश्वना द्वित । त्यारी यस्य हुत सबे स त्यारी च स बुद्धिमान् ॥ १० ॥ (महाभारत, ज्ञान्तिपर्व, अ० १८१, श्लो० ३, ४, ११)

जिसका जीवन धर्म के लिए है और धर्म-सेवन भी भगवद-अक्ति के लिए है, जिसके दिन और रात धर्म पालन में ही ज्यतीन होते हैं, उसे ही देवता छोग बाह्मण कहते हैं ।।६।

को कामनाओं से रहित है, सर्व प्रकार के आरम्भ से रहित है, नमस्कार और स्तुति से दूर रहता है, तथा सभी जाति के बन्धनों से निर्मु के है, उसे देवता लोग बालाण न्हते हैं।।७।।

जो पवित्र स्राचार का पालन करता है, सर्व प्रकार से श्रद्ध सास्त्रिक भोजन को करता है, गुरुजनों का प्यास है, नित्य व्रत का पालन करता है और सत्य-परायण है, वही निश्चय से ब्राह्मण कहलाता है ।।५॥

जिस पुरुष में सत्य निवास करता है, दान देने की प्रवृत्ति है, ब्रोह-भाव का अभाव है, कूरता नहीं है, तथा छन्जा, दयालुता और तप ये गुण विश्वमान हैं, वेही श्राह्मण माना गया है ॥६॥

> जीवितं यस्य धर्मार्थे धर्मी हर्यर्थमेव च। अहोरात्राश्च पुरुवार्थं तं देवा त्राह्मणं विदु: ।।६॥ निराशियमनारमभं निर्नमस्कारमस्तुतिम्। निमुं क्तं बन्धनैः सर्वस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥७॥

(महाभारत, आस्तिपर्व, अ० २४४, रखीः १०-१४, २२-२४)

शौबाबारस्थित सम्यग्विषसाशी गुरुप्रियः। नित्यत्रती सस्यपरः स वै त्राह्मण उच्यते ॥६॥ सस्यं दानमथाद्रोहः बानुशंस्यं अपा घृणा । नपश्च दृश्यते यत्र स जाद्मण इति स्मृतः ॥ ६ ॥

## ( 372 )

योग की कियाओं का निरोधकर पावापुर के वाहिर अवस्थित सरोवर के सञ्चवर्ती उच्च स्थान पर पहुँच कर प्रतिमा-योग धारण कर खिया और कार्तिक छरणा चतुर्वशी की रात्रि के अन्तिम और अमानस्या के प्रभात फाल में निर्वाण प्राप्त किया? ।

किन्तु इसें० मान्यता है कि भ० महाबीर पावा-नगरी के राजा हस्तिपाल के रज्जा समा-भवन में अमावस्था की यारी रात धर्म देशना करते हुए में)क्ष प्रधारे ।

## कुछ अधकाशित ग्रन्थों का परिचय

यहां पर भ० महाबीर का परिज-चित्रण करने वाले कुछ अपका-ज्ञित संस्कृत, खपञ्च'डा खीर हिन्दी भाषा में रचे गये प्रत्यों का परिचय देकर सद्भात विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है. जिससे कि पाठक उनसे परिचित हो सकें।

असग-कवि-विरचित - श्री वर्धमान-चरित

नदां तक भेरा अनुसन्धान है, भगवद्-गुणभद्राचार्य के पश्चान भ० महाबीर का चरित-चित्रण करने वालों में असग-कवि का

- १. 'पष्ठेन निष्ठितकृतिर्तिनवर्धमाना' । टीका-पष्टेन दिनद्वयेन परि-संख्याते आयुषि सति निष्टितकृतिः निष्टिता विनष्टा कृतिः द्रव्य-मनोवाकायकिया यस्यासी निष्टितकृति, जिनवर्षमानः।
  - ( पुज्यपाद्क्रत सं० निर्वाण-भक्ति श्लो० २६ )
- र पात्रापुरम्य बहिरुव्रतम्भिदेशे पद्मोत्पलाकुलवतां सरसां हि मध्ये । श्रीवर्षमानजित्तदेव इतिप्रतीतो निर्वाणमाप भगवान् प्रविधुनपाप्मा ॥
  - (संव निर्वाणमक्ति, रहोव २४)
- हेलो—पं० कल्याणविजयगणि-छिलित 'अमण भगवाम महावीर' ( go 308-300 )

प्रथम स्थान है। इन्होंने भी वर्षमान चरित के खत्त में खपना जो बहुत संज्ञिम परिचय दिया है, उससे झात होता है कि इसकी रचना संक ६१० में भावकीचि धुनि-नायक के पादमूळ में बैठकर चीड देश की जिल्लाका नगरी में हुई है। अन्य का परिमाण लगभग तीन हजार न्होंक-अमाण हैं। प्रशस्ति के खन्तिम म्होंक के खन्तिम चरण से यह में बात होता है कि उन्होंने खाठ अन्यों की रचना की है। जुन्स है कि खात उनके रोप सात मन्यों का चोई पता नहीं है। उनकी प्रस्थ के अन्त में दी गई प्रशस्ति इस प्रकार है—

वर्षभात वरित्रं यः प्रश्वाख्याति शृणोति च । तस्यहं परछोकस्य भीव्यं संज्ञायते तराम् ॥ १ ॥ संबद्धरे दशनयोत्तर वर्षयुक्ते भावादिकीत्तिंतुनिनायक-पादमूले । सौहल्यपर्वतित्रासवतस्यस्यसङ्गाविकाप्रव्यत्तिते सति वा समस्ये ॥२ विद्या भया प्रशितेत्यसगाहकेन श्रीनायराज्यस्थिळं वनतीपकारि । प्राप्येत योडवियये वि....छानगर्या प्रस्थाप्टकं च समकारि जिनोपदिष्टम् ॥३

इत्वसगञ्जते वर्धमानचिति महापुराणोपनिषदि भगवन्निर्वाण-गमनो नामाष्टादशः सर्गं समाप्तः ॥ १८॥

अन्तिम पुष्पिक। के महापुराणांपतिविदि! पद से यह स्वय्ट है कि मंग्र १८० में चित्त की रचना महापुराण के उत्तर खल्ड रूप उत्तर पुराण के आधा। पर की गई है। उत्तर पुराण में भाग महापीर के चित्र का चित्रण पुरुष्ता भोल के भग से लेकर खनित्म भाग तक एक ही साम । लगा। में किया गया है। यह वर्णन शुद्ध चित्रक्ष ही है। पर असता ने अपना वर्णन एक महाकाव्य के रूप में किया है। यह आता है कि इस में चित्रा चित्रण की अपेक्षा घटना-चकी के वर्णन का अपेक्षा घटना-चकी के वर्णन का अपिक्षा घटना-चकी पर पर यह भी प्रतीत होता है हि इस पर खाल बीरनन्ति के चन्द्रप्रभावित होता है कि इस पर खाल बीरनन्ति के चन्द्रप्रभावित होता है कि इस पर खाल बीरनन्ति के चन्द्रप्रभावित हाता है।

#### ( १३१ )

जिसे सुनकर तुके जाति-स्तरण हो गया और अपने पूर्व भयों की सुका पर जासू बहाता हुआ। मुनि-पुनल के बरण-कमलों को एकाम हो देखने लगा। उन्होंने तुके निकट भव्य जानकर धर्म का उपरेश हे सन्यक्त और आवक-ऋतों को प्रहण कराया। रोप कथानक उत्तर पुराण के समान ही है।

यहां यह बात उल्लेखनीय है कि असन किय ने सिंह के पूर्व भवों का बर्णन सर्ग ३ से ११ वें तक पूरे ह सर्गों में किया है। उसमें भी केवल विपृष्ठ नारावण के भवका बर्णन ४ सर्गों में किया नया है। पांचवें सर्ग में त्रिपृष्ठ नारावण का जन्म, छठे में प्रतिनारावण की सभा का क्षोभ, सातवें में युद्ध के लिए दोनों की सेनाओं का सिंत-वेंस, आठवें में दोनों का दिश्यास्त्रों से उद्ध और नवें में त्रिपृष्ठ की विजय, अर्घविक्त का वर्णन और मर कर नरक जाने तक की घटनाओं का वर्णन है। असा ने समग्र चरित के १०० पत्रों में से केवल त्रिपृष्ठ के वर्णन में ४० पत्र लिसे हैं।

त्रिप्ट के भव से लेकर तीर्थहर प्रकृति का वस्थ करने वाले नन्द के भव तक का वर्णन खागे के ४ सगी में किया गया है, इसमें भी पन्द्रहवें सर्ग में धर्म का विस्तृत वर्णन अब के १२ पत्रों में किया गया जो कि तत्त्वार्थ सृत्र के अध्याय ६ से लेकर १० तक के सूर्यों पर आधारित है।

सत्तरहर्षे सर्ग में भंध महाबीर के गर्भ जन्म, दीक्षा कल्याणक का वर्णन, कर उनके केवल ज्ञान-उत्पत्ति तक का वर्णन है। दीक्षार्थ बठते हुए महाबीर के सात पर्ग पैदल चलने का उत्लेख भी किया ने किया है।

चठारहवें सर्ग में समयकारण का विस्तृत वर्णन कर उनके घर्मी-पदेश, विद्वार संघ-संख्या और निर्वाण का वर्णन कर प्रन्त समाप्त होता है। अप्तर्गते महावीर के पूर्व भवों का वर्णत पुरुष्वा भीछ से प्रास्क्रम न करके इक्तीसवें तत्व्यन कुमार के भव से प्रारम्भ किया है।

मन्दन कुमार के पिता जगन से विरक्त होकर जिन-दीक्षा प्रहण करने के छिये उधत होते हैं और पुत्र का राज्याभिष्ठ कर गृह-त्यम की बात उससे कहते हैं, तब वह कहता है कि जिस कारण से आप संसार को बुग जानकर उसका त्याग कर रहे हैं, उस में भी नहीं मेना चाहता और आपके साथ ही संगम धारण कहांगा। इस स्थल पर पिता-पुत्र की बात-चीत का किंव ने बड़ा ही सार्भिक वर्णन किया है। अन्त में पिता के यह कहते पर कि सु अपने उत्तराधिकारी क जिसा देकर और उसे राज्य-भार साँप कर दक्षिण ने लेंना। इस समय तरे सी मेरे साथ दक्षिण लेंन पर कुलिश्वित नहीं रहेगी और प्रजा निराश्य हो जायगी – यह राज्य-भार स्वीकार करता है। पुन आवार्य के पास जाकर थमें का स्वरूप सुनता है और गृहस्य धर्म स्वीकार राज-पाट सभालना है।

किसी समय तगर के उद्यान में एक अवधि-ज्ञानी साधु के आते का समाचार सुनकर राजा तन्द्र पुर-वासियों के साथ दर्जनाय जाता है और धर्म का उपदेश सुनकर उनसे अपने पूर्व भय पूछता है। सुनिराज कहते हैं कि है राजेन्द्र, तू आज से पूर्व नवें भव में एक अति भयानक सिंह था। एक दिन किमी जगली हाथी को सार कर जब तू पर्वत की गुका में पड़ा हुआ था, तो आकाज-मार्ग से बिहार करते दो चारण मुनि वधर से निकले। उन्होंने तुके श्रवोधित कर के लिए सपुर ध्वित से पाठ करना प्रारम्भ किया। जिसे सुन कर तू अपनी मयानक क्रूरता छोड़कर शान्त हो उनके समीप जा बैठा। तुके छक्य करके उन्होंने धर्म का ताहिकक वपदेश देकर पुरुष्या भील के मव से लेकर सिंह तक के भवों का वाहिकक वपदेश देकर पुरुष्या भील के मव से लेकर सिंह तक के मवों का वाहिकक वपदेश देकर

#### ( १३३ )

असग कवि ने भ० महावीर के पांचों ही कल्याणों का वर्णन क्वापि बहुत ही संदोप में दिगान्यर-परम्पग के अनुसार ही किया है, तथापि दी-एक घटनाओं के वर्णन पर श्वेतान्यर-परम्परा का भी प्रभाव हाँदिगोचर होता है। यथा—

(१) जन्म कल्याणक के लिए जाता हुआ सीवर्मेन्द्र माता के अमृति-गृह में जाकर उन्हें मायामयी नींद से सुलाकर और मायामय शिशु को रख कर भगवान को बाहिर लाता है और इन्द्राणी को अवता है:—

माथार्भकं प्रथमकल्पपतिर्विधाय मातु पुरेश्व जननाभिषविक्रयावे । बाळं जहार जिल्लासम्बद्धाः स्कुरन्त कार्यास्तराजनु जुयोऽपि करोत्यकार्यम् ॥७२॥

शस्या धृतं करयुगे नतमञ्जभासा निन्ये सुरेरतुगतो नभसा सुरेन्द्रः। १इन्ये निथाय शरद असमानमूर्ते-रेरावतस्य मदगन्थहतालिपक्तेः ॥७३॥ (सर्ग १७, पत्र ६० B)

(२) जन्माभिषेत्र के समय सुमेरु के कम्पित डोने का उल्लेख भी कवि ने किया है। यथा—

> तिस्तरा जुवित किन्यतशेखराने बोणाप्रविष्ट्रसिख्छात्युकेऽध्यतसम् । इन्द्रा तरनुणभिवेषपदे निषेतु-वेर्रियैनिसर्गतमनन्त्रमहो जिनानाम् ॥=२॥ (सर्ग १७, पत्र ६० छ)

दि० परस्परा में पदाचरित के सिवाय आत्यत्र कहीं सुप्तेम के कस्पित होने का यह दूसरा उल्लेख है जो कि विमलसूरि के प्राक्षत पडमचरित का अनुकरण प्रतीत होता है।पीड़े के अपक्ष क्षे चरित-रचयिताओं में से भी कुछ ने इनका ही अनुसरण किया है।

मत्य के बन्त में उपसंहार करते हुए क्षमम कवि कहते हैं— इतं महाबीरचरित्रमेतन्मया परस्य प्रतिबोधनाय । सन्नाचिकत्रिक्षभवप्रकथं पुरुरवाणं निममीरनाथम् ॥१०२॥

श्रीवन पुरुरवा भील के आदि भव से लेकर वीरनाय के अन्तिम भव तक के सैंतीस भवों का वर्णन करने वाला यह महाधीर चरित्र मैंने अपने और पर के प्रतिबोध के लिए बनाया।

इस उल्लेख में सहावीर के सैंतीस भवों के उल्लेख वाली वात विचारणीय है। कारण कि स्वयं असराने उन्हीं तेतीस ही अयों का वर्णन किया है। तिर्हे कि उत्तर पुराणकार आदि अन्य दि० आचार्यों में लिखा है। सैंतीस अब तो होते ही नहीं हैं। ११० मान्यता के अनुसार २७ अब होते हैं, परस्तु जब असरा ने ३३ अब गिनाये है, तो २० मवों की संभावना ही नहीं उठती है। उपत्थक पाठ के कुछ परिवर्तन करके 'समाधिक-विशामवप्रवन्थ' मानकर २० अयों की कल्पना की जाब, तो उनके कबन में पूर्वापर-विशोध आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि असराने भवों को एक-एक करके गिना नहीं है और स्वेतान्वर सन्यदाय की प्रचलित मान्यता को ध्यान में रख कर बैसा उल्लेख कर दिया है। जो कुछ भी हो, पर यह बात विचार-

(२) भट्टारक श्री सकछकीत्ति ने सरहत भाषा में श्रीर-वर्धमान चरित्र' की रचना की हैं। ये विक्रम की १४ वें शताब्दी के आचार्य हैं। इनका समय विश्वसंक १४४६ से १४६६ तक बढ़ा है। इन्होंने संस्कृत में देए और हिन्दों में असम्यों की रचना की है। यहां उनमें से उनके अधमान चरित्र का कुछ परिचय दिया जाता है।

इस चरित्र में कुछ १६ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में सब तीर्थकरों को प्रयक-प्रयक् रहों को में नमस्कार कर, त्रिकाल-वर्गी तीर्थकरों और विदेहस्य तीर्थकरों को भी नमस्कार कर गीनम गणवर से लगाकर सभी अग-पूर्वधारियों को उनके नामोल्लेख-पूर्वक तमस्कार किया है। अन्त में कुन्दकुत्यादि मुनीश्वरोंको और सरस्वती देवी को नमस्कार कर वक्ता और श्रोता के लक्षण बचलाकर योग्य श्रोताओं को सम्बोधिन करते हुए सरकथा अन्ते की श्रेरणा की है।

दूसरे अध्याय में मगवान् महावीर के पूर्व भनों में पुरुत्वा भील से लेकर विश्वनत्थी तक के भनों का वर्णन है। इस सर्ग में देवों का अस्म होने पर वे क्या क्या विचार और कार्य करते हैं, यह विस्तार के साथ बताया गया है। मरीचि के जीव ने चौंदहवें भव के बाद मिण्यास्व कर्म के परिपाक से जिन असंस्थ योनियों में परि-अमण किया उन्हें लक्ष्य में रखकर मन्यकार अपना दुःख प्रकट करते हुए कहते हैं—

वरं हुताञ्जे पातो वर दाखाहलाशनम् । अञ्चो वा मञ्जनं श्रेष्टं मिध्यात्वाजच जीवितम् ॥ ३२ ॥

अर्थात् - अप्रि में गिरना अच्छा है, हालहरू विष का खाना उत्तम है और समुद्र में इस महना श्रेष्ट है। परन्तु मिध्यात्व के साथ जीवित रहना अच्छा नहीं है।

इससे बाने बानेक दु:खदायी प्राणियों के संगम से भी भयानक दु:खदायी भिष्यात्व को बतलाते हुए कहते हैं :—

## ( १३६ )

एकतः सक्छं पाप मिथ्यात्वमेकतस्त्योः। बदन्त्यत्रान्तरं दक्षा मेठ्-सर्पपयोग्वि ॥ ३४॥

अर्थात्—एक और सर्व पापों को रखा जाय और दूसरी और अर्केले मिध्याख को रखा जाय, तो दक्ष पुरुष इन दोनों का अन्तर मेरु पर्वत और सरसों के दाने के समान बतलाते हैं। भावार्थ-मिध्याख का पाप मेरु-तुत्य महान् है।

तीसरे खध्याय में भ० महाबीर के बीसवें भव तक का वर्णन है, जहां पर कि त्रिपृष्ट नारायण का जीव सातवें नरक का नारकी बनकर महान् दु:खों को सहता है। इस सर्ग में नरकों के दु:खों का का विस्तृत वर्णन किया गया है। मध्यवर्ती भवों का वर्णन भी कितनी ही विशेषताओं को छिए हुए है।

चींथे अध्याय में भ० महाबीर के हरिषेण वाले सताईसवें भव तक का वर्णन है। इसमें तेईसवें भव बाले स्रा-मक्षण करते हुए सिंह को सम्बोधन करके चारण मुनियों के द्वारा दिया गया उपदेश बहुत ही उद-बोधक है। उनके उपदेश को मुनते हुए सिंह को जाति-समरण हो जाता है और वह आंखों से अधुधारा बहाता हुआ मुनिराजों की ओर देखता है, उस का अन्यकार ने बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। यथा—

गल्डाष्पजलोऽतीवशान्तिचत्तो भवत्तराम्। ऋष्रुपातं छुचा छुचैन् पश्चात्तापमयेन च ॥२४॥ पुनर्मु निर्ह रिं बीक्ष्य स्वस्मिन बङ्गिरीक्षणम्। ज्ञान्तारनामभ्येत्य छुपयेवमभाषत्॥२४॥

पुन: मुनि के दिये गये धर्मीरहेश को सिंह हृदय में धारण करता है और मिण्यात्व को महान् अनर्थका करने वाला जानकर ( 335 )

इसका परिस्थाम करता है । कवि कहते हैं— क्रिथ्वास्त्रेन समें पाप न भूतें न भविष्यति । न विवादे त्रिलोकेऽपि विश्वानवैनिवन्धनम् ॥४४॥

श्रन्त में तिराहार रहकर सिंह संन्यास के साथ मरकर दुखें स्वर्ग में उत्पन्न होता है और वहां से चय कर प्रियमित्र राजा का भय धारण करता है। पाँचयें आध्याय में भ० महावीर के तन्द नामक इकतीसमें भव तक का वर्णत है। इस में भगवान के उनीसमें भय बाने प्रियमित्र चक्रवर्ती की विभूति का बड़े विस्तार से वर्णन हिया गया है। जब बक्रवर्ती अपने बेमच का परिस्थान करके मुनि बनकर मनिश्म का विधिवन पालन करते हैं, तब कवि कहते हैं—

युखिना विधिना धर्मः कार्यः स्वसुख-युद्धये । दु:खिना दु:ख-घाताय सर्वधा वेतरेः जनैः ॥६०॥

अवात सुखी जनों को अपने सुख की और भी वृद्धि के लिए, दुखी जनों को हु:ख दूर करने के लिए, तथा सब साधारण जनों को दोनों ही उद्देश्यों से धर्म का पालन करना चाहिए।

चक्रवर्ती द्वारा किये गये दुर्घर तपश्चरण का भी बहुत सुन्दर पूर्व विस्तृत वर्णन किया गया है।

छठे अध्याय में अनवान के उपास्त्य अब तक का वर्णन किया गया है। भगवान का जीव इकतीसर्वे अब में दर्शन विश्वकि आदि गोड़त कारण आवनाओं का जित्तवन करके तीर्थकर प्रकृति का बन्च करता है। इस सन्दर्भ में वोड्स भावनाओं का, साथ ही सोल-हवें स्वर्ग में उत्पन्न होने पर वहां के सुख, वंशव आदि का भी विस्तृत वर्णन किया गया है। सातवं ऋष्याय में भ० महाधीर के गर्भावतार का वर्णन है। गर्भ में आते के छह भाम पूर्व ही सीधर्मेन्द्र भगवान के गर्भावतरण को जानकर कुवेर की आजा देता है—

भ्रम सीवर्म हरूपेशो बास्याऽस्युवसुरेशिनः। प्रमासाविधिशेषायुः प्राहेति धनदं प्रति ॥४२॥ भ्रीदात्र भारते त्रेत्रे सिखार्थन्य-सन्दिरे । श्रीवर्धमानतीर्थेशभ्रमोऽकारिध्यति ॥ ४२ ॥ भ्राते गस्या विधेहि स्वं रस्तपृष्टिस्तदाल्ये । श्रोपाश्चर्याणि पुरुषाय स्वास्प्रशमीकराणि च ॥ ४४ ॥

अयात्—अञ्चितः की छह मास आयु के रोप रह जाने की बात जानकर सीधमेंन्द्र ने कुनेर को आरेश दिया कि भरत चेत्र में जाकर निदाय राजा के भवन में रत्नवृष्टि खादि सभी आक्षयंकारी अपने क्सेन्सों को करो, क्योंकि खन्तिम तीर्थहर यहां जन्म लेने वाले हैं।

कुदेर को आजा देकर इन्द्र पुनः माता की सेवा के लिए दिक्कु-सारिका देवियों को भैजना है और वे जाकर त्रिश्ठा देवी की सली-मांकि सेवा करने में संख्य हो जाती हैं। इसी समय त्रिश्छा देवी सोखह ख्यों को देखती है, तभी प्रशासकाल होने के पूर्व ही वन्द्रारु पाठक बादियों की व्यत्ति के साथ जित शब्दों का प्रयोग करते हुए माता को जाति हैं, वह समय प्रकरण तो पदने के योग्य ही है। माता जाग कर बीच प्राभाविक कियाओं को करती है, पित के पास जाती है और स्वत्र कह कर कल पूछती है। त्रिज्ञानी पित के मुख से कल सुन कर परमा हर्षित हो खपने मन्दिर में खाती है। तभी स्वर्गीद से नहिंगिकाब के देव खानर गर्भ-कल्याणक महोस्यव करते हैं और भगवान के माता-पिठा का खिसपेक कर एवं उन्हें दिवस बन्नाभरण देकर उनकी पूजा कर तथा गर्भाग्य भगवान को नमस्कार कर अपने अपने स्थान की वापिस चले जाते हैं —

जिनेन्द्र-पितरी भक्तया हारोप्य हरिबिष्टिरे। अभिष्टिय करकाञ्चनकुमी: परमोत्सवै: ॥ २०॥ अपूज्य दिह्यभूपास्त्रवादी: शकाः सहामरेः ॥ २०॥ अपूज्य दिह्यभूपास्त्रवादी: शकाः सहामरेः ॥ राभोन्तस्यं जिने स्ट्रत्या श्रुगेमुस्त्रियरीत्य ते.॥ २१॥ इस्यादां गर्भकल्याण कृत्वा संयोज्य सद्-गुरोः । अस्वायाः परिचर्यायां दिक्कुमारीरनेकजः ॥ २२॥ आदिकल्याधियो देवै: समं शक्त स्पाद्यं च । परं पुरुषं सुवेष्टाभिनोकलोकं मुदा ययो ॥ २३॥

बाठवें अध्याय में दिक्कुमारिका देवियों द्वारा भगवान की माना की विविध प्रकारों से की गई सेवा-सुश्रूपा का और उनके द्वारा पृष्ठें गये अनेकों झास्त्रीय प्रश्नों के उत्तरों का बहुत ही सुन्द्रर और विस्तुत वर्णन है। पाठकों की जानकारी के लिए चाहते हुए भी विस्तार के भय से यहां उसे नहीं दिया जा रहा है। इस विवय के जानने की इच्छा रखने याले पाठकों से निवेदन है कि वे इस स्थल को संस्कृतक विद्वानों से अवस्य सुनने या पढ़ने का प्रयत्न करें।

कमशः नर्भ-काल पूर्ण होने पर चैत सुदी १३ के दिन भगवान् का जम्म द्वाता है, चारों जाति के देवों के खासन कम्पित होते हैं, खबिखान से भगवान् का जम्म हुआ जानकर से सपरिवार खाते हैं और शबी प्रसृति गृह में जाकर माता की सुति करके माता की मायाथी नित्र से सुलाकर पूर्व मायामधी बालक को रखकर और भगवान् को लाकर इन्द्र को सौंप देती है। इस प्रसंग में प्रस्थकार ने शबी के प्रच्छल बहुते हुए ही सर्व काय करने का बर्णन किया है। यथा —

## ( 880 )

इत्यभिस्हुत्य गृहाङ्गी तां मात्रानिहयात्रिताम् । इत्या मायामय बालं निधाय तत्युरोद्ध रम् ॥ ५० ॥

जब इन्द्राणी भगवान को असुति-गृह से लाती हैं, तो दिक मा-रिक्ष अपट मंगल इन्द्रों को धारण करके आगे आगे चलती हैं। इन्द्र भगवान को देखते ही भक्ति से गट्-गट् होकर स्तृति कर अपने हाथों में लेता है और ऐशवत पर बेठकर सब देवों के साथ सुमेरु पर्वत पर पहुँचता है। इस स्थल पर सकलकी सिंत देवी-देवताओं के आतन्दों हे के का और सुमेरु पर्वत का बड़ा बिस्तुत दर्णन दिया है।

नवें अध्याय में भगवान के अभिषेक का वर्णन है। यहां बताया गया है कि भगवान के अभिषेक-समय इन्द्र के आहेश से सर्व दिग्याल अपनी-अपनी दिशा में बैठते हैं। पुनः श्लीर सागर से जल भरकर लाये हुए १००६ कलशों को इन्द्र अपनी तरकाल ही विकिया-निर्मित १००६ भुजाओं में धारण करके भगवान के किर पर जलकारा छोड़ता है। पुनः शेष देव भी भगवान के भस्तक पर जलवारा छोड़ता है। पुनः शेष देव भी भगवान के भस्तक पर जलवारा करने हैं। इस स्थल पर सकलकीर्ति ने गन्थ, बन्दन एव अस्य सुगन्धित द्रव्यों से युक्त जल भरे कलकों से भगवान का अभिषेक कराया है। यथा—

पुनः श्रीतीर्थकर्तारसभ्यमिख्यच्छताध्वरः । गन्याम्बुज्यन्द्रनार्गश्यः विमृत्याऽमा महोस्सवैः ॥ २६ ॥ सुगन्यद्रक्यसन्मिश्रसुगन्यज्ञस्यपृथितैः । गन्योदकमहाकुर्सेमीणकाखननिर्मितैः ॥ ३० ॥

यहां यह बात फिर भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने दही-ची ब्रादि से भगवान का अभिषेक नहीं कराया है।

### ( 888 )

यहां पर सकलकी ति ने भगवान के इस अभिपंक की जलवारा का कई श्लोकों में माहात्स्य वर्णन किया है और भावना की है कि वह पिवज जलवारा हमारे मन को भी दुष्कमों के मेल से छुड़ाकर पित्र करें। पुन. सब देवों ने जगन की शानित के लिए शानित पाठ पढ़ा। पुन: इन्द्राणी ने भगवान को बन्ताभूषण पहिनाये। कि व इस वस्त्र और सभी आभूषणों का काठ्यमय विस्तृत आलङ्कारिक वर्णन किया है। तत्यआत इन्द्र ने भगवान की स्तृति जिसका वर्णन किया है। तत्यआत इन्द्र ने भगवान की स्तृति जिसका वर्णन किया है। उर्था भी अधिमान नाम स्वकर जय-जयकार करते हुए सब देव इन्द्र के साथ कुण्डनपुर आयों और भगवान माता-पिता को स्तृति कर तथा उनकी सुति कर और आनन्द नाटक करके अपने स्थान को चले गये। किव ने इस आनन्द नाटक का बड़ा विस्तृत पर्यं च्यान को चले गये। किव ने इस आनन्द नाटक का बड़ा विस्तृत पर्यं च्यान को चले गये। किव ने इस आनन्द नाटक का बड़ा विस्तृत पर्यं च्यानकोरी वर्णन किया है।

दशवं अध्याय में भगवान की बाल-कीड़ा का सुन्दर वर्णन किया है। जब महावीर कमाराबस्था को प्राप्त हुए, तो उनके जनम-जात मित, श्रुत और अवधिज्ञान सहज में ही उरकर्ष को प्राप्त हो गये। उस समय उन्हें सभी विचाएं और कलाएं स्वयं ही प्राप्त हो गई, क्योंकि तीर्थक्कर का कोई गुरु या अध्यापन कराने वाला नहीं होता है। सकलकीर्ति लिखते हैं—

तेन विश्वपरिज्ञातकला-विद्यादयोऽखिलाः । गुणा धर्मा विचाराद्याश्चागुः परिणति स्वयम् ॥ १४ ॥ ततोऽयं नृक्षुरादीनां बभूत गुरुहर्जितः। नापरो जातु देवस्य गुरुवोऽध्यापकोऽस्यदो ॥ १४ ॥

श्राठ वर्षे के होने पर महाबीर ने स्वयं ही आवक के अत प्रहण कर लिये। महाबीर के कीड़ा-काल में संगमक देव के द्वारा सपहप बनाकर जाने और भगवान् के निर्भयपने को देखकर 'महावीर' नाम रखकर स्तुति करके जाने का भी उल्लेख हैं।

इस स्थल पर प्रत्यकार ने भगवान के झरीर में प्रकट हुए १० हर हुणों के भी नाम गिनाये हैं। पुनः कुमार-कालीन की हाओं का वर्णन कर बताया गया है कि भगवान का हृदय जगत की स्थिति की देख-देखकर उत्तरोत्तर वैशम्य की ओर बढ़ने लगा और अन्त में तीस वर्ष की भरी-पूरी युवावस्था में वे घर-परित्याग को उद्यत हो गयें। यहां माता-पिता के विवाह-प्रस्ताव आदि की कोई चर्चा नहीं हैं।

ग्यारवें अध्याय में १३४ श्लोकों के द्वारा बारह भावनाओं का विशद वर्णन किया राया है, इनका चिन्तवन करते हुए महावीर का वैशम्य और टहतर हो राया।

वारह्वें अध्याय में बताया गया है कि महावीर के संसार, देह और भोगों से विरक्त होने की बात को जानते ही लौकान्तिक देव आये और स्तवन नामस्कार करके भगवान के वैराग्य का समर्थन कर अपने स्थान को चले गये। तभी घरटा आदि के बजने से भगवान को विरक्त जानकर सभी सुर और असुर अपने-अपने बाहनों पर चढ़कर कुण्डनपुर आये और भगवान के दीक्षा कल्याणक करने के लिए आवश्यक तैयारी करने लगे। इस समय भगवान ने वैराग्य क्यादक मधुर-संभाषण से अपने दीक्षा लेने का भाव माता, पिता और कुटम्बी जनों को अवगत कराया। इस अवसर पर लिखा है—

तदा स मातरं स्वस्य महाभोहात्तमानसाम् । बन्ध् श्र पितरं दक्षं महाकष्टेन तीर्थकृत् ॥ ४१ ॥ विविक्तं मेंबुरालपंक्षदेशशतादिभिः । वैदास्यजनकर्वावयेः स्वदीक्षायं स्वोधस्त् ॥ ४९ ॥

### ( 888 )

बहां पहुँच कर भगवान् रात्रि में प्रतिभाषोग धारण करके ध्याताविश्वत हो गये। तारकालिक व्यन्तिम रुद्र को ध्यां ही इसका पता चला-कि वह ध्यान से विचलित करने के लिए व्यपनी प्रिया के साथ जा पहुँचा और उसने जो नाना प्रकार के उपद्रव रात्रि भर किये, वह यद्यपि वर्णनातीत हैं, तथापि सकल कीर्त्ति ने उनका बहुत कुछ वर्णन १४ रलोग में किया है। रात्रि के बीत जाने पर और धोरातियोर उपद्रवों के करने पर भी जब रुद्र ने भगवान् को व्याविष्ठ देखा, नो लिखत हो कर अपनी स्त्री के साथ उनकी स्त्रुति करके तथा आप महति महावीर हैं। ऐसा नाम कह कर अपने स्थान की चला गया।

पुतः भगवान् उज्ज्ञविनी से विदार करते हुए कमशः कीशाम्बी पहुँचे और दुर्घर अभिन्नद के पूरे होते ही चन्दना के द्वारा प्रदक्त आहार से पारणा की, जिससे वह बन्धत-मुक्त हुई। चन्दना की विशेष कवा दि० स्वे० शास्त्रों में विस्तार से वर्णित है, विशेष जिज्ञासु पाठकों को वहां से जानना चाहिए।

पुनः विद्वार करते हुए अगवाम ज्ञिन्सका प्राप्त के बाहिर बहने बाखी ऋजुकूला नदी के किनारे पष्टीपवास का निथम लेकर एक शिखा पर ध्यानस्य हो गये और वैकाल गुक्ता दशनी के आपराह में स्वपक क्षेणी मांडकर और अन्तर्मु हुन्ते में पानिया कर्मी का विनाझ कर केवल झान को प्राप्त किया।

चींदहवें ऋध्याय में भगवान के ज्ञान कल्याणक का ठीक वेंसा ही वर्णन किया गया है, जेंसा कि पुराणों में प्रत्येक तीर्थंड्वर का किया गया है। किन्तु सक्छ कीर्त्ति ने कुछ नवीन वातों का भी इस प्रकरण में बल्लेख किया है— इधर तो भगवान ने घर-बार छोड़कर देव-समृह के साथ वन को गमन किया और उधर माना प्रियकारिणी पुत्र-वियोग से पीड़िन होकर रोती-विलाग करती हुई वन की और भागी। इस खल पर कि ने माना के करण विलाग का जो चित्र खींचा है, उसे पढ़ कर प्रत्येक माना रोवे विना नहीं रहेगी। माना का ऐसा करण आकृत्व, सुन कर महत्तर देवों ने किसी प्रकार समझा बुझा करके उन्हें राज-भवन वापिस भेजा।

भगवान् ने नगर के वाहिर पहुँच कर खंका नामक उचान में पूर्व से ही देवों द्वारा नैयार किये गये भएडप में प्रवेश किया और बस्ताभूषण उतार कर, पांच मुद्धियों के द्वारा सर्व केशों को उलाइ कर एस सिखों को नमस्कार करके जिन-शिक्षा प्रहण कर ही। देव-इन्द्रादिक अपना-अपना नियोग पूरा करके यथा-स्थान चले गये।

इस स्थळ पर भगवान् के दीक्षा ब्रहण कर लेने पर इन्द्र ने जिन सुसंस्कृत प्रान्ताल शब्दों में उनकी स्तुति की है, वह उसके ही योग्य है। किन ने पूरे ३२ श्लोकों में इस का ज्याज-स्तुति रूप से वर्णन किया है।

तेरहवें अध्याय में भगवान की तपस्या का, उनके प्रथम पारणा का, आमानुप्राम बिहार का और सदा काल जागरूक रहने का बड़ा ही मार्मिक एवं विस्तृत वर्णन किया है। इस प्रकार विचरते हुए भगवान उक्जयिनी के रमशान में पहुँचे। यथा—

> विश्वोत्तरमुणैः सार्वं सर्वात मूखगुणान सुधीः । अतन्द्रितो नयन्नैव स्वप्नेऽपि मखसन्निर्धम् ॥ ४५ ॥ इत्यादिपरमाचाराऽछङ् कृतो विहरण् महीम् । उज्जयिन्याः श्महानं देवोऽनिमुक्ताब्यमागमत् ॥ ४६ ॥

#### ( 88% )

(१) भगवान् के ज्ञान कत्याणक को मनाने के छिए जाते समय इन्द्र के ब्रादेश से बछाहक देव ने जन्त्र द्वीप प्रमाण एक छात्र योजन विस्तार बाळा विमान बनाया। यथा —

> तदा बलाहकाकारं विमानं कामकाभिधम्। जम्बूद्वीपप्रमं रम्यं सुक्तालम्बनशोभितम्॥१३॥ नानारक्तमयं दिव्यं तेजस्। व्यात दिग्सुलम्। किट्टिणोस्यनवाचालं चक्रं देवो बलाहकः॥१४॥

इसी प्रकार के पालक विमान का विश्वत वर्णन रहे० प्राह्मत जम्बूढ़ीय प्रक्राप्त और संस्कृत विविधशलाका पुरुष चरित में मिलता है, जिस पर कि बैठ करके संपरिवार इन्द्र भगवान के जन्म कल्या-णावि के करने को आता है। यथा—

आदिशत्पालकं नाम वासवोऽप्याभियोगिकम् । असम्भाव्यप्रतिमानं विमानं कियतामिति ॥२४३॥ तरकालं पालकोऽपीशनिदेशपरिपालकः । रत्तस्तम्भसहस्रांशुपूरपल्लविताम्बरम् ॥२४४॥ गवार्च्यक्षिमादेव दीवैतिषादिव व्यक्तैः । वेदीभिदेन्तुरमिव कुम्मे. पुलकभागिव ॥३४४॥ पञ्जयोजनशर्युच्चं विस्तारं लक्ष्योजनम् । इच्छानुमानगमनं विमानं पालकं व्यथान् ॥३४६॥ (त्रिपष्टि पुरुषचरितं पर्वं १, सर्गे २)

जहां तक मेरा अध्ययन है, किसी अन्य दि० प्रत्य में मुक्ते इस प्रकार के पालक या बलाइक विमान के बनाने और उस पर इन्द्र के आने का उल्लेख ट्रिटगोचर नहीं हुआ है। ये पालक या बलाइक विमान दो नहीं, बस्तुत: एक ही हैं, यह उद्भुत रलोकों से पाठक स्वयं ही समझ जायंगे। (२) इवे॰ शास्त्रों के अनुसार सौधर्मेन्द्र उस विभान में अपनी सभी परिषदों के देवों, देवियों और अन्य परिजनों के साथ बैठकर आता है। किन्तु सकळकीर्तिने इसका कुछ उल्लेख नहीं किया है।

- (३) सकलकी चिने यह भी वर्णन किया है कि की नसा इन्द्र किस बाहन पर सवार होकर आता है। यथा—
- (१) सीवर्मेन्द्र—ऐरावत गजेन्द्र पर । (२) ईशानेद्र—इरव-बाहन पर । (३) सनत्कुमारेन्द्र—सगेन्द्र वाहन पर । (४) साहेन्द्र— कृषभ बाहन पर । (४) त्रक्रोन्द्र—सारस वाहन पर । (६) छान्तवेन्द्र— इस बाहन पर । (७) झुक्तेन्द्र—गरह वाहन पर । (६) आतारेन्द्र— मसूर वाहन पर । (६) आनतेन्द्र—पुष्पक विमान पर । (१०) प्राण-तेन्द्र—पुष्पक विमान पर । (११) आरगोन्द्र—पुष्पक विमान पर । (१२) अच्छुतेन्द्र—पुष्पक विमान पर ।

इस प्रकार इस अध्याय में देवों के आने का और समबदारण की रचना का विस्तार से बर्णन किया गया है।

पन्द्रहवें अध्याय में बताया गया है कि सभी देव-देवियां, मतुष्य और नियं च समबक्षरण के मध्यवनी १२ कोठों में यथा स्थान बैठे। इन्द्र ने भगवान की पूजा-अर्जा कर विस्तार से स्तुति की और वह भी अपने स्थान पर जा बैठा। सभी छोग भगवान का उपदेश सुनने के छिए उसुक बैठे थे, किर भी दिव्य ध्विन प्रकट नहीं हुई। धीरे थीर तीन पहर बीत गये', तब इन्द्र चिन्तित हुआ। अवधिज्ञान से उसने जाना कि गणवर के अभाव से भगवान की दिव्यध्वनि

 यामत्रये गतऽप्यस्याईतो न ध्विनिर्मामः । हेतुना केन जायेतादीन्द्रो हदीस्यचिन्तयत् ॥ ७ ॥

(श्री वर्धमान चरित, अ० १४)

### ( 88= )

अवाहसेव धन्योऽह् सफलं जन्म सेडिवलम् । बतो सवातिपुरुचेन शासो देवो जगद्-मुकः ॥ १४४ ॥ जिल्लुक्या परया अक्त्याऽऽईती सुद्रां जगन्तुताम् । आल्ज्यां सह जशह तस्त्रणं च हिजोत्तमः ॥ १४६ ॥

गीतम के दीक्षित होते ही इन्हें ने उनकी पूजा की श्रीर उनके गणधर होने की नामोल्लेख-पूर्वक घोषणा की। तभी गीतम को सप्त खिंद्यां प्राप्त हुई। उन्होंने भगवाम के उपदेशों को —जो आवण इंग्ला प्रतिपदा के प्रातःकाल अर्थ हुए से —उसी दिन अपराह्व में श्रंग-पूर्व हुए से विभाजित कर प्रन्थ हुए से रचना की।

उन्नीसने अध्याय में सीयमेंन्द्र ने भगवान की अर्थ-गन्भीर और विस्तुत स्तुति करके भन्यलोकों के उद्धारार्थ विद्वार करने का प्रस्ताव किया और भन्यों के पुष्प से प्रेरित भगवान का सर्व आर्थ देशों में विद्वार हुआ। अन्त में वे विपुलाचल पर पहुँचे। राजा श्रेणिक ने आहर वन्द्रना-अर्थना करके धर्मोग्देश सुना और अपने पूर्व भव पूछे, साथ ही अपने जतादि-महण के भाव न होने का कारण मी पूछा। भगवान के द्वारा सभी प्रश्नों का उत्तर सुनकर श्रेणिक ने सम्बक्त प्रदण किया और तत्वधान सोलह कारण भावनाओं को भाते हुए नीयहर प्रकृति का बन्ध किया।

अन्त में मगवान पाता नगरी के उद्यान में पहुँचे और योगा-निरोध करके अवाति कर्मों का क्षय करते हुए मुक्ति को प्राप्त हुए । देव-दन्त्रादिकों ने आकर निर्वाण कल्याणक किया । गौतम को केवल ज्ञान उदान हुआ और उसी की स्मृति में दीपावली का पर्व प्रच-द्धित हुआ। महीं प्रकट हो रही है। तब बह बृद्ध विप्र का रूप बना कर गीतम के पास गया और वही प्रसिद्ध रहोक कह कर अर्थ पूछा। शेष क्यानक बही है, जिसे पहले लिखा जा जुका है। अन्त में गीतम आते हैं, भानसम्भ देखते ही मान-भग होता है और भगवान के सभीप पहुंच कर बड़े भक्ति भाव से भगवान की स्तुति करते हैं। सकल की निमे इस स्तुति को १०८ नामों के उल्लेख पूर्वक ४० रहोकों में रचा है।

सोलहर्षे अध्याय में गौतम के पृष्ठते पर भगवान के द्वारा पट्ट-द्रुव्य, पंचारितकाय, सप्त तस्य और नय पदार्थों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

सन्नहवं अध्याय में गीतम-द्वारा पृष्ठे गये पुरुष-पाप विपाक-सम्बन्धी अनेकों प्रश्नों का उत्तर दिया गया है, जो कि मनन के बोग्य है।

चठारहवें अध्याय में भगवान के द्वारा दिये गये गृहस्य-धर्म, मुनियर्म, लोक-विभाग, काळ-विभाग आदि उपदेश का वर्णन है। गीतम भगवान के इस प्रकार के दिल्य उपदेश को मुनकर बहुत प्रभावित होते हैं, और अपनी निन्दा करते हुए कहते हैं—हाय, हाय। आज तक का समय सैने मिध्याद को सेवन करते हुए कब्बे गया दिया। फिर भगवान के मुख कमल को देखने हुए कहते हैं—आज में धर्य हुआ, मेरा जन्म सफळ हुआ, क्योंकि महान पुरव से सुके जगद-गुरु प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार परम विश्वदि को प्राप्त होते हुए गीतम ने अपने दोनों भाइयों और शिष्यों के साथ जिन बीका महण कर ली। यथा—

श्रहो मिथ्यात्वमार्गोऽयं विश्वपापाकरोऽह्यमः। चिरं वृथा मया निद्यः सेवितो मूढचेतसा ॥ १३३ ॥

### ( 388 )

इस प्रकार समय चरित-चित्रण पर सिंहाबळोकन करने से यह बात पूर्व-परस्परा से कुछ विरुद्ध-धी दिखती है कि भण्महाधीर के द्वारा सभी तस्त्रों का विरुद्धत उपदेश दिये जाने पर गीतम के दीक्षा लेते का इसमें उन्लेख किया गया है, जब अवळा-जवववळाकार जसे आचार्य समयशरण में पहुँचते हैं। उनके दीनित होने का उल्लेख करते हैं। पर इसमें विरोध की कोई बात नहीं है बिल्न सुसंगत ही कथन है। कारण कि इस्ट्र ने विभ वेप में जिस खोक का अर्थ गीतम से पूछा था, उसे वे नहीं जानते थे, अतः यह कह कर ही वे भगवान् के पास आये वे कि चळो — तुम्हारे गुठ के सामने ही अर्थ बताईगा। सकळकीर्ति ने इन्द्र-हारा जो रठोक कहळाया, वह इस प्रकार है —

> त्रं कार्ल्यं द्रव्ययहकं सकलगणितगणाः सस्पदार्था नवैन, विरुवं पंचास्तिकाय-जन-समितिनिदः सप्त तत्त्वानि धर्मः। सिद्धेः मार्गस्वरूपं विधिजनितक्तं जीवण्टकायलेखाः, एतान् य श्रद्धाति जितवचनस्तो मुक्तिगामी स भव्य ॥

इस रहोक में जिस कम से जिस तत्त्व का उल्लेख है, उसी कम से गीतम ने भगवान् से प्रश्त पृष्ठे थे और भगवान् के द्वारा उनका समुचित समाधान होने पर पीछे उनका दीक्षित होना भी स्वामाविक एव युक्ति-संगत है। (३)

## रयध्-बिरचित महावीर-चरित

रयवू किन जे अपन्नों को भाषा में अने क मन्यों की रचना की है। उनका समय विक्रम की १४ वी जनाबिद है। यशिष अपने पूर्व रचे गये महावीर चरितों के आधार पर ही उन्होंने अपने चरित की रचना की है, तथापि उनके विशिष्ट व्यक्तिस्य का उनकी रचना में स्थान-स्थान पर प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यहाँ पर उनके चित से बुद्ध बिशिष्ट स्थलों के उद्धरण दिये जाते हैं — (१) भ० खपभदेव के द्वारा अपने अन्तिम नीर्थंहर होने की बात सनकर मरीचि विचारता है—

चना-मिस्टिफिबि जिल्लाचार मुग्गिबि मिरूपार,संतुद्ध र मरीह समयी। जिल्लामणिको स वियनह, करमिब स्थापार, हं होसमि तित्वय जारी।। १४॥।

अहिं ठाणह वियवह क्यायायल, जह जोइस गागु छंडह गहियल ।
जह सर्जाबिसिहा हुड सीयज, जह पराण्य हवति गय बिस-मल ॥
प्याह कहमति पुणु चल चिन्तर, एवं अराण्यासि जिएहं पटना ।
कि कार्राण् डाइस्मा पुणु चल चिन्तर, एवं अराण्यासि जिएहं पटना ।
कि कार्राण् उह्नहुव अच्छति, कि कार्राण् ज्या तृ उण् पेच्छिम ।
कि कार्राण् जुहुव अच्छति, कि कार्राण् छुड-तगड किलेसह ॥
कि कार्राण् जुम्म तिर-केसह, कि कार्राण् छुड-तगड किलेसह ॥
कि कार्राण् जुम्म कित-केसह, कि कार्राण् छुड-तगड किलेसह ॥
कि कार्राण् जुम्म कित-केसह, कि विश्व जालाण महाण्य पटनि अत्र ।
कि कार्राण्य ज्ञाव कि विवादह, अण्युतंत्र स स्व केस्य किसह ॥
विवाद चल कालवसीय पद्म हि, जिया कालह विरावण ब्यक्ति ॥
वेस जीव पुणु का सिक्तिसह, मुखु रिएरस्थ वेतु किलेसह ।
इस भासिति समयसरग्रह बाहिरि, ज्ञिमा अब्द स्वर्णि छुडेरिप्रणु हिरि ॥
किल अलाय पविच्यतिह देसिय, कुमय-स्वर चहुमेर्ग् भासिय ।
चन्ता-चित्र कम्मह कन्त ग्रांव पुणु सन्त, ग्रांड कम्मीह जि छिरवह ॥
विच्य वि परमायत्र अस्ति अद्याद , एम संस्यु मुच बपर ॥ १६॥

(पत्र १७) जिनेन्द्र-भाषित बात कभी अन्यवा नहीं हो सकती है, सो मैं निअय से आगे तीर्बहर होऊंगा। यदि कदाचित् कन भावल (सुमेह) बलायमान हो जाय, ज्येतियगाग नभस्यल छोड़ हैं, अग्नि-शिखा शीतल हो जाय, पप विध-गहित हो जायें, ये सभी अनहोंनी बातें भले ही सम्भव हो जायें, पर जिन भगवान का कथने कभी अन्यथा

नहीं हो सकता। किर मैं क्यों उपवास करके शरीर और इन्द्रियों को सुखाई, क्यों काशोसरा करूं, क्यों वन में रहुँ, क्या केशों का लोच करूं, क्यों मुख-प्यास की वेदना सहुँ, क्यों नप्र होकर विनरूं, और क्यों विना शरीर-सन्ताग के महानदियों में रमूं? जिस समय जो होने वाला है वह होकर के ही रहेगा। कर्य हाते सूर्य को जीत रोक सकता है ? जीसे फल समय आने पर स्वयं पक आता है, यस ही समय आने पर जीव भी स्वयं सिद्ध हो जायगा। ऐसा कह कर प्रशीच समयअश्या से शहिर निकल कर कुमतों का क्यों हो है और लगा और बहुन लगा कि न कोई कर्ती है, न कोई अभेका ही हैं। जीव कभी भी कर्मी से स्पृष्ट नहीं होता है, वह तो सदा हो जिलेंग परमारमा जना हुआ रहता है। इस प्रकार भरीचिन से सोस्थ मन की स्थापना की।

- (२) रथभू ने त्रिपुष्ट के भव का यहाँ न करते समय युद्ध का और उसके नरक में पहुँचते पर यहाँ क दुःखों का बहुत विस्तार से वर्णाट किया है।
- (३) सग-पात करते सिंह को देख कर चारण मुनि युगल उसे सम्बोधन करते हुए कहते हैं?— जम्मु जम्मु रे केलड सोबहि, तड पुरुषे मुणि आयड बोबहि। एक जि कोडाकोडी साथर, गयड भमते कालु जि भायर।। (पत्र २४)

अर्थात—हे भाई, जाग-जाग । कितने समय तक और सोयेगा ? पूरा एक कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण काल तुके परिध्रमण करते हुव हो गया है । आज तेरे पुरुष से यह मुनि-युगल आये हैं, सो देखों और आस-हित में लगो ।

इस स्थलपर स्थभू ने चारण-मुनि के द्वारा सम्यक्त की महिमा

## ( 848 )

का विस्तृत वर्शन कराया है और कहा है कि अब है सुगराज, इस हिंसक प्रयुक्ति को छोड़ कर अस्थवत्व और तत को प्रहरण कर।

- (४) प्रक्रमहाबीर का जीव स्वर्ग से अवत्वरित होते हुए संसार के स्वरूप का विचार कर परम वैराग्य भावों की बूदिर के साथ विद्याला देवी के गर्भ में आया, इसका बहुत ही सामिक चित्रण व्यक्ष ने किया है ' (पत्र ३)
- (४) जन्माभिषेक के समय सीधर्म इन्द्र दिस्साला को पांचुक शिला के सर्वे और प्रवृत्तिणा कम से अपनी-अपनी दिशा में बेठा कर कहता है:—

णिय जिय दिस रक बहु सावहाण, मः को वि विसद सुरू मन्मद्राण । (पत्र ३६ A)

अर्थान् है दिग्गलो, तुम लोग सायधान होकर अपनी-अपनी दिशा का संरक्षण करें और इस मध्यवर्ती क्षेत्र में किसी को भी प्रवेश सत करने दो।

इस उक्त उद्देश्य को भूल कर लोग आज पंचासताभिषेक के समय दिग्गलों का आहानत करके उनकी पूजा करते लगे हैं।

(६) रख्यू ते भी जन्माभिषेक के तमय सुनेह के कियत होते का उल्लेख किया है। साथ ही अभिषेक से पुत्र कलहों ने भरे जल को इन्द्र के द्वारा मंत्र बोल कर पवित्र किये जाने का भी वर्णन किया है। (पत्र ३६ ८)

इस प्रकरण में गन्धोदक के माहारम्य का भी मुन्दर एवं प्रभा-वक वर्णन दिया है। (पत्र ३७ A)

(७) जम्मामिनेक से जीटने पर इन्द्रासी तो सगवान को ले जाकर मात्रा को साँधती है और उन्द्र राजनभा में जाकर सिद्धार्थ को जन्माभिषेक के समाचार सुनाना है। (पत्र २५ B)

## ( 843)

भगवान् के श्री वर्धमान, सन्मति, महाबीर आदि नामों के रख जाने का वर्णन पूर्व परस्परा के ही अनुसार है।

 (म) सहात्रीर जब कुमार काल को पार कर युवावस्था से सम्पन्न हो जाते हैं, तब उनके पिता विचार करते हैं :—

अजि विसय अलि ए प्यासह, अन्त सकामाछात्र स्था भावह।
अजि तिय तुर्वे ए ड भिन्जह, अन्त अस्ता अस्ति ए दिल्जिह।
स्थार-कहा-पि मसु एउ डोवइ, एउ सिव्यास्त कहव पलावइ।
स्था-ह्य चितिति स्थित जिस्सु भिराड, सहि परिद्विड स्थित भवित्याः
तत्र पुरत्र भएमि हर्ज पुल किंहा, रहु पित्यासहि सम्बन्ध मिए।।२४।
कि पाहस्य ए कराउ स्थानकह, कहिम कमनु किरण संपन्जह।
वप पुत्त को अंतरु दिन्जह, परह मोहें किंपि भर्मिएजह।।
तिहं करि जिहं कुछ-संतित बहुइ, तिहं करि सुय-वसु परुटूइ।
तिहं करि जिहं सुय मन्भु मस्योरह, हुँति य पुरस्य तियस वह सब मह।।
(पत्र ४१ ४)

महाबीर जुवा हो गये हैं, तथापि आज भी उतके हृदय में विषयों की अभिलापा प्रकट नहीं हो रही है, वे आज भी काम-पुक्त आलाप नहीं बोखते हैं, आज भी उनका मन स्वियों के कटा हों से नहीं भिद रहा है, आज भी उनका मन स्वियों के कटा हों से नहीं भिद रहा है, आज भी उनका मन रस नहीं ले रहा है और न वे बिकारी की कथाओं में उनका मन रस नहीं ले रहा है और न वे बिकारी भाव से किसी की आदि की और देखते ही हैं। ऐसा विचार कर मिद्धार्थ राजा भ० महाबीर के पास पहुंचते हैं, जहां पर कि वे अपने सहाथों से विरे हुए बेटे थे, और उनसे कटते हैं:— हे पुत्र में तुम्तारे सामने अपने मन की कथा बात कहुं, तुम तो सब कुछ जानते हो। देखों कथा पापाएंगों में सुबए नहीं उराज होता और कथा कथा सकता है। (कमा नहीं उपजता १ पिता और पुत्र में क्या अस्तर किया जा सकता है।(कमा नहीं उपजता १ पिता और पुत्र में क्या अस्तर किया जा सकता है।(कमा नहीं उपजता १ पिता और पुत्र में क्या अस्तर किया जा सकता है।(कमा नहीं उपजता १ पिता और पुत्र में क्या अस्तर किया जा सकता है।(कमा नहीं उपजता १ पिता और पुत्र में क्या अस्तर किया जा सकता है।(कमा नहीं उपजता १ पिता और पुत्र में क्या अस्तर किया जा सकता है।(कमा नहीं उपजता १ पिता और पुत्र में क्या अस्तर किया जा सकता है। क्या का सकता का सकता है। क्या का सकता है। क्या का सकता है। क्या का सकता है। क्

कि जिससे कुज-सन्तान वर्दे और पुत्र का बंदा प्रवर्तमान रहे । हे इन्द्र-शव-वत पुत्र, तुम ऐसा भाव करो कि मेरा मनोरथ पूर्ण हो। विना के ऐसे अनुराग भरे वयनों को सुन हर अवधि-विलोचन

भगवान् उत्तर देते हैं:-त खिनुक्रेप्टिक् अवहि-विक्षेयण्, परिवत्तर भासः मल-मीयण्। तात्र नाय जे तुन्द पडले. मरणामि त खिरु होई ग जुले।। चन गई पह व विदिय संसार, मोख-महापह तुं वियदारं। दुत्तर दुर्गाई पागवारं, कवणु नाय युहु बहुद दार ॥ सन्वत्त्व वि अवशेण विह्नहरणं, संघि वंध विमसहि विन्छिएणं । सद्यस्यि जि किभिज्ञासंपुरस्य, सद्यस्य जि स्व दार्राई जुरुसं॥ सञ्बद्धाल पयहिय गित सुर्चः सञ्बद्धाल वस-संस-विलित्तं । सञ्बद्धाल लालारस-गिनलं, सञ्बद्ध जि रुद्धिरोह जलुल्लं ।। सञ्बद्धाल बहुमल कयकबुत्त, सञ्बद्धाल धारिय जि पुरीसं। सञ्बद्धाल जहुकुनिश्रवगयः, सञ्बद्धाल अताप्रलिबंधं ।। सब्बद्धाल मह भक्त्यारीण...

परिस अंगे सेबंगाया, होई या भोक्खु, दुक्खु धुव नाया ॥ धना—पर संभव पवडिय संभवः, श्रण-प्राणः वाशासय-महितः। आरंभे महरव द तिय- सुह धुवः को एक् सेवदः गुणः अहितः।। संसारि भमतह जाई जाई, विण्डियई पमेल्लिय नाइ ताई। केत्तियाः गण्यमि आसि वेसः णिच्य चित्र जीग छात्र संसा। केचिया भगमि कुल-संतर्देव, जणगी-जरगाइ पिय सामिगीव। प्रेमि मणोरह कास कास, त शिसुशिवि लि व मेहिबि वसास ॥ हों वि विस्त्रस्थर मोसि वक्तुन जाए साउ पहिउत्तर असक्तु।

अर्थात: — है नात, है पिता, तुमने जो कहा, सो बह बुक्त नहीं है। बह दार- परिषष्ठ (स्त्री-विश्वद) शतुराति स्प संसार-मार्ग का बहात बाला है और मोक्ष महान् पन्य का रोकते बाला है। यह समार रूप मागर दुस्तर दुर्गीन रूप है, इसका कोई आदि अन्स नहीं हैं। कीन बुद्धिमान इसमें इवना चाहेगा १ यह सर्वत्र अवान से विस्तीर्ण है और विपस सन्धि-चन्त्रों से ज्याम है। यह मानव-रेह-क्रमि कुल से भरा हुआ है, नी द्वारों से निरन्तर मल-स्नाव होता रहता है, सदा ही, मल-मुत्र प्रकट होता है, सदा ही यह बसा (चर्ची) और मांस से लिम रहता है, मुख से सदा ही लार बहती रहती है और सबीग रक-पुंज से प्रवाहित रहता है। सदा ही यह नाना प्रकार के मलों से कलुपित रहता है, सदा ही विष्टा को भारण किये रहता है। इससे सदा ही दुगत्य आ में रहती है और सदा हो यह आंतों की आवळी से बधा हुना है। सदा ही यह भूख-प्यास से पोड़ित रहता है। ऐसे अरेक आपरामय शरीर का सेवन करने वालों को कभी मोच प्राप्त नहां हो सकता। हां, उनको दु खों की प्राप्ति तो निश्चय से होती ही है। पर से उराज दोने वाले, मल-मुत्रादि को प्रवादित करने नाले, जुगा भणमें सेकड़ों बाबाओं से ब्याम और प्रारम्भ में मधुर दिखने वाले इस इन्द्रिय-सुब को कीन गुणी पुरुष सेवन करना चाहेगा ? संसार में परिश्रमण करते हुए इत्रमें अनन्त जन्म, जाति और वंशों की प्रद्रण कर कर के छाड़ा है। जगत में कीनमा वंश सदा नित्य रहा है और कुनि से कुछ की सन्तान, भाता, पिता और प्रिय जन नित्य बने रहे हैं। सनुष्य किस किसके मनोरबों को पूरा कर सकता है। इस लिए इस दार-परिम्नह को स्वीकार नहीं करना ही अच्छा है। पिता महाबीर का यह उत्तर सुनकर और दीघं श्वास छोड़ कर बुप हो प्रस्युत्तर देने

(E) सताबीर के बेराम्य उत्तक होने के अवसर पर स्थवने बारह भावनाओं का बहुत सुन्दर एवं विस्तृत वर्णन किया है।

में अशक्य हो गये।

- (१०) रयंध् ने दीक्षार्थ जाते हुए भगवान् के सात पग पेदन चलने का वर्धन इस प्रकार किया है:-
- ता उद्विचि सिंह।सगाहु जिग्गू चिक्कड पय थरंतु घरहि ।

### ( 828 )

पय स्थ महीयलि चलियध जाम, इदे प्रश्वेषियश् देव ताम । समिपद सिवियहि मीदिवि जिलिहुं, आरोपिति दशायव अस्तिदुः। ( पत्र 25 A)

अर्थात्- मगवान् सिहासन से उठकर जैसे ही भूतल पर सात परा चले, त्यों ही इन्द्र ने शशिष्रभा पालकी में भगवान् को उठाकर बैठा दिया।

(११) इन्द्र जब गीतम को साथ लेकर भगवान् के समवदारण में आने हमे, तो उनके दोनों भाई भी अपने शिष्यों के साथ पीछे हो डिये। तब उनका पिता शांडिल्य माह्मण बिल्ला करके कहता है-अरे, तुम लोग कहां जा रहे १ क्या ज्योतियों के ये वचन सस्य होंगे कि ये तीनों पुत्र जित-शासन को महती प्रभावना करेंगे। हाथ, हाथ, यह माबाबी महाबीर यहाँ कहां से आगया ?

ता संदिहे विष्ये सिद्धः, हा हा हा कहु काजु विग्रष्ट्रः। एवर्डि जन्मण दिणि मदं लक्तिलड, लेमिचिएए मञ्कु ग्रिड अक्लाह ॥ ए तिरिण वि जिणसमय-पहात्रण, पयह करेसहि सहराइ दावण। वं अदिहास पहु पुरा जायड, कृषि सायाबी इहु ग्रिक आयड ।

(A ox EP) (१२) गीतम के दीचित होते ही भगवाम की दिव्यध्यमि प्रकट हुई। इस प्रसंग पर स्थतु ने पट्-द्रव्य और सप्त-उपनी का तथा आवक और मुनियम का विस्तृत वर्णन किया है ।

अन्त में रयशूने भगवान के निर्वाण कल्याण का वर्णन कर के गीतम के पूर्व मन पन महबाहु भामी का निरंत्र भी। लिखा है।

सिरिहर-विरचित-बृङ्गाणचरित कवि भीवर ने अपने वर्षमान चरित की रचना अपन्न'झ भाषा में की है। यद्यपि भ० महाबीर का कथानक एवं कल्याणक

## ( 820 )

आदि का वर्णन प्रायः वहीं है, जो कि दि॰ परस्परा के अन्य आचार्यों ने लिखा है, तथापि कुछ स्थल ऐसे हैं, जिनमें कि दि॰ परस्परा से कुछ विशेषता दृष्टिगोचर होती है। जैसे -

(१ त्रिप्रप्रनारायण के भव में सिंह के मारने की घटना का वर्णन प्रस्तुत प्रत्यकार ने किया है। सिंह के उपद्रव से पीड़ित प्रजा राजा से जाकर कहती है-

पीडइ पंचाणगु पवर सन्तु, बळवंतु भुवणे भो कम्मसन्तु । कि जम्मु जणवय-मारण कण्ण, सई हरि-मिसेण आयउ रवेण॥ अह असुरु, अहब तुब पुरुषवेरि, दुद्धरु दुरुवारु वहंतु सेरि। तारिस वियास साहहो ण देव, दिद्वउ क्यावि णर-णियर-सेव ॥ चत्ता-पिययम पुत्ताइं गुण जुत्ताइं परितते वि जगु जाइ। जीविड इच्छंतु लहु भज्जंतु, भय वसु को विण ठाइ॥२१॥ (पत्र २३ B)

अर्थात-हे महाराज, एक वलवान महान् हात्र सिंह हम लोगों को अत्यन्त सता रहा है, ऐसा प्रतीत होता है कि मानों सिंह के मिप से मारने के लिये यम ही आ गया है; अथवा कोई असुर या कोई तुम्हारा पूर्व भव का वेरी देव-दानव है। आप शीच्र उससे हमारी रक्षा करें, अन्यथा अपने गुणी प्रियजनों और पुत्रादिकों को भी छोड़कर सब छोग अपने प्राणों की रक्षा के छिए यहां से जल्दी भाग जावेंगे। भय के कारण यहां कोई भी नहीं ठहरेगा।

अजाजनों के उक्त बचन सुनकर सिंह मारने को जाने के लिए न्थों ही राजा उद्यत होता है, त्यों ही त्रिपृष्ट उन्हें रोक कर स्वयं अपने जाने की बात कहने हुए उन्हें रोकते हैं। वे कहते हैं—

जद्द मह संतिवि असि वरु लेबि, पसु-णिग्गह-कण्ण। इहिड करि कोंड बइरि विलोड, ता कि मह तणएण ॥

(93 R8 B)

अर्थात्—बाँद मेरे होते सते भी आप खडुग लेकर एक पशु का निषड करने के लिए जाते हैं. तो किर मुख पुत्र से क्या लाभ ?

प्रसा कह कर जिएए सिह को सारने के लिए स्थर्य जंगल में जाता है और विकराल सिह को इहाइने हुए सामने आता देखकर बसके कुले हुए मुख में अपना वाम हस्त देकर दक्षिण हाथ से उसके मुख को खड़ देता है और सिंह का काम तमाम कर देता है। इस यहना को कवि के शब्दों में पहिचे—

हरिया करेण णिवनित्रि विरेण, णिहमणेण पुगु तक्क्येण । विद्व इस्क हर्लु संगरे समस्य वयणंतरात्ते पेसित्रि विकराते ॥ पीडियट सीह डोलंत जीहु, लोयणजुनेण लोहियजुणेण । दाविमाजाल श्रविराज, शुवर्गत भाद कोनेण णाद । पविचारलोण हरि मारिकणं तहो लोपहि गहि तस्यु णिस्तामपहि ॥ (पत्र देश 13)

सिंह के भारते की इस घटना का वर्णन खें व प्रन्थों में भी पाया. जाता है।

(२) भ॰ नहाथीर के जन्म होने के दिन से ही सिद्धार्थ के घर श्री कश्मी दिन-दिन बदने छगी। इस कारण दसमें दिन पिता ने उनका श्री वर्षमान नाम रखा। कवि कहते हैं —

विकास नाम रखा । काव कहा हु त्रिण तम्महो असु दिसा सोहमाणा,णियरुक सिरि देक्सेवि बहुमाण, सिर भासुकडाइ सहुँ सुराह, सिरि सेहर-प्यणहि भासुरहि। इहमें दिखे तहो भव बहुनिवेण, किंड बहुमाण इंड णासु तेण ॥

(पत्र २७ A) (र) सम्मति-नाम रखे जाते का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है— अवणर्कि दियो वही तिज्ञण्सरामु, किंद्र सम्मद्र णामु जिणेसरामु । जारण मुनि विजय-सुसंज्ञणर्कि, तद संपाणिसम्बस्साम् ।। इसी प्रकार भगवान के शेष नामों के रखने का भी सुन्दर वर्णन कवि ने किया है।

(अ) नीतम को इन्द्र समवकारण में ले जाते हैं। वे भगवान से अपनी जीव-विषयक शंका को पूछते हैं, भगवान की दिख्य ष्वति से वनका सरवेड दूर होता है और वे जिन-बीक्षा महण करते हैं। इसका वर्णन कवि के शब्दों में पर्डे—

पुन्छित्र जीविद्विति परमेसरः, पर्याणय परमाणद्व जिलेसरः। सो जि जात्र दिव्यक्तिण भासदः, तहो संदेहु असेमु विणासदः। पंच मयहिं दित्र-मुएहि समिल्छैः। छड्डय दिक्स विष्पेण समिल्छै। (पत्र ७० A)

(४) भीतम ने पूर्वोह में दीक्षा छी और अपराह में द्वादशांग की रचना की। इसका वर्णन करते हुए कवि कहते हैं— पुक्वकहरूं छट्ट दिक्सन जायत छिद्धित सत्त प्राप्त विकसायत। तिम्म दिश्वसे अवरणहए तेण वि, सोवंगा गोत्तमणामेण वि। जिष्णमुद्द-णिगाय अध्यार्छिय, बारहंग सुब प्यस्वणंकिय। (पत्र ४० के)

इस वर्धमान चरित की रचना बहुत सुन्दर और स्वाध्याय योग्य हैं । इसके प्रकाशित होने से अपन्ने श साहित्य की समृद्धि प्रकट होगी।

(४) जयभिन्द्रल्ल-विरचित वर्धमान काव्य

जय मिनाइल्ल ने भी अपभं हा भाषा में वर्षमान काव्य रचा है जो कवित्व की दृष्टि से बहुत उत्तम है। इसमें भगवान, का चरित दिगम्बरीय पूर्व परम्परानुसारी ही हैं। हां, कुछ स्वकों पर अवस्य कुछ वर्णन विशेषताओं को लिये हुए हैं।

## ( १६0 )

कवि ने जन्माभिषेक के समय मेरु-कन्पन की घटना का इस प्रकार वर्णन किया है—

लड्डिक किंद्र कल्लु सोहस्म तियसाहिणा, पेक्स जिणदेहु संदेहु किंड णियमणा । हिमागिरंदल सरसिंसु गंभीरओ, गंगमुह पमुद्द सुप्रवाह बहुणीरओ ॥ खिन्निमि किंम कुंगु गयदंतु कहि लट्टमई, मुर्स्युट्ट आवर्रिड लह लट्टमई, मुर्स्युट्ट आवर्षिड लह लट्टमई, मुर्स्युट्ट आवर्षिड लह लट्टमई, मुर्स्युट्ट आवर्षिड लह लट्टमई, मुर्स्युट्ट आवर्षिड लह लट्टमई ॥ स्टिंड गंपिराड खरहृद्दिय सिल्संचया। पहित्र अमिर्ट थरहृदिय सप्यंचया। पहित्र अमिर्ट थरहृदिय सप्यंचया। रिड्ट अमिर्ट थरहृदिय सप्यंचया। रिड्ट उमिराड खरहृद्दिय सप्यंचया। सिंख किंदि कुम्म डट्टमिय सप्यंचया। मिर्य रक्षिर कुम्म डट्टमिय तरु काणणा। मिर्य रक्षिर कुट अमिर्ट स्वाप्या। हुन्द का स्वाहु वहु मोहन्दु आपंड वर्ण, बाम नियसिंदु णिहुंदु अप्पड वर्ण, बीर जब वीर अंदि क्यवंदणं॥ पत्ना च्या व्या वर्ण, बीर जब वीर अंदि क्यवंदणं॥

मह खमहि भड़ारा तिहुज्जमार करा प्रमाण तहा॥१८॥। अर्थान् — जैसे ही सीधर्मेन्द्र कल्हां को हायों में लेकर के अंतिक करने के लिए उदात हुआ. त्यों ही उसे वह अंका मन में क्रम्य हुई कि भगवान तो बिल्हुल बालक हैं और उतने विशाल कल्ला के जल के प्रवाह को मनक पर कैसे सह सकेंगे ? तभी वीन जातवारी भगवान ने इन्द्र की शंका के समाधानार्थ चरण की एक अंगुली से सुमेर को द्वा दिया। उसकी दवाते ही शिलाएं गिरने लगी, बनों में निर्देश्व चेरे गत चिंबाइ उटे, सिंह गर्जना

### ( १६१ )

करने लगे और सारे देवगण भय से व्याकुल होकर इधर-उधर देवने लगे। सारा जगत क्षोभ को प्राप्त हो गया। तब इन्द्र को अपनी मूल ज्ञात हुई और अपनी निन्दा करता हुआ तथा भगवान की जय-जयकार करता हुआ क्षमा मांगने लगा कि हे अनन्त बीर्य और सुख के मण्डार। सुभे क्षमा करो, तुम्हारे वल का प्रमाण कीन जान सकता है।

(२) कवि ने इस बात का उल्लेख किया है कि ६६ दिन तक दिब्य खिन नहीं खिरने पर भी भगवान भूतळपर विद्वार करते रहे। यद्या—

णिग्गंथाइय समाउ भरंतह, केविल किरणहो धर विहरंतह। गय झासिट्ट दिणंतर जामिह, अमराहिउमणि चिंतह तामिह।। इय सामिग्ग सथल जिणणाहहो, पंचमणासुमाम गयबाहहो। किं कारसु ण उवाणि पयासह, जीवाइय तबाहण भासह।। (पत्र = ३ B)

अर्थात — फंबल झान प्राप्त हो जाने पर निर्मन्य मुनि भादि के साथ अरातल पर विदार करते हुए ल्यासठ दिन बीत जाने पर भी जब भगवान की दिन्य बाणी प्रगट नहीं हुई, तब इन्द्र के मन में चिन्ता हुई कि दिन्य ध्वनि प्रगट नहीं होने का क्या कारण है ?

अन्य चरित वर्णन करने वालों ने मगवान् के विहार का इस प्रकार से उल्लेख नहीं किया है।

(३) कवि ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि भगवान् खनिम समय पावापुरी के बाहिरी सरोवर के मध्य में स्थित दिखातळ पर जाकर ध्यानारूढ़ हो गये और वहीं से योग-निरोध कर अधाति कर्मों का क्षय करते हुए निर्वाण को प्राप्त हुए।

समग्र प्रत्य में दो प्रकरण और उल्लेखनीय हैं-सिंह को

संगोधन करते हुए 'जिन रचि विधान' तप का तथा वीक्षा कल्याणक के पूर्व भगवान, द्वारा १२ भावताओं के चित्तवन का विस्तृत वर्णन किया गया है। चीच में क्षेणिक, अभयकुमारादि के चरित्र का भी विस्तृत वर्णन है।

(5)

### श्री कुमुद्दचन्द्रकृत महावीर रास

श्री कुमुद्रचन्द्र ने अपने महाबीर रास की रचना राजस्थानी भाषा में की है। कबानक में प्राय: सकडकीर्ति के महाबीर चरित्र का आश्रव द्विषा गया है। इसमें भी भट महाबीर के पूर्वभव पुरुरवा भीख से वर्णन किये गये हैं। इसकी कुछ विशेषनाएं इस प्रकार हैं—

- (१) भगवान का जीव जब विश्वनन्दी के भव में था और उस समय मुनि पद में रहते हुए विशासनन्दी को मारने का निदान किया, उस स्थल पर कवि ने निदान के दोषों का बहुत सुन्दर वर्णन किया है।
- (२) भेर महाबीर का जीव इकतीसमें नन्दभव में जब पोड़श कारण भावनाओं को भाता है, तब उनका बहुत विस्तृत एवं सुन्दर वर्णन किव ने किया है।
- (३) श्री ही आदि पट्छुमारिका देवियों के कार्य का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

आहे औ देवी बोमा करि, छजा भरि ही नाम कुमारि। आहे बृति देवी संतोष बोलि, जस कीर्ति सुरतारि। आहे बृद्धि देवी आपी बहु बुद्धि, रिद्धि-सिद्धि लक्ष्मी जंग। आहे देवी तहु, बहुबुं नियोग, शुभोषयोग प्रमंग।।।।। (8) कुमारिका देखियों द्वारा पृद्धे गये प्रश्नों का उत्तर भी माता के द्वारा अनुपम हंग से किय ने प्रस्तुत िवा है।

(४) जन्माभिषेक के समय पारहुकशिला पर भगवान को विराजमान करने आदि का वर्णन किन ते ठीक उस प्रकार से किया है। जिस प्रकार से कि आज पंचामृताभिषेक के समय किया जाता है।

(६) सौंधर्म इन्द्र के सिवाय अन्य देवों के द्वारा भी भगवान के अभिषेक का वर्णन किव ने किया है। यथा—

> अवर देव असंख्य निज दाकि लेंड कुंभ । जया जोगि जल धार देई देव वह रंभ ॥

जल से अभिषेक के बाद सर्वोषिष आदि से भी अभिषेक का वर्णन कवि ने किया है।

- (७) बीर भगवान के आठ वर्ष का होने पर क्षायिक सम्यक्त और आठ मूछ गुणों के धारण करने का उल्लेख कवि ने किया है।
- (८) भगवान् के दीक्षार्य चले जाने पर त्रिशला माता के करण
   विलाप का भी वर्णन किया गया है।
- (६) जिस स्थान पर भगवान् ने दीक्षा की उस स्थान पर इन्द्राणी द्वारा पहिले से ही सांथिया पूर देने का भी उल्लेख किया गया है।

शेष कथानक पूर्व परम्परानुसार ही है।

( 848 )

10

## कवि नवलशाह का वर्धमान पुराण

श्री सकल की ति के संस्कृत वर्धमान चरित के आधार पर किव नवलशाइ ने छन्दो-बढ़ हिन्दी वर्धमान पुराण की रचना की है। इसमें कथानक तो वहीं हैं। हां कुछ स्थलों पर किव ने तात्त्रिक चर्चा का विस्तृत वर्णन किया है और कुछ स्थलों का पद्यानुवाद भी नहीं किया है। प्रन्य की रचना दोहा, चीपाई, सोरठा, गीता, जोगीरासा, सबैया, आदि अनेक छंदों में की गई है जो पढ़ने में रोचक और मनोहर है। किव ने इसकी रचना वि० सं० १८२४ के चैत सुदी १४ को पूर्ण की है। यह दिगम्बर जैन पुस्तकालय सुरत से बीठ नि० २४६८ में सुदित हो चुका है।



## ( १६% )

## विषय-सूची

प्रथम सर्ग — मंगळाचरण, छघुता-प्रदर्शन, सज्जत-उपकार-वर्णन दुर्जन-स्मरण, काव्य की महत्ता, भव महाबीर के जन्म से पूर्व भारतवर्व की सामाजिक, वार्मिक स्थिति का चित्रण।

द्वितीय सर्ग-जग्बूद्वीप, भारतवर्ष, कुरुधनपुर और वहां के

१4-35

34-25

20-55

निवासी स्त्री-पुरुपों आदि का कवित्वमय वर्णन । तृतीय सर्ग---राजा सिद्धार्थ और उनकी रानी प्रियकारिणी का साहिरियक वर्णन ।

चतुर्थं सर्ग —वर्षा ऋतु का वर्णन, प्रियकारिणी द्वारा सोळह स्वप्र-दर्शन, उनके फळ का वर्णन खौर भ० महा-बीर का गर्भावरण।

पंचम सर्ग — भगवान् की माता की सेवार्थ कुमारिका देवियों का व्यागमन, सेवा-सुश्रूपा-वर्णन एवं उनके प्रश्नों का माता द्वारा दिये गये उत्तरों का वर्णन ।

षष्ठ सर्ग — त्रियकारिणी के गर्भ-बृद्धि का चसकारिक वर्णन, बसन्त ऋतु का सुन्दर वर्णन और भगवान महा-बीर का जन्म।

सप्तम सर्ग - देवालयों में घंटादि के शब्द होना, अविध से भगवान का जन्म जान कर देव-इन्द्रादिकों का कुन्द्रनतुर खाना और भगवान को लेजाकर सुमेर-पर्वत पर श्लीर सागर के जल से अभिषेक करना, पुनः लीटकर भगवान का माता पिता को साँपने का सुन्दर वर्णन।

अष्टम सर्ग-भगवान् की बाल-छीलाओं का वर्णन, कुमार-श्रवस्वा प्राप्त होने पर पिता हारा भगवान् के

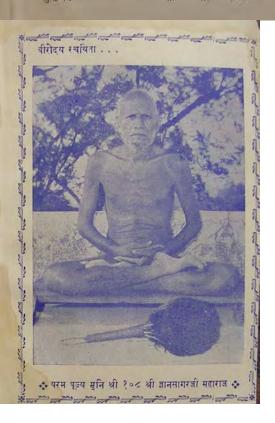
सन्मुख विवाह का प्रस्ताव रखना और संसार	ää
की दुर्शशा का चित्र खींच कर भगवान् द्वारा उसे	
अस्वीकार करना।	१२३-१३
नवम सर्ग-भगवान द्वारा जगत् की दुर्दशा का विचार और	
शीत ऋतु का वर्णन ।	१३७-१4
इज्ञम सर्ग-भगवान् का संसार से विरक्त होकर अनुप्रेक्षा	
चिन्तन करना, लीकान्तिक देवीं द्वारा चैराम्य का	
समर्थन करना, देवादिकों का आना, भगवान का	
दीक्षा लेना और सिंह-वृत्ति से विद्वार करना।	
एकादश सर्ग -भगवान द्वारा अपने पूर्व भवों का चिन्तवन	1-01 1 1-
करना, और पूर्व भवों में प्रचारित दुर्मतों के उन्मु-	
लन एवं संचित कर्मी के क्षपण करने के लिए	
दृढ़ चित्र होना।	१६×-१७=
हादश सर्ग-प्रीप्य-ऋतु का साहित्यिक वर्णन, महावीर के	145-100
उम्रतपश्चरण का वर्णन, क्वन्त्र-प्राप्ति खीर तडन-	
त्रयोदश सर्ग -समयशारण का विस्तृत वर्णन, गौतम का	७५-१६६
समवशरण में गमत, भगवान् से प्रभावित होकर	
दीक्षा-प्रहण श्रीर भगवान् की दिन्यध्वनि का	
चतुर्देश सर्ग-म्यारह गणधरी का परिचय, भगवान द्वारा	205-53
त्राह्मणत्व का सुन्दर निरूपण और सभी गणधरा की	
विशि विशे का समान्त्र	
पंचदश सर्ग - अगवान के उपहेश से प्रभावित हुए तात्का-	×99-30
लिक राजा छोगों का एवं अन्य विशिष्ट छोगों	
अर्थित साम — श्राहिता भ्रम तर करून व	28-580
भाग का सन्दर वर्णन। २	88-578

	1 13	- 1		
सप्तदश सर्गमदों के वि सुन्दर वर्णन ड का दिग्दर्शन।	नपेध-पूर्व गीर कुछ	क सर्व उ पौराणि	तीव समत क आक्या	ाका प्रमु नकी २४२-२३६
		15.	p 6	184-165
अष्टादश सर्ग - अवसर्पि भूमि का तथा	गाकास्व, मुनि	भाग-सृ	्राम आर इस्य धर्म	का
सुस्दर वर्णन।				955-959
एकोनविश सर्ग-स्यादाद नित्यात्मक रूप				
जीवां के भेद-प्रश	बद छोर	सचित्र-	खिचित्त व	प्रादि
का सुन्दर वर्णन	1			989-399
विश्वतितम सर्ग-सर्वज्ञता	की सय	किक सि	दि ।	323-328
एकविश सर्ग-शरद् ऋ	तु का	सुन्दर व	र्मन और,	
महात्रीर का निव	ोण-गम	न ।		374-333
द्वाविश सर्ग - भ० महाथी				
र्जन धर्म का उस				
कार द्वारा हादिव	दु:ख	प्रकट क	रना, अन	त में
लघुना निवेदन।				३३३-३४२
	परिशि	rg—		
संस्कृत टीका - सर्ग प्रथम	से पष्ट स	र्गातक	****	३४३-४२३
रलोकानुकमणिका—	****	****		४२४-४४२
क्रिप्ट शब्दों का अर्थ		****		883-884
तीर्थं करादि-नाम-सूची	1000		****	870-882
विशिष्ट व्यक्ति-नाम सूची	(44)+1			885.848
भौगोलिक-नाम सुची				848-847
वीरोदय-गत-सूक्तयः	1000		****	844-896
चित्रबन्ध-काच्य रचना		****	****	४७२-४७३
शुद्धि-पत्र		1110	114	808-800

# नम्-निवेदनम्

मतिमन्दत्वाद्धवाऽऽलस्या-च दन्यथापि लिखितमिह स्यात् । शोधयन्तु सुधियस्तं दोषं न इर्पुरेल्पक्षे मिय रोपम् ।

—मुनि ज्ञानसागरः





# आ १०८ छनिओ ज्ञानसामर-विरचित श्री वीरोद्य काव्य

\*\*\*

श्रिये जिनः सोऽस्तु यदीयसेवा समस्तसंश्रीतृजनस्य मेवा। द्राक्षेत्र मुद्री रसने हृदोऽपि प्रसादिनी नोऽस्तु मनाक् श्रमोऽपि॥१॥

वें जिन भगवान् हम सबके कल्याण के लिये हों, जिनकी कि चरण-सेवा समस्त श्रीता जनों को और मेरे लिए मेबा के तुल्य है। तथा जिनकी सेवा द्राक्षा (दाख) के समान श्रास्त्रादन में मिष्ट एवं मृदु हैं और हृदय को प्रसन्न करने वाली है। श्रातएव उनकी चरण-सेवा के प्रसाद से इस काव्य-रचना में मेरा जरा-सा भी अम नहीं होगा। श्रर्थात् श्री जिनदेव की सेवा से मैं इस श्रारम्भ किये जाने वाले काव्य की सहज में ही रचना सम्पन्न कर सकुंगा।।१।।

कामारिता कामितसिद्धये नः समर्थिता येन महोदयेन । सैवाभिजातोऽपि च नाभिजातः समाजमान्यो वृपभोऽभिधातः॥२॥

जिस महोदय ने काम।रिता-काम का विनाश-हमारे बांछित सिद्धि के लिए समर्थन किया है, वे खमिजात-अकृष्ट कुलोलक होकर के भी नाभिजात-नाभिस्तुनु हैं और समाज-मान्य होकर के भी संज्ञा से वृषम हैं।।२॥

( = )

भावाधे—इस रहोक में विरोधालङ्कार से कथन किया गया है कि तो अभिजात अयोग कुछीन हैं, वह नाभिजात—अकुछीन कैसे हो सकता है है इसका परिहार किया गया है कि वे व्यभदेव उत्तम कुछमे उत्तम होकर के भी नाभि नामक चौदहवें कुछकर से उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार जो वृषभ (बेल) है, वह समाज (मनुष्य-समुदाय) में मान्य कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि वे आदि तीय-कर वृष अयोग धर्म के भरण-पोषण करने वाले होने से वृषभ कह-छाते थे और इसी कारण समस्त मानय-समाज में मान्य थे।

चन्द्रप्रभं नीमि यदङ्गसारस्तं कीम्रुदस्तोमम्रुरीचकारः । मुख्छनः संलमते प्रणश्यचमस्तयाऽऽस्त्रीयपदं समस्य ॥३॥

में चन्द्रप्रभ भगवान को नमस्कार करता हैं, जिनको अगसार (क्षरीरिक-प्रभा-पुष्ठ) पृथ्वी मण्डल में हुंप-समूह को बढ़ाने वाला था। चन्द्र के पक्ष में उसकी चन्द्रिका कीमुद अर्थान स्वेत कमलों को विकसित करने वाली होंगी हैं। जिन चन्द्रप्रभ मगवान के आसीय पढ़ को स्वीकार कर अन्तरंग के अज्ञान अन्यकार के दूर होने से सब जन सुख को प्राप्त करते हैं और चन्द्र के पक्ष में उत्तम स्वेजन (चकोर) पक्षी चन्द्र की चांदनी में अपनी आसीयता को प्राप्त करता है।।३॥

पारवंत्रमोः सन्तिथये सदा वः समस्तु चिनो बहुलोहभावः । मो मो जनः संलभतां प्रसन्ति धृत्वा यतः काश्चनसंप्रवृत्तिम् ॥४॥

भों भों जतो ! तुम श्रोताक्षों और पाठकों के हृदय में पाहर्व-प्रभु का तिरस्तर विस्तयन सिन्निधि-उत्तम निधि प्राप्त करने के छिए सहायक होते । जिससे कि तुम्हारा सन उस अनिवेचनीय सहायुक्ति को (3)

धारण करके प्रसन्नता को प्राप्त हो। यहां पारवे और छोह पद श्लेपात्मक हैं। जिस प्रकार पारवेपापाण के योग से छोहा भी सोना बन जाता है, इसी प्रकार तुस छोग भी पारवें प्रभु के संस्मरण से उन जैसी ही खनिबंचनीय शान्ति को प्राप्त होओ। 11211

त्रीर ! त्वमानन्दञ्जवामवीरः मीरो गुणानां जगताममीरः । एकोऽपि सम्पातितमामनेक-लोकाननेकान्तमतेन नेक ॥४॥

हे बीर भरावन् ! तुम आतन्द की भूगि होकर के भी अवीर हो और गुणों के भीर होकर के भी जगत के अभीर हो। हे तेक-भद्र! तुम अकेले ने ही एक हो करके भी अनेकान्त मत से अनेक छोकों को (परस्पर विरोधियों को) एकता के सूत्र में सम्बद्ध कर दिया है।।शा

भावार्थ — रहोक से पूर्वार्थ में विरोधाल हार से वर्णन किया गया है कि भगवान, तुम बीर होकर के भी अवीर — वीरता रहित हो, यह कंसे संभव हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि तुम 'अ' अर्थात विष्णु के समान वीर हो। दूसरे पक्ष में अवीर गुलाल जैसे होली आदि आनन्द के अवसर पर अति अमझता का उत्पादक होता है, उसी प्रकार हे बीर भगवन, तुम भी आनन्द उत्सम्न करते के लिए अवीर हो। मीर होकर के भी आमीर हो, इसका परिहार यह है कि आप गुणों के मीर अर्थात समुद्र हो करके भी जगत है अभीर अर्थात सबसे वहे धनाह्य हो। मीर और अभीर ये दोनों ही उद्दर कारसी के हैं। यहां यमकाल हार के साथ विरोधाल हार कि न प्रकट किया है। इसी पश्च के अन्त में पठित 'नेक' पर भी कारसी का है, जो कि भद्रार्थ के खिए किये न प्रयुक्त किया है।

ज्ञानेन चानन्दमुपाश्रयन्तश्ररन्ति ये त्रक्षपथे सजन्तः । तेषां गुरूणां सदनुग्रहोऽषि कवित्वशक्ती मम वित्रलोपी ।।६॥ जो जान के द्वारा ष्यानन्द का खाअय जेते हुए और ज्ञान-प्रथ खर्जान आत्मकल्याण के भाग में खनुरक्त होते हुए खायरण कहते हैं, ऐसे ज्ञानानन्दरूप ज्ञान्यय के पृथिक गुरुजनों का सन् खनुमह भी भेरी कविल्ल शक्ति में विष्नों का लोग करने वाला हो ॥६॥

विशेष-इस पदा के पूर्वार्थ में प्रयुक्त पदों के द्वारा कवि ने आपने ज्ञान-गुरु श्री बद्धाचारी ज्ञानानन्द्रजी महाराज का समरण किया है।

बीरोदयं यं विद्धातुमेव न जक्तिमान् श्रीगणराजदेवः । द्धाम्यहं तम्प्रति बालसस्यं वहन्निदानीं जलगेन्द्रतस्त्रम् ॥७॥

श्री बीर भगवान के जिस उदयरूप माहास्य के वर्णन करने के लिए श्री गणपरदेव भी समर्थ नहीं हैं ऐसे बीरोदय के वर्णन करने के लिए मैं जल-प्रतिविभ्वित चन्द्रमण्डल को उठाने की उच्छा करने बाले बालक के समान बालभाव (लड़कपन) को धारण कर रहा हूँ॥।।।

वक्तोऽववाऽहं भविताऽस्म्युपायाद्ववन्तु मे श्रीमुखः सहायाः । पितुर्विळव्यांमुळिमुळतातिर्यथेष्टदेशं शिशुकोऽपि याति ।।८।।

अवता में उपाय से (प्रयत्न करके) बीरोदय के कहने में समर्थ हो जाऊ गा, श्री गुरुजन मेरे सहायक होते। जैसे वालक अपने पिता की अंगुलियों के मूल भाग को पकड़ कर अभीष्ट स्थान को जाता है, उसी प्रकार में भी गुरुजनों के साहाय्य से बीर भगवान के उदय-रूप चित्र को वर्णन करने में समर्थ हो जाऊ गा।।।।।।

मनोऽङ्गिनां यत्पद्विन्तनेन समेति यत्रामलतामनेनः । वदीयवृत्तेकपमर्थना वाक् समस्तु किन्नानसुवर्णभावा ॥९॥ जिन बीर भगवान के चरणों का चिन्तवन करने से प्राणियों का सन पापों से रहित होकर निर्माळता को प्राप्त हो जाता है, तो फिर उन्हीं बीर भगवान के एकमात्र चरित्र का चित्रण करने में समर्थ मेरी वाणी खुवर्ण भाव को क्यों नहीं प्राप्त होगी ? अर्थान बीर भगवान के चरित्र को वर्णन करने के लिए मेरी वाणी भी उत्तस वर्ण पद-वाक्य रूप से अवश्य ही परिणंत होगी।।ह।।

रजो यथा पुष्पसमाश्रयेण किलाऽऽविलं मद्वचनं च येन । वीरोदयोदारविचारचिह्नं सतां गलालङ्करणाय किन्न ॥१०॥

जैसे मिलन भी रज (भूलि) पुष्पों के आश्रय से माला के साथ लोगों के गले का हार बनकर अलङ्कार के भाव को प्राप्त होती है, उसी प्रकार मिलन भी मेरे बचन वीरोदय के उदार विचारों से चिद्धित अर्थात् अङ्कित होकर सञ्जनों के करठ के अलङ्कार के लिए क्यों नहीं होंगे ? अर्थात् अवश्य ही होंगे ॥१०॥

लसन्ति सन्तोऽप्युपयोजनाय रसैः सुवर्णत्वसुपैत्यथायः । येनाईतो इत्तविधानमापि निःसारमस्मद्रचनं तथापि ॥११॥

सङ्जन पुरुष भी लोगों के इष्ट श्योजन के लिए साथक रूप से शोभायमान होते ही हैं। जैसे रसायन के योग से लोहा सुवर्ण पने को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार निःसार भी मेरे वचन अर्हुन्तदेव के चरित्र-चित्रण से सार पने को प्राप्त होंगे और सङ्जन पुरुष उसे आदर से अपनावेंगे ॥११॥

सतामहो सा महजेन शुद्धिः परीपकारे निरतैव बुद्धिः । उपद्रुतोऽप्येष तरू रसाठं फलं श्रणत्यङ्गभृते त्रिकालम् ॥१२॥

( =

बाहो, सड़बनों की वित्त-शुद्धि पर काश्चर्य है कि उनकी खुद्धि हुसरों के उपकार करने में सहज स्वभाव से ही निरत रहती है। हेबो—छोगों के द्वारा पत्थर खादि मार कर के उपद्रव को प्राप्त किया गया भी बुक्ष सदा ही उन्हें रसाछ (सरस) कछ प्रदात करता है।।१२॥

यत्रानुरागार्थपृपैति चेतो हारिद्रवत्वं समवायहेतोः । सुधेव साधो रुचिराऽथ सुक्तिः सदैव यस्यान्यगुणाय युक्तिः॥१३॥

जिस प्रकार हल्दी का द्रय-रस चूने के साथ संयुक्त होकर लाखिमा को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार साधु-जन के सत्संग को पाकर मेरी बक्ति (कविता) भी रुचिर सूक्ति को प्राप्त हो लोगों के बिक्त को हरण करके उनके हृदय में सर्दय अनुराग उत्पन्न करेगी। क्योंकि सज्जनों का संयोग सदा दूसरों की भलाई के लिए ही होता है।।१३।।

सुवृत्तभावेन सम्रुल्लसन्तः मुक्ताफलस्यं प्रतिपादयन्तः । गुणं जनस्यानुभवन्ति सन्तस्तत्रादरस्यं प्रवहास्यदं तत् ॥१४॥

जिस प्रकार उत्तम गोळ आकार रूप से परिणत मौक्तिक (मोती) सूत्र का आश्रय पाकर अर्थात सूत में पिरोचे जाकर शोभा को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार सज्जन पुरुष भी उत्तम सम्बक्त चारित्र को धारण करके जीवन की निष्कळता को छोड़कर अर्थात् उसे सार्थक कर मनुष्यों के गुणों का अनुभव करते हैं। मैं ऐसे उन सन्त जनों में आदर के भाव को धारण करता हूँ।१४९॥

साचोर्त्रितिमांणविधौ विधातुरुवृताः करादुत्करसंविधा तु । त्रयेत्र जाता उपकारिणोऽत्ये श्रीचन्द्रनाया जगतीति मन्ये ।।१४।। 1 0 1

सायुजनों को निर्माण करते हुए विधाना के हाथ से जो बोड़ी सी कृष्णिका रूप रचना-सामधी नीचे पिर गई, उसी के द्वारा ही बी चन्दन आदिक अस्य उपकारी पदांथ इस जगन में उत्सम्र हुए हैं, ऐसा मैं मानता हूँ।।१४॥

भावार्थ - कि ने यहां यह उन्नेक्षा की है कि सक्तनों को बतात के पश्चात विधात। को चन्द्रनादिक वृक्षां के निर्माण की वस्तुत: कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि चन्द्रनादि के सुगन्य-प्रदानादि के कार्य करने को तो सक्तन पुरुष ही पर्याप्त थे।

साधुर्गु णग्राहक एप आस्तां श्लाघा ममारादसतस्तु तास्ताः । सर्वित्रियप्रायतयोदितस्य दोषं सम्बद्धास्त्र वरं करस्य ॥१६॥

साधु जन गुण-प्राहक होते हैं, यह बात तो ठीक ही है। किन्तु सर्व जनों के लिए प्रिय रूप से कहे गये मेरे इस काव्य के दोगों का उद्घाटन ।प्रकाशन) करके उसे निर्दोष उनम करने वाले असाधुजनों की ही मेरे हृदय में बार बार श्लाग है। अर्थात मेरे काव्य के दोगों का अन्येषण करके जो असाधुजन उन्हें प्रकट कर उसे निर्दोष बना-बेंगे, में उनका बहुत आभार मानते हुए उनकी प्रशंसा करता हैं।।१६॥

सदंकुराणां समुपायने तुः पुष्टा यथा गीरिह कामधेतुः । पयस्विनी सा खलशीलनेन तस्योपयोगोऽस्तु महाननेन ॥१७॥

जिस प्रकार इस लोक में उत्तम दूर्वाकुरों के चरने पर काम-चेतु पुष्ट होती है और खल विलान से वह खुब दूध देती है, उसी प्रकार सञ्जनों के उत्तम दूर्या भाव से तो सेरी वाणी विकसित हो रही है और खलजनों के द्वारा दोष प्रदर्शन कर देने से अर्थात निकाल हेने से भेरी वह कविला रूप वाणी भी निर्देषि होकर सरस वन जाबनी एवं सूच पुष्ट होनी और इस प्रकार दुवनों का सम्पर्क भी हमारे लिए परमोपयोगी होना ॥१७॥

कर्णेजपं यत्क्रतवानभुस्त्वं तदेतदृष्यस्ति विधे ! पट्टत्वम् । अनेन साधोः सफलो नृभाव ऋते तमःस्यात्क रवेः प्रभावः ॥१८॥

हे विधाता ! तुमने जो दोष देखने वाले पिछुनों को उत्पन्न किया है सो यह भी तुन्हारी पठता (चतुराई) ही है, क्योंकि इससे साधु का मनुष्यपना सफल होता है। अन्यकार न हो, तो सूर्य का प्रभाव कहां दृष्टि-नोचर होगा ॥१८॥

भावार्थ जैसे बदि अन्यकार न हो, तो सूर्य के प्रभाव का महत्त्व कैसे प्रकट हो सकता है, उसी प्रकार बदि हुर्जन लोग न हों, तो सञ्जनों की सञ्जनता का प्रभाव भी कैसे जाना जा सकता है।

अनेकधान्येषु विपत्तिकारी विलोक्यते निष्कपटस्य जारिः। छिद्रं निरूष्य स्थितिमादधाति स भाति आखोः पिशुनः सजातिः॥१९

दुर्जन मनुष्य चृहे के समान होते हैं। जिस प्रकार मुपक (जूहा) नाना जाति की थांग्यों का जिजाश करने वाला है, निष्क अर्थान बहुमूल्य पटों (बस्त्रों) का अर्थि है, उन्हें काट डालता है और छिद्र प्रकार रिखन प्रकार में अपनी स्थिति को काश्रम रखता है। ठीक उसी स्थान पुरुष भी नाना प्रकार से अन्य सर्व साधारण जनों के लिए विश्वन पुरुष भी नाना प्रकार से अन्य सर्व साधारण जनों के लिए (दोयों) को देखकर अपनी स्थिति को दह बनावे हैं। १६॥

1 =

हेने से भेरी यह कविता रूप वाणी भी निर्दोप हो कर सरस वन जावती एवं खुव पुष्ट होती और इस प्रकार दुर्जनों का सम्पर्क भी हमारे डिए परमोपयोगी होगा ॥१७॥

कर्णेजपं यत्कृतवानभूस्त्वं तदेतदस्यस्ति विधे ! पट्टबम् । अतेन साधोः सफलो नुभाव ऋते तमःस्यात्क रवेः प्रभावः ॥१८॥

हे विधाता ! तुमने जो दोप देखने वाले पिछुनों को उत्पन्न किया है सो यह भी तुन्हारी पटुता (चतुराई) ही है, क्योंकि इससे साधु का मनुष्यपना सफल होता है। अन्यकार न हो, तो सूर्य का प्रभाव कहां दृष्टि-नोचर होगा ॥१=॥

भावार्थ जैसे यदि श्रम्थकार न हो। तो सूर्य के प्रभाव का महत्त्व कैसे प्रकट हो सकता है, उसी प्रकार यदि दुर्जन छोग न हों, तो सञ्जनों की सञ्जनता का प्रभाव भी कैसे जाना जा सकता है।

अनेकथान्येषु विवित्तकारी विलोक्यने निष्कपटस्य चारिः । छिद्रं निरूष्य स्थितिमादधाति स भाति आखोः विश्चनः सजातिः॥१९

हुर्जन मनुष्य बुढ़े के समान होते हैं। जिस प्रकार मृषक (चूहा) नाना जाति की धार्त्यों का विनाश करने वाला है, निष्क अर्थात् बहुमृत्य पटों (बस्बें) का अर्थि है, उन्हें काट डालता है और लिट्ट प्रकार उसमें अपनी स्थिति को कायम रखता है। टीक इसी प्रकार पिछन पुरुष भी मृषक के सजातीय प्रतीत होते हैं क्योंकि विश्वत पुरुष भी नाना प्रकार से अत्य सर्व साधारण जनों के लिए. (दोषों) को देखकर अपनी स्थिति को टहु बनाते हैं। हिस्सा

योऽभ्येति मालित्यमहो न जाने काच्ये दिने वा प्रतिभासमाने। दोषानुरक्तस्य खलस्य चैश ! काकारिलोकस्य च को विशेषः॥२०॥

हे ईश ! काकारिलोक (उल्क-समूह) और खल जन में क्या विशेषता है, यह मैं नहीं जानता । अर्थान् मुमे तो दोनों समान हो हिए-गोचर होते हैं, क्योंकि दिन (सूर्य) के प्रतिभासमान होने पर उल्क लोक मिलनता को प्राप्त होते हैं और दोषा (रावि) में अनुरक्त हैं अर्थान् राति में विचरण करते हैं । इसीप्रकार उत्तम काल्य के प्रकाशमान होने पर खल जन भी मिलन-बदन हो जाते हैं और उसके दोषान्वेपण में ही तत्वर रहते हैं । इस प्रकार से मुमे तो उल्क और खल जन में समानता ही दिखती है ॥२०॥

खलस्य हन्नक्तमिवायवस्तु प्रकाशक्रद्वासरवत्सतस्तु । काव्यं द्वयोर्मध्यमुपेत्य सायमेतजनानामनुरञ्जनाय ॥२१॥

खल जनों का हृदय तो रात्रि के समान अध-खरूप है और सज्जनों का हृदय दिन के समान प्रकाश-रूप है। इन सज्जन और दुर्जन जनों के मध्य में प्राप्त होकर मेरा यह काठ्य सार्यकाल की लालिमा के समान जन-साधारण के अनुरंजन के लिए ही होगा ॥२१॥

रसायनं काव्यमिदं श्रयामः स्वयं द्रुतं मानवतां नयामः । पीयुपमीयुर्विद्धाः बुधा वा नायाव्युपायानःयनिमेपनावात् ॥२२॥

हम इस काश्यक्ष रसायन का आश्य लेते हैं अर्थात उसका पान करते हैं और रसायन-पान के फल-स्वरूप स्थयं ही हम बीज मानवता को शाम होते हैं। जो विश्वध अर्थात देवता हैं, वे भले ही अर्थत को पीय, या जो विगत-बुद्धि होकर के भी अपने आपकी

(E)

योऽभ्येति मालिन्यमहो न जाने कार्व्ये दिने वा प्रतिभासमाने। दोषानुरक्तस्य खलस्य चेश ! काकारिलोकस्य च को विशेष:।।२०॥

हे ईश । काकारिलोक (उल्कुक-समृह) और सल जन में क्या विशेषता है, यह मैं नहीं जानता। अर्थात् मुक्ते तो दोनों समान ही हफ्ट-गोचर होते हैं, क्योंकि दिन (सूर्य) के प्रतिभासमान होने पर उल्कुक लोक मिलनता को प्राप्त होते हैं और दोषा (रात्रि) में अनुरक्त हैं अर्थात् रात्रि में विचरण करते हैं। इसीप्रकार उत्तम काल्य के प्रका-शमान होने पर खल जन भी मिलन-बदन हो जाते हैं और उसके दोषान्वेषण में ही तस्पर रहते हैं। इस प्रकार से मुक्ते तो उल्कु और खल जन में समानता ही दिखती है। (२०।)

खलस्य इन्नक्तमित्रायवस्तु प्रकाशकृद्धासरवत्सतस्तु । काव्यं द्वयोर्मध्यमुपेत्य सायमेतजनानामनुरजनाय ॥२१॥

खल जनों का हृदय तो रात्रि के समान श्रव-सहर है और सञ्जनों का हृदय दिन के समान श्रकाश-हर है। इन सञ्जन और दुजन जनों के सध्य में श्राप्त होकर मेरा यह काव्य सार्यकाल की लालिमा के समान जन-साधारण के खतुरंजन के लिए ही होगा। १२१।

रसायनं काव्यमिदं श्रयामः स्वयं हुतं मानवतां नयामः । पीयुपमीयुर्विवृथा बुधा वा नावाष्य्रपायान्थ्यनिमेपभावात् ॥२२॥

हम इस कान्यरूप रसायन का आश्रय लेते हैं अर्थोन उसका पान करते हैं और रसायन-पान के फळ-स्वरूप स्वय ही इस जीव सानवता को प्राप्त होते हैं। जो विद्युध अर्थान देवता हैं, वे भले ही अनुत को पीवें, या जो विगत-बुद्धि होकर के भी अपने आपको बिहान मानते हैं, ने पीन्य अवांत् सरू को पीर्वे, परस्तु वे अतिनेप-भाव होने से काज्य-रसायन का पान नहीं कर सकते, खतः मानवता को भी भाव नहीं हो सकते ॥२२॥

भावार्थ—देव ष्रसृत-पाथी और निमेप-(टिमकार) रहित छोचन वाले माने जाते हैं, खतः उनको तो काव्यक्ष रसायन-पान का अव-सर हो नहीं खीर इसिंखए वे असृत-पान करते हुए भी मनुष्यता को नहीं पा सकते । तथा जो बुद्धि-विहीन हैं ऐसे जड़ छोग भी काव्य-रासायन का पान नहीं कर सकते। अनिमेप नाम मछछी का भी है और पीव्य नाम जल का भी है। मछछी अनिमेप होकर के भी जल का ही पान कर सकती है, उसके काव्य-रसायन के पान की संभावना ही कहां है ? कहने का सार यह है कि मैं काव्य रूप रसायन को पीव्य से भी अष्ट मानता हैं क्योंकि इसके पान से सायारण भी मनुष्य सकती मानवता को प्राप्त कर लेता है।

# सारं कृतीप्टं सुरसार्थरम्यं विषल्छवाभावतयाऽभिगम्यम् । सम्रुल्जसत्कल्पलतेकतन्तु त्रिविष्टपं काव्यमुपैम्यहन्तु ॥२३॥

में तो काउपरूप त्रिविष्टप (स्वर्ग) को प्राप्त होता हूँ, अर्थान् काट्य को ही स्वर्ग समझता हूँ। जैसे स्वर्ग सार रूप है और कृती जना को इंग्डर है, उसी प्रकार यह काट्य भी अलङ्कारों से युक्त है और जातियों को अर्थाष्ट्र है। स्वर्ग सुर-सार्थ अर्थान् हेवों के समुदाय से उमणीक है। स्वर्ग सब प्रकार, ज्ञान्त आदि सुरसों के अर्थ होते के कारण अभिगन्य होता है और यह काट्य भी विपद अर्थान् हैं। स्वर्ग सब प्रकार की अर्थ काट्य भी विपद अर्थान् के समुद्रां से प्रकार की स्वर्ण करने के समाय के स्वर्ण करने से अर्थ के स्वर्ण करने से अर्थ करने से अर्थ काट्य मी विपद अर्थान् के समुद्रों से पहल करने से अर्थ के स्वर्ण करने से अर्थ करने से अर्थ करने से स्वर्ण करने से अर्थ करने से स्वर्ण करने स्वर्ण करने से स्वर्ण करने स्वर्ण करने से स

( 88 )

भाषार्थं—जैसे चन्द्रमा की चिन्द्रका कलडू-रहित होती है, कुमुद्दां को विकसित करती है और संसार के अन्यकार को दूर करती है, इसी प्रकार प्रभाचन्द्राचार्य के न्यायकुमुद्दचन्द्रादि प्रन्थ-रूप सुन्दर वाणी अकलकू देव के दार्शनिक अर्थ की प्रकाशित करती है, समार में दर्प को चढ़ानी है और लोगों के अज्ञान को दूर करती है। वह वाणी सदा जयवन्त रहे। पश के प्रकास चरण में प्रमुक्त अकलकूर्य पर के द्वारा 'आवार्य अकलकूर्यय' के स्मरण के साथ ही लोगहरूप से यह अर्थ भी खनित किया या है कि कुमोदिनयों को अल्ला करने वाली और कुलटा (अभिवारिणी) स्वियों के दुराचारको रोकने वाली चन्द्र की चन्द्रिका भी सदा बनी रहे।

## नव्याकृतिमें श्रृष्णु भो सुचित्त्वं कृतः पुनः सम्भवतात्कवित्वम् । वक्तव्यतोऽलंकृति द्रवृत्ते वृत्ताधिकारेष्वपि चाप्रवृत्तेः ।।२६।।

भो बिढ़ज्जाने, तुम मेरी बात मुनो—मुमे व्याकरण का बोध नहीं है, भैं अलड़ारों को भी नहीं जानता और उन्हों के अधिकार में भी मेरी प्रवृत्ति नहीं है। फिर मेरे से कविता कैसे संभव हो सकती हैं। इस खोक का दूसरा अर्थ यह हैं कि मेरी यह नवीन इति है। मेरा क्वी अर्थान विद्वज्जानें से और वृत्त अर्थान चारित्र थारण करने वालों से भी सम्पर्क नहीं है, फिर मेरे कवित्व क (आरमा) का वित्व अर्थान सम्बद्धान और कवित्व-सामार्थ्य कैसे प्रकट हो सकता । १२६॥

सुवर्णमूर्तिः कवितेयमायां लवत्वदन्यासतयेव भाषां । वेतोऽजुगृक्षाति जनस्य चेतोऽलङ्कार-सम्भारवतीति हेतोः ॥२७॥

मेरी यह दिवता आर्थ कुळाखन्न भावों के तुल्य है। जैसे कुळीन

की कल्पनाओं की उड़ानों से उल्लासमान है। उसलिए में तो काव्य को ही साक्षान स्वर्ग से पड़कर समझता हैं॥२३॥

हारायतेऽथोत्तमवृत्तसुक्ताः समन्तभद्रायः समन्तु स्कः।। याः सत्रसाराज्ञगताथिकाराः कण्ठीकृताः सत्युरुपैरदारा ॥२२॥।

यह सूक्त अर्थान् भने प्रकार कही गई कविना हार के समान आवरण करती है। जैसे हार उत्तम गोल मोतियों वाला होता है इमी प्रकार यह किवता भी उत्तम पृत्त अर्थान् छन्दों में रवी गई है। हार सूत्र-(होरे)-से अनुगत होता है और यह किवता भी आगम हम सूत्रों के सारभूत अधिकारों वाली है। हारको उदार मत्पुरूप करूर में धारण करते हैं और इस उदार किवता को सत्पुरूप कर्यन्य हैं। ऐसी यह हार-स्वरूप किवता समस्त लोक के कल्याण के लिए होवे ॥२४॥

बिशेषार्थ—इस पदा में प्रयुक्त 'समन्तभद्र' पद से कवि ने यह भाव ठक्क किया है कि उत्तम कविता तो समन्तभद्र जैसे महान आचार्य ही कर सकते हैं। हम तो नाम मात्र के कवि हैं। इस प्रकार प्रस्थ को प्रारम्भ करते हुए कवि ने उनके पवित्र नाम का स्मरण कर अपनी लघुता को प्रकट किया है।

किलाकलङ्कार्थमभिष्टुबन्ती समन्ततः कीमुद्रमेधयन्ती । जीयात्त्रभाचन्द्रमहोदयस्य सुवज्जु बाङ् नस्तिमिरं निस्स्य ॥२४॥

जो अकलकु अर्थ का प्रतिपादन करती है और संसार में सर्थ ओर कीमुदी को बढ़ाती है, ऐसी प्रभाचन्द्राचार्थ महोदय की सुन्दर वाणी हमारे अज्ञान-अन्धकार की दूर करके विरकाल तक जीवे, अर्थात् जयवन्ती रहे ॥२४॥

( 93 )

भागों उत्ताम वर्णकर सीस्तर्य की मूर्ति होती है, उमी प्रकार यह किया। भी उत्तम वर्णों के हारा निर्मित मूर्ति वाली है। उत्त मार्थों पद-निक्षेप के हारा शामायमान होती है, उसी प्रकार यह किता। भी उत्तम-उत्तम पढ़ों के न्यास वाली है। उत्ते भागा उत्तम खल्डारों को धारण करती है, उसी प्रकार यह किता। भी ताना प्रकार के खल्डारों से युक्त है। इस प्रकार यह किता। स्रायों भागों के समान मनुष्य के वित्त को खन्दोंजन करने वाली है।।२०।।

तमोधुनाना च सुधाविधाना कवेः कृतिः कौमुदमादधाना । याऽऽह्यादनायात्र जगजनानां व्यथाकरी स्याव्जडजाय नाना ॥२८

कबि की यह कृति चन्द्र की चिद्रका के समान तम का बिनाझ करती है, सुधा (अस्त) का विधान करती है, पृथ्वी पर हमें को बढ़ाती है, जगजनों के हृद्य को आहादित करती है और चिद्रका के समान जलजों-(कनलों) को तथा काव्य के पक्ष में बढ़-जनों को नामा व्यथा की करने वाली है।।२५।

भावार्थ — यशिप चन्द्र की चन्द्रिका तमो-विनाश, कुमुद-विकास और जगजजनाहाद आदि करती है, किर भी वह कमलों को पीड़ा पहुँचाती ही हैं, क्योंकि रात्रि में चन्द्रोदय के समय कमल संकृतित हो जाते हैं। इसी प्रकार मेरी यह कविता हुपी चन्द्रिका यगि सर्व लोगों को सुख्य शान्ति-वर्धक होगी, मगर जह-जनों को तो वह पीड़ा देने वाली ही होगी, क्योंकि वे कविता के मर्म को ही नहीं समझ सकते हैं।

प्रत्यकार इस प्रकार संगळ-पाठ करने के प्रश्नात प्रहत विषय का प्रतिपादन करते हैं — सार्थेडयाब्दावृतपूर्वमः दिनादिहासीत्समयं प्रपद्य । भुवस्तले या खलु रूपरेखा जनोऽनुविन्देदमुतोऽथ लेखात् ॥२९॥

आज से अड़ाई हजार-वर्ष पूर्व इस भूतल पर काल का आश्रय पाकर जो धर्म और समाज की रूप-रेखा थी, उसे सर्व लोग इस आगे वर्णन किये जाने वाले लेख से जानने का प्रयत्न करें ॥२६॥

'यज्ञार्थमेते पश्चो हि सुष्टा' इत्येवसुक्तिर्बहुकोऽपि सुष्टा । प्राचालि लोकेरभितोऽप्यक्तिरहो रसाधिश्चवशङ्कतेस्तैः ॥३०॥

थे सभी पशु यह के लिए विधाना ने रचे हैं<sup>9</sup>, यह और इस प्रकार की बहुत सी अन्य उक्तियां रसना और शिक्ष (जनन) इन्द्रिय के बंशीभृत हुए उन उन अप्रशस्त बामगन्थी लोगों ने आहो, चारों ओर प्रचलित कर रखीं थों ॥३०॥

कि छाग एवं महिषः किमरवः कि गाँनरोऽपि स्वरसेण शरवत् । वैश्वानरस्येन्यनतामवाप दत्ता अहिंमाविधये किलाऽऽपः । ३१॥

क्या छात (वकरा) क्या महिए (भैंसा) क्या अरब अरेर क्या गाय, वहां तक कि मनुष्य तक भी बल-प्रयोग-पूर्वक निरन्तर यज्ञाप्ति के इन्यनप्रने को प्राप्त हो रहें थे और धर्म की अहिंसा-विधि के लिए लोगों ने बलाज्बलि है दी थी । 13१।

भूतैः समाच्छादि जनस्य सा दक् वेदस्य चार्थः समवादि तादक्। सर्वत्र पैवाच्यमितस्ततोऽभृदहो स्वयं रक्तमयी यतो भृः।३२॥

पूर्व छोगों ने बेंद के बाक्यों का हिंसा-परक अर्थ कर-करके इन साधारण की आलों को असद अर्थ की प्रह्मणा के द्वारा आच्छा-

1 84 1

थी, खबीत उनकी बर्कि ही जाती थी (सारी सामाजिक खोर धार्मिक स्थिति खित मयहर हो रही थी। और उनके इस दुष्कमों से यह बस धरा दुराजीय हे रही थी। खबीत जाहि जाहि कर रही थी। १३०॥

परस्परद्वे प्रमयी प्रवृत्तिरेकोऽन्यजीवाय समात्तकृतिः । न कोऽपि यस्पाय न कोऽपि चित्तं ज्ञान्तं जनः स्मान्वयतेऽपवित्तम् ।

इस समय लोगों में परस्वर विद्वे प-मधी प्रवृत्त फेल रही थी और एक जीव दूसरे जीव के मान्ते के लिए खड़ हाथ में लिए हुए था। ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं दिखाई देता था जिसका चित्त कीथ से मराहुआ नहीं। इस समय लोग शान्त पुरुष को मूखों का सक्तिया मानते लगे थे।।३६।

भृयो भुवो यत्र ह्वा विभिन्नं स्वपुत्रकाणां तदुदीस्य चिह्नम् । ह्वान्यकारातुगता दिशस्ता गन्तुं नमोऽवाञ्चछदितोऽण्यधस्तात् ॥३७

अपने पुत्रों के ऐसे खोटे चिह्न देखकर पृथिवी माता का हृदय बार-बार विदीण हो जाता थां, अर्थान बार-बार भूकरूप आने से पृथिबी कट जाती थीं। सभी दिशार्थ अन्यकार से ज्याप्त हो रही थीं और छोगों के ऐसे दुष्क्रत्य देखकर सानों आकाश नीचे रसातल को जाना चाहता था।।३७॥

मनोऽहिबद्धक्रिमकलपहेतुर्वाणी कुपाणीय च मर्म भेतुम् । कायोऽध्यकायो जगते जनस्य न कोऽपि कस्यापि बभूव वश्यः॥३८

उस समय के डोगों का सन समें के तुज्य कृटिल हो रहा था. उनकी बाणी क्याणी (हुरी) के समान दूसरों के समेही भेदने वाली दित कर दिया था आरे जियर देखो उधर ही पेशाची और राक्षमी प्रवृत्तियां हिन्द-गोचर होती थीं। अधिक क्या कहें, उनके पेशाचिक कर्मों से यह सारी प्रथिवी स्वयं रक्तमयी हो गयी थी ॥३२॥

परोऽपकारेऽन्यजनस्य मर्बः परोपकारः समभृतु खर्वः । सम्माननीयत्वमवाय वर्वः किमित्यतो वच्म्यधिकं पुनर्वः ॥३३॥

में तुम छोगों से खोर अधिक क्या कहूँ-सभी छोग एक दूसरे के अपकार करने में छग रहे थे और परोपकार का तो एक दूस अभा-बसा ही हो गया था। तथा धूर्तजन सन्माननीय हो रहे थे अथान छोगों में प्रतिष्ठा पारहे थे। ३३।।

रमश्रूं स्वकीयां वलयन् व्यभावि लोकोऽस्य द्वां यदः वृदिहाविः। मनस्यनस्येवमनन्यताया न नाम लेबोऽपि च साधुतायाः॥३८॥

होगों में उस समय जाति-कुछ आदि का मद इस तेजी से प्रकट हो रहा था कि वे अपने जातीय आईकार के वशीसून होकर अपनी मूं छों को वह देते हुए सर्वत्र दिखाई दे रहे थे। होगों के मन में एकान्त स्वार्थ-परायणता और पाप की प्रवृत्तियां ही जोर पकड़ रहीं थी, तथा उनमें साधता का लेश भी नहीं रह गया था। १४॥

समक्षतो वा जगद्भिवकायास्तत्पुत्रकाणां निगलेऽप्यपायात् । अविभयताऽसिस्थितिरङ्किताऽऽसीज्जनेन चानेन घरा दुराशीः ॥३४॥

उस समय पाप से नहीं डरने वाले लोगों के द्वारा जगदन्या के समक्ष ही उसके पुत्रों के (श्वज महिप) के गले पर लुरी चलाई जाती

( 20)

बी और काय भी पाप का आव (आगम-द्वार ) वन रहा वा। उस समय कोई भी जन किसी के वश में नहीं था, अर्थान छोगों के मन-वचन-काय की किया अति कुटिल थी और सभी स्वच्छन्द एवं निरङ्क श हो रहे थे॥ ३५॥

इति दुश्तिनधारके समये नक्षत्रीधसङ्कुलेऽधमये। अजनि जनाऽऽहादनाय तेन वीराह्वयवरसुधास्पदेन ॥३९॥

इस प्रकार पापान्यकार से ज्यात, दुष्कृत-मय, अक्षत्रिय जनों के समृह से संकुळ समय में, अथवा नक्षत्रों के समुदाय से ज्यात समय में उस वीरनामक महान् चन्द्र ने जनों के कल्याण के छिए जन्म छिया।। देह।।

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुः जः स सुपुवे भूरामलेत्याह्नयं वाणीभूषण-वर्णिनं यृतवरी देवी च यं धीचयम् । श्रीवीराभ्युदयेऽम्रना विरचिते काव्येऽधुना नामत-स्तस्मिन् प्राक्तथनाभिधोऽयमसकौ सर्गः समाप्तिं गतः ॥१॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भु जजी खौर घृतवरी देशी से उत्पन्न हुए वाणीभूषण, वाळ-त्रक्षचारी पं० भूरामळ वर्तमान सुनि ज्ञानसागर-द्वारा विरचित इस बीरोदय नामक काव्य में प्राकृकथन रूप यह प्रथम सर्ग समाप्त हुआ।। १॥



## अथ द्वितीयः सर्गः

द्वीपोध्य जस्त्रपपदः समस्ति स्थित्यासकौ मध्यगतप्रशस्तिः। लक्ष्मया त्वनन्योपमयोपविष्टः द्वीपान्तराणाम्रपरिप्रतिष्टः॥१॥

इस असंस्थात द्वीप और समुद्र वाली पृथ्वी पर सबके मध्य में 'जम्बू' इस उपपद से युक्त द्वीप है, जो अपनी स्थिति से पृथ्वी पर मध्यगत प्रशस्ति को प्राप्त होकर अवस्थित है। यह अनन्य उपमा वाली लक्ष्मी से संकुक्त है और सभी द्वीपान्तरों के उपर प्रतिष्ठित है। १।।

भावार्थः - जो मध्यस्य भाग होता है, सो सर्वोपिर प्रतिष्ठित कैंसे हो सकता है, यह विरोध है। परन्तु जन्यूद्वीप मध्य भागस्य हो करके भी शोभा में सर्व शिरोमणि है।

सम्बिद्धि सिद्धिं प्रगुणामितस्तु पाथेयमाप्तं यदि वृत्तवस्तु । इतीव यो वक्तिः सुराद्रिदम्भोदस्तस्वहस्तांगुलिरङ्गिनम्भोः ॥२॥

इस जम्बूद्धीप के मध्य में एक लाख योजन की जंबाई वाला जो सुमेर पर्वत है. उसके वहाने से मानों यह जम्बूद्धीप लोगों को सम्बोधन कर सुमेर पर्वत रूप अपने हाथ को जंबा उठा करके यह कह रहा है कि खो मनुष्यो, यदि तुमने चारित्र वस्तु रूप पान्नेय (मार्ग-भोजन) प्राप्त कर लिया है अर्थात् चारित्र को धारण कर लिया है, तो फिर सिद्धि (मोक्ष लक्ष्मी) को सरलता से प्राप्त हुई ही समझो। १ ॥

अधस्थविस्फारिफणीन्द्रदण्डरछत्रायते वृत्ततयाऽण्यखण्डः । मुद्रशैतत्युत्तमशैलदम्भं स्वयं समाप्तोति सुवर्णकुम्भम् ॥३॥ अधोलोक में अवस्थित और फैलाया है अपने कणा मण्डल को जिसने ऐसा रोपनाग रूप जिसका दण्ड है, उसका वृत्ताकार से अखण्ड जम्बूद्वीप छत्र के समान प्रतीत हो रहा है। तथा सुदर्शन नामका जो यह सुमेरु पर्वत है यह स्वयं उसके स्वणं कुम्भ की उपमा को धारण कर रहा है।। है।।

सुवृत्तभावेन च पौर्णमास्य-सुधांशुना सार्धमिहोपमाऽस्य । विराजने यत्परितोऽम्बुराशिः समुल्लसन्कुण्डिनवहिलासी ॥४॥

सुबतु लाकार रूप से पूर्णमासी के चन्द्रमा के साथ पूर्ण उपमा रखने वाले इस जम्बूडीप को सर्व छोर से घेर करके उहसित कुण्डल के समान बिलास (शोभा) को धारण करने वाला (लवण) समुद्र अवस्थित है। ४॥

भावार्थ:- यह जम्बूढीप गोलाकार है और इसको घेरे हुये लवण समुद्र है। स्नतः इसे पूर्णमाक्षी के चन्द्रमा की उपमा दी गई है।

तस्वानि जैनाऽऽगमर्वाद्वभति क्षेत्राणि सप्तायमिहाप्रवर्ती । सदक्षिणो जीव इवाऽऽप्तहर्षस्तत्राऽसकौ भारतनामवर्षः ॥५॥

यह जन्यूद्वीप जैन आगम के समान सात तस्य रूप सात ही चेत्रों को भारण करता है। उन सात तस्त्रों में जैसे सुचतुर और हर्ष को प्राप्त तीव तस्त्र प्रधान है, उसी प्रकार उन सातों क्षेत्रों में दक्षिण दिशा की ओर अति समृद्धि को प्राप्त भारतवर्ष नामका देश अव-स्थित है।। ४।।

श्रीभारतं सम्प्रवदामि शस्त-क्षेत्रं सुदेवागमच।रितस्तत् । स्वर्गीपवर्गीयमिधानशस्यमुत्पाद्यत्पुण्यविशेषमस्य ॥६ ।

में श्री भारतवर्ष को प्रशस्त क्षेत्र (खेत) कहता हूँ, क्योंकि जैसे उत्तम चेत्र जल-वर्षा से सिंचित होकर नाना प्रकार के उत्तम धान्यों को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार यह भारतवर्ष भी उत्तम तीर्थहर देवों के आगमन के समय जन्माभिषेक जल से अथवा तीर्थहर देव के आगम (सदुपदेश) रूप जल से प्लावित होकर स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) आदि नाम वाले अनेक पुण्य विशेष रूप धान्य को उत्पन्न करता है।। ६।।

हिमालयोन्लासि गुणः स एप द्वीपाधिपस्येत धनुर्विशेषः । बाराशिवंशस्थितिराविभाति भोः पाउका क्षात्रयशोऽनुपाती।।७॥

हे पाठको ! उस द्वीपाधिप अर्थात् सर्व द्वीपों के स्वामी जम्यू द्वीप का यह भारतवर्ष धनुर्विशेष के समान प्रतिभासित होता है । जैसे धनुष में डोरी होती है उसी प्रकार इस भारतवर्ष के उत्तर दिशा में पूर्व से लेकर पश्चिम तक अवस्थित हिमालय नामका पर्वत ही डोरी है । जैसे धनुष का पृष्ठ भाग बांस का बना होता है, उसी प्रकार इस भारतवर्ष के पृष्ठ भाग में समुद्र रूप बांस की स्थिति है । जिस प्रकार धनुर्धारी मनुष्य क्षात्र यश को प्रकट करता है, उसी प्रकार यह भारतवर्ष भी क्षत्रिय कुलोत्पन्न तीर्थक्करादि महापुर्ध के महान् यश को प्रकट करता हुआ शोभायमान हो रहा है ॥ ७॥

श्रीसिन्धु-गङ्गान्तरतः स्थितेन पूर्वापराम्भोनिधिषंहितेन। शैलेन भिन्नेऽत्र किलाऽऽर्यशस्तिः षड्वर्गके स्वोच्च इवायमस्ति।८।

पूर्व से लेकर पश्चिम समुद्र तक और श्री गङ्गा, सिन्धु निर्वा के अन्तराल से अवस्थित ऐसे विजयार्थ शैल से भिन्न हुआ यह भारतवर्ष पट समस्ड बाला है। उसमें यह आर्थ खरड पह वर्ग में स्वस्थानीय और उच प्रद के समान सर्व श्रेष्ठ है। (शेष पांच तो म्लेच्छ खरह होने से अप्रशस्त हैं।)।। पा।

तस्मिन् वपुष्येव शिरः समानः विदेहदेशेत्युचिताभिधानः । स्वप्रत्तमत्वं विषयो दधानः स चाधुना सत्क्रियते गिरा नः ॥९॥

जैसे शरीर में शिर सर्वोपरि अवस्थित है उसी प्रकार इस भारतवर्ष के आर्य खण्ड में 'विदेह' इस समुचित नाम वाला और उत्तमता को धारण करने वाला देश है। अब हम अपनी वाणी से उसकी मुन्दरता का वर्णन करते हैं ॥ ६॥

अनल्पपीतास्वरधामरस्याः पवित्रपद्माप्तरसोऽप्यद्स्याः। अनेककल्पद्रुमसस्विधाना ग्रामा लसन्ति त्रिदिवोपमानाः॥१०॥

उस विदेह देश में विशाल पीताम्बर खर्थात् आकाश को स्पर्श करने वाले प्रासादों से रमणीक, पवित्र कमलों और जलों से भरे हुए सरोवरों से युक्त, खदम्य (पर-पराभव-रहित) और अनेक प्रकार वाले कल्पवृद्धों से (वन-उपवनों से) व्याप्त ऐसे पुर-प्रामादिक स्वर्गलोक के समान शोभित हैं ॥ १०॥

भावार्थ:- उस देश के नगर-प्रामादिक स्वर्ग-सहस्र प्रतीत होते हैं, क्योंकि जैसे स्वर्ग में पीत-वस्त्र-धारी इन्द्र के धाम हैं। उसी प्रकार यहां पर भी अम्बर अर्थात आकाश को छूने वाले वहें बड़े मकान हैं। स्वर्ग में पद्मा (लक्ष्मी) अपसरा आदि रहती है, यहां पर कमलों से सुशोभित जल-भरे सरोवर हैं। स्वर्ग के भवन किसी से कभी पराभव को प्राप्त नहीं होते, वैसे ही यहां के प्रासाद भी दूसरों से अदम्य हैं। और जैसे स्वर्ग में अनेक जाति के कल्पवृक्ष होते हैं.

उसी प्रकार यहां पर भी छोगों को मनोवांछित फल देने वाले छनेक बुक्षों से युक्त वन-उपवनादिक हैं। इस प्रकार इस भारतवर्ष के ब्राम-नगरादिक पूर्ण रूप से स्वर्ग की उपमा को धारण करते हैं।

शिखावलीटाभ्रतयाऽप्यट्रटा बहिःस्थिता नृतनधान्यक्टाः । प्राच्याः प्रतीचीं बजतोऽब्जपस्य विशासगैला इव भान्ति तस्य ॥११॥

उन प्राम-नगरादिकों के बाहिर श्रवस्थित, श्रपनी शिखाओं से व्याप्त किया है श्राकाश को जिन्होंने ऐसे श्रद्धट (विशास्त्र एवम् विपुल परिमाण वाले) नवीन धान्य के कूट पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा को जाने वाले सूर्य के विश्राम शैल (क्रीड्।-पर्वत) के समान प्रतिमा-सित होते हैं ॥ ११ ॥

उर्वी प्रफुल्लस्थलपञ्चनेत्र-प्रान्तेऽञ्जनोधं दधती सखेऽत्र । निरन्तराचालिकुलप्रसक्ति सौभाग्यमात्भीयमभिन्यनक्ति ॥१२॥

हे सखे, इस विदेह देश में प्रफुछित स्थल पद्म (गुलाब के फुल) रूप नेत्रों के प्रान्त भाग में अखन (काजल) को धारण करने वाली पृथ्वी निरन्तर ज्याप्त भ्रमर-समृह की गुआर से मानों अपने सीभास्य को अभिन्यक्त कर रही है। १२॥

धान्यस्थली-पालक-बालिकानां गीतश्रुतेर्निश्चलतां द्धानाः । चित्तेऽध्वनीनस्य विलेप्यशङ्कामुत्पादयन्तीह कुरङ्गरङ्काः ॥१३॥

उस देश में धान्य के खेतों को खाने वाली बालाओं के गीनों को सुनने से खेत खाने के लिए आये हुए दीन कुरंग (हरिण) निअ-लता को प्राप्त होकर पश्चिक जनों के चित्त में चित्रोहिखित जैसी आन्ति को उत्पन्न करते हैं। अर्थात् वे खेत को चरना भूछकर गाना सुनने के छिए निश्चल हो चित्र-लिखित से प्रतीत होते हैं॥ १३॥

सम्पन्छवत्वेन हितं जनानामुत्पाद्यन्तो विनयं द्धानाः । स्वजनम् वृक्षाः सफलं बुवाणा लसन्ति यस्मिन् सुपर्यकेशाणाः ।१४।

उस देश के बृक्ष विनय अर्थात पक्षियों के निवास को, तथा नम्रता को धारण करने वाले हैं और उत्तम हरे-भरे पत्तों से युक्त किया सम्पदा बाले होने से आने वाले छोगों का हित सम्पादन करते हैं। अत्रथ्य सन्मार्ग को प्रकट करने वाले होकर अपने जन्म की सफलता सिद्ध करते हुए शोभायमान हो रहे हैं॥ १४॥

निशास चन्द्रोपलभित्ति-निर्यज्जलप्लया श्रीसरितां ततिर्यत् । निदाघकालेऽप्यतिकुलमेव प्रसन्नरूपा वहतीह देव ॥१५॥

हे देव, वहां पर रात्रि में चन्द्रकान्त मणियों की भित्तियों से निकलते वाले जलसे परिपूर्ण उत्तम सरिताओं की श्रेणी श्रीष्म ऋतु में भी अतिकृल अर्थात दोनों तटों से बाहिर पूर वाली होकर के भी असल रूप को धारण करती हुई बहुती है। १४।

भावार्थ—जब नदी वर्षा ऋतु में किनारे को उल्लंबन करके बहती है तो उसका जल गंदला होता है। किन्तु इस विदेह देश में बहने वाली निद्यां ऋतिकूल होकर के भी प्रसन्न (स्वच्छ जल वाली बीं और सदा ही जल से भरी हुई प्रवाहित होती रहती थीं।

यदीयसम्पत्तिमनन्पञ्चतां भृवीक्षितुं विश्वहितैकप्ताम् । उत्फुल्लनीलास्युरुहानुमाना विभाति विस्कालितलोचना वा ॥१६॥ विश्व का हित करने वाली, और ऋद्वितीय जिस देश की सम्पत्ति को देखने के लिये पृथ्वी खिले हुए नील कमलों के बहाने से मानों अपनी आंखों को खोलकर शोभायमान हो रही है। १६॥

# यतोऽतिवृद्धं जङ्घीरवरं सा सरित्ततिर्याति तदेकवंशा । संपन्छवोद्यत्तरुणावरुद्धा न निम्नगात्वप्रतिवोधनुद्धा ॥१७॥

उस देश की निदयों की पंक्ति सम्पत्ति के मद से उद्धत तरण जनों के द्वारा, दूसरे पक्ष में उत्तम पहुव वाले दृक्षों से अवरोध किये जाने पर तथा उसी के वंश वाली होते हुए भी श्रात दृद्ध जलिय हुए पति के पास जाती हैं और इस प्रकार हा-दुःख है कि वे अपने निस्त-गापने का प्रतिपेध नहीं कर रही हैं, अर्थात निम्नगा (नीचे की ओर बहना या नीच के पास जाना) इस नाम को सार्थक कर रही हैं, यह महान दुःख की बात है।। १७॥

भावार्थ—यदि कोई नवयौवना स्त्री अच्छे अच्छे नवयुवक जनों के द्वारा संवरण के लिए रोके जाने पर भी किसी मूर्ख और अपने ही वंश वाले वृद्ध पुरुष को स्वीकार करें, तो उसका यह कार्य छोक में अनुचित ही गिना जायगा और सब लोग उसकी निन्दा करेंगे। इसी भाव को लक्ष्य में रख कर किये ने निद्यों के निन्नगणने को को व्यक्त किया है कि नदी सदा नीचे की ओर बहती हुई और मार्ग में अनेक तरुण-स्थानीय तरुओं (बृक्ष्मं) से रोकी जाने पर भी बृद्ध एवं जड़ समुद्र से जा मिलती है, तो उसके इस निम्नगणने पर धिकार है।

वणिक्पथस्त्पितरत्नज्ञा हरि-प्रियाया इव केलिक्टाः । बहिष्कृतां सन्ति तमां हमन्तस्तत्राऽऽपदं चाऽऽपद्गुल्लसन्तः ॥१८॥ उस विदेह देश के नगरों के विणक पथों (बाजारों) में दुकानों के बाहिर पद-पद पर लगाये गये स्तृपाकार रत्नों के जूट (ढेर) मानों बहिष्कृत आपदाओं का उपहास-सा करते हुए हरि-प्रिया (लक्ष्मी) के केलिकृट अथोत् कीड़ा पर्वतों के समान प्रतीत होते हैं॥ १८॥

पदे पदे ऽनल्पजलास्तटाका अनोकहा वा फल-पुष्पपाकाः । व्यर्थानि तावद् धनिनामिदानीं सत्रप्रपास्थापनवां छितानि ॥१९

जिस देश में पद-पद पर गहरे जलों से भरे हुए विशाल सरो-बर और पुष्प-फलों के परिपाक वाले वृक्ष आज भी धनी जनों के सत्र (अन्न क्षेत्र) और प्रपा (प्याऊ) स्थापन के मनोरथों को व्यर्थ कर रहे हैं।। १६॥

विस्तारिणी कीर्त्तिरिवाथ यस्यामृतस्रवेन्दो रुचिवत्प्रशस्या।
सुदर्शना पुण्यपरम्परा वा विश्राजते धेनुततिः स्वभावात् ॥२०॥

उस देश की गाएं चन्द्रमा की चांदनी के समान असत (दूध) को वर्षीने वाळी, कीर्ति के समान उत्तरोत्तर बढ़ने वाळी और पुरय-परम्परा के समान स्वभाव से ही दर्शनीय शोभित हो रही हैं॥२०॥

अस्मिन् भुवो भाल इयद्विशाले समाद्धच्छीतिलकत्वमाले। समङ्कितं वक्ति मदीयभाषा समेहि तं कुण्डपुरं समासात्।।२१।।

है मित्र! पृथ्वी के भाल के समान इतने विशाल उस देश में श्री निलकपने को धारण करने वाले और जिसे लोग कुरव्हन-पुर कहते हैं, ऐसे उस नगर का अब मेरी वाणी वर्णन करती है सो सुनो ॥ २१॥ नाकं पुरं सम्प्रवदास्यहं तत्सुरक्षणा यत्र जना वसन्तः । सुरीतिसम्बुद्धिमितास्तु रामा राजा सुनाशीर-पुनीत-धामा ॥२२॥

वह कुग्डनपुर नगर स्वर्ग है, क्योंकि वहां रहने वालों को कोई कष्ट नहीं है। वहां के सभी लोग सुलक्षण देवों के सहश हैं। स्त्रियां भी देवियों के समान सुन्दर चेष्टा वाली हैं और राजा तो सुनाशीर-पुनीत-धाम है, अर्थात उत्तम पुरुष होकर सूर्य जैसा प्रतित्र तेज वाला है, जैसे कि स्वर्ग में इन्द्र होता है। २२॥

अहीन-सन्तान-समर्थितत्वात्षुत्रागकन्याभिर्थात्रितस्वात् । विभात्यनन्तालयसंकुलं यन्निरन्तरं नागकुलैकरस्यम् ॥२३॥

वह कुण्डनपुर नगर निरन्तर नाग (सर्प) देवताओं के कुळों से अद्वितीय रमणीयता को प्राप्त होकर नागपुरी सा प्रतीत होता है। जैसे नागपुरी अदि अर्थात सर्पों की सन्तान से समर्थित है, उसी प्रकार यह कुण्डनपुर भी अद्दीन अर्थात् हीन-कुळ से रहित उच कुळो-रपन्न सन्तान से संयुक्त है। तथा जैसे नागपुरी पुन्नाग-उत्तम वर्ण वाले नागों की कन्याओं से अख्वित (संयुक्त) है, उसी प्रकार यह कुण्डनपुर नगर भी उत्तम वंश में उत्पन्न हुई कन्याओं से संयुक्त है। और जैसे नागपुरी अनन्त अर्थात् रेपनाग के आल्य (भवन) से युक्त है, उसी प्रकार यह नगर भी अनन्त (अगणित) उत्तम विशाल आल्यों से संकुळ है। ५३॥

समस्ति भोगीन्द्रनिवास एष वप्रच्छलाचत्परिनोऽपि शेषः। समास्थितोऽतो परिखामिषेण निर्माक एवानु बृहद्विषेण॥२४॥

यह कुरहनपुर भोगीन्द्र अर्थात् अति भोग-सम्पन्न जनों के, तथा दूसरे पक्ष में शेषनाग के निवास जैसा शोभित होता है, क्योंकि कोट के छल से चारों और स्वयं शेषनाग समुपस्थित हैं, तथा परिस्ना (खाई) के बहाने कोट के चारों श्रोर बढ़े हुए जल रूपी शेवनाग के द्वारा छोड़ी गई कांचली ही श्रवस्थित है।। २४॥

लक्ष्मीं मदीयामनुभावयन्तः जना इह। ऽऽसत्य पुनर्वसन्तः। इतीव रोषादुपरुद्धः वारि-राशिः स्थितोऽसौ परिखोपचारी ॥२५॥

मेरी लक्ष्मी को लाकर उसे भोगते हुए लोग सर्व बोर से ब्रा-ब्राकर यहां निवास कर रहे हैं, यह देखकर ही मानों रोष से परिखा के बहाने वह समुद्र उस पुर को चारों ब्रोर से घेर कर ब्रव-स्थित है।। २४॥

विणक्पथः काव्यतुलामपीति श्रीमानतङ्कीर्णपदप्रणीतिः। उपैत्यनेकार्थगुणैः सुरीतिं समादधित्रिष्कपटप्रतीतिम् ॥२६॥

उस नगर का बाजार एक उत्तम काव्य की तुलना को धारण कर रहा है। जंसे काव्य श्री अर्थात् श्रृङ्गारादि रसों की शोभा से युक्त होता है, उसी प्रकार वहां के बाजार श्रीमान् (उक्ष्मी-सम्पत्ति वाले) हैं। जैसे काव्य में असंकीणं (स्पष्ट) पद-विन्यास होता है, वंसे ही वहां के बाजार संकीणंता-रहित खूब चौड़ी सड़कों वाले हैं। जैसे काव्य-गत शब्द अनेक अर्थ बाले होते हैं, वैसे ही वहां के बाजार अनेक प्रकार के पदार्थों से भरे हुए हैं। और जैसे काव्य के शब्द अपना अर्थ छल-रहित निष्कपट रूप से प्रकट करते हैं, वंसे ही वहां के बाजार में भी निष्क अर्थात् बहुमूल्य पट (बस्त) मिलते हैं। इस प्रकार वहां के बाजार काव्य जैसे ही प्रतीत होते हैं॥ २६॥

रात्रौ यदभ्रं लिहशालशृङ्ग-समङ्कितः सन् भगणोऽध्यभङ्गः। स्फुरत्प्रदीपोत्सवतानुपाति सम्बादमानन्द्करं द्धाति ॥२७॥ रात्रि में जिस नगर के गगनचुम्बी शाल (कोट) के शिखरों पर आश्रित और अपना गमन भूलकर चित्राङ्कित के समान अभङ्ग (निश्चल) रूप से अवस्थित होता हुआ नक्षत्र मण्डल प्रकाशमान प्रदीपोत्सव (दीषावली) के अम से लोगों में आनन्द उत्पन्न कर रहा है।। २०॥

अधः कृतः सम्निष नागलोकः कुतोऽस्त्वहीनाङ्गभृतामधौकः। इतीव तं जेतुमहो प्रयाति तत्त्वातिकास्भरछविदस्भजाति॥२८॥

अधःकृत अर्थात् तिरस्कृत होने के कारण नीचे पाताल लोक में अवस्थित होता हुआ भी यह नागलोक अहीन (उच कुलोत्पन्न) देहधारियों का निवास स्थान कैसे बन रहा है, मानों इसी कारण उसे जीतने के लिए वह नगर खाई के जल में प्रतिविभिवत हुई अपनी परलाई के बहाने से नीचे नागलोक को जा रहा है।। रम।।

समुल्लसन्नीलमणिष्रभाभिः समङ्किते यहरणेऽथवा भीः। राहोरनेनेव रविस्तु साचि अयत्युदीचीमथवाऽष्यवाचीम् ॥२९॥

अत्यन्त चमकते हुए नीलमणि की प्रभाओं से व्याप्त जिस नगर के कोट पर राहु के विश्वम से हरा हुआ सूर्य उसके ऊपर न जाकर कभी उत्तर एवम् कभी दक्षिण दिशा का आश्रय कर तिरछा गमन करता है।। २६॥

यत्वातिकावारिणि वारणानां लसन्ति शङ्कामनुसन्द्धानाः । शनैश्वरन्तः प्रतिमावताराश्चिनादिनो वारिम्रचोऽप्युदाराः ॥३०॥

उदार, गर्जनायुक्त एवं थीरे-थीरे जाते हुए सेघ जिस नगर की खाई के जल में प्रतिबिन्धित श्रपने रूप से हाथियों की शंका की उत्पन्न करते हुए शोभित होते हैं।। ३०॥ तत्रत्यनारीजनपूतपादम्तुला रतेम् भि लसत्त्रसादैः। जुठन्ति तापादित्र बारि यस्याः पद्मानि यसमात्कठिना समस्या ॥३१

रित के सिर पर रहने का जिन्होंने प्रसाद (सौभाग्य) प्राप्त किया है ऐसे, वहां की नारी जनों के पित्रत्र चरणों के साथ तुलना (उपमा) की समता प्राप्त करना किठन समस्या है, यही सोचकर मानों कमल सन्ताप से सन्तप्त होकर वहां की खाई के जल में लोट पोट रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है।। ३१॥

भावार्थ:- वहां की स्त्रियां रित से भी अधिक सौन्दर्य को धारण करती है, अत्रात्व उनके सौन्दर्य को प्रकट करके के लिए किसी भी उपमा का देना एक कठिन समस्या है।

एतस्य वै सोधपदानि पश्य सुरालय त्वं कथमूर्ध्वमस्य । इतीव वप्रः प्रहसत्यजस्रं श्रृङ्गाग्ररत्नप्रभवद्रुचिस्रक् ॥३२॥

हे सुरालय ! तुम इस कुराइनपुर के सौधपदों (भवनों) को निश्चय से देखो, किर तुम क्यों इनके ऊपर अवस्थित हो ? मानों यही कहता हुआ और अपने शिखरों के अप्र भाग पर छने हुए रत्नों से उत्पन्न हो रही कांति रूप माला को धारण करने वाला उस नगर का कोट निरन्तर देव-भवनों की हंसी कर रहा है ॥ ३२ ॥

भावार्थ:- सुरालय नाम सुर + ब्रालय ऐसी सन्धि के अनुसार देव-भवनों का है ब्रीर सुरा + ब्रालय ऐसी सन्धि के अनुसार मिदरालय (अराव घर) का भी है। सौध-पद यह नाम सुधा (अनुत) के स्थान का भी है ब्रीर चूते से बने भवनों का भी है। यहां भाव यह है कि कुण्डनपुर के सुधा-निर्मित भवन सुरालय को लक्ष्य करके कह रहे हैं कि तुम लोग मिदरा के ब्रावास हो करके

भी हमारे अर्थात् सुधा-भवनों के ऊपर रहते हो, मानों इसी बहाने से शिखर पर के रहां की कान्ति हप माला बारण करने वाला कोट उनकी हंसी उडा रहा है।

सन्ध्यप्रभूमोत्थितवारिदानां श्रृङ्गाग्रहेमाण्डकसम्बिधाना । आतोधनादैः कृतगर्जितानां शम्पेव सम्माति जिनालयानाम् ॥३३॥

भेरी आदि बादिशों के शब्दों से किया है गर्जन को जिन्होंने, और उत्तम धूप के जलने से उठे हुए धूम-पटल रूप बादलों के मध्य में जिनालयों के शिखरों के अप्रभाग पर लगे हुए सुवण कलशों की कोतिरूप माला मानों शम्पा (बिजली) की आन्ति को ही उत्पन्न कर रही है। ३३।

गत्वा प्रतीलीशिखराग्रलग्नेन्दुकान्तनिर्यज्जलमापिपासुः । भीतोऽथ तत्रोक्षिखितान्सगेन्द्रादिन्दोर्म् गः प्रत्यपयान्यथाऽऽशु।।३४

उन जिनालयों की प्रतोली (द्वार के ऊपरी भाग) के शिखर के अप्रभाग पर लगे चन्द्रकांत मणियों से निकलते हुए जल को पीने का इन्छुक चन्द्रमा का मृग वहां जाकर और वहां पर उहिस्तित (उस्कीर्ण, चित्रित) अपने शत्रु मृगराज (सिंह) को देखकर भयभीत हो तुरन्त ही वापिस लौट आता है। ३४॥

बात्युचलत्केतुकरा जिनाङ्का ध्वजा कणत्किङ्किणिकापदेशात् । आयात भो भव्यजना इहाऽऽधु स्वयं यदीच्छा सुकृतार्जने सा ॥३५

बायु के संचार से फड़फड़ा रहे हैं केतु रूप कर (हस्ता जिनके ऐसी जिन-सुद्रा से अड्रित ध्वजाएं बजती हुई छोटी-छोटी घरिटयाँ के शब्दों के बहाने से मानों ऐसा कहती हुई प्रतीत होती हैं कि भो भव्यजनो ! यदि तुम्हारी इच्छा सुकृत ।पुर्य) के उपार्जन की है, तो तुम लोग शीव ही स्वयं यहां पर खाखो ॥ ३४ ॥

जिनालयस्काटिकसौधदेशे तारावतारच्छलतोऽप्यशेषे । सुपर्वभिः पुष्पगणस्य तत्रोचितोपहारा इव भान्ति रात्रौ ॥३६॥

उस कुण्डनपुर नगर के जिनालयों के स्कटिक मणियों से निर्मित अत्वत्व स्वच्छ श्वेत वर्ण वाले समस्त सीध-प्रदेश पर अर्थात् छतों पर गत्रि के समय नाराआं के अवतार (प्रतिविस्व) मानों देवनाओं के द्वारा किये गये पुष्प-समृद् के समुचित उपहार (भेंट) से प्रतीत होते हैं ॥ ३६॥

भावार्थ:- स्फटिक-मणि-निर्मित जिनालयों की छत के ऊपर नक्षत्रों का जो प्रतिबिम्च पड़ता है वह ऐसा प्रनीत होता है मानों देवताओं ने पृष्पों की वर्षोही की हैं।

नदीनभावेन जना लसन्ति वारोचितत्वं वनिताः अयन्ति । समुचरङ्गत्वमुपैति कालः स्कुटं द्वयेषां गुणतो विवालः ॥३७॥

उस नगर के मनुष्य दीनता-रहित, समुद्र-समान गम्भीर भाव के धारक हैं और ख़ियां भी परम सीन्द्यें की धारक एवं जल के समान निर्मल चरित्र बाली हैं। अत्रत्य वहां के लोगों का दाम्पत्य जीवन बड़े ही आनन्द से बीतता है अर्थान् सुख में बीतता हुआ काल उन्हें प्रतीत नहीं होता ॥ ३०॥

नासी नरो यो न विभाति भोगी भोगोऽपि नासी न वृषप्रयोगी । वृषो न सोऽसरुवसमर्थितः स्वात्सरुवं च तन्नात्र कदापि न स्वात्।३८ उस कुरहनपुर नगर में ऐसा कोई मनुष्य नहीं या, जो भोगी नहीं, और वहां ऐसा कोई भोग नहीं था जो कि धर्म-संप्रयोगी अर्थात् धर्मानुकूळ न हो। वहां ऐसा कोई धर्म नहीं था जो कि असख्य (श्रृता) समर्थित अर्थात् शृतुता पदा करने वाळा हो और ऐसी कोई मित्रता न थी, जो कि कादाचित्क हो अर्थात् स्थायी नहीं।। ३८॥

## निराष्ट्रियकाच्येष्वपवादवत्ताऽथ हेतुवादे परमोहसत्ता । अपाङ्गनामश्रवणं कटाक्षे छिद्राधिकारित्वमभृद् गवाक्षे ॥३९॥

वहां निरोध्क्य अर्थात्, जोष्ठ से न बोले जाने वाले काव्यों में ही अपवादपना था थानी पकार नहीं वोला जाता था, किन्तु अत्यव अपवाद नहीं था अर्थात् कहां कोई किसी की निन्दा नहीं करता था। हेतुवाद (तर्क शास्त्र) में ही परम ऊहपना (तर्क-वितर्क पना) था, अन्यत्र परम (महा) मोह का अभाव था। वहां अपाङ्ग यह नाम स्त्रियों के नेत्रों के कटाक्ष में ही सुना जाता था, अत्यत्र कहीं कोई अपाङ्ग (हीनाङ्ग) नहीं था। वहां छिद्र का अधिकारीपना भवनों के गवाक्षों (खिड़कियों) में ही था, अन्य कोई पुरुष वहां पर-छिद्रान्वेपी नहीं था॥ ३६॥

## विरोधिता पञ्जर एव भाति सरोगतामेति मरालतातिः । दुरिद्रता स्त्रीजनमध्यदेशे मालिन्यमेतस्य हि केशवेशे ॥४०॥

विरोधपना वहां पिंजरों में ही था, अर्थात् वि (पक्षी) गण पिंजरों में ही अवस्ट रहते थे, अन्यत्र कहीं भी छोगों में विरोधभाव नहीं था। सरोगता वहां मराछ हंस) पंक्तिमें ही थी, अर्थात् हंस ही सरोवर में रहते थे और किसी में रोगीपना नहीं था। दरिद्रता वहीं की स्त्रीजनों के मध्यप्रदेश (कटिभाग) में ही थी, अर्थात उनकी कमर बहुत पतली थी, अन्यत्र कोई दिरह (धन-हीन) नहीं था। मिलनता बहुं केश-पाश में ही दृष्टिगोचर होती थी, अन्यत्र कहीं पर भी मिलनता अर्थात् पाप-प्रवृत्ति नहीं थी॥ ४०॥

## स्तेहस्थितिर्दीपकवजनेषु न दीनता वारिधिवच तेषु। यद्धस्थले चापगुणप्रणीतिर्थेषां मताऽन्यत्र न जात्वपीति ॥४१॥

वहां दीपक के समान मनुष्यों में स्तेह की स्थिति थी। जैसे स्तेह (तेंछ) दीपकों में भरा रहता है, उसी प्रकार वहां के मनुष्य भी स्तेह (प्रेम) से भरे हुए थे। वहां मनुष्यों में समुद्र के समान नदीनता थी, अर्थान् जैसे समुद्र नदीन (नदी + इन) निदयों का स्वामी होता है, वैसे ही वहां के मनुष्य न दीन थे, अर्थान् दीन या गरीव नहीं थे। वहां के छोगों का चाप (धनुष) और गुण (होरी) से प्रेम युद्धस्थल में ही माना जाता था, अन्य कहीं किसी में अपगुण (हुगुण) का सद्भाव नहीं था, अर्थान् सभी छोग सद्भगुणी थे॥ ११॥

सौन्दर्यमेतस्य निशासु दृष्टुं समयं स्वरुत्पन्नरुचोऽपकुष्टुम् । विकासिनसन्नगणापदेशादु दृग् देवतानामपि निर्निमेषा ॥४२॥

रात्रि में इस नगर के सौन्द्र्य को देखते के लिए और इसके अद्भुत सौन्द्र्य को देखकर स्वर्ग में उत्पन्न हुई लक्ष्मी के अहंकार को दूर करने के हेतु ही मानों प्रकाशमान नक्षत्र-समृह के बहाने से देवताओं की आंखें निमेष-रहित रहती हैं। ४२॥

भावार्थ:- वहां के नगर की शोभा स्वर्ग से भी अधिक थी, यह देखकर ही मानों देव-गण निर्निभेष (टिमकार-रहित) नेत्र वाले हो गये हैं। प्रासादशृङ्काग्रनिवासिनीनां मुखेन्दुमालोक्य विधुर्जनीनाम् । नक्रीभवन्नेष ततः प्रयाति ह्रियेव सन्लब्धकलङ्कजातिः ॥४३॥

अपने अपने महलों के शिखर के अग्र भाग पर बेठी हुई वहां की ख़ियों के मुख-चन्द्र को देखकर कलङ्क को प्राप्त हुआ वह चन्द्रमा मानों लजा से नम्र होता हुआ अर्थान् अपनासा मुंह लेकर वहां से जाता है।। ४३॥

परार्थनिष्ठामपि भावयन्ती स्सस्थिति कामपि नाटयन्ती । कोषेकवाञ्छामनुसन्दधाना वेश्यापि भाषेव कवीश्वराणाम् ॥४४॥

वहां की वेश्या भी कवीश्वरों की वाणी के समान मालूम पड़ती है। जैसे कवियों की वाणी परार्थ (परोपकार) करने में निष्ठ होती है, उसी प्रकार वेश्या भी पराये धन के अपहरण में निष्ठण होती है। जैसे किव की वाणी शृङ्कार हास्य आदि रसों की वर्णन करने वाळी होती है, उसी प्रकार वहां की वेश्या भी काम-रस का अभिनय करने वाळी है। जैसे कवियों की वाणी कोप (शब्द-शास्त्र) की एक मात्र वांछा रखती है। उसी प्रकार वेश्या भी धन-संग्रह रूप खजाने की वांछा रखती है। अरा ।

सौधाग्रलग्रबहुनीलमणिप्रभाभिदोषायितत्वमिह सन्ततमेव ताभिः। कान्तप्रसङ्गरहिता खलु चक्रवाकी वापीतटेऽप्यहनि ताम्यति सा वराकी

वहां के भवनों में लगे हुए अनेक नीलमणियों की प्रभा-समूह से निरन्तर ही यहां पर रात्रि है, इस कल्पना से वापिका के तट पर बेठी हुई वह दीन चकवी दिन में भी पति के संयोग से रहित होकर सन्ताप को प्राप्त होती है।। ४४।। भावार्थ:- चकवा-चकवी रात्रि को बिछुड़ जाते हैं, ऐसी प्रसिद्धि है। सो कुण्डनपुर के भवनों में जो असंख्य नीलमणि लगे हुए हैं उनकी नीली प्रभा के कारण बेचारी चकवी को दिन में भी रात्रि का भ्रम हो जाता है और इसलिए वह अपने चकवे से बिछुड़ कर दुखी हो जाती है।

उत्कुल्लोत्पलचन्नुषां सुद्दुरथाङ्गण्टा ऽऽननश्रीर्वला— त्काराबद्ध तनुस्ततो ऽयमिह्य यद्विम्बावतारच्छलात् । नानानिर्मेलरत्नराजिजटिलप्रासादभित्ताविति

तच्चन्द्रारमपतत्पयोभरमिषाच्चन्द्रग्रहो रोदिति ॥४६॥

विकसित नील कमल के समान है नयन जिनके ऐसी वहां की खियों के मुख की शोभा को वार वार चुराने वाला ऐसा यह चन्द्र- प्रह वहां के अनेक निर्मल रह्मों की पंक्ति से जड़े हुए प्रासादों की भिक्ति में अपने प्रतिविन्त्र के पड़ने के बहाने से ही मानों कारागार (जेलखाना) में बद्ध हुआ और उन भवनों में लगे हुए चन्द्रकांत मणियों से गिरते हुए जल-पूरके मिषसे रोता रहता है। ४६॥

एतस्याखिळपत्तनेषु सततं साम्राज्यसम्पत्पतेः रात्रौ गोपुरमध्यवर्तिसुलसच्चन्द्रः किरीटायते । नो चेत्सन्मणिवद्वभृभिविसरे तारावतारच्छला – दभ्रादापतिता कृतः सुमनसां बृष्टिः सतीहोज्ज्नला ॥४७॥

समस्त नगरों में निरन्तर चकवर्ती की साम्राज्य-सम्पदा के स्वामी रूप इस कुण्डनपुर के गोपु के अपर प्रकाशमान चन्द्रमा रात्रि में मुकुट की शोभा को धारण करता है। यदि ऐसा न माना जाय

तो उत्तम मिएयों से निवद्ध भवनों के आङ्गण में ताराओं के अवतार के बहाने आकाश से गिरती हुई फूळों की उब्ब्बळ वर्ण कुँसे सम्भव हो।। ४७॥

काठिन्यं कुचनण्डलेऽथ सुमुखे दोषाकरत्वं परं वक्रत्वं मृदुकुन्तलेषु कुशता बालावलग्नेष्वरम् । उवोरिव विलोमताऽष्यथरता दन्तच्छदे केवलं शंखत्वं निगले दशोशचपलता नान्यत्र तेषां दलम् ॥९८॥

वामानां सुविलित्रये विषमता शैथिल्यमङ्घायुताप्योद्धत्यं सुदृशां नितम्बवलये नाभ्यण्डके नीचता ।
शब्देष्वेय निपातनाम यमिनामक्षेषु वा निग्रहश्विन्ता योगिकुलेषु पौण्डनिचये सम्पीडनं चाह ह ॥४९॥

उस नगर में कठिनता (कठोरता) केवल खियों के स्तन-मंडल में ही पाई जाती है, अन्यत्र कहीं भी कठोरता नहीं है। दोपाकरता सुमुखी खियों के मुख पर ही है, अर्थात उनके मुख चन्द्र जिसे हैं, अन्यत्र कहीं भी दोपों का भरहार नहीं है। वकपना खियों के सुन्दर बालों में ही है, क्योंकि ये स्थामवर्ण एवं घुंघराले हैं, अन्यत्र कहीं भी कुटिलता नहीं है। कुशता (क्षीणता) केवल खियों के कटि-प्रदेश में ही है, अन्यत्र कहीं भी किसी प्रकार की श्लीणता टिएगोचर नहीं होती। विलोमता (रोम-रहितपना) खियों की जंबाओं में ही है, अन्यत्र कहीं भी प्रतिकृत्वता नहीं है। अथरता केवल खोठों में ही है, आन्यत्र कहीं भी मुख्यान नहीं है। चपलता खांखों में ही है, अन्यत्र कहीं भी वपलता नहीं है। विषमता खियों की जिवली में ही है, अन्यत्र कहीं विषमता नहीं है। शिथिलता वहां की खियों के चरणों में ही है, अन्यत्र शिथिलता नहीं है। उद्धतपना केवल वहां की सुनयनाओं के नितम्ब-मंडल में ही है, अन्यत्र कहीं पर उद्धतपना नहीं है। नीचता (गृहराई) नाभि-मंडल में ही है, अन्यत्र की चपना नहीं है। निपातपना शब्दों में ही है। अन्यत्र कहीं भी कोई किसी का निपात (घात) नहीं करता है। निप्रहपना संयमी जनों की इन्द्रियों में है, अन्यत्र कहीं भी कोई किसी का निप्रह नहीं करता है। चिन्ता अर्थोत् वस्तु-स्वरूप का चिन्तवन वहां योगिजनों के समुदाय में है, अन्यत्र कहीं भी किसी के कोई चिन्ता नहीं है। सम्पीडन या सम्पीलन वहां केवल पौंडों के समृह में ही है। अर्थात् सांटे ही वहां कोल्ह में पेले जाते हैं, अन्यत्र कहीं भी कोई किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाता है। ४६-४६॥

अश्रं लिहाग्रशिखराविलसङ्कुलं च मध्याह्मकाल इह यहरणं समञ्जन् । प्रोत्तप्तकाञ्चनरुचिर्ध्व वने ऽयमस्मिन् कल्याणकुम्भ इव भाति सहस्ररिमः ॥५०॥

इस कुण्डनपुर नगर में गगनचुम्बी शिखरावळी से व्याप्त कोट को मध्याह्न काळ के समय प्राप्त हुआ, तपाये गये सुवर्ण की कांति-वाळा यह सहस्ररिम (सूर्य) सुवर्ण-कुम्भ के समान प्रतीत होता है।। ४०।।

भावार्थ: - मध्यान्ह काल में कोट के ऊपर आया हुआ सूर्य उसके सुवर्ण कलश-सा दिखाई देता है।

श्रीमान श्रेष्ठिचतुर्भु जः स सुषुवे भ्रामलेत्याह्ययं वाणीभृषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् । श्रीवीराभ्युद्येऽम्रुना विरचिते काव्येऽयुना नामतः द्वीपप्रान्तपुराभिवर्णनकरः सर्गो द्वितीयोऽप्यतः ॥२॥

इस प्रकार श्रीमान सेठ चतुर्भु जजी श्रीर घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणीभूषण बाळ-बडावारी पं० भूरामळ वर्तमान सुनि जानसागर द्वारा विरचित इस बीरोदय काठ्य में जम्बूद्वीप, उसके तेत्र, देश श्रीर नगरादि का वर्णन करने बाळा यह दूसरा सर्ग समाप्त हुआ।। २।।

indian

## अथ तृतीयः सर्गः

निःशेषनमावनिपालमीलि-मालारजः पिञ्जरितांत्रिपौलिः । सिद्धार्थनामाऽस्य बधुव शास्ता कीर्तीः श्रियो यस्य वदामि तास्ताः॥१

समस्त नम्रीभूत भूपाळों के मौलियों (मुकुटों) की मालाओं के पुण्य-पराग से पिश्वरित (विविध-वर्णयुक्त) हो रहा है पाद-पीठ जिसका, ऐसा सिद्धार्थ नाम का राजा इस कुरहतपुर का शासक हुआ। जिसकी विविध प्रकार की कीर्तियां और विभूतियां थीं। मैं उनका वर्णन करता हूँ॥ १॥

साँवर्ण्यमुद्धीक्ष्य च वेर्यमस्य द्रं गतो मेरुरहो नृपस्य । मुक्तामयत्वाच्च गमीरभावादेतस्य बाधिरुर्लपितः सदा वा ॥२॥

इस सिद्धार्थ राजा के सौयर्थ्य (सुन्दर हप श्रीर सुवर्ण-मंडार) को, तथा पैर्य को देखकर ही मानों सुमेरु पर्वत, दूर चला गया है। इसी प्रकार इस राजा के मुक्तामयत्व और गम्भीर-भाव से समुद्र महा के लिए मानों पानी-पानी हो गया है।। २।।

भावार्थ - सुमेरु को खपने सुवर्णमय होने का, तथा ध्यं का बड़ा अहंकार था। किन्तु जब उसने सिद्धार्थ राजा के अपार सीवर्य एवं ध्यं को देखा, तो मानों स्वयं छिंजत होकर के ही वह इस भरत क्व से बहुत दूर चला गया है। समुद्र को अपने सुकामय (मोती-युक्त) होने का खोर गम्भीरता का बड़ा गर्व था। किन्तु जब उसने सिद्धार्थ राजा को सुक्त-आमय अर्थात रोग-रहित एवं अगाध गम्भीयं वाला देखा, तो मानों वह अपमान से चूर होकर पानी-पानी हो गया। यह बड़े आश्चर्य की बात है।

रवेर्दशाऽऽशापरिपूरकस्य करैः सहस्रौमेहिमा किमस्य । समक्षमेकेन करेण चाशासहस्रमापूरयतः समासात् ॥३॥

अपने सहस्र करों (किरणों) से दश दिशाओं को परिपूर्ण करने बाले सूर्य की महिमा इस सिद्धार्थ राजा के समक्ष क्या है १ जो कि एक ही कर (हाथ) से सहस्रों जनों की सहस्रों आशाओं को एक साथ परिपूर्ण कर देता है ॥ ३॥

भूमावहो बीतकलङ्कलेशः भव्याध्जवृत्दस्य पुनर्षुदे सः । राजा द्वितीयोऽथ लसन्कलाव्य इतीव चन्द्रोऽपि वभौभयाव्यः ॥४॥

अही ! इस भूतल पर कल हु के लेश से भी रहित, भव्य जीव हुए कमल-कृत्य को प्रमुदित करने वाला और समस्त कलाओं से संयुक्त यह सिद्धार्थ राजा तो अद्वितीय चन्द्र है, यह देखकर ही मानों चन्द्रमा भी भयाह्य अर्थान भय से युक्त अथवा प्रभा से संयुक्त हो गया है ॥ ४ ॥ योगः सदा वेदनया विधेः स श्ली किलाभृदपराजितेशः।
गदाश्चितो माधव इत्थमस्य निरामयस्य क सपी नृपस्य ॥४॥

विधि (ब्रह्मा) के तो सदा वेद-ज्ञान या वेदना के साथ संयोग है, और अपराजितेश्वर वह महादेव शुल (उदर-व्याधि, एवं विश्वल) से संयुक्त है, तथा माधव (विष्यु) सदा गदाख्रित गद अर्थान् रोग से एवं गदा (शस्त्रविशेष) से युक्त है। फिर इस निरामय (नीरोग) राजा की समता कहां है। । ४।।

भावार्थ — संसार में ब्रह्मा, महेश और विष्णु ये तीनों देवता ही सर्व श्रेष्ठ सममे जाते हैं। किन्तु वे तीनों तो कमशः काम-वेदना, शूल और गदाखित होने से रोग-युक्त ही है और यह राजा सर्व प्रकार के रोगों से रहित पूर्ण नीरोग है। किर उसकी उपमा संसार में कहां मिल सकती है?

यत्क्रष्णवर्त्मत्वमृते प्रतापविद्धं सदाऽम्रुष्य जनोऽभ्यवाप । ततोऽनुमात्वं प्रति चाह्युतत्वं लोकस्य नो किन्तु वितर्कसत्त्वम्॥६॥

इस राजा की प्रताप रूप अग्नि को छोग सदा ही कृष्ण वर्सीत (धूमपना) के विना ही स्वीकार करते थे। किन्तु फिर भो अनुमान के प्रति यह अङ्गतपना छोक के वितर्कणा का विषय नहीं हुआ।। ६॥

भावार्थ—न्यायशास्त्र की परिभाषा के अनुसार साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहा जाता है। जैसे धूमको देखकर अप्रिका ज्ञान करना। परन्तु राजा तो कृष्णश्र्मी अर्थीन् पापाचार से रहित था फिर भी छोग कृष्णश्र्मी (काले मार्ग वाला धूम) के विना ही इसके प्रताप रूप अप्रिका अनुमान करते थे। इतने पर भी न्यायशाल के उक्त नियमोललंघन की छोगों में कोई चर्ची नहीं थी।

मुस्तं तु संज्ञास्त्रिति पूज्यपादः नृपोऽसकौ धातुषु संजगाद । ममत्त्रहीनः परलोकहेतोस्तदस्य धामोज्ज्वलकीर्तिकेतोः ॥॥॥

आचार्य पूज्यपाद ने अपने ज्याकरण शास्त्र में मुस्त्र (प्रातिपदिकरा) को संज्ञा आं में कहा (धातु-पाठ में नहीं)। किन्तु ममत्व-हीन इस सिद्धार्थ राजा ने तो मुस्त्र अर्थात् मृतिकापन को तो पार्थिव धातुओं में गिना है। यह सब इस उज्ज्ञल कीर्तिशाली और परलेक के लिए अर्थात् परभव और अन्य जनों को हितार्थ प्रयत्न करने वाले इस राजा की महत्ता है।। ७।।

भावार्थ — जेतेन्द्र ज्याकरण में मनुष्य आदि नामों की मृत्संज्ञा की गई है, भू आदि धातुओं की नहीं। किन्तु मिद्धार्थ राजा ने उसके विपरीत सुवर्णादि धातुओं में सृत्यना (मृत्तिकापन) मानकर मनुष्यों में आदरभाव प्रकट किया है। सारांश — यह राजा अपनी प्रजा की भढ़ाई के छिए सुवर्णादि-धन को मिट्टी के समान ज्यय किया करता था।

सा चापविधा नृपनायकस्य लोकोत्तरत्वं सिखराज पश्य । स मार्गणौदः सविधं गुणस्तु दिगन्तगामीति विचित्रवस्तु ॥८॥

है मित्रराज, इस राज-राजेश्वर सिद्धार्थ की चापविद्या (धतुर्वे-दिता) की छोकोत्तरता तो देखों — कि वह बाण-पुन्त तो समीप है और गुण (डोरी) दिगन्तगामी है, यह तो विचित्र बात है ॥ म ॥

भावार्य —धनुर्धारी जब धनुष लेकर बाण चलाता है, तब होरी तो उसके पास ही रहती है और बाण दूर लक्ष्य स्थान पर चला जाता है। किन्तु सिद्धार्थ राजा की विद्या ने यह लोकोत्तरपना प्राप्त ( 88 )

किया कि याचक जन तो उसके समीप काते थे और उसके यह सादि गुण दिगन्तगामी हो गये, अथीन वे सर्व दिशाओं में फेट गये।

त्रिवर्गभावात्प्रतिपत्तिसारः स्वयं चतुर्वर्णविधि चकार । जनोऽपवर्गस्थितये भवेऽदः स नाऽनभिज्ञत्वमग्रुष्य वेद् ॥९॥

यह राजा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ) में निष्णात था, इसलिए प्रजा में चतुर्वर्ण (बाह्मण, श्वत्रिय, वेश्य और श्रूह वर्ण) की व्यवस्था स्वयं करता था। अत्यव्य अपवर्ग (मोक्ष नामक चतुर्थ पुरुषार्थ) की प्राप्ति के लिए भी यह अनिमज्ञ नहीं, अपितु अभिज्ञ (जानकार) है, ऐसा उस समय का प्रत्येक जन स्वीकार करता था। इस स्क्रोक का एक दूसरा भी अर्थ है—यह राजा कवर्गादि पांच वर्गों में से आदि के तीन वर्ग 'कवर्ग, 'चवर्ग और उटवर्ग पढ़ चुकने पर उसके आगे के तवर्गीय त, थ, द, घ इन चार वर्णों को याद करने में लगा हुआ था, अतः 'पवर्ग को जानने के पहिले 'न' कार का जानना आवश्यक है, ऐसा लोग कहते थे॥ ६॥

भुजङ्गतोऽमुष्य न मन्त्रिणोऽपि असेः कदाचिग्रदि सोऽस्तु कोपी। त्रातुं क्षमा इत्यरयोऽनुयान्ति तदंशिचश्चस्रखचन्द्रकान्तिम् ॥१०॥

यदि कदाचित् (किसी अपराधी के ऊपर) यह राजा कुपित हो गया, तो उसके सुजङ्ग (खड़ा) से रक्षा करने के छिए मंत्रीगण भी समर्थ नहीं थे, ऐसा मानकर अरिगण स्वयं आकर के इस राजा के चरणों की चमकती हुई नख-चन्द्रकान्ति का आअय लेते थे।। १०।।

१ कवर्ग-क, ल, ग, घ, ङ । २ चवर्ग-च, छ, ज, झ, ज । ३ टवर्ग-ट, ठ, इ, इ, ज । ४ पवर्ग-प, फ, ब, भ, म ।

## ( 83 )

भावार्थ—इस स्रोक में प्रयुक्त भुजङ्ग और मंत्रीपद दवर्थक हैं, सो दूसरा अर्थ यह है कि यदि कोई भुजङ्ग (काला सांप) किसी व्यक्ति पर कदाचित् कोधित हो जाय अर्थात् काट खाय, तो मन्त्री अर्थात् विष-मंत्र के ज्ञाता गारुड़ी लोग भी उसे बचा नहीं सकते हैं। राजा के ऐसे प्रबल प्रताप को देख कर शुभुगण स्वयं ही आकर उसके चरणों की सेवा करते थे।

हे तात जान्चितलम्बबाहो नीङ्गं विमुश्चे नतुजा तवाहो । सभास्वपीत्थं गदितुं नृपस्य कीर्चिः समुद्रान्तमवाप तस्य ॥११॥

हे तात ! ( जनक समुद्र ! ) तुम्हारी यह तनुजा (आत्मजा पुत्री छक्ष्मी) आजानुबाहु (घुटनों तक छम्बी भुजाओं वाले) इस राजा के शरीर को सभाओं के बीच में भी 'आर्छिंगन करने से) नहीं छोड़ जी है, अर्थात् इतनी अधिक निर्ळाज है, यह शिकायत करने के छिए ही मानों इस राजा की कीर्ति रूपी दूसरी स्त्री समुद्रान्त को प्राप्त हुई ।। ११।।

भावार्थ—अपनी सौत लक्ष्मी की उक्त निर्लंजता को देख कर ही उसे कहने के लिए राजा की कीर्ति रूपी दूसरी पत्नी प्रमुद्र के अन्त तक गई, अर्थान् इसकी कीर्ति समुद्र-पर्यन्त सर्वे और फेली हुई थी।

आकर्ण्य भृपालयशः प्रशस्ति शिरो धुनेच्चेत्कथमेवमस्ति । स्थितिर्भु वो ऽपीत्यनुमानजातात्कणौ चकाराहिपतेर्न धाता ॥१२॥

इस सिद्धार्थ भूपाल के निर्मल यशोगाया को सुनकर बहिपति (सर्पराज शेषनाग) कदाचिन् अपना शिर धुने, तो पृथ्वी की खिति केंसे रहेगी १ अर्थान पृथ्वी पर सभी कुछ उछट-पुछट हो जायगा, ऐसा (भविष्य काछीन) अनुमान हो जाने से ही मानों विधाता ने नागराज के कानों को नहीं बनाया ॥ १२॥

भावार्थ--ऐसी लोक-प्रसिद्धि है कि यह पृथ्वी रोपनाग के जिर पर अवस्थित है। उसे ध्यान में रख कर के ही कवि ने सर्पों के कान न होने की उत्प्रेक्षा की है।

विभृतिमत्त्वं दधताऽष्यनेन महेश्वरत्वं जननायकेन । कुतोऽपि वैषम्यमितं न दृष्टेः समुन्नतत्वं बजताऽथ सृष्टेः ॥१३॥

विभूतिसत्ता और महेश्वरता को धारण करने वाले इस राजा ने चतुर्वर्ण वाळी सृष्टि की रचनारूप समुत्रति को करते हुए भी हष्टि की विषमता और संहारकता को नहीं धारण किया था॥ १३॥

भावार्थ--महेश्वर (महादेव) की विभूतिमत्ता अर्थात् शरीर में भस्म लगाना और दृष्टि-विषमता (तीन नेत्र का होना) ये दो वातें संसार में प्रसिद्ध है। सो इस राजा में भी विभूतिमत्ता (वैभवशालिता) और महान् ऐश्वर्यपना तो था, किन्तु नेत्रों की विषमता नहीं थी। महादेव की संसार-सहारकता भी प्रसिद्ध है और ब्रह्मा की सृष्टि-रचना भी प्रसिद्ध है। यह सिद्धार्थ राजा अपनी प्रजा रूप सृष्टि का ब्रह्मा के समान रचिता (व्यवस्थापक) तो था, पर महादेव के समान उसका संहारक नहीं था। कहने का सार यह कि इस सिद्धार्थ राजा में ब्रह्मा के गुणों साथ महेश्वर के गुण तो थे, पर सृष्टि-संहारक रूप अवगुण नहीं था।

एकाऽस्य विद्या श्रवसोश्र तत्त्वं सम्प्राप्य लेमेऽथ चतुर्दशत्वम् । शक्तिस्तथा नीतिचतुष्कसारमुपागताऽहो नवतां बमार ॥१४॥ इस सिछार्थ राजा की एक विद्या दोनों अवणों के तस्य को प्राप्त होकर अर्थान् कर्णगोचर होकर चतुर्दशस्य को प्राप्त हुई। तथा एक शक्ति भी नीति-चतुष्क के सारपने को प्राप्त होकर नवपने को धारण करती थी।। १४॥

भावार्थ--राजा ने यद्यपि एक राज-विद्या ही गुर-मुख से अपने दोनों कानों द्वारा सुनी थी, किन्तु इसकी प्रतिभा से वह चौदह विद्या रूप से परिणत हा गई। इसी प्रकार इस राजा की एक शक्ति भी नीतिचतुष्क (आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति) को प्राप्त होकर नवता अर्थान् नव-संख्या को प्राप्त हुई, यह परम आश्चर्य की वात है ? इसका परिहार यह है कि उसकी शक्ति भी नित्य नवीनता को प्राप्त हो रही थी।

छायेव सूर्यस्य सदाऽनुगन्त्री वधृव मायेव विधेः सुमन्त्रित् । नृषस्य नाम्ना प्रियकारिणीति यस्याः पुनीता प्रणयप्रणीतिः॥१५॥

हे सुमन्त्रिन् (मित्र)! इस सिद्धार्थ राजा की प्रियकारिणी इस नाम से प्रसिद्ध रानी थी, जो कि सूर्य की छाया के समान एवं विधि (त्रह्या) की माया के समान पित का सदा अनुगमन करती थी और जिसका प्रणय-प्रणयन अर्थात् प्रेम-प्रदर्शन पित्रत्र था। अतएप यह अपने प्रिय-कारिणी इस नाम को सार्थक करती थी॥ १४॥

द्येव धर्मस्य महानुभावा क्षान्तिस्तथाऽभ्त्तपसः सदा वा । पुण्यस्य कल्याणपरम्यरेवाऽसी तत्पदाधानसमर्थसेवा ॥१६॥

महानुभाव उदार-हृदय) वाली यह रानी धर्म की दया के सभान, तप की क्षमा के समान तथा पुरुष की कल्याणकारिणी परम्परा के समान थी और सदा ही उस राजा के पदाधीन (चरणों के आश्रित) रहकर उनकी समर्थ (तन, मन, वचन से एकाय होकर) सेवा करने वाली थी॥ १६॥

हरेः प्रिया सा चपलस्वभावा मृहस्य निर्वजनयाऽवदा वा । रतिस्त्वहस्या कथमस्तु पश्य तस्याः समा बीलसुवीऽत्र वस्य॥१७

हे प्रशंसनीय मित्र, बताओ—इस संसार में परम शील वाली उस रानी के लिए किस की उपमा दी जाय १ क्योंकि यदि उसे हरि (विष्णु) की श्रिया लक्ष्मी की उपमा देते हैं, तो वह चपल खभाव वाली है, पर यह तो परम शान्त है, अतः लक्ष्मी की उपमा देना ठीक नहीं है। यदि कहो कि उसे शिवजी की श्री पार्वती की उपमा दी जाय, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह तो शिवजी के अर्था में निलंजा होकर सदा चिपटी रहती है, अतः अरुचिकारिणी है। किन्तु यह रानी तो सदा सलजा होने से श्रियकारिणी है। यदि कहो कि काम की स्त्री रित की उपमा दी जाय, सो वह तो अदृश्य रहती है—आंखों से दिखाई ही नहीं देती है—फिर उसकी उपमा देना कैसे उचित होगा १ अर्थात् मुक्ते तो यह रानी संसार में उपमा से रहित होने के कारण अनुपम ही प्रतीत होती है॥ १७॥

वाणीव याऽऽसीत्परमार्थदात्री कलेव चानन्दविधा विधात्री । वितर्कणावत्परमोहपात्री मालेव सत्कीतुकपूर्णगात्री ॥१८॥

वह रानी वाणी (सरस्वती) के समान परमार्थ की देने वाली है। सरस्वती मुमुज को परमार्थ (मोज) देने वाली है और यह याचक जनों को परम अर्थ (धन) की देने वाली है, चन्द्रमा की कला के जनों को परम अर्थ (धन) की देने वाली है, अर्थान् परम आनन्द समान आनन्द-विधिवा विधान करने वाली है, अर्थान् परम आनन्द समान आनन्द-विधिवा विधान करने वाली है। वितर्कणा बुद्धि के समान परम कहापोह (तर्क-वितर्क)

करने वाली है और यह अपने पित ने परम स्नेह अनुराग की पात्री (अधिष्ठानवाली) है। तथा पुष्पमाला के समान सत्कीतुकों अर्थात् उत्तम पुष्पों से और यह मनो-विनोदों से परिपूर्ण शरीर बाली है।। १८।।

लतेव सम्पन्लवभावश्चक्ता द्शेव दीपस्य विकासयुक्ता । सत्तेव नित्यं समवाद् स्का द्रात्तेव याऽऽसीन्मृदुताः प्रयुक्ता ॥१९॥

यह रानी छता के समान सम्पल्छव भाव वाळी है। जैसे छता उत्तम पल्छवों (पत्तों) से युक्त होती है, उसी प्रकार यह रानी भी सम्पत्ति से (सर्व प्रकार की समृद्धि भाव से) युक्त है एवं मंजुभाषिणी है। तथा यह रानी दीपक की दशा के समान विकास (प्रकाश) से युक्त है। सत्ता (नैयायिकों के द्वारा माने गये पदार्थ विशेष) के समान यह रानी नित्य ही सामान्य धर्म से युक्त है, अर्थान् सदा ही समद्धिनी रहती है। तथा यह रानी द्राक्षा के समान मृदुता (कोमछता) से संयुक्त है, अर्थान् परम कोमछाङ्गी है॥ १६॥

इतः प्रभृत्यम्य तवाननस्य न स्पर्धियिष्ये सुषुमामसुष्य । इतीव पादाग्रमितोऽथ यस्या युक्तः सुधांग्रः स्वकुलेन स स्यात्॥२०

हे अम्बे! अब आज से आगे मैं कभी भी तुम्हारे इस मुख की सुषमा (सौन्दर्य) के साथ स्पर्धा नहीं करू गा, ऐसी प्रतिज्ञा करके ही मानों वह चन्द्रमा अपने तारागणरूप कुछ के साथ आकर रानी के पादाप्र (चरण-नखों) को प्राप्त हो गया है।। २०॥

भावार्थ:- रानी के चरणों की अंगुलियों के नखों की कांति चन्द्र, तारादिक के समान प्रकाशमान थी, जिसे लक्ष्य करके कि ने उक्त उत्पेक्षा की है। दण्डाकृतिं लोमलतास्वथाऽरं कुलालसत्त्वं स्वयमुज्जहार । कुम्भोपमत्वं कुचयोर्दधाना नितम्बदेशे पृथुचकमानात् ॥२१॥

यह रानी अपनी लोम-लताओं (रोम-राजिओं) में तो दण्ड की आकृति को घारण करती थी और स्वयं कुलाल (कुम्भकार) के सत्त्व को उद्धृत करती थी अर्थात् कुल (वंश) के अलस्त्व (आलसीपन) को दूर करती थी। अथवा पृथ्वी पर सर्व जनता से अपना प्रेम प्रकट करती थी। रानी अपने दोनों कुचों में कुम्भ की उपमा को घारण करती थी। रानी अपने दोनों कुचों में कुम्भ की उपमा को घारण करती थी। एवम् उसके विशाल नितम्ब प्रदेश में स्वयं ही विस्तीण चक्र (बर्तन बनाने के कुम्हार के चाक) का अनुमान होता था॥ २१॥

भावार्थ: - उस रानी ने अपने नितम्ब-मण्डल को चाक मान कर और उदर में होते वाली रोमावली को दण्ड मानकर स्वयं को कुम्भकार माना और अपने दोनों स्तन-रूप कल्झों का निर्माण किया। इस स्रोक से कवि ने यह भाव प्रकट किया है कि अपने इष्ट अनिष्ट का विधाता यह जीव स्वयं ही है।

मेरोर्यदौद्धत्यमिता नितम्बे फुल्लत्वमञ्जादथवाऽऽस्यविम्बे । गाम्भीर्यमञ्चेरुत नाभिकायां श्रोणी विशालत्वमथी धराया ॥२२॥

उस रानी ने अपने नितम्ब भाग में सुमेर की उद्घतना को, मुख-विस्व में कमल की प्रकुछता को, नामि में समुद्र की गर्भारता को और श्रोणिभाग (नामि से अधोभाग) में पृथ्वी की विशालता को धारण किया था।। २२॥

चाञ्चल्यमक्ष्णोरनुमन्यमाना दोषाकरत्वं च मुखे दधाना । प्रवालमानं करयोर्जगाद बमुव यस्या उद्देश्यवादः ॥२३॥ वह रानी अपनी दोनों आंखों में चक्रलता का अनुमान कराती थी, और मुख में दोषाकरत्व को धारण करती थी। दोनों हाथों में प्रवाल भाव को कहती थी और उसके उदर में अपवाद था॥ २३॥

भावार्थ:- चक्कलता यद्यपि दोष है, किन्तु रानी की आंखों को प्राप्त होकर वह गुण बन गया था, क्योंकि खियों के आंखों की चक्कलता उत्तम मानी जाती है। दोषाकरत्व अर्थान् दोषों की खानि होना दोष है, किन्तु रानी के मुख में दोषाकरत्व अर्थान् चन्द्रत्व था, उसका मुख चन्द्रमा के समानथा। प्रवालभाव अर्थान् वालकपन (लड़कपन) यह दोष है, किन्तु रानी के हाथों के प्रवालभाव (मृंगा के समान लालिमा) होने से वह गुण हो गया था। अपवाद (निन्दा) होना यह दोष है, किन्तु रानी के पेट में कुशता या क्षीणता रूप अपवाद गुण बन गया था।

महीपतेर्धाम्नि निजेङ्गितेन सुरीति-सम्पत्तिकरी हि तेन । कटिप्रदेशेन हदापि मित्राऽसकौ धरायां समध्त्पवित्रा ॥२४॥

हे मित्र! वह रानी सिद्धार्थ राजा के घर में अपनी चेष्टा से सुरीति और सम्पत्ति की करने वाली थी। कटिप्रदेश में संकुचित (कृश) हो करके भी हृदय से विशाल थी, इस प्रकार वह धरातल पर पवित्र थी॥ २४॥

मावार्थ:- इस ऋोक में सुरीति पद द्वर्ध्यक है, तदनुसार वह रानी अपनी चेष्टा से सुरी (देवियों) को भी मात करने वाली थी। और उत्तम रीति से चलने के कारण प्रजा में उत्तम रीति-रिवाजों को चलाने वाली थी। तथा पवित्र पद में भी ऋष है—रानी का कटि-प्रदेश तो कुश था, किन्तु उसके नीचे का नितम्ब भाग और उत्तर का वक्षःस्वल विस्तीर्ण था, अतएव वह पवित्र अर्थात् पवि (बज) के त्र-तुल्य आकार को धारण करता था। किर भी उसका हृदय पवित्र निर्मल) था।

मृगीदशश्चापलता स्वयं या स्मरेण सा चापलताऽपि रम्या । मनोजहाराङ्गभृतः क्षरोन मनोजहाराऽथ निजेक्षरोन ॥२५॥

इस मृगनयनी की जो स्वाभाविक चपलता थी उसी को काम-देव ने अपनी सुन्दर घनुष-लता बनाई, क्योंकि कामदेव को हार के समान हृदय का अलंकार मानने वाली वह रानी अपने कटाक्ष से क्षण मात्र में मनुष्यों के मन को हर लेती थी।। २४।।

अस्या अजस्पर्धनगर्द्धनत्वात्कृतापराधं समुपैमि तत्त्वात् । अभ्यन्तरुच्छिन्नगुणप्रपञ्चं मृणालकं नीरसमागतं च ॥२६॥

इस रानी की भुजात्रों के साथ स्पर्धा करने में निरत होने से किया है अपराध जिसने, ऐसे मृणाल (कमल-नाल) को मैं भीतर से खोखला और गुण-हीन पाता हूँ। साथ ही नीर-समागत अर्थात् पानी के भीतर इवा हुआ, तथा नीरसं + आगत अर्थात् नीरसपने को प्राप्त हुआ देखता हूँ।। २६।।

भावार्थ-किव ने कमल-नाल के पोलेपन ऋौर जल-गत होने पर उत्पेक्षा की है कि वह रानी की भुजाओं के साथ स्पर्धा करने पर परा-जित होकर लजा से पानी में डूबा रहता है।

या पक्षिणी भृपतिमानसस्येष्टा राजहंसी जगदेकदृश्ये । स्वचेष्टितेनैव बभृव मुक्ता -फलस्थितिया विनयेन युक्ता ॥२७॥

जैसे राजहंसी मान-सरोवर की पक्षिणी अर्थात् उसमें निवास

करने वाली होती है, उसी प्रकार यह रानी भूपित के मन का पश्च करने वाली थी, इसलिए (सर्व रानियों में अधिक प्यारी होने से) पट्टरानी थीं। राजहंसी अपनी चेष्टा से मुक्ताफलों (मोतियों) में स्थिति रखने वाली होती है अर्थात् मोतियों को चुगती है और रानी अपनी चेष्टा से मुक्त किया है निष्कलता को जिसने ऐसी थी, अर्थात् सफल जीवन विताने वाली थी। राजहंसी वि-नय (पिश्चयों की रीति) का पालन करने वाली होती है, और यह रानी विनय से संयुक्त थी, अर्थात् विनय गुण-वाली थी।। २७।।

प्रवालता मूर्क्यधरे करे च सुखेऽब्जताऽस्यारचरणे गले च। सुवृत्तता जानुयुगे चरित्रे रसालताऽभृत्कुचयोः कटित्रे ॥२८॥

इस रानी के शिर पर तो प्रवालता (केशों की सधनता) थी, श्रोठों पर मृंगे के समान लालिमा थी श्रौर हाथ में नव-पहन की समता थी। रानी के मुख में अञ्जता (चन्द्र-तुल्यता) थी, चरणों में कमल-सहश कोमलता थी श्रौर गले में शंख-सहशता थी। दोनों जंघाओं में सुवृत्तता (सुवर्तु लाकारता) थी श्रौर चरित्र में सदाचारिता थी। दोनों स्तनों में रसालता (आश्रफल-तुल्यता) थी श्रौर कटित्र (श्रधोवस्त्र-घांघरा) पर रसा-लता (करधनी) शोभित होती थी।। रम।

पूर्व निनिर्माय विश्व विशेष-यत्नाद्विधिस्तन्मुखमेवमेषः । कुर्व स्तदुब्लेखकरीं चकार स तत्र लेखामिति तामुदारः ॥२९॥

विधाता ने पहले चन्द्र को बनाकर पीछे बड़े प्रयत्न से—साव-धानी के साथ इस रानी के मुख को बनाया। इसीलिए मानों उदार विधाता ने चन्द्र-विकाकी व्यर्थता प्रकट करने के लिए उस पर रेखा खींच दी है जिसे कि लोग कलङ्क कहते हैं।। २६॥ अधीतिबोधा ऽऽचरणप्रचारैश्रतुर्दशत्वं गमिताऽत्युद्दारैः । विद्या चतुःपष्ठिरतः स्वभावादस्याश्र जाताः सकलाः कला वा॥३०॥

इस रानी की विद्या विश्वदरूप अधीत (अध्ययन), बोध (ज्ञान-प्राप्ति), आचरण (तदनुकूल प्रवृत्ति) और प्रचार के द्वारा चतुर्वज्ञत्व को प्राप्त हुई। पर एक वस्तु की चार के द्वारा गुणित करने पर भी चतुर्दशत्व अर्थान् चौदह की संख्या प्राप्त नहीं हो सकती हैं, यह विरोध है। उसका परिहार यह किया है कि उसकी एक विद्या ने ही अधीति आदि चार दशाएं प्राप्त कीं। पुनः वही एक विद्या चौदह प्रसिद्ध विद्याओं में परिणत हो गई। एवं उसकी सम्पूर्ण कलाएं स्वतः स्वभाव से चौसठ हो गई।। ३०।।

भावार्थ-एक वस्तुकी १६ कलाएं मानी जात हैं, श्रतएव चार दशाओं की (१६ × ४ = ६४) चौंसठ कलाएं स्वतः ही हो जाती हैं। वह रानी स्त्रियों की उन चौंसठ कलाओं में पारंगत थी, ऐसा अभि-श्राय उक्त श्लोक से व्यक्त किया गया है।

यासामरूपस्थितिमात्मना ऽऽह स्वीयाथरे विद्रु मतामुबाह । अनुपमत्वस्य तनौ तु सत्त्वं साधारणायान्वभवनमहत्त्वम् ॥३१॥

यह प्रियकारिणी रानी अपनी साम (शान्त) चेष्टा से तो मरु (मारवाड़) देश की उपस्थिति को प्रकट करती थी। क्योंकि इसके अधर पर विद्रुमता (बृक्ष-रिहतता) और मूंगा के समान लालिमा थी। तथा इसके शरीर में अनूप-देशता की भी सत्ता थी। अर्थात् अत्यन्त सुन्दरी होने से उसकी उपमा नहीं थी, अतः उसमें अनुपता थी। एवं वह साधारण देश के लिए महत्त्व को स्वीकार करती थी, अर्थात् उसकी धारणा-शक्ति महान् अर्जु थी। ३१॥

भावार्थ-देश तीन प्रकार के होते हैं -- एक वे, जिसमें जल और वृक्षों की बहुळता होती है, उन्हें अनुपदेश कहते हैं। दूसरे वे, जहां पर जल और वृक्ष इन दोनों की ही कभी होती है, उन्हें मस्टेश कहते हैं। जहां पर जल और वृक्ष ये दोनों ही साधारणतः हीनाधिक रूप में पाये जाते हैं उन्हें साधारण देश कहते हैं। विभिन्न प्रकार के इन तीनों ही देशों की उपस्थिति का चित्रण किव ने रानी के एक ही शरीर में कर दिखाया है।

अक्ष्णोः साञ्जनतामवाप दथती या दीर्घसन्दर्शिता— सुर्वोराप्य विलोमतां च युवतिर्लेभे सुवृत्तस्थितिम् । काठिन्यं कुचयोः सस्रव्यतिमथो सम्भावयन्ती वभौ श्लक्ष्णत्वं कचसंग्रहे सस्रुदितं वक्रत्वमप्यात्मनः ॥३२॥

वह रानी अपने नेत्रों में अध्वन-युक्तता और साथ ही दीर्घ-सन्दिश्ता (दूर-दिश्ता) को भी धारण करती थी। वह अपनी जंघाओं में विछोमता (रोम-रिहतता और प्रतिकूछता) को और साथ ही सुवृत्त की स्थिति को धारण करती थी। अर्थात् जंघा में गोछाई को और उत्तम चारित्र को धारण करती थी। अपने दोनों कुचों में काठिन्य और समुन्नति को धारण करती हुई शोभती थी। तथा केश-पाश में सचिक्तणता को और वक्रता को भी धारण करती थी।।३९॥

भावार्थ--एक वस्तु में परस्पर-विरोधी दो धर्मों का रहना कठिन है, परन्तु वह रानी अपने नेत्रों, जंधाओं, कुचों और केशों में परस्पर-विरोधी दो दो धर्मों को धारण करती थी।

अपि जिनपगिरेवाऽऽसीत्समस्तैकवन्धुः शश्वर-सुषुमेवाऽऽह्याद्-सन्दोहसिन्धुः ।

#### सरससकलचेष्टा सानुकूला नदीव नरपतिपद्पद्मप्रेक्षिणी पट्पदीव ॥३३॥

हे मित्र, वह रानी जिनदेव की वाणी के समान समस्त जीव-लोक की एक मात्र वन्धु थी, चन्द्रमा की सुपुमा के समान सब के आहाद-पुक्त रूप सिन्धु को बढ़ाने वाली थी, उभय-तटानुगामिनी नदी के समान सर्व सरस चेष्टा वाली और पति के अनुकूल आचरण करने वाली थी, तथा अमरी के समान अपने प्रियतम सिद्धार्थ राजा के चरण-कमलों का निरन्तर अवलोकन करने वाली थी।। ३३।।

रतिरिव च पुष्पधनुषः प्रियाऽभवत्साशिका सती जनुषः। ईशस्य विभृतिमतः भूमावपराजिता गुणतः ॥३४॥

वह रानी कामदेव को रित के समान, जन-जीवन को शुभा-शीर्वाद के समान, विभूतिमान् महेश को अपराजिता (पार्वती) के समान भूमरडळ पर अपने गुणों से पित को अत्यन्त प्यारी थी॥२४॥

असुमाह पति स्थितिः पुनः समवायाय सुरीतिवस्तुनः । समतां ममतामुदाहरदज्ञङः किन्तु समर्थकन्धरः ॥३५॥

वह रानी पित को अपने प्राण समझती थी और निरन्तर मुद्द प्रेम बनाये रखने के लिए उत्तम रीति (रिवाजों) की स्थिति स्त्रीकार करती थी। तथा राजा उसे स्वयं अपनी ममता-रूप मानता था, क्योंकि वह स्वयं अजड अर्थात् मूर्ख नहीं, अपितु विद्वान् था, साथ ही समर्थ कन्घर था, अर्थात् बाहुबाल को धारण करता था। विरोध में जड़-रहित होकर के भी पूर्ण जल वाला था। १४।। भावार्थ-दोनों ही राजा-रानी परस्पर ऋत्यन्त अनराग रखतेथे।
नरपो वृषभावमाप्तवान् महिषीयं पुनरेतकस्य वा ।
अनयोरविकारिणी क्रिया समभूत्सा द्युसदामहो प्रिया।।३६॥

यह सिद्धार्थ राजा वृषभाव (बैल्यने) को प्राप्त हुआ और इसकी यह रानी महिषी (भैंस) हुई। पर यह तो विरुद्ध है कि बैल की स्त्री भैंस हो। अतः परिहार यह है कि राजा तो परम धार्मिक था और प्रियकारिणी उसकी पट्टरानी बनी। इन दोनों राजा-रानी की किया अवि (भेड़) को उत्पन्न करने वाली हो, यह कैसे संभव है १ इसका परिहार यह है कि उनकी मनोविनोद आदि सभी कियाएं विकार-रिहत थीं। यह रानी मानुषी होकर के भी देवों की प्रिया (बी) थी। पर यह कैसे संभव है १ इसका परिहार यह है कि वह अपने गुणों द्वारा देवों को अत्यन्त प्यारी थी॥ ३६॥

स्फुटमार्चवसम्बिधानतः स निशा वासरयोस्तयोः स्वतः । इतरेतरमानुकूल्यतः समगच्छत्समयः स्वमूल्यतः ॥३७॥

रात्रि और दिन में ऋतुओं के अनुसार आचरण रूप विधि-विधान करने से उस राजा-रानी का वह समय परस्पर अनुकूलता को लिए अपनी सफलता के साथ बीत रहा था।। ३७॥

भावार्थ--राजा को वासर (दिन) की और रानी को निशा (रात्रि) की उपमा देकर किव ने यह प्रकट किया है कि उन दोनों का समय परस्पर में एक दूसरे के अनुकूछ आवरण करने से परम आनन्द के साथ व्यतीत हो रहा था। श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भु जः स सुयुवे भूरामलेत्याह्ययं वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् । श्रीवीराभ्युदयेऽसुना विरचिते काच्येऽधुना नामतः श्रीसिद्धार्थ-तदङ्गनाविवरणः सर्गस्तृतीयस्ततः ॥३॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भु जजी श्रौर वृतवरीरेवी से उत्तर हुए, वाणीभूषण बाल-ब्रह्मचारी पं० भूरामल वर्तमान मुनि हान-सागर-द्वारा विरचित इस वीरोद्य काव्य में सिद्धार्थ राजा श्रौर उसकी प्रियकारिणी रानी का वर्णन करने वाला तीसरा सर्ग समाप्त हुआ। । ३॥



# वाज्याति अथ चतुर्थः सर्गः

अस्या महिष्या उद्रेऽवतार-मस्माकमानन्द्गिरोपहारः। शुक्तेरिवारात्कुवलप्रकारः वीरः कद्।चित्स्वयमावभार ॥१॥

हमारे आनन्द रूप वाणी के उपहार स्वरूप वीर भगवान् ने सीप में मोती के समान इस प्रियकारिणी पट्टरानी के उदर में (गर्भ में) कदाचिन् स्वयं ही अवतार को धारण किया ॥ १॥

वीरस्य गर्भेऽभिगमप्रकार आषाढमासः शुचिपक्षसारः । तिथिश्र सम्बन्धवद्योन पष्ठी ऋतुः समारब्धपुनीतवृष्टिः ॥२॥

जब बीर भगवान् का गर्भ में अवतार हुआ, तब आषाढ़ मास था, शुक्त पक्ष था, सम्बन्ध के वहा तिथि पष्टी थी और वर्ष ऋतु थी। जिसने कि पवित्र वृष्टि को आरम्भ ही किया था॥ २॥

धरा प्रभोर्गर्भमुपेषुपस्तु बभूव सोल्लासविचारवस्तु । सन्तापमुज्झित्य गताऽऽद्रभावं रोमाश्वनैरङ्कुरिता प्रजावत् ॥३॥

वीर प्रभु के गर्भ को प्राप्त होने पर यह पृथ्वी हर्ष से उड़िसत विचार वाळी हो गई और प्रीष्म-काळ-जनित सन्ताप को छोड़कर आर्द्रता को प्राप्त हुई। तथा इस ऋतु में पृथ्वी रोमार्ख्वों से प्रजा के समान अंकुरित हो गई॥ ३॥

भावार्थ: - वीर भगवान् के गर्भ में आने पर वर्षा से तो पृथ्वी हरी भरी हुई और प्रजा हर्ष से विभोर हो गई। नानं।पधिस्कृतिधरः प्रशस्य-वृत्तिर्जगत्तप्तमवेत्य तस्य । रसायनाधीश्वर एप कालः प्रवर्तयन कौशलमित्युदारः ॥४॥

नाना प्रकार की श्रीषियों को स्फूर्ति देने वाला श्रयीन् उत्तन्न करने वाला, प्रशंसनीय प्रवृत्ति वाला श्रीर उत्तम धान्यों को उत्तन्न करने वाला श्रतएव उदार, रस (जल) के श्रागमन का स्वामी वह रसायनाधीश्वर वर्षाकाल श्रयने कीशल (चातुर्य) को प्रवर्तन करता हुश्चा, साथ ही को श्रयीन् पृण्वी पर शर (जल) को बरसाता हुश्चा, तथा सर-काएडों को उत्पन्न करता हुश्चा श्राया॥ ४॥

वसन्तसम्राड्-विरहादपतु दिशावयस्याभिरिवोपकर्तु म् । महीमहीनानि घन।पदेशाद् धृतानि नीलाव्जदलान्यशेपातु ॥५॥

वसन्त रूप सम्राट् के वियोग हो जाने से निष्प्रभ हुई मही (पृथ्वी) का उपकार करने के लिए ही मानों दिशा रूपी सहेलियों ने मेघों के व्याज से चारों खोर विशाल नीलकमल-दलों को फैला दिया है।। ४।।

वृद्धिर्जेडानां मिलनैर्घनैर्वा लब्धोन्नितिस्त्यक्तपथो जनस्तु । द्विरेफसंघः प्रतिदेशमेवं कलिर्जु वर्षावसरोऽयमस्तु ॥६॥

यह वर्षाकाल तो मुझे कलिकाल-सा प्रतीत होता है, क्योंकि इस वर्षा ऋतु में जड़ों अर्थात् जलों की वृद्धि होती है, और कलिकाल में जड़ (मूर्ख) तनों की वृद्धि होती है। वर्षा ऋतु में तो काले वादल उन्नित करते हैं और कलिकाल में पापी लोग प्रचुरता से उत्पन्न होते हैं। वर्षा काल में तो सर्वत्र जलमय पृथ्वी के हो जाने से लोग मार्गों पर आना-जाना छोड़ देते हैं और कलिकाल में लोग धर्म-सार्ग को छोड़ देते हैं। वर्षा काल में प्रति-देश अर्थात् ठौर-ठौर पर सर्वत्र द्विरेफ

(सर्प) समृह प्रकट होता है और किलकाल में पिशुन (चुगलखोर) जनों का समृह बढ़ जाता है ॥६॥

मित्रस्य दुःसाध्यमवेक्षणन्त्योगाश्च यूनां विलयं त्रजन्तु । व्यर्थं तथा जीवनमण्युपात्तं दुर्देवतां दुर्दिनभित्यगात्तत् ॥७॥

वर्षाकाल के दुर्दिन (मेघाच्छन्न दिन) मुझे दुर्देव से प्रतीत होते हैं, क्योंकि वर्षाकाल में मित्र अर्थात् सूर्य का दर्शन दुःसाध्य हो जाता है और दुर्देव के समय मित्रों का दर्शन नहीं होता। वर्षा में युवक जनों के भी उद्योग व्यापार विलय को प्राप्त हो जाते हैं और दुर्भाग्य के समय नवयुवकों के भी पुरुषार्थ विनिष्ट हो जाते हैं। वर्षाकाल में बरसने वाला जीवन (जल) व्यर्थ जाता है और दुर्देव के समय उससे पीड़ित जनों का जीवन व्यर्थ जाता है।। ७।।

लोको ऽयमाप्नोति जडाशयत्वं सद्धत्मे लुप्तं धनमेचकेन । वक्तार आराद्थवा प्लवङ्गा मौन्यन्यपुष्टः स्वयमित्यनेन ॥८॥

वर्षाकाल में यह सारा लोक (संसार) जलाशय (सरोवर) रूपता को प्राप्त हो जाता है, अर्थान् जिथर देखो, उधर पानी ही पानी भरा हुआ दिखाई देता है और कलिकाल में लोग जड़ाशय (मूर्ख) हो जाते हैं। वर्षाकाल में आकाश घन-मेचक से अर्थान् सघन मेघों के अन्धकार से ज्याप्त हो जाता है और कलिकाल में घोर पाप के हारा सन्मार्ग लुप्त हो जाता है। वर्षा काल में मेंढ़क वक्ता हो जाते हैं, अर्थान् सर्वत्र टर्र-टर्र करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, और कलिकाल में उछल-कृद मचाने वाले मनुष्य ही वक्ता बन जाने हैं। वर्षा ऋतु में कोयल मीन धारण कर लेती है और कलिकाल में परोपकारी जीव मौन धारण करते हैं। इस प्रकार मुक्ते वर्षा काल और कलिकाल दोनों ही एक-सदश प्रतीत होते हैं। = ।।

रसैर्जगत्प्लावियतुं क्षणेन सत्किण्ठितोऽयं मुदिरस्वनेन । तनोति नृत्यं मृदु-पञ्जुलायो मृदङ्गनिःस्वानजिता कलायो ॥९॥

रसों (जलों) से जगत को एक क्षण में श्रासावित करने के लिए ही मानों मृदङ्गों की ध्वनि को जीतने वाले मेंघों के गर्जन से श्रित उत्करिठत श्रीर मृदु मञ्जुल शब्द करने वाला यह कलापी (मयूर) नृत्य किया करता है ॥ ६॥

भावार्थ: - यह वर्षाकाल एक नाटक घर सा प्रतीत होता है, क्योंकि इस समय मेघों का गर्जन तो मृदङ्गों की ध्वित को प्रहण कर लेता है और उसे सुनकर प्रसन्न हो मयूर गण नृत्य करते हुए सरस सङ्गीत रूप मिष्ट बोली का विस्तार करते हैं।

पयोधरोत्तानतया सुदे वाक् यस्या भृतं दीपितकामदेवा । नीलाम्बरा प्राष्ट्रियं च रामा रसौघदात्री सुमनोभिरामा ॥१०॥

यह वर्षा ऋतु पयोधरों (मेघों और स्तनों) की उत्तानता अर्थात् उन्नति से, मेघ-गर्जना से तथा आनत्द-वर्धक वाणी से छोगों में कामदेव को अत्यन्त प्रदीप्त करने वाली, नीलवस्त-धारिणी, रस (जल और शृङ्गार ) के पूर को बढ़ा देने वाली और सुमनों (पुष्पों तथा उत्तम मन) से अभिराम (सुन्दरी) रामा (स्ती) के समान प्रतीत होती है।। १०।।

भावार्थ:- वर्षा ऋतु उक्त वर्णन से एक सुन्दर स्त्री सी दिखाई देती है।

वसुन्धरायास्तनयान् विषयं निर्योन्तमारात्खरकालमध । शम्पाप्रदीपैः परिणामवार्द्राग्विलोकयन्त्यम्बुसुचोऽन्तरार्द्राः ॥११॥ इस वर्षा ऋतु में, वसुन्धरा के तनयों अर्थात् इक्ष-रूप पुत्रों को जलाकर या नष्ट-श्रष्ट करके शीवता से लुप्त (छिपे) हुए बीष्म काल को अन्तरङ्ग में आदंता के धारक मेघ, आंसू बहाते हुए से मानों शम्पा (बिजली) रूप दीपकों के द्वारा उसे दूंद रहे हैं॥ ११॥

भावार्थ: - यहां किन ने यह उत्प्रेक्षा की है कि प्रीष्म काल वृक्षों को जलाकर कहीं लिए गया है, उसे खोजने के लिए दु: बित हुए मेघ वर्षा के यहाने आंसू वहाते हुए तथा विजली रूप दीपकों को हाथ में लेकर उसे इधर उधर खोज रहे हैं।

बृद्धस्य सिन्धोः रसमाशु हृत्या शापादिवास्येऽलिरुचिन्तु धृत्वा। अथैतदागोहृतिनीतिसत्त्वाच्छुणत्यशेषं तमसौ तडित्वान् ॥१२॥

मेघ ने वृद्ध सिन्धु के रस (जल वा धन) को शीवता से अप-हरण कर लिया, अतएव उसके शाप के भय से ही मानों अपने मुख पर अमर जैसी कान्ति वाली कालिमा धारण करके इस किये हुए अपराध से मुक्त होने के लिए वह अपहत समस्त जल को वर्षा के बहाने से वापिस छोड़ रहा है।। १२।।

रलोकन्तु लोकोपकृतौ विधातु पत्राणि वर्षा कलमं च लातुम् । विशारदाऽभ्यारभते विचारिन् भृयो भवन् वार्दल आशुकारी ।१३।

जैसे कोई विशारदा (विदुषी) स्त्री लोकोपकार के हेतु स्रोक की रचना करने के लिए पत्र (कागज) मिषपात्र (दवात) और कलम के लाने को उद्यत होती है, उसी प्रकार यह विशारदा अर्थात् शरद ऋतु से रहित वर्षा ऋतु लोकोपकार के लिए मानों स्रोक रचने को वृक्षों के पत्र रूपी कागज, वादल रूपी दवात और धान्य रूप कलम को अपना रही है। पुनः हे विचारशील मित्र, उक्त कार्य को सम्पन्न करने के लिए यह वार्नुल (मेघ) वार वार शीवता कर रहा है। आशु नाम नाना प्रकार के धान्यों का भी है, सो यह मेघ जल-वर्षों करके धान्यों को शीव उत्पन्न कर रहा है।। १३॥

एकाकिनीनामधुना वधूनामास्वाय मांसानि मृद्नि तासाम् । अस्थीनि निष्ठीवति नीरदोऽसो किलात्मसाक्षित् करकप्रकाशात् ।१४।

हे आत्मसाक्षित् ! यह नीरद (दन्त-रहित, मेघ) पित-विरह से अकेली रहने वाली उन बधुओं (स्त्रियों) के मृदु मांस को खाकर के अब करक अर्थात् ओले या घड़े गिराने के बहाने से मानों उनकी हड़ियों को उगल रहा है ॥ १४॥

भावार्थ--वर्षा-काल में, पति-विहीन स्त्रियों का जीना कठिन हो जाता है।

नितम्बिनीनां मृदुपादपद्यैः प्रतारितानीति कुशेशयानि । हिया किया स्वीयशरीरहत्यै तेषां विषप्रायरयादिदानीम् ॥१४॥

इस जीवलोक में नितम्बिनी (स्त्री) जनों के कोमल चरण रूप कमलों से जल में रहने वाले कमल छले गये हैं, इसीलिये मानों इस समय लज्जा से लज्जित होकर उनकी किया जल-वेग के बहाने से मानों अपने शरीर की हत्या के लिए उग्रत हो रही है।।१४।।

भावार्थ--वहां की स्त्रियों के चरण, कमलों से भी मुन्दर हैं, पर वर्षा ऋतु में कमल नष्ट हो जाते हैं। इस बात को लक्ष्य कर उक्त कल्पना की गई है।

## समुच्छलच्छीतलशीकराङ्के वायौ वहत्येष महीमहाङ्के । भियेव भृयोविधवान्तरङ्गमुत्तापतप्तं प्रविशत्यनङ्गः ॥१६॥

उछलते हुए शीतल जल-कण जिसके मध्य में है, ऐसे पवन के मही-पृष्ठ के जपर बहने पर यह अंग-रहित कामदेव शीत के भय से ही मानों पति-वियोग के सन्ताप से सन्तप्त विधवाओं के अन्तरंग में प्रवेश कर रहा है।। १६॥

भावार्थ--वर्षा ऋतु में अत्यन्त शीतल समीर से भयभीत होकर अर्थात् शीत से पीड़ित होकर गर्मी पाने के लिए ही मानों पित-वियोगिनी स्त्रियों के सन्तिप्त शरीर में यह कामदेव प्रवेश करता है। इसका अभिप्राय यह है कि वर्षा काल में विधवाओं के शरीर में कामदेव अपना प्रभाव दिखाता है।

वृथा श्रयन्तः कुकविप्रयातं ५ङ्क प्लुता कं कलयन्त् द्वात्तम् । भेकाः किलैकाकितया लपन्तस्तुद्दन्ति नित्यं महतामुतान्तः॥१७॥

वृथा ही कुकवि की चेष्टा का आश्रय तेते हुए की चड़ से व्याप्त (छथ-पथ) हुए ये मेंडक अल्प जल को स्वीकार करते हैं और अकेले होने के कारण टर्र-टर्र शब्द करते हुए नित्य ही महापुरुषों के मन को कचोटने रहते हैं।। १०।।

भावार्थ—वर्षाकाल में मेंडक, अपने को सब कुछ समझने वाले कुकवियों के समान व्यर्थ ही टर्स-टर्स का राग आलापते रहते हैं।

चित्तेशयः कौ जयताद्यन्तु हृष्टास्ततः श्रीकुटजाः श्रयन्तु । सुमस्थवार्विन्दुदलापदेशं सुक्तामयन्तेऽप्युपहारलेशम् ॥१८॥

'इस वर्षा ऋतु में यह कामदेव पृथ्वी पर विजय प्राप्त करे' यह

कहते हुए ही मानों हर्षित हुए कुटज बुक्ष अपने फुटों पर आकर गिरि हुई जल-बिन्दुओं के बहाने से मोतियों का उपहार प्राप्त कर रहे हैं॥ १८॥

कीटक् चरित्रं चरितं त्वनेन पश्यांशिकन्दारुणमाशुगेन । चिरात्पतच्चातकचञ्चमूले निवारितं वारि तदत्र तुले ॥१९॥

हे श्रंक्षित् (विचारशील मित्र)! देखो इस वर्षाकालीन आशुग (पवन) ने केंसा भयानक चरित्र आचरित किया है कि चिरकाल के पश्चात् आकर चातक पश्ची की खुली हुई चोंच में गिरने वाली वर्षा की जल-बिन्दु को इसने निवारण कर दिया है, अर्थात् रोक दिया है। १६॥

भावार्थ—वेग से प्रवत्त के चलते के कारण चातक की चोंच में गिरने वाली वूंद वहां न गिर कर उड़ के इधर-उधर गिर जाती है।

यनैः पराभृत इत्रोहुवर्गः लघुत्वमासाय विचित्रसर्गः । तुल्यार्थवृत्तिः प्रथितो धराङ्के खबोतनाम्ना चरतीति शङ्के ॥२०॥

वर्षा ऋतु में रात्रि में चमकते हुए उड़ने वाले खद्योतों (जुगनू या पटवीजनों) को लक्ष्य में रख कर किव उत्प्रेक्षा करते हुए कहते हैं कि घनों से (मेघों और हथौड़ों से) पराभूत (ताड़ित) हो करके ही मानों लघु तथा विचित्र आकार को प्राप्त हुआ, समान अर्थ वृत्ति वाला उडु वर्ग (नक्ष्त्र-समूह) खद्योत नाम से प्रसिद्ध होकर भूतल पर इधर-उधर उड़ता हुआ चमक रहा है।। २०।।

भावार्थ--ख+द्योत अर्थात् आकाश में चमकते के कारण खद्योत यह अर्थ नक्षत्र और जुगत् (पटवीजना) इन दोनों में समान रूप से रहता है इसी कारण किन ने उक्त कल्पना की है।

गतागतेंदौंलिककेलिकायां मुहुर्मु हुः प्राप्तपरिश्रमायाम् । पुनश्च नेषुण्यमुपैति तेषु योषा मुतोषा पुरुषायितेषु ॥२१॥

हिंडोले में फूलते समय गत और आगत से (बार-बार इधर से उधर या ऊपर और नीचे जाने आने से) प्राप्त हुआ है परिश्रम जिसमें ऐसी दौलिक-कीड़ा में आति सन्तुष्ट हुई श्त्री उन पुरुपायितों में (पुरुप के समान आचरण करने वाली रित-कीड़ाओं में) निपुणता को प्राप्त कर रही है।। २१।।

भावार्थ--वर्षाकाल में प्रायः सर्वत्र स्त्रियां हिंडोलों पर मूलती हैं, उसे लक्ष्य में रखकर कवि ने उक्त उत्प्रेक्षा की है।

मुखश्रियःस्तेयिनमैन्दवन्तु विस्वं प्रहतुः समुदेति किन्तु । तत्रापि राहुं मुनयः समाहुदोंलिन्यपैतीति जवात्मुवाहुः । २२।।

मूला पर मूलती हुई स्त्री अपनी मुखश्री के चुराने वाले चन्द्र-विस्त्र को प्रहार करने के लिए ही मानों ऊपर की ओर जाती है; किन्तु वहां भी (चन्द्र के पास) राहु रहता है ऐसा मुनि जन कहते हैं, सो वह कहीं हमारे मुखचन्द्र को प्रस न लेवे, इस विचार के आते ही वेग से वह उत्तम भुजा वाली स्त्री शीब लौट आती है।। २२॥

प्रौढिं गतानामपि वाहिनीनां सम्पर्कमासाय बहुर्बहूनाम् । बुद्धो वराको जडधी रथेण जातोऽधुना विश्रमसंयुतानाम् ॥२३॥

भौद अवस्था को प्राप्त हुई और विश्रम-विलास से संयुक्त ऐसी

बहुत-सी निद्यों का संगम पाकर यह दीन, जड़-बुद्धि समुद्र शीवता से अब बुद्ध हो रहा है।। २३॥

भावार्थ--जैसे कोई मूर्ख युवा पुरुष अनेक युवती स्त्रियों के साथ समागम करे, तो जल्दी बृहा हो जाता है, उसी प्रकार यह जलि (सगुद्र) भी वर्षा के जल से उमड़ती हुई निदयों का संगम पाकर जल्दी से वृद्ध हो रहा है अर्थात् बढ़ रहा है।

रसं रसित्वा अमतो वसित्वाऽप्यजन्पतोऽप्युद्धततां कशित्वा । परग्जाचुन्जोद्गतिमण्डितास्यमेतत्समापश्य सखेऽधुनाऽस्य।।२४।।

हे मित्र, रस (मिदरा, जल) पीकर विश्वम (नशा) के वश होकर मूसते हुए और उद्धतपना अंगीकार करके यद्वा-तद्वा बड़बड़ाने वाले ऐसे इस समुद्र के परञ्ज- (फेन-) पुञ्ज के निकलने से मंहित मुख को तो देखों।। २४।।

भावार्थ - जैसे कोई मनुष्य मिदरा को पीकर नहीं से मूमने लगता है, उद्धत हो जाता है, यद्धा-तद्धा बकने लगता है और मुख से झाग निकलने लगते हैं, वैसे ही यह समुद्र भी सहस्रों निद्यों के रस (जल) को पीकर मिदरोन्मत्त पुरुष के समान सर्व चेष्टाएं कर रहा है।

अनारताकान्तवनान्धकारे भेदं निशा-वासरयोस्तथारे । भतु पु तिश्वाप्यपुर्ति वराकी तनोति सम्प्राप्य हि चक्रवाकी ॥२५॥

निरन्तर सधन मेधों के आच्छादित रहने से धनधोर अन्धकार वाले इस वर्षों काल में रात और दिन के भेद के नहीं प्रतीत होने पर यह वराकी (दीन) चक्रवाकी अपने भर्ता (चक्रवाक) के संयोग को और वियोग को प्राप्त हो कर ही लोगों को दिन और रात का भेद प्रकट कर रही है।। २४॥

भावार्थ: - वर्षों के दिनों में सूर्य के न दिखने से चकवी ही छोगों को अपने पति-वियोग से रात्रिका और पति-संयोग से दिन का बोध कराती है।

नवाङ्क रैरङ्क रिता धरा तु व्योम्नः सुकन्दत्वमभृदजातु । निरुच्यतेऽस्मिन् समये मथेह यत्किश्चिदासीच्छुणु भो सुदेह॥२६॥

वर्षा ऋतु में वसुन्धरा तो नव-दुर्वाङ्कृ रों से व्याप्त हो गई और आकाश मेघों से चारों और व्याप्त हो गया। ऐसे समय में यहां पर जो कुछ हुआ, उसे मैं कहता हूँ, सो हे सुन्दर शरीर वाले मित्र, उसे सुनो।। २६॥

स्वर्गादिहायातवतो जिनस्य सोपानसम्पत्तिमिवाभ्यपश्यत् । श्रीपोडशस्त्रप्नतितं रमा या सुखोपसुप्ता निशिपश्चिमायाम् ॥२७॥

एक दिन सुख से सोती हुई उस प्रियकारिणी रानी ने पिछली रात्रि में स्वर्ग से यहां त्र्याने वाले जिनदेव के उतरने के लिए रची गई सोपान-सम्पत्ति (सी दियों की परम्परा वाली निःश्रेणी) के समान सोलह स्वप्नों की सुन्दर परम्परा को देखा।। २७।।

तत्कालं च सुनष्टिनिद्रनयना सम्बोधिता मागधै-देवीभिश्व नियोगमात्रमभितः कल्याणवाक्यस्तवैः । इष्टाचारपुरस्सरं वरतनुस्तल्पं विहायाऽऽर्हतां प्रातःकमे विधाय तत्कृतवती द्रव्याष्टकेनार्चनम् ॥२८॥ स्वप्नां को देखने के तत्काल बाद ही मागध जनों (चारणों) एवं कुमारिका देखियों के, सर्व खोर से कल्याणमधी वचन-स्तुति के तियोग मात्र को पाकर नींद के दूर हो जाने से जिसके नेत्र खुल गये हैं, ऐसी उस सुन्दर शरीर वाली प्रियकारिणी रानी ने जाग कर, इष्ट आचरणपूर्वक शय्या को छोड़कर खौर प्रातःकालीन कियाओं को करके खहैन्त जिनेन्द्रों की खप्ट-द्रव्य से खर्चना (पूजा) की ॥ २५॥

तावनु सत्तमविभूषणभृषिताङ्गी
साऽऽलीकुलेन कलिता महती नताङ्गी।
पृथ्वीपति परमप्ततनुः शुभायां
देवी प्रतस्थ इति कामितया सभायाम्।।२९।।

तत्पञ्चात् उत्तमोत्तम आभूषणों से आभूषित परम पवित्र देह की धारक, सहात् विनय से नम्रीभूत प्रियकारिणी देवी ने सहेलियों के समुदाय से संयुक्त होकर स्वप्नों का फल जानने की इच्छा से शोभायमान राजसभामें पृथ्वीपति अपने प्राणनाथकी और प्रस्थान किया ॥ २६॥

नयनाम्युजसम्प्रसादिनीं दिनपस्येव रुचिं तमीऽदिनीम्। सम्रदीक्ष्य निजासनार्थके स्प्र स तां वेशयतीत्यथानके।।३०॥

उम सिद्धार्थ राजा ने, नेत्र रूप कमलों को प्रसन्न करने वाली और अन्यकार को दूर करने वाली सूर्य की प्रभा के समान खाती हुई रानी को देखकर पाप-रहित एवम् पुरुष-स्वरूप ऐसे अपने खासन के अर्थ भाग पर बेठाया॥ ३०॥

विशदांशुसमृहाश्रितमणिमण्डलमण्डितं महाविमले । सुविशालेऽवनिललिते समुन्नते सुन्दराकारे ।।३१।। पर्वत इव हरिपीठे प्राणेश्वरपार्श्वसङ्गता महिषी । पञ्चपति-पार्श्वगताऽपि च वभौ सती पार्वतीव तदा ॥३२॥

तिर्मल किरण-समृह से आश्रित मणि-मण्डल से मण्डित महान् निर्मल, सुविशाल, पृथ्वी पर सुशोभित अति उन्नत, सुन्दर आकार बाले पर्वत के समान सिंहासन पर प्राणनाथ सिद्धार्थ के पार्श्व भाग में अवस्थित वह पट्टरानी प्रियकारिणी पशुपति (महादेव)के पार्श्व-गत पार्वती सती के समान उस समय सुशोभित हुई॥ ३१-३२॥

> उद्योतयत्युदितद्न्तिवशुद्धरोचि— रंशैर्नु पस्य कलकुण्डलकन्पशोचिः। चित्तेष चन्द्रवद्ना समयानुसारं तत्कर्णयोरिति बचोऽमृतमण्युदारम्।।३३॥

अपने दांतों की निर्मल किरणों द्वारा महाराज सिद्धार्थ के कुरुडलों की कान्ति को बढ़ाने वाली उस चन्द्रमुखी रानी ने समया-नुसार अवसर प्राप्त कर राजा के दोनों कर्णों में वक्ष्यमाण प्रकार से उदार बचनामृत लोड़ा, अर्थात् स्वप्नों को कहा ॥ ३३ ॥

श्रीजिनपद्प्रसादाद्वनौ कल्याणभागिनी च सदा।
भगवचरणपयोजभ्रमरी या संश्रृग्युत तया।।३४॥
दृष्टा निशावसाने विशदाङ्का स्वप्नपोडशी सहसा।
यापि मया प्राणेश्वर! श्रुभाशुमं यत्फलं तस्याः।।३४॥
सज्ज्ञानैकविलोचन! वक्तव्यं श्रीमता च तद्भवता।
न हि किश्चिद्पि निसर्गाद्गोचरं ज्ञानिनां भवति ॥३६॥

( 40 )

जो जिनदेव के चरणों के प्रसाद से इस भूतळ पर सदा कल्याण की भाजन है और भगवान के चरण-कमळों की अमरी है, ऐसी मैंने निशा (रात्रि) के अवसान काळ में (अन्तिम प्रहर में) शुभ जिल्ल बाळी सोळह स्वप्नों की परम्परा सहसा देखी है, उसे मुनिये और उसका जो शुभ या अशुभ फळ है उसे हे पूज्य श्रीमान, आप कहिये। क्योंकि हे सज्ज्ञानरूप अदितीय नेत्र थाले प्राणनाय! ज्ञानियों के ळिए स्वभावत कुछ भी अज्ञात नहीं है।। ३४-३६।।

पृथ्वीनाथः पृथुलकथनां फुल्लपाथोजनेत्रो वाणीं प्रोक्तां प्रथितसुपृथुप्रोथया तीर्थरूपाम् । श्रुत्वा तथ्यामविकलगिरा हर्पणैर्मन्थराङ्ग इत्थं तावत्प्रथयति तरां स्माथ सन्मङ्गलार्थाम् ॥३७॥

विशाल नितम्ब-त्राली रानी के द्वारा कही गई, विशाल अर्थ को कहने वाली, तीर्थ रूपी यथार्थ तस्त्र वाली वाणी को सुनकर हर्ष से रोमाखित है अङ्ग जिसका, ऐसा वह प्रकुद्धित कमल के समान विकसित नेत्रवाला पृथ्वी का नाथ सिद्धार्थ राजा अपनी निर्देष वाणी से उत्तम मङ्गल स्वरूप अर्थ के प्रतिपादक वचनों को इस प्रकार से कहने लगा।। ३७॥

त्वं तावदीक्षितवती अयथेऽप्यनन्यां
स्वप्नावितं त्वनुद्दि प्रतिभासि धन्या ।
मो भो प्रसन्नवदने फलितं तथा स्याः
कल्याणिनीह श्रृष्णु मञ्जुतमं ममाऽऽस्यात् ।।३८॥
हे क्योवदि, तुमने स्रोते समय जो अनुपम स्वप्नवली हेसी है।

उससे तुम अत्यन्त सौभाग्यशालिनी प्रतिभासित होती हो। हे प्रसन्न-सुखि, हे कल्याणशालिनि, मेरे मुख से उनका श्राति सुन्द्र फल सुनो।। ३८॥

### अकलङ्कालङ्कारा सुभगे देवागमार्थमनवद्यम् । गमयन्ती सन्नयतः किलाऽऽप्तमीमांसिताख्या वा ॥३९॥

हे सुभगे, तुम आज सुभे आप्तमीमांसा के समान प्रतीत हो रही हो। जैसे समन्तभद्र स्वामी के द्वारा की गई आप्त की मीमांसा अकलक्करेव-द्वारा (रचित अष्टशती वृत्ति से) अलङ्कृत हुई है, उभी प्रकार तुम भी निर्मल आभूषणों को धारण करती हो। आप्तमीमांसा सन्नय से अर्थान् सप्तभङ्गीरूप स्थाद्वादन्याय के द्वारा निर्दोष अर्थ को प्रकट करती है और तुम भी अपनी सुन्दर चेष्टा से निर्दोष तीर्थंक्रर देव के आगमन को प्रकट कर रही हो॥ ३६॥

## लोकत्रयेकतिलको बालक उत्कुल्लनलिननयनेऽय । उदरे तबाबतरितो हीङ्गितमिति सन्तनोतीदम् ॥४०॥

हे प्रकृष्टित कमलनयते! तीनों लोकों का ऋदितीय तिलक ऐसा तीर्थक्कर होने वाला बालक ऋाज तुम्हारे गर्भ में अवतरित हुआ है। ऐसा संकेत यह स्वप्नावली दे रही है।। ४०॥

दानं द्विरद इवाखिल-दिशासु सुदितोऽथ मेदिनीचके । सुहुरपि सुश्चन् विमलः समुन्नताऽऽत्माऽथ सोऽवतरेत् ॥४१॥

तुमने सर्व प्रथम जी ऐरावत हाथी देखा है उसके समान तुम्हारा पुत्र इस मही-मण्डल पर समस्त दिशाओं में दान (मह-जल) को वारंबार वितरण करने वाला, प्रमोद को प्राप्त एवम् निष्पाप महान् आत्मा होगा ॥ ४१ ॥

> मूलगुणादिसमन्त्रित-स्त्नत्रयपूर्णधर्मशकटन्तु । मुक्तिपुरीमुपनेतुः धुरन्थरो वृषभवदयन्तु ॥४२॥

दूसरे स्वप्न में तुमने जो वृषभ (वैछ) देखा है, उसके समान तुम्हारा पुत्र धर्म की धुरा को धारण करने वाला, तथा मूलगुण आदि से युक्त औं रस्त-त्रय से परिपूर्ण धर्म रूप शकट (गाड़ी) को मुक्ति-पुरी पहुँचाने में समर्थ होगा ॥ ४२ ॥

> दुरिमनिवेश-मदोद्धुर-कुवादिनामेव दन्तिनामद्यम् । मद्गुद्धेत्तुमदीनं दक्षः खलु केशरीत्थमयम् ॥४३॥

तीसरे स्वप्न में जो केसरी (सिंह) देखा है उसके समान वह पुत्र दुराष्ट्रह रूप मद से उत्मत्त कुत्रादि-रूप हस्तियों के मद को निर्दयता से भेदन करने में दक्ष होगा ॥ ४३ ॥

कल्याणाभिषवः स्यात् सुमेरुशीर्षे ऽथ यस्य सो ऽपि वरः । कमलातमन इव विमलो गर्जेर्यथा नाक्षपतिभिरसम् ॥४४॥ चौथे स्वप्न में तुमने जो हाथियों के द्वारा अभिषेक की जाती हुई लक्ष्मी देखी है वह इस बात की सूचक है कि तुम्हारे पुत्र का सुमेरु के शिखर पर इन्हों के द्वारा निर्मल जल से कल्याण रूप अभिषेक होगा ॥ ४४ ॥

सुयशःसुरभिसमुच्चय-विजृम्भिताशेषविष्टपोऽयमितः । माल्यद्विक इव च भवेद्भव्यश्रमरेरिहाभिमतः ॥४५॥ पांचवें स्वप्न में तुमने जो श्रमरों से गुब्जार करती हुई दो मालाएं देखी हैं, वे यह प्रकट करती हैं कि तुम्हारा पुत्र इस लोक में सुयश की सुगन्धि के समृह से समस्त जगत् को ब्याप्त करने वाला, भव्य जीव रूपी श्रमरों से सेवित श्रीर सम्मानित होगा ॥ १४ ॥

निजशुचिगोप्रतिभयो वृषामृतस्योरुधारया सिञ्चन्। विधुरिव कौमुद्मिह वा कलाधरो बोधयेत्किञ्च ॥४६॥

छठे स्वप्न में तुमने जो चन्द्रमा देखा है, वह स्चित करता है कि तुम्हारा पुत्र अपनी पवित्र किरणों के समुदाय से धर्म रूप अमृत की विशाल धारा के द्वारा जगत् को सिंचन करता हुआ इस संसार में भव्य जीव रूप कुमुदों के समूह को वृद्धिंगत करेगा और सर्व कलाओं का धारण करने वाला होगा॥ ४६॥

विकचितभव्यपयोजो नष्टाज्ञानान्धकारसन्दोहः । सुमहोऽभिकलितलोको रविरिव वा केवलालोकः ॥४७॥

सातवें स्वप्न में तुमने जो सूर्य देखा है, उसके समान तुम्हारा पुत्र भव्य जीव रूपी कमलों का विकासक, श्रज्ञान रूप अन्धकार के समुदाय का नाशक, श्रपने प्रताप से समस्त लोक में व्यापक श्रौर केवल ज्ञान रूप प्रकाश से समस्त जगत् को श्रालोकित करने वाला होगा ।। ४७ ॥

कलशद्धिक इव विमलो मङ्गलकारीह भव्यजीवानाम् । तृष्णातुराय वाऽमृतसिद्धिं श्रणतीति संसारे ॥४८॥

आठवें स्वप्न में तुमने जो जल-परिपूर्ण दो कलश देखे हैं, सो

तुम्हारा पुत्र कलका-युगल के समान इस संसार में भव्य जीवों का मंगलकारी और कृष्णातुर जीवों के लिए अमृत रूप सिद्धि को देने बाला होगा ॥ ४५॥

#### केलिकलामाकलयन् कुर्यात्स हि सकल लोकमतुलनया । मुदितमधो मुदितात्मा मीनदिकवन्महीवलये ॥४९॥

नवें स्वप्न में तुमने जो जल में कीड़ा करती हुई दो मछल्यां देखी हैं, सो उनके समान ही तुम्हारा पुत्र इस मही-मरखल पर स्वयं प्रमुद्दित रहकर अतुल केलि-कलाओं को करता हुआ सकल लोक को प्रसन्न करेगा॥ ४६॥

अध्याधिकं सहस्रं मुलक्षणानां यथैव कमलानाम् । द्रह इव द्धान एवं सततं क्रमनाशको भविनाम् ॥५०॥

दशवें स्वप्न में तुमने जो अष्ट अधिक सहस्र कमलों से परिपूर्ण सरोबर देखा है, सो उसके समान ही तुम्हारा पुत्र उत्तम एक हजार आठ लक्षणों का धारक, एवम् निरन्तर भव्य जीवों के दुःख और पाप का नाशक होगा ॥ ४०॥

जलनिधिरिव गर्म्भीरः प्रभवेदिह पालितस्थितिर्निवहः । लब्धीनां तु नवानां केवलजानां निधीनां वा ॥५१॥

ग्यारहवें स्वप्न में जो तुमने समुद्र देखा है, सो उसके समान ही तुम्हारा यह पुत्र गम्भीर, लोक-स्थिति का पालक, नव निधियों और केवल ज्ञान-जनित नव लिखयों का धारक होगा ॥ ४१॥

सुपदं समुन्नतेः स्वाच्छिवराज्यपदानुराग इह सततम् । चामीकर-चारुरुचिः सिंहासनवद्वरिष्ठः सः ॥५२॥ बारहवें स्वप्न में तुमने जो सुन्दर सिंहासन देखा है, उसके समान ही तुम्हारा यह होने वाला पुत्र सदा ही समुत्रति का सुपद (उत्तम स्थान) होगा, शिव-राज्य के पद का अनुगागी होगा और सन्तप्न सुवर्ण के समान सर्वश्रेष्ठ उत्तम कांति का धारक होगा ॥ ४२ ॥

सुरसार्थैः संसेव्यो ह्यभीष्टदेशोपलव्धिहेतुरपि । हे देवि तव सुप्रतः विभानवद्वौ भवेत्पतः ॥५३।

तेरहवें स्वप्न में तुमने जो सुर-सेवित विमान देखा है, सो हे देवि ! उसके समान ही तुम्हारा यह सुपुत्र सुर-सार्थ (देव-समूह) से ऋषवा सुरस-ऋर्थ वाले पुरुषों से संसेवित, ऋभीष्ट देश मोक्ष की प्राप्ति का हेतु और ऋति पवित्रात्मा होगा ।। ४३ ॥

सततं सुगीततीथों निख्लिमहीमण्डले महाविमलः। यशसा विश्रुत एवं धवलेन हि नागमन्दिरवत् ॥५८॥

चौदहवें स्वप्त में तुमने जो धवल वर्णमाला नाग-मन्दिर देखा है, उसके समान ही तुम्हारा यह पुत्र समस्त मही मण्डल पर सदा ही सुगीत तीर्थ होगा, अर्थात् जिसके धर्म तीर्थ का गाद विरकाल तक इस संसार में होता रहेगा। वह पुत्र महा विमल एवम् उज्ज्वल धवल यश से विश्रत (विख्यात) होगा॥ ४४॥

सुगुणैरमलैर्गु णितो रत्नस्वि रत्नराशिरिह रस्यः । लोकानां सकलानां मनोऽनुक्लैरनन्तैः सः ॥५५॥

पन्द्रहवें स्त्रप्त में तुमने जो निर्मल रत्नों की राशि देखी है, उसके समान ही तुम्हारा पुत्र समस्त लोगों के मनोऽनुकूल आवस्य करने

बाला, अजन्त निर्मेल गुण रूप रस्तों से परिपूर्ण एवम् महा रमणीक होगा ॥ ४४ ॥

अपि दारुणोदितानां चिरजातानां च कर्मणां निवहम् । स नयेद्रम्मीभावं बह्विसमृहो यथा विवदः ॥५६॥

सोलहवें स्वप्न में तुमने जो धूम-रहित निर्मल अप्निका समृह देला है, सो हे देवि ! तुम्हारा यह पुत्र भी चिरकालीन, दारण परि-पाकवाले कमों का समृह भरम करके अपने निर्मल आत्म-स्वरूप को प्राप्त करेगा ॥ ४६॥

सम्बन्धतातमा गजराजवत्तथा धुरन्धरोऽसी धवलोऽवनी यथा।
स्वतन्त्रवृत्तिः प्रतिभातु सिंहवद्रमात्मवच्छश्वद्खण्डितोत्मवः॥१७
द्विदामवत्स्यात्सुमनःस्थलं पुनः प्रसादभृमिः शशिवत्समस्तु नः।
दिनेशवद्यः पथद्शको भवेद् द्विकुम्भवन्मङ्गलकुजवञ्जवे॥१८॥
विनोदपूणां झपयुग्मसम्मितिः समः पयोधेः परिपालितस्थितिः।
तटाकवद् हमृतां क्रमच्छिदं सुपीठवद् गौरवकारि सम्विदं ॥१९॥
विमानवद्यः सुरसार्थ-संस्तवः सुगीततीर्थः खलु नागलोकवत्।
गुणैरुपेतो भवि रत्नराशिवत्युनीततामभ्यप्यातु बह्विवत् ॥६०॥

हे कल्याणभाजिनी प्रिय रानी! सर्व स्वप्नों का सार यह है कि
तुम्हारा यह होने वाला पुत्र संसार में गजराज के समान समुजत
महात्मा, धवल धुरन्धर (बृषभ) के समान धर्मधुरा का धारक, सिंह
के समान स्वतन्त्र बृत्ति, रमा (लक्ष्मी) के समान निरन्तर अलग्ड
उत्सवों से मण्डित, माल्यद्विक के समान सुमनों (पुष्पों और सजनों)

का स्थल, चन्द्र के समान हम सबकी प्रसादभूमि, दिनेश (सुर्य) के समान संसार में मोक्षमार्ग का प्रदर्शक, कलश-पुगल के समान जगन में मङ्गल-कारक, मीन-पुगल के समान विनोद-पूर्ण, समुद्र के समान लोक एवम् धर्म की मयीदा का परिपालक, सरीवर के समान संसार ताप-सन्तप्त शरीरधारियों के लम (यकान) का छेदक, सिंहासन के समान गौरवकारी, विमान के समान देव-समृह से संस्तुत, नागलोक के समान सुगीत-तीर्थ, रत्नराशि के समान गुणों से संयुक्त और अग्नि के समान कर्मरूप ईवन का दाहक एवम् पवित्रता का धारक होगा॥ १४७-६०॥

देवि ! पुत्र इति भृत्रयाधिपो निश्रयेन तव तीर्थनायकः । गर्भ इष्ट इह वै सतां कचितस्यप्नवृन्दमफलं न जायते ॥६१॥

हे देवि ! तुम्हारा गर्भ में आया हुआ यह पुत्र निश्चय से तीनों छोकों का स्वामी और तीर्थ-नायक (तीर्थक्कर) होगा। क्योंकि, सत्-पुरुषों के स्वप्न-समृह कभी निष्फल (फल-रहित) नहीं होते हैं॥ ६१॥

वाणीमित्थममोधमङ्गलमयीमाकण्यं सा स्वामिनो वामोरुश्च महीपतेर्मतिमतो मिष्टामथ श्रीमुखात् । अङ्कप्राप्तसुतेव कण्टिकतनुर्देर्षाश्रुसम्बाहिनी जाता यत्सुतमात्र एव सुखदस्तीर्थेश्वरे किस्पुनः ॥६२॥

वह वासोरु (सुन्दर जधात्र्यों वाली) प्रियकारिणी रानी अपने मित्रमान, महीपति प्राणनाथ के श्री मुख से इस प्रकार की कभी द्यर्थ नहीं जानेवाली सङ्गलमयी मधुर वाणी को सुनकर हर्षा शुर्वों को बहाती हुई गोद में प्राप्त हुए पुत्र के समान आनन्द से रोमाज्ञित हो गई। पुत्र-मात्र की प्राप्ति ही सुखद होती है, किर तीर्थेश्वर जसे पुत्र के प्राप्त होने पर तो सुख का ठिकाना ही क्या है ॥ ६२ ॥
तदिह सुर-सुरेशाः प्राप्य सद्धर्मलेशा
वरपटह-रणाद्यैः किश्वनश्रेष्ठपाद्यैः ।
नव-नवमपि कृत्वा ते सुहुस्तां च तुत्वा
सद्दयकलिताङ्गीं जग्सुरिष्टं वराङ्गीम् ॥६३॥

इसी समय भगवान् के गर्भावतरण को जान करके सहर्म के धारक देव और देवेन्द्र गण यहां आये और उत्तम भेरी, रण-तृल आदि वाद्यों से तथा पुष्पादि श्रेष्ठ पूजन सामग्री से अभिनव अर्चन पूजन करके और उस सद्भाग्योदय से युक्त देह की धारण करने वाली सुन्दरी रानी को बारंबार नमस्कार करके अपने-अपने इष्ट स्थान को चले गये॥ ६३॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भु जः स सुषुवे भ्रामलेत्याह्वयं वाणीभृषण-वर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् । वर्षतीर्जिनमातुरात्त्रययनानन्दस्य संख्यापनं सर्गस्तुर्य इहैतदुक्त उचितः सन्तोषयन् सन्मनः ॥४॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भु जजी और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणीसूपण, बाल ब्रह्मचारी पं० सूरामल वर्तमान सुनि ज्ञान सागर द्वारा विरचित इस वीरोदय काव्य में भगवान् की माता के स्वप्न-दर्शन का वर्णन करने-वाला और देवागमन से मन को सन्तुष्ट करने वाला यह चौथा सर्ग समाप्त हुआ। ॥ ४॥



## अथ पञ्चमः सर्गः

अथाभवद् व्योम्नि महाप्रकाशः सूर्यातिशायी सहसा तदा सः । किमेतदित्थं हृदि काकुभावः कुर्वेन् जनानां प्रचलत्यभावः ॥१॥

भगवान महावीरके गर्भ में आने के पश्चात् आकाश में सूर्य के प्रकाश को भी उल्लंघन करने वाला और उत्तरोतर वृद्धि को प्राप्त होने वाला महान्-प्रकाश सहसा दिखाई दिया, जिसे देखकर 'यह क्या है' इस प्रकार का तर्क-वितर्क लोगों के हृदय में उत्पन्न हुआ। सभी लोग उस प्रकाश-पुष्त से प्रभावित हुए।। १।।

क्षणोत्तरं सन्निधिमाजगाम श्रीदेवतानां निवहः स नाम । तासां किलाऽऽतिथ्यविधाँ नरेश उद्धीव वृवीद्यत आदरे सः ॥२॥

इसके एक क्षण बाद ही श्री, ही आदि देवताओं का वह प्रकाशमयी समूह लोगों के सभीप आया। उसे आता हुआ देखकर वह सिद्धार्थ राजा खड़े होकर उन देवियों के आतिथ्य-सत्कार की विधि में उदात हुआ।। २॥

हेतुर्नरद्वारि समागमाय सुरश्रियः को ऽस्ति किलेतिकायः। दुनोति चित्तं मम तर्क एप प्रयुक्तवान् वाक्यमिदं नरेशः॥३॥

श्राप देव-लिक्ष्मयों का मनुष्य के द्वार पर श्रागमन का क्या कौनसा कारण है, यह वितर्क मेरे चित्त में उथल-पुथल कर रहा है। ऐसा वाक्य उस सिद्धार्थ नरेश ने कहा ॥ ३॥ विशेष- ऋोक-पठित 'नर-द्वारि' और सुरक्षियः ये दोनों पद द्वर्थ्यक हैं। तदनुसार दूसरा अर्थ यह है कि आप समृद्धिज्ञालियों का मुझ दीन (गरीब) के द्वार पर आने का क्या कारण है, ऐसा राजा ने कहा।

गुरोगु रूणां भवतो निरीक्षाऽस्माकं विभो ! भाग्यविधेः परीक्षा । तदर्थमेवेयमिहास्ति दीक्षा न काचिदन्या प्रतिभाति भिक्षा ॥४॥

देवियों ने उत्तर में कहा-हे विभो (स्वामिन्) जगद्-गुरु जिनेन्द्र के गुरु (पिता) ऐसे आपके दर्शनार्थ इस लोगों का आगमन हुआ है। यह इमारे भाग्य का परीचा-काल है-पुष्य अवसर है। उसी के लिए इस लोग यहां आईं हैं, और कोई कारण हमारे आने का नहीं है।। ४॥

अन्तः पुरे तीर्थकृतो ऽवतारः स्यात्तस्य सेवैव सुरीसुसारः । शकाज्ञया लिप्सुरसौ न्वदाज्ञां सुरीगणः स्यात्सफलोऽपि भाग्यात् ॥

अन्तःपुर में महारानी प्रियकारिणी के गर्भ में तीर्थक्कर भगवान् का अवतार हुआ है, उनकी सेवा करना ही हम सब देवियों के जन्म का सार (परम लाभ) है। हम सब इन्द्र की आज्ञा से आईं हैं और अब हम देवीगण आपकी अनुज्ञा प्राप्त करने के लिए उत्सुक हैं, सौभाग्य से हमारा यह मनोरथ सफल होवे॥ ४॥

इत्थं भवन कत्र्चुकिना सनाथः समेत्य मातुर्निकटं तदाऽथ । प्रणम्य तां तत्पदयोः सपर्या-परो बध्वेति जपुर्नुवर्याः ॥६॥

इस प्रकार कहकर और राजा की अनुज्ञा प्राप्त कर वह देवियों का समुदाय कक्ष्युकी के साथ माता के निकट जाकर और उन्हें प्रणाम कर उनके चरणों की पूजा के लिए तैयार हुआ ऐसा श्रेष्ठ पुराण पुरुष कहते हैं ॥ ६ ॥

न जातु ते दुःखदमाचरामः सदा सुखस्यैव तव स्मरामः । शुल्कं च तेऽनुग्रहमेव यामस्त्वदिङ्गतोऽन्यन्न मनाग् वदामः ॥७॥

उन देवियों ने कहा -हम सब आपको दुःख पहुँचाने वाला कोई काम नहीं करेंगी, किन्तु आपको सुख पहुँचाने वाला ही कार्य करेंगी। हम आपसे शुलक (भेंट या वेतन) में आपका केवल अनुग्रह ही चाहती हैं। हम लोग आपके संकेत या अभिशाय के प्रतिकृल जरासा भी अन्य कुछ नहीं कहेंगी।। ७॥

दत्या निजीयं हृद्यं तु तस्ये लब्धा पदं तद्भृदि किञ्च शस्येः। विनत्युपत्रैर्वचनैर्जनन्याः सेवासु देव्यो विभवुः सुधन्याः ॥८॥

इस प्रकार विनस्रता से परिपूर्ण प्रशंसनीय वचनों से उस माता को अपना अभिप्राय कह कर और उनके हृदय में अपना स्थान जमा कर वे देवियां माता की सेवामें छग कर अपने आपको सुधन्य मानती हुईं।। पा

प्रगे ददौ दर्पणमादरेण दृष्टुं सुखं मञ्जुदशो रयेण । रदेषु कर्तुं मृदु मञ्जनं च वक्त्रं तथा क्षालयितुं जलं च ॥९॥

उन देवियों में से किसी ने प्रातःकाल माता के शयन-कक्ष से बाहिर त्याते ही उस सुन्दर-नयना को मुख देखने के लिए बादर के साथ दर्पण दिया,तो किसी ने शीच दांतों की शुद्धि के लिए मंजन दिया और किसी अन्य देवी ने मुख को धोने के लिए जल दिया॥ ६॥ तनुं परोद्धर्तयितुं गतापि कया ऽभिषेकाय क-क्लिप्तिरापि । जहप्रसङ्गोऽत्र कुनः समस्तु कृत्वेति चित्ते किल तर्कवस्तु ॥१०॥ सन्मार्जिता प्रोञ्छनकेन तस्याः कया पुनर्गात्रतिः प्रशस्या । दुक्लमन्या समदात्सुशातं समादरोऽस्या गुणवत्स्वथातः ॥११॥

कोई देवी माता के हारीर का उबटन करने लगी, तो कोई स्तान के लिए जल लाने को उद्यत हुई। किसी ने स्नान कराया, तो किसी ने मां के प्रश्नमतीय हारीर के ऊपर पड़े हुए जल को यह विचार करके कपड़े से पाला कि इस पवित्र उत्तम माता के साथ जड़ (मूर्ख, द्वितीय पक्ष में जल) का प्रसंग क्यों रहे १ माता का गुण-वानों के प्रति सदा आदर रहता है, ऐसा सोचकर किसी देशी ने पहिनने के लिए माता को उत्तम बस्न दिया।। १० ११।

ववन्ध काचित्कवरी च तस्या निसर्गतो विक्रमभावदृश्याम् । तस्याः दशोश्रञ्जलयोस्तथाऽन्याऽञ्जनं चकारातिशितं वदान्या ॥

किसी देवी ने स्वभाव से उस माता के विक्रम (कुटिल) भाव रूप दिखने वाले घुंघराने बालों का जूड़ा बांधा, तो किसी चतुर देवी ने माता के चंचल नेत्रों में अत्यन्त काला खंजन लगाया ॥ १२॥

श्रुती सुशस्त्रश्रवणात् पुनीते पयोजपूजामत एव नीते । सर्वेषु चाङ्गेषु विशिष्टताले चकार काचित्तिलकं तु भाले ।।१३॥

दोनों कान उत्तम शास्त्रों के सुनने से पवित्र हुए हैं, अतएव वे कमलों से पूजा को प्राप्त हुए, अर्थात् किसी देवी ने माता के कानों में कमल (कनफूल। लगा दिये। यह भाल (मस्तक) शरीर के सर्व अंगीं में विशिष्टता बाला है, अर्थात् उत्तम है, यह विचार कर किसी देवी ने उस पर तिलक लगा दिया ।। १३ ॥

अलञ्जकारान्यसुरी रयेण पादौ पुनर्नु पुरयोद्व येन । चिक्षेप कण्ठे मृदु पुष्पहारं संछादयन्ती कुचयोरिहारम् ॥१४॥

कोई अन्य देवी माता के दोनों चरणों को शीवता से नूपुरों के जोड़े से अलंकत करती हुई। किसी देवी ने दोनों स्तनों को आच्छा-दित करते हुए माता के करठ में सुकोमल पुष्पहार पहिनाया॥ १४॥

काचिद् भुजेऽदादिह बाहुबन्धं करे परा कङ्कणमाबबन्ध । श्रीवीरमातुर्वे छयानि तानि माणिकय-मुक्तादिविनिर्मितानि ॥१५॥

किसी देवी ने माता की भुजाओं पर बाहुबन्ध बांधा, किसी ने माता के हाथों में कडूण बांधा। किसी देवी ने श्री वीर भगवान् की माता के हाथ में माणिक, मोती आदि से रचे हुए कंगनों को पहिनाया॥ १४॥

तत्राहतोऽर्चासमयेऽर्चनाय, योग्यानि वस्तूनि तदा प्रदाय । तया समं ता जगदेकसेव्यमाभेजुरुत्साहयुताः सुदेव्यः ॥१६॥

उत्साह-संयुक्त वे सुदेवियां भगवान् की पूजन के समय पूजन के लिए योग्य उचित वस्तुत्रों को दे करके उस माता के साथ ही जगत् के द्वारा परम सेव्य जिनेन्द्रदेव की उपासना-पूजा करने लगी॥१६॥

एका मृदङ्गं प्रद्धार वीणामन्या सुमञ्जीरमथ प्रवीणा । मातुः स्त्ररे गातुमभूत् प्रयुक्ता जिनप्रभोर्भक्तिरसेण युक्ता ॥१७॥ किसी एक देवी ने खदझ लिया, तो किसी दूसरी ने बीणा उठाया, तीसरी कुशल देवी ने मंजीरे उठाये। श्रीर कोई जिन भग-बान की भक्ति रूप रस से युक्त होकर माता के स्वर में स्वर मिलाकर गाने के लिए प्रवृत्त हुई।। १७।।

चकार काचिद् युवतिः सुलास्यं स्वकीयसंसत्सुकृतैकभाष्यम् । जगद्विजेतुर्द्धदत्र दास्यं पापस्य कुर्वाणमिवाऽऽशु हास्यम् ॥१८॥

कोई युवती अपने पूर्वोपार्जित सुक्कत के भाष्य रूप ( पुष्य स्वरूप ), जगद्-विजयी जिनराज की दासता को करनी हुई और पाप की मानों हंसी-सी उड़ाती हुई सुन्दर नृत्य को करने छगी ॥ १८॥

अर्चावसाने गुणरूपचर्चा द्वारा समस्तूत विनष्टवर्चाः । मतिः किलेतीङ्गितमेत्य मातुर्देच्यो ययुर्जोपमपीह जातु ॥१९॥

पूजन के अन्त में अब भगवान के गुण रूप चर्चा-द्वारा हम सब लोगों में पाप की नाश करने वाली बुद्धि हो, अर्थात् अब हम सब की बुद्धि भगवट्-गुणों की चर्चा में लगे जिससे कि सब पापों का नाश हो, ऐसा माता का अभिप्राय जानकर सभी देवियां अपने नृत्य आदि कार्यों को छोड़ कर मौन धारण करती हुई। ॥ १६॥

सदुक्तये दातुमिवायनं सा रदालिरशिमच्छलदीपवंशा। एवं प्रकारा समभृद् रसज्ञा श्रीमातुरेवात्र न चालसैज्ञा ॥२०॥

दन्त-पंक्ति की कान्ति के छल से दीपकों के वंश वाली, आलस्य रहित ऐसी श्री जिनराज की माता की रसना (वाणी) उत्तम उक्ति (चर्चा) को अवसर प्रदान करने के लिए ही मानों इस प्रकार प्रकट हुई।। २०॥ यथेच्छमापुच्छत भोः सुदेच्याः युष्माभिरस्ति प्रभुरेव सेच्यः । अहं प्रभोरेबसुपासिका वा सङ्कोचवार्धिः प्रतरेत नावा ॥२१॥

हे देवियो ! तुम लोगों को जो कुछ पृछ्ना हो, अपनी इच्छा के अनुसार पूछो । तुम्हारे भी प्रभु ही उपास्य हैं और मैं भी प्रभु की ही उपासना करने वाली हूँ। तुम सब चर्चा रूप नाव के द्वारा सङ्कोच रूप समुद्र के पार को प्राप्त होओ ॥ २१॥

न चातकीनां प्रहरेत् पिपासां पयोदमाला किम्र जन्मना सा । मुप्माकमाशङ्कितमुद्धरेयं तर्के रुचि किन्न समुद्धरेयम् ॥२२॥

यदि मेधमाला चिरकाल से पिपासाकुलित चातिकयों की प्यास को दूर न करे, तो उसके जन्म से क्या लाभ है ? मैं अब तुम लोगों की शकाओं को क्यों न दूर करूं और तत्त्व के तर्क-वितर्क ( उहा-पोह रूप विचार ) में क्यों न रुचि करूं।। २२।।

नैसर्गिका मेऽभिरुचिर्वितर्के यथाच्छता सम्भवतीह कर्के । विश्वम्मरस्याद्य सती कृपा तु सुधेव साहाव्यकरी विभातु ॥२३॥

तर्क-वितर्क में अर्थान् यथार्थ तस्त्र के विन्तन करने में मेरी स्वाभाविक अभिरुचि है, जैसे कि दर्पण में स्वच्छता स्वभावतः होती है। फिर तो आज विश्व के पालक तीर्थं इर देव की कृपा है, सो वह सुधा (अमृत) के तुल्य सहायता करने वाली होवे॥ २३॥

भावार्थ--सुधा नाम चूना का भी है। जैसे दर्पण चूना की सहायता से एकदम स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार भगवान की कृपा से हमारी बुद्धि भी स्वच्छ हो रही है।

इत्येवमारवासनतः सुरीणां वस्व सङ्कोचतिः सुरीणा । यथा प्रभातोदयतोऽन्धकार-सत्ता विनरयेदयि वृद्धिघार ॥२८॥

हे बुद्धि-धारक! जैसे प्रभात के उदय से अन्यकार की सत्ता बिलकुल बिनष्ट हो जाती है, उसी प्रकार माता के उक्त प्रकार से दिये गये आश्वासन-द्वारा देवियों का संकोचपना बिलकुल दूर हो गया।। २४।।

शिरो गुरुत्वाञ्चतिमाप भक्ति-तुलास्थितं चेत्युचितेय युक्तिः। करद्वयी कुटुमलकोमला सा समुच्चचालापि तदैव तासाम् ॥२५॥

उसी समय उन देवियों के भक्ति-रूपी तुला (तराजू) के एक पढ़ड़े पर अवस्थित शिर तो भारी होने से नित (नम्रता) को प्राप्त हो गया और दूसरे पलड़े पर अवस्थित पुष्पकलिका से कोमल कर-युगल हलके होने से ऊपर चले गये, सो यह युक्ति उचित ही है ॥२४॥

भावार्थ - जैसे तराजू के जिस पलड़े पर भारी वस्तु रखी हो, तो वह नीचे को मुक जाता है और हलकी वजन वाला पलड़ा ऊपर को उठ जाता है, इसी प्रकार माता की उक्त आश्वासन देने वाली वाणी को सुनकर कृतज्ञता एवं भक्ति से देवियों के मस्तक मुक गये और हस्त-युगल ऊपर मस्तक से लग गये। अर्थात् उन्होंने दोनों हाथ जोड़ कर हथ से गद्गद् एवं भक्ति से पूरित होकर माता को नमस्कार किया।

मातुर्मु खं चन्द्रमिवैत्य हस्ती सङ्कीचमाप्ती तु सरीजशस्ती । कुमारिकाणामिति युक्तमेव विभाति भी भी जिनराज देव ॥२६॥

है जिनराज देव ! माता के मुख को चन्द्र के समान देखकर

उन कुमारिका देवियों के कमल के समान लाल वर्ण वाले उत्तम हाथ सकीच को प्राप्त हो गये, सो यह बात ठीक ही प्रतीत होती है ॥२६॥

भावार्थ--कमल सूर्य के उदय में विकसित होते हैं और चन्द्र के उदय में संकुचित हो जाते हैं। देवियों के हाथ भी कमल-तुल्य थे, सो वे भाता के मुख-चन्द्र को देखकर ही मानों संकुचित हो गये। प्रकृत में भाव यह है कि माता को देखते ही उन देवियों ने अपने-अपने दोनों हाथ जोड़ कर उन्हें नमस्कार किया।

ललाटमिन्द्चितमेव तासां पदाञ्जयोमीतुरवाप साऽऽशा । अभृतपूर्वेत्यवलोकनाय सकौतुका वागगुनोदियाय ॥२७॥

उन देवियों का छछाट चन्द्र-तुल्य है, किन्तु वह माता के चरण-कमछों को प्राप्त हो गया। किन्तु यह बात तो श्रभूत-पूर्व ही है, मानों यही देखने के छिए उनकी कौतुक से भरी हुई वाणी अब इस प्रकार प्रकट हुई ॥ २७॥

भावार्थ--उन देवियों ने माता से प्रश्न पूछना प्रारम्भ किया।

दुःखं जनोऽभ्येति कुतोऽथ पापात्, पापे कुतो धीरविवेकतापात् । कुतोऽविवेकः स च मोहशापात्, मोहक्षतिः किं जगतां दुरापा ॥

हे मात:! जीव दु:ख को किस कारण से प्राप्त होता है ? उत्तर-पाप करने से ! प्रश्न-पाप में बुद्धि क्यों होती है ? उत्तर-श्रविवेक के प्रताप से । प्रश्न-श्रविवेक क्यों उत्पन्न होता है ? उत्तर-मोह के शाप से श्रयीत् मोह कर्म के उद्य से जीवों के श्रविवेक उत्पन्न होता है । श्रीर इस मोह का विनाश करना जगत्-जनों के लिए बड़ा कठिन है ॥ २८॥ स्यात्साऽपरागस्य हृदीह शुद्धचा कुतोऽपरागः परमात्मबुद्धचा । इत्यस्तु बुद्धिः परमात्मनीना कुतोऽच्युपायात्सुतरामहीना ॥२९॥

प्रश्न-तो फिर उस मोह का विनाश कैसे सम्भव है ? उत्तर-राग-रहित पुरुष के हृदय में उत्पन्न हुई विशुद्धि से मोह का विनाश सम्भव है। प्रश्न-राग का अभाव कैसे होता है ? उत्तर-प्रसास-विषयक बुद्धि से। प्रश्न-प्रसास-विषयक उन्नत ( हृढ़ ) बुद्धि कैसे होती है ? उत्तर-उपाय से अर्थात् भगवान् की भक्ति करने से, उनके वचनों पर श्रद्धा रखने से और उनके कथनानुसार आचरण से परमात्म-विषयक बुद्धि प्रकट होती है ॥ २६ ॥

रागः कियानस्ति स देह-सेवः, देहरच कीटक् शठ एप एव । कथं शठः पुष्टिमितश्च नश्यत्ययं जनः किन्तु तदीयवश्यः॥३०॥

प्रश्न-राग क्या वस्तु है ? उत्तर-देह की सेवा करना ही राग है। प्रश्न-यह देह केंसा है ? उत्तर-यह राठ (जड़) है। प्रश्न-यह राठ क्यों है ? उत्तर-क्योंकि यह पोषण किये जाने पर भी नष्ट हो जाता है। किन्तु दुःख है कि यह संसारी प्राणी किर भी उसीके वहा हो रहा है।। ३०॥

कुतो ऽस्य वश्यः न हि तत्त्वबुद्धिस्तद्-धीः कुतः स्याद्यदि चित्तशुद्धिः। शुद्धेश्व किंद्राः जिनवाकप्रयोगस्तेनागदेनैव निरेति रोगः ॥३१॥

प्रस्त-तो फिर यह जीव उसके वश क्यों हो रहा है ? उत्तर-क्योंकि इसके पास तत्त्व-बुद्धि, अर्थात् हेय-उपादेय का विवेक नहीं है। प्रस्त-फिर यह तत्त्व-बुद्धि केसे प्राप्त होती है ? उत्तर-यदि चित्त में शुद्धि हो। प्रस्त-उस चित्त-शुद्धि का द्वार क्या है ? उत्तर-जिन वचनों का उपयोग करना, अर्थात् उन पर अमल करना ही चित्त-शुद्धि का द्वार है और इस औपिध के द्वारा ही संसार का यह जन्म-मरण के चक्र-रूप रोग दूर होता है ॥ ३१॥

मान्यं कृतोऽर्हद्वचनं समस्तु सत्यं यतस्तत्र समस्तु वस्तु । तस्मिन्नसत्यस्य कृतोऽस्त्वभाव उक्ते तदीये न विरोधमावः ॥३२॥

प्रश्न-व्यहिन्त जिनेन्द्र के ही बचन मान्य क्यों हैं ? उत्तर-क्योंकि वे सत्य हैं और सत्य बचन में ही वस्तु-तत्त्व समाविष्ट रहता है। प्रश्न-व्यहिद्धचनों में असत्यपने का अभाव क्यों है ? उत्तर-क्योंकि उनके कथन में पूर्वापर विरोध-भाव नहीं है ॥ ३२॥

किं तत्र जीयादविरोधभावः विज्ञानतः सन्तुलितः प्रभावः । अहो न कल्याणकरी प्रणीतिर्गतानुगत्यैविमहास्त्वपीति ॥३३॥

प्रश्न-उनके बचनों में अविरोध भाव क्यों है ? उत्तर-क्योंकि उनके बचन विज्ञान से अर्थात् कैवल्य रूप विशिष्ट ज्ञान से प्रति-पादित होने के कारण सन्तुलित प्रभाव वाले हैं। अहो देवियो! जो बातें केवल गतानुगतिकता से (भेड़-चाल से) की जाती हैं, उनका आचरण कल्याणकारी नहीं होता॥ ३३॥

एवं सुविश्वान्तिमभीष्सुमेतां विज्ञाय विज्ञा रुचिवेदने ताः । विज्ञश्रमुः साम्प्रतमत्र देव्यः मितो हि भ्यादगदोऽपि सेव्यः ॥३४॥

इस प्रकार से प्रश्नोत्तरकाल में ही उन विज्ञ देवियों ने माता को विश्राम करने की इच्छुक जानकर प्रश्न पूछने से विश्राम लिया, अर्थान् उन्होंने प्रश्न पूछना बन्द कर दिया। क्योंकि औषधि परिमित ही सेव्य होती है ॥ ३४॥ अवेत्य भुक्तेः समयं विवेकात् नानामृदुव्यञ्जनपूर्णमेका । अमत्रमत्र प्रदक्षार मातुरग्रे निजं काशलमित्यजातु ॥३५॥

पुनः भोजन का समय जानकर विवेक से किसी देवी ने नान। प्रकार के सुदु एवं फिल्ट व्यक्तनों से परिपूर्ण थाल को माता के आगे रखा और अपने कौंशल को प्रकट किया ॥ ३४ ॥

माता समास्वाध रसं तदीयं यावत्सुतृप्तिं समगानमृदीयः । तास्युलमन्या प्रदृदौ प्रसत्तिप्रदं भवेधत्प्रकृतानुरक्ति ।।३६॥

माता ने उस सरस भोजन को खाकर ज्यों ही आत्यन्त तृत्रि का खानुभव किया, त्यों ही किसी दूसरी देवी ने प्रकृति के अनुकूछ एवं प्रसन्नतावर्धक ताम्बृङ छाकर दिया ॥ ३६ ॥

यदोपसान्द्रे प्रविद्दर्भमम्बान्विति तदा तत्सुकरावलम्बात् । विनोदवार्तामनुसम्बिधात्री समं तयाऽगाच्छनकैः सुगात्री ॥३७॥

भोजन के उपरान्त भवन के समीपवर्ती उद्यान में विहार करती हुई माता को किसी देवी ने अपने हाथ का सहारा दिया और वह सुन्दर शरीर वाळी माता उसके साथ विनोद-वार्ता करती हुई धीरे-धीरे इधर उथर धूमने ळगी॥ ३७॥

चकार शय्यां शयनाय तस्याः काचित् सुपुष्पैरभितः प्रशस्याम् । संवाहनेऽन्या पदयोर्निलग्ना वभृव निद्रा न यतोऽस्तु भग्ना ।३८।

रात्रि के समय किसी देवी ने उस माता के सोने के लिए उत्तम पुष्पों के द्वारा शय्या को चारों खोर से खच्छी तरह सजाया। जब माता उस पर लेट गई तो कुछ देवियां माता के चरणों को दवाने में संछप्न हो गई, जिससे कि माता की नींद भन्न नहीं होवे, अर्थात् माता सुख की नींद सोवें ॥ ३८ ॥

एकाऽन्विता वीजनमेव कर्तुः केशान् विकीर्णानपरा प्रधर्तु म् । बभृव चातुर्यमपूर्वमासां प्रत्येककार्ये खलु निष्प्रयासात् ॥३९॥

माता के सोते समय कोई पंखा झलने लगी, तो कोई माता के बिखरे हुए केशों को सम्हारने लगी। इस प्रकार से उन देवियों का माता की सेवा के प्रत्येक कार्य में अनायाम ही अपूर्व चातुर्य प्रकट हुआ।। ३६॥

श्रियं मुखेऽम्बा हियमत्र नेत्रयोर्ध् ति स्वके कीर्त्तिमुरोजराजयोः । बुद्धं विधाने च रमां वृपक्रमे समादधाना विवभौ गृहाश्रमे ॥४०॥

माता अपने मुख में तो श्री को, नेत्रों में ही को, मन में धृति को, दोनों उरोजराजों (कुचों) में कीर्ति को, कार्य-सम्पादन में बुद्धि को और धर्म-कार्य में छक्ष्मी को धारण करती हुई गृहाश्रम में ही अत्यन्त शोभित हुई ॥ ४० ॥

भावार्थ — माता की सेवार्थ जो श्री ही आदि देवियां आई थीं उन्हें मानों माता ने उक्त प्रकार से आत्मसात् कर लिया, यह भाव कवि ने व्यक्त किया है।

सुपन्लवाख्यानतया सदैवाऽनुभावयन्त्यो जननीसुदे वा । देव्योऽन्वगुस्तां मधुरां निदानान्लता यथा कौतुकसम्विधाना ॥४१॥

जिस प्रकार पुष्पों को धारण करने वाली और उत्तम कोमल

पल्छवों से युक्त छता वसन्त की शोभा को बढ़ाती है, उसी प्रकार वे देवियां भी उत्तम पद (बचन) और आख्यानों से उस माधुर्य-मयी भाता की वसन्त ऋतु के समान सर्व प्रकार से हर्ष और कौतुक को बढ़ाती हुई सेवा करती थीं।। ४१।।

वान ने निकाय। मातुर्भनोरथमनुप्रविधानदक्षा देव्योऽभ्युपासनसमर्थनकारिएकाः। माता च कौशलमवेत्य तदत्र तासां गर्भक्षणं निजमतीतवती मुदा सा॥

> माता की इच्छा के अनुकूल कार्य करने में दक्ष और उनकी सर्व प्रकार से उपासना करने में समर्थ पक्ष वाली वे देवियां माता की सेवा में सदा सावधान रहती थीं और माता उनकी कार्य-कुशलता को देख-देख कर हुव से अपने गर्भ के समय को विता रही थी ॥४२॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भे जः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् । तेनास्मिन् रचिते यथोक्तकथने सर्गोऽस्तिकायान्वितिः देवीनां जिनमातृसेवनजुषां संवर्णनाय स्थितिः ॥४॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भु जजी और माता वृतवरी देवी से उत्पन्न हुए, वाणी-भूषण, वाल ब्रह्मचारी पं० भूरामल वर्तमान सुनि झानसागर द्वारा विरचित इस यथोक्त कथन-कारक काव्य में जिन माता की सेवा करने वाली कुमारिका देवियां का वर्णन करने वाला अस्तिकाय संख्या से युक्त यह पांचवा सर्ग समाप्त हुआ। ॥ ॥॥

### अथ पष्ठ: सर्गः

गर्भस्य पण्नासमधस्त एव ववर्ष रत्नानि कुवेरदेवः । भो भोजनाः सोऽस्तु तमां सुदे वः श्रीवर्धमानो सुवि देवदेवः ॥१॥

भो भो मनुष्यो ! वे देवों के देव श्री वर्ज मान देव, तुम सबके परम हर्ष के छिए होवें, जिनके कि गर्भ में आने के छह सास पूर्व से हो कुवेरदेव ने यहां पर रत्तों को वरसाया ॥ १॥

समुद्धसत्वीनपयोधरा वा मन्दत्वमञ्चत्पद्पङ्कजा वा । पत्नी प्रयत्नीयितमर्त्वराजः वर्षेव पूर्णोदरिणी रराज ॥२॥

सिद्धार्थ राजा जिसकी सार सम्हाल में सावधानी पूर्वक लग रहे हैं, ऐसी उनकी पूर्ण-उदर वाली गर्भिणी पत्नी प्रियकारिणी रानी वर्षा ऋतु के समान शोभित होती हुई। जैसे वर्षा ऋतु जल से उद्धित पुष्ट मेघ वाली होती है। उसी प्रकार से यह रानी भी उलास को प्राप्त पुष्ट स्तनों को धारण कर रही है। तथा जैसे वर्षा ऋतु में कमलों का विकास सन्दता को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार रानी के चरण-कमल भी गमन की मन्दता को प्राप्त हो रहे थे। अर्थान् रानी गर्भ-भार के कारण धीरे-धीरे चलने लगी।। र।।

गर्भार्भकस्येव यशःप्रसारैराकल्पितं वा धनसारसारैः । स्वल्पेरहोभिः समुवाह देहमेषोपगुप्ता गुणसम्पदेह ॥३॥

रानी का संतप्त कांचन-कान्तिवाल। शरीर धीरे धीरे थीड़े ही दिनों में श्वेतपने को प्राप्त हो गया। सो ऐसा प्रतीत होता था कि गर्भ में स्थित बालक के कप्र्र-सार के तुल्य श्वेत वर्ण वाले यश के

प्रसार से ही वह श्वेत हो गया है। इस प्रकार वह रानी गुण रूप सम्पदा से युक्त देह को धारण करती हुई।। ३।।

भावार्थ: — गर्भावस्था में स्त्रियों का शरीर श्वेत हो जाता है उसी को लक्ष्य करके कवि ने उक्त कल्पना की है।

#### नीलाम्बुजातानि तु निर्जितानि मया जयाम्यद्य सितोत्पलानि । कापर्दकोदारगुणप्रकारमितीव तन्नेत्रयुगं वभार ।।४।।

नील कमल तो मैंने पहिले ही जीत लिए हैं, खब खाज मैं श्वेत कमलों को जीत्ंगी, यह सोच करके ही मानों रानी के नयन-युगल ने कापर्दिक (काँडी) के समान उदार श्वेत गुण के प्रकार को धारण कर लिया ॥ ४ ॥

भावार्थ: - उस रानी के नील कमल-तुल्य जो नेत्र थे, वे अब गर्भ के भार से रवेत हो गये।

### सताऽहताऽभ्येत्य विधेर्विधानं यन्नाभिजातप्रकृतेस्तु मानम् । तथाऽऽप्यहो राजकुलोचितेन मृगीदशस्तत्र नर्तिमुखेन ॥५॥

गर्भस्य प्रशंसनीय तीर्थङ्करदेव के द्वारा होने वाली अवस्था-विशेष के कारण उस समय नाभिजात (नीचकुलोत्पन्न नाभिभएडल) को तो अभिमान आगया, अर्थात् जो नाभि पहले गहरीथी, वह अब उथली हो गई। किन्तु राजकुलोचित (राजवश ह योग्य अथवा चन्द्रकुल-कांति का धारक) उस मृगनयनी रानी का मुख नम्न हो गया यह आश्चर्य है। । ४।।

भावार्थः - गर्भावस्था में ताभि की गहराई तो उथली हो गई स्रोर लजा से रानी का मुख नीचे की स्रोर देखने लगा। गाम्भीर्यमन्तःस्थशिशौ विलोक्याचिन्त्यप्रभावं सहजं त्रिलोक्याः। हियेव नाभिः स्वगभीरभावं जहावहो मञ्जुहशोऽथ तावत्।।६॥

श्रहो ! तीनों लोकों की सहज गम्भीरता और अचिन्त्य प्रभाव गर्भस्थ शिशु में देखकर ही उस सुन्दर दृष्टि वाली रानी की नाभि ने लजित हो करके ही मानों अपने गम्भीरपने को लोड़ दिया॥ ६॥

यथा तदीयोदरवृद्धिवीक्षा वक्षोजयोः स्याममुखत्वदीक्षा । मध्यस्थवृतेरपि चोचतत्वं कृतोऽस्तु सोढुं कठिनेषु सत्त्वम् ॥७॥

जैसे जैसे रानी के उदर की वृद्धि होने लगी, वैसे वैसे ही उसके कुचों के अग्रभाग (चूचुक) श्याम मुखपने की दीक्षा को प्राप्त हुए, अर्थात् वे काले होने लगे। सो यह ठीक ही है, क्योंकि कठोर स्वभाव वाले जीवों में मध्यस्थ स्वभाव वाले सज्जन पुरुष की उन्नति को सहन करने की क्षमता कहां से सम्भव है ?।। ७।।

तस्याः क्रुशीयानुद्रप्रदेशः वलित्रयोच्छेदितया मुदे सः। बभृव भृपस्य विवेकनावः सोऽन्तस्थतीर्थेश्वरजः प्रभावः॥८॥

उस रानी का अत्यन्त क्रश वह उदर-भाग त्रिवली के उच्छेद हो जाने से उस विवेकवान् राजा के हर्ष के छिए हुआ, सो यह गर्भस्थ तीर्थक्कर भगवान् का प्रभाव है।। मा।

भावार्थ: – जैसे कोई कुश शरीर वाला (निर्वल) व्यक्ति यदि तीन तीन बलवानों का उच्छेद (विनाश) करदे, तो यह हर्ष की बात होती है, उसी प्रकार रानी के उदर की विबली का उच्छेद राजा के हर्ष का कारण हुआ। लोकत्रयोशोति-पवित्रवित्ति -त्रयेण गर्भेऽपि स सोपपत्तिः । धनान्तराञ्जन्नपयोजबन्धुरिवावभौ स्वोचितधामसिन्धुः ॥९॥

तीनों छोकों को उद्योतित करने वाले, पवित्र, ऐसे मित, श्रुत श्रीर श्रविष इन तीन झानों से युक्त वे बुडिमान भगवान गर्भ में रहते हुए इस प्रकार से सुशोभित हुए जैसे कि सघन मेथों से श्रावृत सूर्य श्रपनी समस्त किरणों से संयुक्त सुशोभित होता है।। ६॥

पयोधरोन्लास इहाविरास तथा मुखेन्दुश्च पुनीतभासः । स्थानं वभूवोत्तमपुण्यपात्र्या विचित्रमेतद् मुवि बन्धुधात्र्याः॥१०॥

संसार में उत्तम पुण्य की पात्री और बन्धुजनों की धात्री (माता) ऐसी इस रानी के एक और तो पयोधरों (मेघों और स्तनों) का उल्लास प्रकट हुआ और दूसरी और मुखचन्द्र पुनीत कांतिवाला हो गया ? यह तो विचित्र बात है ॥ १०॥

भावार्थ: - पयोधरों (मेघों) के प्रसार होते पर चन्द्रमा का प्रकाश मन्द दिखने लगता है। किन्तु रानी के पयोधरों (स्तनों) के प्रसार होने पर उसके मुख-रूपी चन्द्रमा का प्रकाश और अधिक बढ़ गया, यह आश्चर्य की बात है।

कवित्ववृत्येत्यृदितो न जातु विकार आसीज्जिनराजमातुः । स्यादीपिकायां मरुतोऽधिकारः क्ष विद्युतः किन्तु तथातिचारः।११।

यह ऊपर जो माता के गर्भकाल में होने वाली वातों का वर्णन किया है, वह केवल कवित्व की दृष्टि से किया गया है। वस्तुतः जिनराज की माता के शरीर में कभी किसी प्रकार का कोई विकार नहीं होता है। तेज-वती वाली साधारण दीपिका के बुझाने में पवन का अधिकार है। पर क्या वह बिजली के प्रकाश की बुझाने में सामर्थ्य रखता है १ अर्थान् नहीं।। ११॥

विजुम्भते श्रीनमुचिः प्रचण्डः कुवेरदिश्यंशुरवाप्तदण्डः । कालः किलायं सुरभीतिनामाऽदितिः समन्तान्मधुविद्धधामा ॥१२

निश्चय से अब यह सुरभीति (सुरभि) इस नामका काल आया, अर्थात् बसन्त का समय प्राप्त हुआ। इस समय कामदेव तो प्रचरह हुआ और उघर सुरां को भयभीत करने वाला अदिति नामका राक्षम (दानव) भी प्रचरह हुआ। इधर सूर्य ने कुवेर दिशा (उत्तर दिशा) में दरह (प्रयाण) किया, अर्थात् उत्तरायण हुआ, उधर बह दरह को प्राप्त हुआ, अर्थात् छह मास के लिए केंद्र कर लिया गया, क्योंकि अब बह छह मास तक इधर दक्षिण की ओर नहीं आवेगा। तथा अदिति (पृथ्वी) चारों ओर से पुष्प-पराग द्वारा ज्याप्त हो गई। दूसरे पक्ष में अदिति (देवों की माता) के स्थान को मधु राक्षस ने बेर लिया।। १२॥

भावार्थ: - कवि ने वसन्त ऋतु की तुलना ऋदिति नामक राक्षम से की, क्योंकि दोनों के कार्य समान दिखाई देते हैं।

परागनीरोद्धरितप्रसन-शृङ्गौरनङ्गौकसखा मुखानि । मधुर्धनी नाम बनीजनीनां महत्करेणोक्षतु तानि मानी ॥१३॥

कामदेव है सखा (मित्र) जिसका, और अभिमानी ऐसा यह वसन्त रूप धनी पुरुष पराग-युक्त जल से भरी हुई पुष्प रूपी पिच-कारियों के द्वारा वनस्थली रूपी वनिताओं के मुखों को पवनरूप करसे सीच रहा है। १३॥ भावार्थः- वसन्त ऋतु में सारी वनस्थली पुष्प-पराग से ब्याप्त हो जाती है।

वन्या मधोः पाणिधृतिस्तदुक्तं पुंस्कोिकलैर्विप्रवरेस्तु स्क्तम् । साक्षी स्मराक्षीणहविस्रुगेष भेरीनिवेशोऽलिनिनाद्देशः ॥१४॥

इस वसन्त ऋतु में वन-लक्ष्मी और वसन्तराज का पाणिग्रहण (विवाह) हो रहा है, जिसमें पुंस्कोकिल (नर कोयल) रूप विप्रवर (वि-प्रवर अर्थात् श्रेष्ठ पश्ची और विप्रवर श्रेष्ठ ब्राह्मण) के सुक्त (वचन) ही तो मंत्रोचारण हैं, कामदेव की प्रव्वलित अग्नि ही होमाग्नि रूप से साक्षी है और मोरों की गुंजार ही भेगी-निनाद है, अर्थान् वाजां का शब्द है।। १४॥

प्रत्येत्यशोकाभिधयाथ सूर्च्छकारक्तकुल्लाक्षितयेक्षितः सन्। द्रैकधातेत्यनुमन्यमानः कुजातितां पश्यति तस्य किन्न ॥१५॥

वसन्त ऋतु में कोई पथिक पुरुष विश्राम पाने और शोक-रहित होने की इच्छा से 'अशोक' इस नाम को विश्वास करके उसके पास जाता है, किन्तु उसके छाल-छाल पुष्प रूप नेत्रों से देखा जाने पर डरकर वह मूर्चिछत हो जाता है। वह पथिक अशोक वृक्ष के पास जाते हुए यह क्यों नहीं देखता है कि यह 'कुजाति' और दरेकधाता (भयानक) है।। १४।।

भावार्थः - कु + जाति अर्थात् भूमि से उत्पन्न हुआ, दूसरे पक्ष में खोटी जाति वाला अर्थ है। इसी प्रकार दरैकधाता का अर्थ दर अर्थात् पत्रों पर अधिकार रखने वाला और दूसरे पक्ष में दर अर्थात् दर या भय को करने वाला है। प्रदाकुदर्पाङ्कितचन्दनाक्त योम्यः समीर रिव भीतिभाक्तः। कुवेरकाष्ठाऽऽश्रयणे प्रयत्नं दधाति पौष्प्ये समये द्युरत्नम् ॥१६॥

सपों के दर्प से श्रिङ्कित चन्दन वृक्षों की सुगन्ध से युक्त उस दक्षिण मलयानिल से भयभीत हुए के समान यह सूर्य कुवेर की उत्तर दिशा को श्राश्रय करने के लिए इस वसन्त समय में प्रयत्न कर रहा है।। १६।।

भावार्थ — वसन्त ऋतु में सूर्य दक्षिणायन से उत्तरायण हो जाता है। इस बात को लक्ष्य करके किव ने उत्प्रेक्षा की है कि वसन्तकाल में दक्षिणी मलयानिल बहने लगता है, उसमें मलयाचल स्थित चन्दन-वृक्षों की सुगन्ध के साथ उन पर लिपटे हुए सर्गों के निश्वास का विष भी मिला हुआ है, वह कहीं मुझ पर कोई दुष्प्रभाव न डाले, इस भय से ही मानों सूर्य दक्षिण से उत्तर की श्रोर गमन करने लगता है।

जनीसमाजादरणप्रशेतुरसौ सहायः स्मरविश्वजेतुः । वनीविहारोद्धरणैकहेतुर्वियोगिवर्गाय तु धूमकेतुः ॥१७॥

यह वसन्त-ऋतु स्त्री-समाज में आदर भाव के उत्पन्न करने वाले विश्व-विजेता कामका सहायक (मित्र) है तथा वन-विहार के करने का हेतु है, किन्तु वियोगी जनों के समुदाय को भस्म करने के छिए तो धूमकेतु (अग्नि) ही है।। १७॥

माकन्दश्चन्दप्रसवाभिसर्तुः विकस्य मोदाभ्युद्यं प्रकर्तुम् । निभालनीयः कुसुमोत्सवर्तुः सखा सुखाय स्मरमुमिभर्तुः ॥१८॥

आग्र-समृह की प्रसृत-मंजरी के अभिसार करने वाले कोयल

के हर्ष का अभ्युद्य करने के लिए, तथा कामदेव रूपी राजा के मुख को बढ़ाने के लिए पुष्पोत्सव वाली वसन्त ऋतु सखा समझना चाहिए॥ १८॥

भावार्थ - वसन्त ऋतु सभी संसारी जीवों को सुखकर प्रतीत होती है।

यतोऽभ्रुपात्ता नवपुष्पतातिः कन्दर्पभृषो विजयाय याति । कुहः करोतीह पिकद्विजातिः स एप संख्ध्वनिराविभाति ॥१९॥

नवीन पुष्पों के समूह रूप वाणों को लेकर के यह कामरूपी राजा मानों विजय करने के लिए प्रयाण कर रहा है और यह जो कोयल पश्चियों का समूह 'कुडू-कुटू' शब्द कर रहा है, मो ऐसा प्रतीत होता है कि यह कामदेव के विजय-प्रध्यान-सूचक शङ्क की ध्वनि ही सुनाई दे रही है।। १६।।

नवप्रसङ्गे परिहण्टचेता नवां वधूटीमिव कामि एताम् । मुहर्मु हुरचुम्बति चश्चरीको माकन्दजातामथ मञ्जरीं कोः ॥२०॥

नव-त्रसङ्ग के समय हिंदित चित्त कोई काभी पुरुष जैसे अपनी नवोहा स्त्री का वार-वार चुम्बन खेता है, उसी प्रकार यह चंचरीक (भौरा) आम्र वृक्ष पर उत्पन्न हुई मंजरी का वार-वार चुम्बन कर रहा है।। २०॥

आम्रस्य गुज्जत्किलिकान्तरालेर्नालीकमेतत्सहकारनाम । इज्वत्मेकमेक्षण एव पान्था-क्रिने परामुख्यम्तो वदामः ॥२१॥

जिसकी मंजरी के भीतर अमर गुंजार कर रहा है, ऐसे आश्र का 'सहकार' अर्थान् सहकाल (काल-यमराज का साथी) यह नाम असत्य नहीं है, क्योंकि आम का वृक्ष आंख से देखने मात्र से ही पथिक जनों के लिए मरण को करने वाला है, ऐसा इम कहते हैं॥ २१॥

भावार्थः - पुष्प-मंजरी-युक्त आम्र-वृक्ष को देखते ही प्रवासी पश्चिक जनों को अपनी प्यारी स्त्रियों की याद सताने छगती है।

सुमोद्गमः स प्रथमो द्वितीयः भृङ्गोरुगीतिर्मरुद्नतकीयः। जनीस्त्रनीतिः स्प्ररवाणवेशः पिकस्वनः पश्चम एष शेषः॥२२॥

कामदेव के पांच बाण माने जाते हैं। उनमें पुष्पों का उद्गम होना यह पहिला बाण है, भ्रमरों की उदार गुंजार यह दूसरा बाण है, दक्षिण दिशा की वायु का संचार यह तीसरा बाण है, खियों की स्वाभाविक चेष्टा यह चौथा बाण है ख्रीर कोयलों का शब्द यह पांचवां बाण है।। २२।।

भावार्थ:--वसन्त ऋतु में काम-देव ऋपने इन पांचों वाणों के द्वारा जगत् को जीतता है।

अनन्ततां साम्प्रतमाप्तवद्भिः स्मरायुधैः पश्चतया स्फुरद्भिः । विश्वक्तया कः समलङ्क्रियेत वियोगिवर्गाद्परस्तथेतः ॥२३॥

किन-मान्यता के अनुसार काम के पांच बाण माने जाते हैं, किंतु इस वसन्त ऋतु में बाण अनन्तता को प्राप्त हो रहे हैं (क्योंकि चारों और पुष्पोद्गम आदि दृष्टिगोचर होने लगता है।) अतएव काम के बाणों के द्वारा छोड़े गये पंचत्व (पांच संख्या और मृत्यु) से वियोगी जनों को छोड़कर और कौन ऐसा पुरुष है जो कि समलङ्कृत किया जाय। अर्थात् वसन्त काल में वियोगी जन ही काम के बाणों के निशान बनते हैं।। २३।।

### समन्ततोऽस्मिन् सुमनस्त्वमस्तु पुनीतमाकन्दविधायि वस्तु । समक्ष माधादतिवर्तमाने तथा पिकस्योदयमृद्धिधाने ॥२८॥

हे समक्ष (सम्मुख उपस्थित सुन्दर इन्द्रिय वाले मित्र)! माघ के पश्चात् आनेवाले, आम्र वृक्षों को सफल बनाने वाले और कोयल के आनन्द-विधायक इस फाल्गुण मास या वसन्त काल में सर्व और फूलों का साम्राज्य हो रहा है, सो होवे। दूसरा अर्थ—हे समक्षम (सदा क्षमा के धारक) मित्र! पाप से दूर रहनेवाले और आल-कल्याण के विधान को स्वीकार करने वाले इस ऋतुराज वसन्त में लक्ष्मी को बढ़ाने वाला सुमनसपना (देवपना) सहज ही प्रकट हो रहा है।। २४।।

ऋतुश्रियः श्रीकरणञ्च चूर्णं वियोगिनां भस्मवदत्र तूर्णम् । श्रीमीनकेतोर्ध्वजवस्त्रकल्पं पौष्प्यं रजोऽदः प्रसरत्यनल्पम् ॥२५॥

इस वसन्त ऋतु में यह पुष्पों का रज (पराग) सर्व श्रोर फैल जाता है सो ऐसा प्रतीत होता है, मानों वसन्त लक्ष्मी के मुख की शोभा को बढ़ाने वाला चूर्ण (पाउडर) ही हो, श्रथत्रा वियोगी जनों की भस्म ही हो, श्रथवा श्री मीनकेंतु (कामदेव) की ध्वजा का बल ही हो। । २४।।

श्रेणी समन्ताद्विलसत्यलीनां पान्थोपरोधाय कशाप्यदीना । वेणी वसन्तश्रिय एव रम्याऽसी श्रृङ्खला कामगजेन्द्रगम्या ॥२६॥

इस वसन्त के समय भौंरों की श्रेणी सर्व श्रोर दिखाई देती है, वह ऐसी प्रतीत होती है, मानों पथिक जनों के रोकने के लिए विशाल कशा (कोड़ा या हएटर) ही हो, अथवा वसन्त लक्ष्मी की रमणीय बेणी ही हो, अथवा कामरूपी गजराज के बांधने की सांकल ही हो ॥ २३ ॥

प्रत्येति लोको विटपोक्तिसारादङ्गारतुल्यप्रसवीपहारात्। पलाशनामस्मरणादथायं समीहते स्वां महिलां सहायम्।।२७॥

संसारी जन 'विपट' इस नाम को सुनकर उसे वृक्ष जान उम पर विश्वास कर लेता है किन्तु जब समीप जाता है तो उसके श्रांगार-तुल्य (हृदय को जलाने वाले) फूलों के उपहार से शीन्न ही उसके 'पलाश' (पल-मांस का भक्षण करने वाला) इस नाम के स्मरण से (अपनी रक्षा के लिए) अपनी सहायक खी को याद करने लगता है। २७॥

भावार्थ:- 'विटप' नाम वृक्ष का भी है और विटजनों के सर-दार भड़ुआ का भी है। पलाश नाम ढाक के वृक्ष का है और मांस-भक्षी का भी है।

मदनममीविकायसमन्वितः कुहरितायत एष समझुतः । सुरतवारि इवाविरभृतक्षणः स विटपोऽत्र च कौतुकलक्षणः ॥२८॥

यह वसन्त का समय रित-क्रीड़ा के समान है, क्योंकि रितकाल में मदन के मर्म का विकास होता है और इस वसन्त में आम्र वृक्ष के मर्म का विकास होता है। रितकाल में कुहरित (सुरत-शब्द) होता है, इस समय कोयल का शब्द होता है। रितकाल में विदय (कामी) लोग कौतुकयुक्त होते हैं और वसन्त में प्रत्येक वृक्ष पुष्पों से युक्त होता है। रूप।।

कलकृतामितिझंकृतन् पुरं कणितिकिङ्किणिकङ्कृतकङ्कणम् । मृगदशां मुखपबदिदक्षया रथमिनः कृतवान् किल मन्थरम् ॥२९ इस वसन्त में भीठी बोली बोलने वाली, त्युरों के झंकार को प्रकट करने बाली, जिनकी करधनी की घंटियां बज रही हैं और जिनके कंकण भी झंकार कर रहे हैं, ऐसी स्गनयनी लियों के मुखक्मल को देखने की इच्छा से ही मानों सूर्य देव ने अपने रथ की गति को मन्द कर दिया है।। २६॥

भावार्थ—वसन्त काल में सूर्य की गति धीमी हो जाती है, उसे लक्ष्य में रख करके कवि ने यह उत्प्रेचा की है।

ननु रसालद् लेऽलिपिकावलि विवलितां ललितामहमित्यये। भुवि वशीकरणोचितयन्त्रक-स्थितिमिमां मदनस्य सुमाशये।।३०॥

इस वसन्त ऋतु में आम्र वृक्ष के पत्तां पर जो आंकी-वांकी नाना प्रकार की पंक्तियां बना कर भौरे और कोयल बँठे हुए हैं, वे कोयल और भौरे नहीं है, किन्तु संसार में लोगों को मोहित करते के लिए फूलों पर लिखे हुए कामदेव के वशीकरण यंत्र ही हैं, ऐसा मैं समझता हूँ ॥ ३०॥

न हि पलाशतरोष्ट्र कुलोड्गतिर्वनभुवां नखरक्षतसन्ति । लसति किन्तु सती समयोचितासुरभिणाऽऽकलिताऽप्यतिलोहिता।।

वसन्त ऋतु में पलाश (ढाक) का वृक्ष फुलता है, वे उसके फुल नहीं, किन्तु वन-लक्ष्मी के स्तनों पर नाव-क्षत (नावों के घाव रूप चिह्न) की परम्परा ही है, जो कि वसन्त रूपी रसिक पुरुष ने उस पर की है, इसी लिए वह ऋति रक्त वर्ण वाली शोभित हो रही है।। ३१।।

अयि लवङ्गि ! भवत्यपि राजते विकलिते शिशिरेऽपि च शैशवे। अतिशयोद्मतिमत्स्तवकस्तनी अमरसङ्गवशान्मदनस्तवे ॥३२॥ श्रवि छवङ्गछते! तुम बड़ी सोभाग्यवती हो, क्यांकि तुम्हारा शिशिरकाल रूपी शेशवकाल तो बीत चुका है और अब नव-यौवन अवस्था में पुष्पों के गुच्छों-रूपी उन्नत स्तनों से युक्त हो गई हो, तथा भौरों के प्रसंग को प्राप्त होकर काम-प्रस्ताव को प्राप्त हो रही हो ॥ ३२ ॥

रिवरयं खलु गन्तुमिहोद्यतः समभवयदसौ दिशमुत्तराम् । दिगपि गन्धवहं ननु दक्षिणा वहति विप्रियनिश्वसनं तराम्॥३३॥

इस वसन्त काल में सूर्य दक्षिण दिशा रूपी स्त्री को छोड़ कर उत्तर दिशा रूपी स्त्री के पास जाने के लिए उदात हो रहा है, इसलिए पति-वियोग के दु:ख से दुखित होकर के ही मानों दक्षिण दिशा शोक से भरे हुए दीर्घ नि श्वास छोड़ रही है, सो वही निःश्वास दक्षिण वायु के रूप में इस समय वह रहा है।। ३३।।

सुकुलपाणिषुदेन रजोऽब्जिनी दृशि दृदाति रुचाऽम्युजजिद्दशास् । स्थलपयोजवने समरधूर्चराड्डरति तद्धृद्यद्रविणं रसात् ॥३४॥

जिस वन में गुलाब के पुष्प और लाल कमल फूल रहे हैं, वहां पर कमलिनी तो अपने मुकुलित पाणि- (हस्त-) पुट के द्वारा कमल की शोभा को जीतने वाली खियों की आंखों में पुष्प-पराग रूपी थूल को झोंक रही है और कामरेव रूपी धूर्तराज चोर अवसर देखकर उनके हृदयरूपी धन को चुरा रहा है।। ३४॥

अभिसरन्ति तरां कुसुमक्षरों समुचिताः सहकारगणाश्च वे । रुचिरतामिति कोकिलपित्सतां सरसभावभृतां मधुरारवे: ॥३५॥ इस वसन्त समय में आग्न वृक्ष अपने ऊपर आकर बैठे हुए

स्रीर सरस भाव को धारण करने वाले कोयळ पक्षियों के मधुर शब्दों के द्वारा मानों रुचिरता (रमणीयता) का ही अभिसरण कर रहे हैं ।। ३४ ।।

विरहिणी-परितापकरो ऽकरोधदपि पापमिहापरिहारभृत् । तद्धमध विपयत एपको लगदलिञ्चपदेशतया दधत् ॥३६॥

विरहिणी स्त्रियों को सन्ताप पहुँचा कर इस वसन्त काल ने जो अपरिहरणीय ऐसा निकाचित पाप उपार्जन किया है, वह उदय में आकर आज संलग्न इन भौरों के वहाने मानों इस वसन्त को दुखी कर रहा है।। ३६।।

ऋद्धि वारजनीव गच्छिति वनी सैपान्वहं श्रीभुवं तुल्यः स्तेनकृता प्रतर्जित खरैः पान्थान् शरैः रागदः। संसारे रसराज एत्यतिथिसान्नित्यं प्रतिष्ठापनं नर्मश्रीऋतु कौतुकीव सकलो बन्धुमुदं याति नः ॥३७॥

इस समय यह वनस्थली वेश्या के समान प्रतिदिन लक्ष्मी से सम्पन्न समृद्धि को प्राप्त हो रही है, राग को उत्पन्न करने वाला यह कामदेव इस समय चोर के समान आचरण करता हुआ पथिक-जनों को अपने तीक्ष्ण वाणों से बिद्ध कर रहा है, रसों का राजा जो शृहार रस है, वह इस समय संसार में सर्वत्र अतिथि रूप से प्रतिष्ठा को पा रहा है, और हमारा यह समस्त बन्धु-जन-समृह विनोद करने वाले वसन्तश्री के कीतुक करने वाले विदूषक के समान हर्ष को प्राप्त हो रहा है।। ३७॥

चैत्रशुक्रपक्षत्रिजयायां सुतमस्त सा भूपतिजाया । उत्तमोच्चसकलग्रहनिष्ठे समये मोहर्तिकोपदिष्टे ॥३८॥ चैत्र शुक्ता तीसरी जया तिथि त्रर्थात् त्रयोदशो के दिन, जब कि सभी उत्तम ग्रह उच स्थान पर श्रवस्थित थे और जिस समय को ज्योतिषीगण सर्वोत्तम बक्टा रहे थे-ऐसे उत्तम समयमें सिद्धार्थ राजा की रानी इस प्रियकारिणी देवी ने पुत्र को जना ॥ ३६॥

रविणा ककुविन्द्रशासिका स्फुटपाथोजकुलेन वापिका। नवपल्लवतो यथा लता शुशुभे साऽऽशु शुभेन वा सता॥३९॥

वह रानी उत्पन्न हुए उस सुन्दर शिशु के द्वारा ऐसी शोभित हुई जैसे कि सूर्य के द्वारा इन्द्रशासित पूर्व दिशा, विकसित कमल-समूह से वापिका और नव-पल्लवों से लता शोभित होती है।। ३६॥

सदनेकसुलक्षणान्विति-तनयेनाथ लसत्तमस्थितिः। रजनीव जनी महीभुजः शशिनाऽसौ प्रतिकारिणी रुजः॥४०॥

उस समय वह उत्तम स्थिति को प्राप्त राजा की रानी रजनी के समान शोभित हुई। जैसे रात्रि विकसित अनेक नक्षत्रों के साथ चन्द्रसे युक्त होकर शोभित होती है, उसी प्रकार रानी उत्तम अनेक अभ लक्षण वाले पुत्र से प्रसन्न हो रही थी। जैसे चांदनी रात भय रूप रोग का प्रतीकार करती है, उसी प्रकार यह रानी संसार के भय को मिटाने वाली है। ४०॥

सौरभावगतिस्तस्य पश्चस्येव वपुष्यभृत् । याऽसौ समस्तलोकानां नेत्रालिप्रतिकर्षिका ॥४१॥

उस उत्पन्न हुए पुत्र के शरीर से पद्म के समान सौरभ (सुगन्ध) निकल रहा था, और दूसरा अर्थ यह कि वह स्वर्ग से आया है, ऐसा स्पष्ट ज्ञात हो रहा था। इसीलिए वह पुत्र के शरीर से निकलने वाली सौरभ सुगन्धि समस्त दर्शक लोगों के नेत्र रूपी भौरों को अपनी ऋोर आकर्षित कर रही थी॥ ४१॥

> ग्रुक्त मौक्तिकवत्तस्या निर्मलस्य वपुष्मतः । सद्भिरादरणीयस्यो ह्वतो ऽपि पवित्रता ॥४३॥

जिस प्रकार सीप से उत्पन्न हुआ मोती स्वभाव से निर्मल, सत्पुरुषों से आदरणीय और पवित्र होता है, उसी प्रकार उस रानी से उत्पन्न हुए इस पुत्र के भी निर्मलता, सन्तों के द्वारा आदरणीयता और स्वभावतः पवित्रता थी।। ४२॥

रत्नानि तानि समयत्रयमुत्तराशा-धीशो ववर्ष खलु पश्चदशेति मासान् । अग्राध इत्थमिह सोऽय भुवि प्रतीत एषोऽपि सन्मणिरभृत् त्रिशलाखनीतः ॥४३॥

जिस महापुरुष के आगमन के उपलक्ष्य में उत्तर दिशा का स्वामी कुचेर जैसे इस भूतल पर पन्द्रह मास तक प्रतिदिन तीन बार उत्तम रत्नों की वर्षों करता रहा है, उसी प्रकार यह मणियों में भी महामणि स्वरूप सर्वोत्कृष्ट नर-रत्न आज त्रिशला देवी की खानि रूप कृंख से उत्पन्न हुआ। ॥ ४३॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भु जः स सुषुवे भूरामलेत्याह्नयं वाणीभृषणवर्णिनं घृतवरी देवी च पं धीचयम् । ( 308 )

## तेनास्मिन् रचिते यथोक्तकथने सर्गः पडेवं स्थितिः राद्यतारिभिमङ्गमे जिनपतेरुत्पत्तिरासीदिति ॥६॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भु जजी श्रीर घतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणीभूषण बाल-त्रह्मचारी पं० भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर द्वारा विरचित इस काव्य में वसन्त ऋतु में जिनपित वीर भगवान् को उत्पत्ति का वर्णन करने वाला यह छठा सर्ग समाप्त हुआ।। ६॥



#### अथ सप्तमः सर्गः

अथ जन्मनि सन्मनीपिणः प्रससाराष्यभितो यशःकिणः । जगतां त्रितयस्य सम्पदा स्त्रुभितोऽभृत्प्रमदाम्बुधिस्तदा ॥१॥

31 111

इस समय सन्मनीधी भगवान् का जन्म होने पर उनके यश का पूर चारों श्रोर फैल गया। उस समय तीनों जगन् की सन्पदा से श्रानन्दरूप समुद्र श्लोभित हो गया। श्रर्थान् सर्वत्र श्रानन्द् फैल गया॥ १॥

पटहो जनदद्रिशासिनां भ्रवि घण्टा ननु कल्पवासिनाम् । उरगेषु च शंखसद्ध्वनिर्हिरिनादो ऽपि नमश्रराध्वनि ॥२॥

उस समय पर्वत के पक्ष-शातन करने वाले व्यन्तरों के गृहों में भेरी का निनाद (उच शब्द) होने लगा। कल्पवासी देवों के विमानों में घएटा का नाद हुआ, सवनवासी देवों के सवनों में शंखों की ध्वनि हुई और ज्योतिषी देवों के विमानों में सिंहनाद होने लगा॥ २॥

न मनागिह तेऽधिकारिता नमनात्स्वीकुरु किन्तु सरिताम् । जिनजन्मनि वेत्थमाह रे प्रचलह्ये हरिविष्टरं हरेः ॥३॥

उस समय जिन भगवान् का जन्म होने पर इन्द्र का सिंहासन कम्पायमान हुआ, मानों वह यह कह रहा था कि अब इस पर बैठे रहने का तेरा कुछ भी अधिकार नहीं है। अब तू भगवान् के पास जाकर और उन्हें नमस्कार कर अपने जीवन को सफल बना॥ ३॥ न हि पश्चशतीद्वयं दशां क्षममित्यत्र किलोति विस्मयात्। अवधि प्रति यत्नवानभृद्वबोद्धं द्युसदामयं प्रश्चः ॥॥॥ उस समय देवों का स्वामी यह इन्द्र मेरे ये सहस्र नेत्र भी सिंहासन के हिलने का कारण जानने में समर्थ नहीं है, यह देखकर ही मानों आश्चर्य से यथार्थ रहस्य जानने के लिए अवधिज्ञान का उपयोग करने को प्रयत्नशील हुआ। । ४।।

अववुध्य जनुर्जिनेशिनः पुनरुत्थाय ततः क्षणादिनः । प्रणनाम सुपर्वणां सतां गुणभूमिर्हि भवेद्विनीतता ॥४॥

श्रवधिज्ञान से जिनेन्द्रदेव का जन्म जानकर तत्काल अपने सिंहासन से उठकर देवों के स्वामी उस इन्द्र ने (जिस दिशा में भग-वान् का जन्म इश्रा था, उस दिशा में सात पग आगे जाकर भगवान् को (परोक्ष) नमस्कार किया। सो यह ठीक ही है, क्योंकि विनीतता अर्थान् सज्जनों के गुणों के प्रति आदरभाव प्रकट करना ही समस्त गुणों का आधार है।। ४।।

जिनवन्दनवेदिहिण्डिमं स मुदा दापितवान् जवादिमम् । प्रतिपद्य समाययुः सुरा असुरा अप्यखिला निजात्पुरात् ॥६॥

उस इन्द्र ने हर्षित होकर तत्काल जिन-वन्दना को चलने की सूचना देने वाली ढिंढोरी दिलवाई और उसे सुनकर सभी सुर और असुर शीव अपने अपने पुरों से आकर एकत्रित हुए॥ ६॥

निरियाय स नाकिनायकः सकलामर्त्यनिरुक्तकायकः। निजयत्तनतोऽधुना कृती नगरं कुण्डननामकं प्रति।।७।।

पुन: वह कृती देवों का स्वामी सौधर्म इन्द्र सर्व देव और असुरों से संयुक्त होकर अपने नगर से कुरुडनपुर चलने के लिए निकला ॥ ७॥ प्रततानुसृतात्मगात्रकैरमरैईस्तितपुष्पपात्रकैः । सह नन्दनसम्पद्ष्यभृद्धिरहं सोद्धमित्राथ चाप्रसुः ॥८॥

जिनके शरीर ज्ञानन्द से भरपूर हैं श्रीर जिनके हाथों में पुष्पों के पात्र हैं, ऐसे देवों के साथ नन्दनवन की सम्पदा भी वळी। माने विरह को सहने के ळिए श्रासमर्थ होकर ही साथ हो ळी है॥ मा

कवरीय नभोनदीक्षिता प्रजरत्याः स्वरिधिश्रयोद्दिता । स्कटिकारमविनिर्मितस्थलीय च नाकस्य विनिश्चलाविः॥९॥

मध्यलोक को आते हुए उन देवों ने मार्ग में नभोनदी (आकाश गंगा) को देखा, जो ऐसी प्रतीत होती थी मानों अत्यन्त वृद्ध देव-लक्ष्मी की वेणी ही हो, अथवा स्कटिक मणियों से रचित स्वर्ग-लोक के मुख्य द्वार की निश्चलता को प्राप्त देहली ही हो।। ६॥

अरविन्द्धिया द्धद्रवि पुनरेरावण उष्णसच्छविम् । धुतहस्ततयात्तमुत्यजन्मनयद्वास्यमहो सुरव्रजम् ॥१०॥

पुनः आगे चलते हुए इन्द्र के ऐरावत हाथी ने कमल समझ करके सूर्य को अपनी सूंड से उठा लिया और उसे उष्णता-युक्त देखकर तुरन्त ही सूंड को झड़का कर उस प्रहण किए हुए सूर्य को छोड़ दिया और इस प्रकार उसने देव-समूह को हंसा दिया॥ १०॥

अपकर्कटनकं निर्णये वियद्व्यावृत तारकाचये । कुवलप्रकारान्वये विधुं विबुधाः कौरतुममित्यमभ्यधुः ॥११॥

मीनों, केंकड़ों स्वीर नाकुस्रों का निश्चय है जहां ऐसे आकार

रूप समुद्र में मोतियों का अनुकरण तारात्रों का समूह कर रहा है। वहीं पर देव छोगों ने चन्द्रमा को यह कौस्तुभमणि है, ऐसा कहा॥ ११॥

भावार्थ: - जैसे समुद्र में भीन, कर्कट और मकरादि जल-जन्तु एवम् मौक्तिक कौम्तुभमणि अदि होते हैं, उसी प्रकार देव लोगों ने आकाश को ही समुद्र समझा, क्योंकि वहां उन्हें मीन, मकर आदि राशि वाले यह दिखाई दिये।

पुनरेत्य च कुण्डिनं पुराधिपुरं त्रिक्रमणेन ते सुराः। उपतस्थुरसुष्य गोपुरात्रभुवीत्थं जिनभक्तिसत्तुगः। १२॥

पुनः जिन-भक्ति में तत्पर वे देव लोग कुरुडनपुर नगर आकर और उसे तीन प्रदक्षिणा देकर उस नगर के गोपुर की अप्रभूमि पर उपस्थित हुए ॥ १२ ।

प्रविवेश च मातुरालयमपि मायाप्रतिरूपमन्वयम् । विनिवेशय तद्क्रतः शची जिनमेवापजहार शुद्धचित् । १२॥

पुनः इन्द्राणी ने भाता के सौरि-सदन में प्रवेश किया। और मायामयी शिशु को माता के पास रखकर उनके शरीर के समीप से वह शुद्ध चित्तवाळी शची जिन भगवान् को उठा छाई॥ १३॥

हरये समदाज्जिनं यथाऽम्बुधिवेठागतकौस्तुभं तथा । अवकृष्य सुभक्तितोऽचिरात त्रिश्रुलाया उदितं श्रचीन्दिरा॥१४॥

पुनः उस शबी रूपी लक्ष्मी ने समुद्र की वेला को प्राप्त हुए कौस्तुभमणि के समान त्रिशला माता से प्रगट हुए जिन भगवान को लाकर शीब ही स्रति भक्ति से हरि रूप इन्द्र को सौंप दिया॥ १४॥ जिनवन्द्रमसं प्रपश्य तं जगदाह्यादकरं समुन्नतम् । करकज्जपुगं च कुड्मलीभवदिन्द्रस्य वर्भो किलाऽच्छलि ॥१५॥

जगत् को आहादित करने वाले पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान समुज्ञत जिन चन्द्र को देखकर इन्द्र के छल-रहित कर-कमल-पुगल मुकुलित होते हुए शोभा को प्राप्त हुए॥ १४॥

भावार्थ:- चन्द्र को देखकर जैसे कमल संकृचित हो जाते हैं, उसी प्रकार भगवान रूप चन्द्रमा को देखकर इन्द्र के हस्त रूप कमल युगल भी संकृचित हो गये (जुड़ गये)। श्रयीत् इन्द्र ने हाथ जोड़कर भगवान को नमस्कार किया।

बृहदुन्नतवंशशालिनः शिरसीत्थं मुकुटानुकालिनम् । समरोपयदेष सम्ततं पुनरैरात्रणवारणस्य तम् ॥१६॥

पुनः इस इन्द्र ने बड़े उन्नत वंशशाळी ऐरावत हाथी के सिर पर मुकुट का अनुकरण करने वाले उन जिन भगवान् को विराजमान किया ॥ १६ ॥

सुरशैलस्रपेत्य ते पुनर्जिनजन्माभिषवस्य वस्तुनः । विषयं मनताऽथ सुद्धुरा परिकर्तुः प्रतिचक्रिरे सुराः ॥१७॥

पुनः वे सब देव मुरशैल (सुमेर) को प्राप्त होकर भगवान् को जन्माभिषेक का विषय बनाने के लिये अर्थात् अभिषेक करने के लिए हर्षित चित्त से उद्यत हुए॥ १७॥

सुरद्दितशिरःस्थितोऽभवद् घनसारे स च केशरस्तवः। शरद्श्रसमुच्चयोगरि परिणिष्टस्तमसां स चाप्यरिः।।१८॥ उस समय सुरगज ऐरावत के शिर पर अवस्थित भगवान् ऐसे ज्ञोभित हुए, मानों कर्पूर के समृह पर केशर का गुच्छक ही अवस्थित हो। अथवा शरत्कालीन शुश्र मेघपटल के ऊपर अन्धकार का शत्रु सूर्य ही विराजमान हो ॥ १८॥

वनराजचतुष्टयेन यः पुरुषार्थस्य समर्थिना जयन् । प्रतिभाति गिरीश्वरः स च सफलच्छायविधि सदाचरन्॥१९॥

पुरुष के चार पुरुषार्थों को समर्थन करने वाले चार वनराजों से विजयी होता हुआ वह गिरिराज सुमेरु सदा फल और छाया की विधि को आचरण-सा करता हुआ प्रतिभासित हो रहा था॥ १६॥

भावार्थ: - जैसे कोई पुरुष चारों पुरुषार्थ को करता हुआ सफल जीवन-यापन करता है, उसी प्रकार यहां सुमेरु भी चारों ओर वनों से संयुक्त होकर नाना प्रकार के फलों और छाया को प्रदान कर रहा है, ऐसी उसेक्षा यहां किव ने की है।

जिनसञ्चसमन्त्रयच्छलाड् धृतमूर्त्तीनि विभर्ति यो बलात् । अपि तीर्थकरत्वकारणान्युपयुक्तानि गतोऽत्र धारणाम् ॥२०॥

जित-भवतों ने समन्वय के छल से मानों यह सुमेरु तीर्थङ्कर पद के कारण-भूत सोलह कारण भावनात्रों का ही हठात् मूर्ति रूप को धारण कर शोभित हो रहा है।। २०।।

भावार्थ – सुमेरु पर्वत पर अवस्थित सोलह जिनालयों को लक्ष्य करके कवि ने उक्त उत्प्रेक्षा की है।

निजनीतिचतुष्टयान्त्रयं गहनव्याजवशेन धारयन् । निखिलेष्वपि पर्वतेष्वयं प्रशुरूपेण विराजते स्वयम् ॥२१॥ अपनी नीति-चतुष्टय (आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और द्रह-नीति या साम, दाम, दंड औंग भेद ) को चार वनों के व्याज से धारण करता हुआ यह सुमेरु समस्त पर्वतों में स्वयं स्वामी कृप से विराजमान है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥ २१ ॥

गुरुमभ्युपगम्य गौरवे शिरसा मेरुरुवाह संस्तवे । प्रश्चरेष गभीरताविधेः स च तन्वा परिवारितोऽव्निधेः ॥२२॥

जन्माभिषेक के उत्सव के समय जिन-भगवान् की गुण-गरिमा को देखकर सुमेरु ने जगट्-गुरु भगवान् को अपने शिर पर धारण किया। तथा यह भगवान् गम्भीरता रूप विधि के स्वामी हैं, ऐसा समझकर क्षीर सागर ने अपने जल रूप शरीर से भगवान् का अभिषेक किया॥ २२॥

भावार्थ-सुमेरु का गौरव और समुद्र की गंभीरता प्रसिद्ध है। किन्तु भगवान् को पाकर दोनों ने अपना अहंकार छोड़ दिया।

अतिवृद्धतयेव सन्निधि सम्रुपागन्तुमशक्यमम्बुधिम् । अमराः करुणापरायणााः सम्रुपानिन्दुरथात्र निर्घृणाः ॥२३॥

पुनः श्रत्यन्त बृद्ध होने से भगवान् के समीप श्राने को असमर्थ ऐसे क्षीर सागर को खानि-रहित श्रीर करुणा में परायण वे श्रमर-गण उसे भगवान् के पास छाये।। २३।।

सावार्थ - देवगण भगवान् के श्राभिषेक करने के लिए श्लीर-सागर का जल लाये। उसे लक्ष्य करके किन ने यह उत्प्रेक्षा की है, कि वह श्राति वृद्ध होने से स्वयं श्राने में श्रासमर्थ था, सो जल लाने के बहाने से मानों वे श्लीर सागर को ही भगवान् के समीप ले श्राये हैं।

# अयि मञ्जलहर्यु पाश्रितं सुरसार्थप्रतिसेवितं हितम् । निजसञ्चवदम्बुधि क्षणमनुजग्राह च देवतागणः ॥२८॥

हे मित्र ! सुन्दर छहरियों से संयुक्त और सुरस जल रूप अर्थ से, अथवा देव-समूह से सेवित, हितकारी उस क्षीर सागर की आत्मा का उन देवगणों ने अपने भवन के समान ही अनुप्रह किया।। २४।।

## समुदालकुचाश्चितां हितां नितरामक्षतरूपसम्मिताम् । तिलकाङ्कितभालसत्पदामनुगृह्णात्युद्धेः सम सम्पदाम् ॥२५॥

वे देवतागण उदार छीची वृक्षों से युक्त, अखरोट या बहेड़ों के वृक्षों वाछी, तथा तिछक जाति के वृक्षों की पंक्ति वाले समुद्र के तट की सम्पदा का निरीक्षण कर रहे थे। इसका दूसरा अर्थ ली पक्ष में इस प्रकार लेना चाहिए कि उठे हुए कुचों वाछी, अखरह रूप-सौन्दर्थ की घारक, तथा मस्तक पर तिछक छगाये हुए, ऐसी स्त्री के समान समुद्र की तट-सम्पदा को देवताओं ने देखा॥ २४॥

प्रतताविलसन्ततिस्थितिमिति वा नीरदलक्षणान्वितिम् । प्रविवेद च देवता ततः विशदाक्षीरहितस्य तत्त्वतः ॥२६॥

देवों ने उस क्षीर सागर को एक वृद्ध पुरुष के समान अनुभव किया। जैसे वृद्ध पुरुष बिलयों (बुढ़ापे में होने वाली शरीर की सुरियों) से युक्त होता है, उसी प्रकार यह समुद्र भी विस्तृत तरंगों की मालाओं से युक्त है। वृद्ध पुरुष जैसे बुढ़ापे में दन्त-रहित सुख वाला हो जाता है, उसी प्रकार यह क्षीर सागर भी जन्माभिषेक के समय नीर-दल (जलांश) के प्रवाह रूप से युक्त हो रहा है। वृद्ध पुरुष जैसे बुढ़ापे में विश्वद-नयन वाली नायिका से रहित होता है, इसी प्रकार यह समुद्र भी विश्वद क्षीर-(दुग्ध-) तुल्य रस वाला है। अतएव देवों ने उस क्षीर सागर को एक वृद्ध पुरुष के समान ही समझा।। २६।।

### मृदुपन्छवरीतिधारिणी मदनस्यापि विकासकारिणी। शरजातिविलग्नसम्पदा सुखमेतत्त्रणितिः सुरेष्वदात् ॥२०॥

कोमल पत्रों की रीति की धारण करने वाली तथा कोमल चरणों वाली काम की एवं आम्र वृक्ष की विकास-कारिणी शरजाति के घास विशेष से युक्त और वाण के समान कुश उदर वाली ऐसी उस क्षीर सागर की वेला देवों में सुख की देने वाली हुई ॥ २७॥

सुरसार्थपति तमात्मनः प्रभुमित्येत्य सुपर्वणां गणः । वहति सम शिरस्सु साम्प्रत-मभितो बृद्धमवेत्य तं स्वतः ।।२८॥

उस देव-समृह ने सुरस (उत्तम जल) रूप द्यर्थ के स्वामी, अथवा देव-समुदाय के स्वामी उसे द्यपना प्रभु इन्द्र जानकर तथा, सर्व खोर से वृद्ध हुए ऐसे क्षीर सागर को श्रपने शिरों पर धारण किया ॥ २५ ॥

भावार्थ —वे देवगण क्षीर सागर का जल कलशों में भर कर श्रीर श्रपने मस्तकों पर रख कर लाये।

जिनराजतनुः स्वतः शुचिस्तदुपायेन जलस्य सा रुचिः। जगतां हितकृद् भवेदिति हरिणाऽकारि विभोः सवस्थितिः॥२९॥

यद्यपि जिनराज का शरीर स्वतः स्वभाव पवित्र था, तथापि इस

जल को भी भगवान् के शरीर के सम्पर्क से पवित्रता प्राप्त हो और यह सर्व जगत् का दितकारक हो जाय, यह विचार कर इन्द्र ने भगवान् का अभिषेक किया ॥ २६॥

सुरपेण सहस्रसंश्रुजैरभिषिक्तः सहसा स नीरुजैः । न मनागपि खिन्नतां गतः सहितस्तीर्थकरत्वतो यतः ॥३०॥

इन्द्र ने अपनी सहज नीरोग सहस्र भुजाओं से सहसा (एक साथ ही एक हजार कलशों से ) अभिषेक किया, किन्तु बाल रूप भगवान् जरा-सी भी खिन्नता को प्राप्त नहीं हुए। सो यह उनके तीर्थक्कर प्रकृति-युक्त होने का प्रताप है।। ३०।।

कुसुमाञ्जलिबद्धसृब साऽम्बुततिः पुष्टतमेऽतिसंग्सात् । निजगाद स विस्मयो गिरा भुवि वीरोऽयमितीह देवराट् ॥३१॥

अत्यन्त पुष्ट अर्थात् वस्त्रमयी भगवान् के शरीर पर अत्यन्त उत्साह से छोड़ी गई वह विशाल जल की धारा पुष्पों की अधिल के समान प्रतीत हुई। उसी समय देवराज इन्द्र ने आश्चर्य-चिकत होकर परम हुई से 'यह वीर जिनेन्द्र हैं' ऐसा अपनी वाणी से कहा॥ ३१॥

परितः प्रचलज्जलज्जलान्निखिलाश्चापि दिशः समुज्ज्वलाः । स्मितपुक्तमुखा इवाबभुरभिषिक्तः स यदा जिनप्रसः ॥३२॥

जिस समय श्री जिनप्रभु का अभिषेक किया गया उस समय सर्व और फैलते हुए जल के बहाने से मानों सभी दिशाएँ अति उज्ज्वल मन्द हास्य युक्त मुख बाली-सी शोभित हुईं।। ३२॥ तरलस्य ममाप्युपायनं प्रभुदेहं दिवसेऽध यत्युनः । जलमुच्चलमाप तावतेन्द्रपुरं सम्प्रति हर्षसन्ततेः ॥३३॥

आज के दिन अति चंचल भी मैं भगवान् की देह का उपहार बना, यह सोच करके ही मानों श्लीर सागर का वह जल अपनी हुई-परम्परा से इन्द्र के पुर तक ऊपर पहुँचा ।। ३३ ॥

शिना ऽऽप विश्वस्तु काश्चन-कलशाली सह सन्ध्यया पुनः। प्रसरज्जलसन्ततिः सतां हृदये चन्द्रिकया समानताम् ॥३४॥

स्रभिषेक के समय भगवान ने तो चन्द्र के साथ, सुवर्ण कलशों की पंक्ति ने सन्ध्या के साथ स्रौर फैलते हुए जल की परम्परा ने चन्द्रिका के साथ सज्जनों के हृदय में समावता प्राप्त की ॥ २४ ॥

कथमस्तु जडप्रसङ्गताऽखिलविज्ञानविधायिना सता । सह चेति सुरेशजायया स पुनः प्रोञ्छित ईश्वरो रयात् ॥३५॥

समस्त विज्ञान के विधायक इन संत भगवान के साथ जड़ (जल और मूर्ख मनुष्य) का प्रसंग कैसे होवे, ऐसा विचार करके ही मानों इन्द्र की इन्द्राणी ने भगवान् के शरीर को शीवता से पोंछ दिया ।। ३४ ।।

स्फटिकामकपोलके विभोः स्वहगन्तं प्रतिविस्वितं च भोः। परिमार्जितुमादता शची व्यतस्त्सत्स्वथ सस्मितां रुचिम् । ३६॥

भगवान् के स्फटिक मणि के तुल्य स्वच्छ कपोल पर प्रतिविध्वित अपने कटाक्ष को (यह कोई कालिमा लग रही है, यह समझ कर के) बार-वार परिमार्जन करने को उद्यत उस इन्द्राणी ने देवों में मन्द्र हास्य-युक्त शोभा को प्रदान किया ॥ ३६ ॥

भावार्ध—भगवान् के कपोल पर प्रतिविम्बत अपने ही कटाक्ष को श्रम से बार-बार पोंछने पर भी उसके नहीं मिटने पर देवगण इन्द्राणी के इस भोलेपन पर हंसने लगे।

प्रीतिमात्रावगम्यत्वात्तिदानीं पुरुोमजा । भृषणेभू पयामास जगदेकविभृषणम् ॥ ३७ ॥

यद्यपि भगवान् सहज ही आति सुन्दर थे, तथापि नियोग को पूरा करने के छिए इस समय हर्षित इन्द्राणी ने जगत् के एक मात्र (अद्वितीय) आभूषण-स्वरूप इन भगवान् को नाना प्रकार के भूषणों से विभूषित किया ॥ ३७ ।

कृत्वा जन्ममहोत्सवं जिनपतेरित्थं सुरा सादरं श्राघाऽधीनपदैः प्रशाय पितरं सम्पूज्य वा मातरम् । सम्पोष्यापि पुरप्रजाः सुललितादानन्दनाटचादरं स्वं स्वं धाम ययुः समर्प्य जिनपं श्रीमातुरङ्के परम् ॥३८॥

इस प्रकार आदर के साथ सर्व देवगण जिनपति वीर भगवान् के जन्माभिषेक का महान् उत्सव करके और अत्यन्त प्रशसनीय बचनों से सिद्धार्थ पिता को प्रसन्न कर तथा त्रिशला माता की पूजा करके, एवं अपने सादर किये हुए आनन्द नाटक (ताएडव नृत्य) से पुरवासी लोगों को आनन्दित करके और माता की गोद में भग-वान् जिनेन्द्र को सौंप करके अपने-अपने स्थान को गये॥ ३०॥ श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भ जः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं वाणीभूषण-वर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् । आगत्याथ सुरैरकारि च विभोर्मेरी समासेचन-मित्यस्याभिनिवेदितेऽत्र निरगात्सर्गो नयप्रार्थनः॥७॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भु ज और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए, वाणी-भूषण, वालब्रह्मचारी पं० भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञान-सागर द्वारा विरचित इस काव्य में वीर भगवान् के जन्माभिषेक का वर्णन करने वाला यह नयों की संख्या वाला सातवां सर्ग समाप्त हुआ।। ७।।



#### Veerodaya (2 of 2) by Gyansagar

(१२३)

अथ अष्टमः सर्गः

पितापि ताबदाबाञ्छीत् कर्तुः जनमसहोत्सवम् । किम्रु सम्भवतानमोदो मोदके परमक्षिते ॥१॥

अथानन्तर पिता श्री सिद्धार्थ ने भी भगवान के जन्म-महोत्सव को करने की इच्छा की। सो ठीक ही है, क्योंकि दूसरे के द्वारा मोदक (छड्डू) के खाये जाने पर क्या दर्शक को भी मोदक खाने जैसा प्रमोद संभव है ? कभी नहीं।। १।।

समभ्यवाञ्छि यत्तेन प्रागेव समपादि तत् । देवेन्द्रकोषाध्यक्षेण वाजुछा वनध्या सतां न हि ॥२॥

सिद्धार्थ ने बीर भगवान् के जन्म महोत्सव मनाने के लिए जो जो सोचा, उसे इन्द्र के कोषाध्यक्ष कुबेर ने सोचने से पहिले ही सम्पादित कर दिया। सो ठीक ही है, क्योंकि सुकृतशालियों की बांछा कभी बन्ध्या (ब्बर्थ) नहीं होती है।। २।।

सुधाश्रयतया रूपातं चित्रादिभिरलङ्कृतम् । रेखानुविद्धभामापि स्वर्गवत्समभातपुरम् ॥३॥

चूने की सफेदी के आश्रय से उड्डवल, नाना प्रकार के चित्र आदि से अलंकुत, एक पंक्ति-बद्ध भवन वाला वह नगर स्वर्ग के समान सुशोभित हुआ। जंसे स्वर्ग सुधा (अमृत) से, चित्रा आदि अप्सराओं से और लेखों (देवों) से युक्त रहता है॥ ३॥

मानोन्नता गृहा यत्र मत्तवारणराजिताः । विश्रदाम्बरचुम्बित्वात्सम्बभृवुनु पा इव ॥४॥ वहां पर अपनी ऊंचाई से उन्नत सुन्दर बरामदों से शोभित भवन निर्मेल आकाश को चूमने वाले होने से राजाओं के समान प्रतीत हो रहे थे। जैसे राजा लोग निर्मेल वस्त्र के धारक, मदोन्मत्त गज सेना से युक्त एवं सन्मान से संयुक्त होते हैं॥ ४॥

नटतां तटतामेवं द्धत्संकटतामपि । असंकटमभृद्राजस्थानं निद्रीपद्र्यनम् ॥५॥

नृत्य करते हुए नर्तकों से ऋौर ऋाने-जाने वाले लोगों से संकट-पने को (भीड़-भाड़ को) धारण करता हुआ भी वह राज-भवन संकट-रहित और निर्दोष दिखाई दे रहा था।। ४॥

> श्रिया सम्बर्धमानन्तमनुक्षणमपि प्रश्रम् । श्रीवर्धमाननामाऽयं तस्य चक्रे विशामपतिः ॥६॥

सिद्धार्थ राजा ने प्रतिक्षण श्री श्रर्थात् शारीरिक सौन्दर्थ से वृद्धि-गत होते हुए उन प्रभु का 'श्री वर्धमान' यह नास रखा॥ ६॥

> इङ्गितेन निजस्याथ वर्धयनमोदवारिधिम् । जगदाह्वादको बालचन्द्रमाः समवर्धत ॥७।

श्रथानन्तर अपने इंगित से श्रर्थात् बाल-सुलभ नाना प्रकार की चेष्टा रूप क्रिया-कलाप से जगत् को श्राह्णादित करने वाले वे बाल चन्द्र-स्वरूप भगवान् संसार में हर्ष रूपी समुद्र को बढ़ाते हुए स्वयं बढ़ने लगे।। ७।।

> रराज मातुरुत्सङ्गे महोदारविचेष्टितः । क्षीरसागरवेलाया इवाङ्के कीन्तुभो मणिः ॥८॥

महान् उदार-चेष्टात्रों को करने वाले वे भगवान् माता की गोद में बैठकर इस प्रकार से शोभित होते थे, जिल प्रकार से कि शीर-सागर की बेला के मध्यभाग पर अवस्थित कौस्तुभमणि शोभित होता है॥ =॥

अगादिष पितुः पार्श्वे उदयाद्रेरिवां श्रमान् । सर्वस्य भृतलस्यायं चित्ताम्भोजं विकासयन् ॥९॥

कभी-कभी वे भगवान् समस्त भूतलवासी प्राणियों के चित्त रूप कमलों को विकसित करते हुए उदयाचल पर जाने वाले सूर्य के समान पिता के समीप जाने थे।। ६।।

देवतानां कराग्रे तु गतो ऽयं समभावयत्। बल्लीनां पल्लबग्रान्ते विकासि कुसुमायितम् ॥१०॥

देवताओं के हस्तों के अप्रभाग पर अवस्थित वे भगवान इस प्रकार से सुशोभित होते थे, जिस प्रकार से कि, छताओं के पल्छवों के अन्त में विकसित कुसुम शोभा को धारण करता है।। १०॥

कदाचिच्चेद्धुवो भालमलञ्जके तदा स्मितम् । तदङ्घिनखरश्मीनां व्याजेनाप्याततान सा ॥११॥

कदाचित् पृथ्वी पर खेळते हुए भगवान् उसके मस्तक को इस प्रकार से अळंकत करते थे, मानों उनके चरणों के नखों की किरणों के बहाने से वह पृथ्वी अपनी मुस्कराहट को ही चारों और केला रही है। ११॥

## यदा समन्यस्केषु बालोऽयं समन्तति । अस्य स्कृतिर्विभिन्नेत्र काचेषु मणित्रचदा ॥१२॥

जब यह बाल स्वरूप भगवान् अपने समवयस्क बालकों में खेला करते थे, तो उनकी शारीरिक प्रभा औरों से विशेषता को लिए हुए पृथक् ही दिखाई देती थी, जैसे कि काचों के मध्य में अवस्थित मणि की शोभा निराली ही दिखती है।। १२॥

समानायुष्कदेवीय-मध्येऽथी बालदेवराट् । कालक्षेपं चकारासी रममाणी निजेच्छवा ।१३॥

इस प्रकार समान अवस्था वाले देव-कुमारों के समूह के बीच अपनी इच्छानुसार नाना प्रकार की कीड़ाओं को करते हुए वे देवा-धिपति बाल जिनदेव समय ज्यतीत कर रहे थे॥ १३॥

> दण्डमापद्यते मोही गर्तमेत्य मुहुर्मु हुः । महात्माऽनुबभ्वेदं बाल्यकीडामु तत्परः ॥१४॥

बाल्य-क्रीड़ाओं में तत्पर यह महात्मा बीर प्रभु गिल्ली डण्डा का खेळ खेळते हुए ऐसा अनुभव करते थे कि जो मोही पुरुष संसार रूप गड्डे में गिर पड़ता है, वह बार-बार इस गिछी के समान दण्ड को प्राप्त होता है।। १४॥

भावार्थ — जैसे गहु में पड़ी गिल्ली वार-वार डएडे से पीटे जाने पर ही ऊपर को उठकर आती है, इसी प्रकार से जो मोही जन संसार रूप गर्त में पड़ जाने हैं, वे वार-वार नाना प्रकार के दुःख रूप डएडों से दिएडत होने पर ही ऊपर आते हैं, अर्थीन अपना उद्धार कर पाते हैं।

## परप्रयोगतो दृष्टेराच्छाद्नमुपेयुषः । श्चिरस्याघात एव स्यादिगान्ध्यमिति गच्छतः ॥१५॥

कभी-कभी आंख-िमचौनी का खेल खेलते हुए वे बाल रूप बीर भगवान ऐसा अनुभव करते थे कि जो जीव पर-प्रयोग से अपनी दृष्टि के आच्छादन को प्राप्त होता है, अर्थात् अनात्म-बुद्धि होकर मोह के उदय से जिसका सस्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है, वह दिगान्ध्य होकर किर के आधात को ही प्राप्त होता है ॥ १४॥

भावार्थ — आंख-िमचौनी के समान ही जिस जीव की हिष्ट मोह-कर्म के द्वारा आच्छादित रहती है, वह दूसरों से सदा ताड़ना ही पाता है और दिशान्ध होकर इधर-उधर भटकता रहता है।

## नवालकप्रसिद्धस्य बालतामधिगच्छतः । मुक्तामयतयाऽप्यासीत्कुवलत्वं न चास्य तु ॥१६॥

यद्यपि वीर भगवान् बालकपन को धारण किये हुए थे, किर भी वे न बालक प्रसिद्ध थे, अर्थात् बालक नहीं थे। यह विरोध हुआ। इसका परिहार यह है कि वे नित बढ़ने वाले नवीन बालों (केशों) से युक्त थे। तथा वे मुक्तामय (मोती रूप) होकर के भी कुबल (मोती) नहीं थे। यह विरोध हुआ। इसका परिहार यह है कि ये भगवान् मुक्त-आमय अर्थात् रोग-रहित थे, अतएव दुर्बल नहीं, अपितु अतुल बलशाली थे। १६॥

अतीत्य बाऽलस्यभावं कीमारमतिवर्त्यं च । समक्षतीचितां काय-स्थितिमाप महामनाः ॥१७॥ उन महामना भगवान् ने खालस्य-रहित होकर, तथा बालकपने को विताकर, एवं कुमारपने का उल्लंघन कर किन्तु कामदेव की की वासना से रहित होकर रहते हुए सुन्दर, सुडील अवयवों वाली सर्वाङ्ग पूर्ण यौवन अवस्था रूप शारीरिक स्थिति को प्राप्त किया। अर्थान् युवावस्था में प्रवेश किया।। १७॥

> नाभिमानप्रसङ्गेन कासारमधिगच्छता । न मत्सरस्वभावत्वस्रुपादायि महात्मना ॥१८॥

भगवान् उस अवस्था में निरिममानपने से कासार, अर्थात् आत्म-चिन्तन करते हुए छोगों में मत्सर भाव से रहित थे। दूसरा अर्थ यह है कि अपनी नाभि के द्वारा सौन्दर्य प्रकट करते हुए वे कासार अर्थात् सरोवर की उपमा को धारण करते थे।। १८।।

> मृदुपन्लवतां वाचः स्फुरणे च करद्वये । शरधिप्रतिमानत्वं चित्ते चोरुषुणे पुनः ॥१९॥

युवावस्था में भगवान् वचन-स्कुरण, अर्थात् बोलने में गृदु-भाषिता को और दोनों हाथों में कोमल-पल्लवता (कोपल समान मृदुता) को, तथा चित्त में और दोनों जंबाओं में शरधि-समानता को धारण करते थे। अर्थात् चित्त में तो शरधि (जलिब) के समान गम्भीरता थी और जंबाओं में शरिध (तूणीर) के समान उतार चढ़ाव वाली मांसलता थी॥ १६॥

> व्यासीपसंगृहीतत्वं यस्य वक्षसि वेदवत् । स्फुरत्तमःस्वभावत्वं कचयुन्दे च नक्तवत् ॥२०॥

उन भगवान् के वक्षःस्थल में वेद के समान व्यासोपसंगृहीतता

थी, अर्थात् जैसे ज्यासजी ने वेदों का संकलन किया है, उसी प्रकार भगवान् का वक्षस्थल ज्यास वाला था, अर्थात् अति विस्तृत था। उनके केश-समृह में रात्रि के समान स्कृटित-तमःस्वभावता थी, अर्थात् उनके केश चमकदार और अत्यन्त काले थे।। २०॥

# अविकल्पकतोत्साहे सौगतस्येव दर्शने । परानुग्रहता यस्य चित्ते वृधनभोगवत् ॥२१॥

सौगत (बौद्ध) के दर्शन के समान भगवान के उत्पाह में निर्विकल्पकता थी, तथा चित्त में बुध नक्षत्र के समान परानुब्रहता थी।। २१॥

भावार्थ - भगवान् चित्त में उत्साह युक्त रहते हुए भी संकल्प विकल्प रहित थे और वे सदा दूसरों का अनग्रह (उपकार) करने को तत्पर रहते थे।

सुतरूपस्थिति दृष्ट् श तदा रामोपयोगिनीम् । कन्यासमितिमन्देष्टं प्रचकाम प्रभोः पिता ॥२२॥

उस युवावस्था में अपने पुत्र की रामोपयोगिनी अर्थात् विवाह के योग्य स्थिति को देखकर प्रभु के पिता ने कन्याओं के समूह को दृंदने का उपक्रम किया। दूसरा श्रिष्ट अर्थ यह है कि आराम (उद्यान) के योग्य सुन्दर तरुओं (बृक्षों) की उपस्थिति को देखकर उसे क-न्यास अर्थात् जल-सिंचन के लिए राजा ने विचार किया।। २२॥

प्रभुराह निशम्येदं तात! तावित्कमुधते। दारुणेत्युदिते लोके किमिष्टेऽहं सदारताम्।।२३।। पिता के इस विवाह-प्रस्ताव को सुनकर भगवान बोले—हे तात! यह आप क्या कहते हैं ? छोक की ऐसी दारण स्थिति में में क्या सदारता को स्वीकार करूं ? दूसरा ऋषार्थ यह है कि दारु (काष्ठ) से निर्मित इस छोक में सदारता (सदा + अरता) अर्थान करपत्रता या करोंतपना अंगीकार करूं ? जैसे छकड़ी करोंत से कटकर खंड-खंड हो जाती है, वैसे ही क्या में भी सदारता को प्राप्त करके उसी प्रकार की दशा को प्राप्त होऊं।। २३।।

प्रत्युवाच वचस्तातो जगदीश्वरमित्यदः । नारी विना क नुश्छाया निश्चाखस्य तरोरिव ॥२४॥

भगवान् के उक्त वचन सुनकर पिता ने जगदीश्वर वीर भगवान् से पुनः कहा—नारी के विना नर की छाया (शोभा) कहां संभव है १ जैसे कि शासा-रहित वृक्ष की छाया सम्भव नहीं है।।९४।।

एतद्वचोहिमा ऽऽक्रान्त-मनःकमलतां दथत् । नानुजानामि माता ते श्वश्रृनाम न सम्बहेत् ॥२५॥

हिम (बर्फ) से त्र्याकान्त कमल की जैसी दशा हो जाती है, भगवान् के बचन से वैसी ही मनः स्थिति को प्राप्त होते हुए पिता ने पुनः कहा — तुम्हारी माता कभी 'सास्' इस नाम को नहीं धारण करेगी, ऐसा मैं नहीं जानता था। २४॥

भावार्थ:- मुक्ते तुमसे यह आशा नहीं थी कि तुम विवाह के प्रस्ताव को इस प्रकार अभीकार कर माता को सासू वनाने का अवसर नहीं दोंगे।

किमु राजकुलोत्पन्नो हेतुनापि विनाऽङ्गज । युवतीर्थोऽत्र युवतिरहितो भवतादिति ॥२६॥ पिता ने पुनः कहा-हे आत्मज ! विना किसी कारण के ही क्या राजकुछ में उत्पन्न यह युवतीर्थ (युवावस्थारूपी तीर्थ) युवती-रहित ही रहेगा १ अर्थात् अविवाहित रहने का तुम्हें कोई कारण तो वतलाना चाहिए ॥ २६ ॥

पुत्रप्रेमोद्भवं मोहं पितुर्ज्ञात्वा प्रभुः पुनः । विनयेनेति सम्बक्तं समारेभे महामनाः ॥२७॥

पिता के पुत्र-प्रेस से उत्पन्न हुए इस मोह को देखकर महामना वीर भगवान् ने पुनः विनय के साथ इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया । २७॥

करत्रमेकतस्तात परत्र निखिलं जगत्। प्रेमपात्रं किमित्यत्र कर्तव्यं त्रूहि धीमता ॥२८॥

हे तात ! एक छोर कलत्र (स्त्री) है और दूसरी छोर यह सर्व दुःखी जगत् हैं । हे श्रीमन् ! इनमें से मैं किसे अपना प्रेम-पात्र बनाऊं ? मेरा क्या कर्त्तिव्य है ? इसे छाप ही बतलाइये ॥ २५॥

किमस्मदीयबाहुभ्यां प्रियाया गलमालमे । भूर्त्तीनां पात्रतो जन्तून् ताभ्यामुन्मोचयेऽथवा ॥२९॥

क्या मैं अपनी इन समर्थ भुजाओं से प्रिया के गले का आलि-इन करूं, अथवा इनके द्वारा धूर्वों के जाल से इन दीन प्राणियों को छुड़ाऊं ? (आप ही बतलाइये) ॥ २६॥

प्रायो ऽस्मिन् भूतले पुंसो बन्धनं स्त्रीनिबन्धनम् यदभावे परं किञ्चित सम्भवेच्च न बन्धनम् ॥३०॥ प्राय: इस भूतल पर पुरुष के स्त्री का बन्धन ही सबसे बड़ा बन्धन है, जिसके अभाव में और कोई दूसरा बन्धन सम्भव नहीं है। अर्थात् कुटुम्ब आदि के अन्य बन्धन स्त्री के अभाव में सम्भव नहीं होते हैं।। ३०।।

हृषीकाणि समस्तानि माद्यन्ति प्रमदाऽऽश्रयात् । नो चेत्पुनरसन्तीव सन्ति यानि तु देहिनः ॥३१॥

प्रमदा (स्त्री) के आश्रय से ये समस्त इन्द्रियां मद को प्राप्त होती हैं। यदि स्त्री का सम्पर्क न हो तो फिर ये देहधारी के होती हुई भी नहीं होती हुई सी रहती हैं।। ३१।।

तदीयरूपसीन्दर्यामृतराशेः सदाऽतिथी । निजनेत्रक्षपे कर्तुः चित्तमस्य प्रसर्पति ॥३२॥

स्त्री के होने पर मनुष्य का चित्त अपने दोनों नयन रूप मीनों को उसके रूप-अमृतसागर का अतिथि बनाने के लिए सदा उत्पुक रहता है। अर्थात् वह फिर सदा स्त्री के रूप सौन्दर्य के सागर में ही गोते लगाया करता है।। ३२।।

यन्मार्दवोपदानायोद्धर्त्तनादि समज्र्धते । सदा मखमलोत्तृलशयनाद्यनुकुर्वता ॥३३॥

और स्त्री होने पर ही; यह मनुष्य सदा मखमळी विश्तरों पर इायन-आसन आदि को करता हुआ शरीर की मार्दवता के लिए उबटन, तेळ-मर्दन आदि को किया करता है।। ३३॥

न हि किञ्चिदगन्धत्वमन्धत्वमधिगच्छता । इति तैलकुलेलादि सहजं परिगृह्यते ॥३४॥ मेरे शरीर में कदाचित् कुछ भी दुर्गन्थ प्राप्त न हो जाय, इसी विचार से स्त्री के प्रेम में अन्धा बनकर मनुष्य रात-दिन तेल-फुलेल आदि को सहज में ही प्रहण करता रहता है ॥ ३४॥

प्रसादयितुमित्येतां वपुषः परिपुष्टये । वाजीकरणयोगानामादरः क्रियतेऽन्वहम् ॥३५॥

आर अपनी स्त्री को प्रसन्न करने के छिए शरीर की पृष्टि करने वाले वाजीकरण प्रयोगों में सदा आदर करता है, अर्थात् नित्य ही पृष्टि-कारक एवम् बल-वीर्य-वर्धक औषधियों का सेवन करता रहता है ॥ ३४॥

वदत्यपि जनस्तस्यै श्रवसोस्तृप्तिकारणम् । स्वकर्णयोः सुधास्त्ति तद्वचः श्रोतुमिच्छति ॥३६॥

मनुष्य स्त्री को प्रसन्न करने के लिए तो स्त्री से मीठे वचन बोलता है और उस स्त्री के वचन कानों को तृप्ति के कारण है, इसलिए अपने कानों में सुधा को प्रवाहित करने वाले उसके वचनों को सुनने के लिए मनुष्य सदा इच्छुक रहता है। इस प्रकार स्त्रियों के निमित्त से पुरुष उसका दास बन जाता है।। ३६।।

इन्द्रियाणां तु यो दासः स दासो जगतां भवेत् । इन्द्रियाणि विजित्यैव जगज्जेतृत्वमाप्नुयात् ।।३७॥

हे तात ! सच बात तो यह है कि जो इन्द्रियों का दास है, वह सर्व जगत् का दास है। किन्तु इन्द्रियों को जीत करके ही मनुष्य जगज्जेतृत्व को प्राप्त कर सकता है।। ३७॥ सद्योऽपि वशमायान्ति देवाः किम्रुत मानवाः । यतस्तद्ब्रह्मचर्यः हि व्रताचारेषु सम्मतम् ॥३८॥

जो पुरुष ब्रह्मचारी रहता है, उसके देवता भी शीव वश में आ जाते हैं, फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या है। इसीछिए ब्रह्मचर्य सर्व ब्रताचरणों में श्रेष्ट माना गया है।। ३८॥

पुरापि श्रूयते पुत्री त्राह्मी वा सुन्द्री पुरोः । अनुचानत्वमापन्ना स्त्रीषु शस्यतमा मता ॥३९॥

सुना जाता है कि पूर्वकाल में भी पुरुदेव ऋषभनाथ की सुपुत्री बाह्यी ख्रौर सुन्दरी ने भी ब्रह्मचर्य को अंगीकार किया है ख्रौर वे सर्व स्त्रियों में प्रशस्ततम (सर्वश्रेष्ठ) मानी गई हैं।। ३६॥

उपान्त्योऽपि जिनो बाल-ब्रह्मचारी जगन्मतः। पाण्डवानां तथा भीष्म-पिताण्ह इति श्रुतः ॥४०॥

उपान्त्य जिन पार्श्वनाथ भी बाल ब्रह्मचारी रहे हैं, यह सारा जगत् जानता है। तथा पारहवों के भीष्म पितामह भी स्राजीवन ब्रह्मचारी रहे, ऐसा सुना जाता है।। ४०।।

अन्येऽपि बहवो जाताः कुमारश्रमणा नराः । सर्वेष्वपि जयेष्वग्र-गतः कामजयो यतः ॥४१॥

अन्य भी बहुत से मनुष्य कुमार-श्रमण हुए हैं, अर्थात् विवाह न करके कुमार-काल में ही दीक्षित हुए हैं। हे तात ! अधिक क्या कहें—सभी विजयों में काम पर विजय पाना अधगण्य है।। ४१॥ हे पितो ऽयमितो ऽस्माकं सुविचारविनिश्रयः । नरजनम दथानो ऽहं न स्यां भीरुवशंगतः ॥४२॥

इसलिए हे पिता ! हमारा यह दृढ़ निश्चित विचार है कि मनुष्य जन्म को धारण करता हुआ मैं स्त्री के वज्ञगत नहीं होऊंगा ॥ ४२ ॥

कि राजतुक्तोद्वाहेन प्रजायाः सेवया तु सा । तद्र्थमेवेदं ब्रह्मचर्यमाराधयाम्यहम् ॥४३॥

श्रीर जो श्रपने विवाह करने से राजपुत्रता की सार्थकता कही, सो उससे क्या राजपुत्रपना सार्थक होता है ? वह तो प्रजा की सेवा से ही सार्थक होता है। श्रतएव प्रजा की सेवा के छिए ही मैं ब्रह्मचर्य की श्राराधना करता हूँ॥ ४३॥

राज्यमेतदनर्थाय कौरवाणामभृदहो । तथा भरत-दोःशकत्योः प्रपञ्चाय महात्मनोः ॥४४॥

संसार का यह राज्य तो अनर्थ के लिए ही है। देखो—कौरवों का इसी राज्य के कारण विनाश हो राया। भरत और बाहुबली जैसे महापुरुषों के भी यह राज्य प्रपच का कारण बना।। ४४॥

राज्यं भुवि स्थिरं काऽऽसीत्प्रजायाः मनसीत्यतः । शास्वतं राज्यमध्येतं प्रयते पूर्णस्त्यतः ॥४५॥

श्रीर फिर यह सांसारिक राज्य स्थिर भी कहां रहता है ? श्रतएव मैं तो प्रजा के मन में सदा स्थिर रहने वाला जो शाश्वत राज्य है उसके पाने के लिए पूर्ण रूप से प्रयत्नशील हूँ॥ ४४॥ निशम्य युक्तार्थेधुरं पिता गिरं परपर्श बालस्य नवालकं शिरः। आनन्दसन्दोहसमुल्लसङ्गपुस्तया तदास्येन्दुमदो हशः पपुः ॥४६॥

भगवान् की यह युक्ति-युक्त वाणी को सुनकर के आनन्द-सन्दोह से पुलकित शरीर होकर पिता ने अपने वालक के नव अलक (केश) वाले शिर का स्पर्श किया और उनके नेत्र भगवान् के मुखकूप चन्द्र से निकलने वाले अमृत को पीने लगे॥ ४६॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भे जः स सुबुवे भ्रामलेत्याह्वयं वाणीभ्षणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् । वीरस्य क्रमतोऽभिचृद्धय युवतामान्तस्य पित्रार्थनाऽ-भृद्धौवाहिकसम्बिदेऽवददसौ निष्कामकीर्तिं तु ना ॥८॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्मु जजी श्रीर घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणीभूषण बाल ब्रह्मचारी पं० भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर द्वारा विरचित इस कान्य में वीर भगवान् की शल्यावस्था से युवा-वस्था को प्राप्त होने पर पिता के द्वारा प्रस्तावित विवाह की अस्वी-कारता और गृह-त्याग की भावना का वर्णन करने वाला यह श्राठवां सर्ग समाप्त हुआ। । प्रा



## अथ नवमः सर्गः

अथ प्रभोरित्यभवन्मनोधनं निभालयामो वठरं जगज्जनम् । वृषं विज्ञम्पन्तमहो सनातन यथातम विष्वक्तनुभृन्निभालनम् ॥१॥

विवाह कराने का प्रस्ताव स्वीकार न करने के पश्चात् वीर प्रमु के मन में यह विचार उत्पन्न हुन्या — त्रहो मैं संसार के लोगों को मूर्खता त्रोर मूढ़तात्रों से भरा हुन्या देख रहा हूँ। तथा प्राणिमात्र को ऋपने समान समझने वाला सनातन धर्म विलुप्त होता हुन्या देख रहा हूँ, इसलिए मुक्ते उसकी संभाल करना चाहिए॥१॥

तिष्ठेयमित्यत्र सुखेन भृतले स्खलतः थान्यः स पुनः परिस्खलेत् । कि चिन्तया चान्यजनस्य मनमनस्यमुं स्वसिद्धान्तसुपैत्यहो जनः॥

श्रहो, ये संसारी लोग किनने स्वार्थी हैं। वे सोचते हैं—िक संसार में मैं सुख से रहूँ, यिंट अन्य कोई दु:ख में गिरता है, तो गिरे, हमारे मन में अन्य जन की चिन्ता क्यों हो १ इस प्रकार सर्व जन अपने-अपने स्वार्थ-साधन के सिद्धान्त को प्राप्त हो रहे हैं॥ २॥

स्वीयां पिपासां शमयेत् परामुजा क्षुधां परप्राणविपत्तिभिः प्रजा । स्वचनुषा स्वार्थपरायणां स्थिति निभालयामो जगतीदशीमिति ।

श्राज होग दूसरे के खून से अपनी प्यास शान्त करना चाहते हैं और दूसरे के प्राणों के विनाश से अर्थात् उनके मांस से अपनी भूख मिटाना चाहते हैं। आज मैं अपनी आंख से जगत् में ऐसी स्वार्थ-परायण स्थिति को देख रहा हूँ॥ ३॥ अजेन माता परितुष्यतीति तन्निगद्यते धूर्तजनैः कद्धितम् । पिवेन्तु मातापि सुतस्य शोणितमहो निशायामपि अर्थमोदितः ॥

श्रहो ! धूर्त्त जन कहते हैं कि जगदम्बा वकरे की बिल से सन्तुष्ट होती है ! किन्तु यदि माता भी पुत्र के खून को पीने लगे, तब तो किर रात्रि में भी सूर्य उदित हुआ समझना चाहिए॥ ४॥

जाया-सुतार्थः श्रुवि विस्फुरन्मनाः कुर्यादजायाः सुतसंहतिं च ना । किसुच्यतामीदृशि एवमार्थता स्ववाञ्छितार्थः विदन्धकार्यता॥॥॥

इस भूतल पर आज मनुष्य अपनी स्त्री के पुत्र-लाभ के लिए हर्षित चित्त होकर के अजा (बकरी) के पुत्र का संहार कर रहा है! ऐसी आर्यता (उच कुलीनता) को क्या कहा जाय! यह तो अपने वांलित कार्य की सिद्धि के लिए अनर्थ करने वाली महा नीचता है।। ४।।

गार्हस्थ्य एवाभ्युदिता ऽस्ति निर्वृतिर्यतो नृकीटैर्धियते ऽधुना मृतिः। अत्यक्तदारैकसमाश्रयैः कृती स को ऽपि योऽभ्युज्झितकामसत्कृतिः॥

अहो, आज गाईरूय दशा में ही मुक्ति संभव बतलाई जा रही है। उसी का यह फल है, कि ये नर-कीट स्त्री-पुत्रादि का आश्रय छोड़े विना ही अब घर में मर रहे हैं। आज कोई विरला ही ऐसा इती पुरुष दृष्टिगोचर होता है, जो कि काम-सेवा एव कुटुम्बादि से मोह छोड़ कर आत्म-कल्याण करता हो।। ६।।

जनैर्जरायामिष बाञ्छचते रही न्वीढ्या स्वीदरसम्भवाऽष्यही। विक्रीयते निष्करुणैर्घुगीव तेर्दुष्कामि-सिंहस्य करे स्वयं हतैः॥ त्रहो आज लोग बुढ़ापे में भी नवोढ़ा के साथ संगम चाहते हैं। आज करुणा-रहित हुए कितने ही निर्देशी लोग दुष्काभी सिह के हाथ में अपने उद्र से उत्पन्न हुई बालिका को सुगी के समान स्वयं वेच रहे हैं।। ७।।

जनोऽतियुक्तिगु रुभिश्च संसेजत् पिताऽपि तावत्तनयं परित्यजेत्। वृथाऽरिता सोदरयोः परस्परमपीह नारी-नरयोश्च सङ्गरः॥८॥

आज संसार में मनुष्य अयोग्य वचनों से, गुरू जनों का अप-मान कर रहा है, और पिता भी स्वार्थी बनकर अपने पुत्र का परि-त्याग कर रहा है। एक उदर से उत्पन्न हुए दो सगे भाइयों में आज परस्पर अकारण ही शत्रुता दिखाई दे रही है और स्त्री-पुरूष में कलह मचा हुआ है।। मा।

स्वरोटिकां मोटियतुं हि शिक्षते जनोऽखिलः सम्वलयेऽधुना क्षितेः। न कश्चनाप्यन्यविचारतन्मना चूलोकमेषा ग्रसते हि पूतना ॥९॥

आज इस भूतल पर समस्त जन अपनी-अपनी रोटी को मोटी बनाने में लग रहे हैं। कोई भी किसी अन्य की भलाई का विचार नहीं कर रहा है। अहो, आज तो यह स्वार्थ-परायणता रूपी राक्षमी सारे मनुष्य लोक को ही यस रही है॥ ६॥

जनी जनं त्यक्तु मिवाभिवाञ्छति यदा स शीर्षे परितत्वमञ्जति । नरोऽपि नारीं समुदीक्ष्य मञ्जुलां निषेवते स्नागभिगम्य सम्बलात्।।

आज स्त्री जब अपने पति के शिर में सफेदी देखती है, तो उसे ही छोड़ने का विचार करती है। आज का मनुख्य भी किसी अन्य सुन्दरी को देखकर उसे शीच बलात् पकड़ कर उसे सेवन कर रहा है।। १०॥

स्ववाञ्छितं सिद्धचिति येन तत्पथा प्रयाति लोकः प्रलोकसंकथा । समस्ति तावत्खलता जगन्मतेऽनुसिच्यमाना खलता प्रवर्धते ॥११॥

आज जिस मार्ग से अपने अभीष्ट की सिद्धि होती है, संसार उसी मार्ग से जा रहा है, परलोक की कथा तो आज ख-लता (गगन-लता) हो रही है। आज तो जगन् में निरन्तर सीची जाती हुई खलता (दुर्जनता) ही बढ रही है। ११।

समीहमानः स्वयमेष पायसं समत्तुमाराच्चणभक्षकाय सन्। धरातले साम्प्रतमर्दितोदरः प्रवर्तते हन्त स नामतो नरः ॥१२॥

आज का यह मानव स्त्रयं खीर को खाने की इच्छा करते हुए भी दूसरों को चना खाने के लिए उद्यत देखकर उदर-पीड़ा से पीड़ित हुआ दिखाई दे रहा है। दुःख है कि आज धरातल पर यह नाम-मात्र से मनुष्य बना हुआ है।। १२।।

अहो पश्नमां भ्रियते यतो बिलः श्मसानतामञ्जति देवतास्थली। यमस्थली वाऽतुलरक्तरिज्जता विभाति यस्याः सततं हि देहली॥

श्रहों, यह देवतास्थली (मन्दिरों की पावन भूमि) पशुश्रों की बिल को धारण कर रही है और शमसानपने को प्राप्त हो रही है। उन मन्दिरों की देहली निरन्तर श्रातुल रक्त से रिश्वत होकर यम-स्थली-सी प्रतीत हो रही है। १३।

एकः सुरापानस्तस्तथा वत पलङ्कपत्वात्कवरस्थली कृतम् । केनोदरं कोऽपि परस्य योपितं स्वसात्करोतीतरकोणनिष्ठितः ॥ कहीं पर कोई सुरा- (मिद्रा-) पान करने में संख्य है, तो कहीं पर दूसरा मांस खा-खाकर अपने उदर को कित्रस्तान बना रहा है। कहीं पर कोई मकान के किसी कोने में बैठा हुआ पराई श्री को आत्मसात् कर रहा है।। १४॥

कुतोऽपहारो द्रविणस्य दृश्यते तथोपहारः स्ववचः प्रपश्यते । परं कलत्रं ह्रियतेऽन्यतो हटाद्विकीर्यते स्वोदरपूर्तये सटा।।१४॥

कहीं पर कोई पराये धन का अपहरण कर रहा है, तो कहीं पर कोई अपने भूठे बचन को पुष्ट करने वाले के लिए उपहार दे रहा है। कही पर कोई हठात् पराई स्त्री को हर रहा है, तो कहीं पर कोई अपने उदर की पूर्त्ति के लिए अपनी जटा फैला रहा है॥ १४॥

सुधेश्वरस्य प्रतिपत्तिहेतवेऽथ संहतिर्यत्कियते जवज्जवे । न ताहशीधृमिधनादिकारणानुवृत्तये कीहशि अस्तिधारणा॥१६॥

देखो, आश्चर्य तो इस बात का है कि आज लोग इस संसार में व्यर्थ कल्पना किये गये (अपने मनमाने) ईश्वर की सत्ता सिख करने के लिए जैसी शास्त्रार्थ रूप लड़ाई लड़ रहे हैं, वैसी लड़ाई तो आज भूमि, स्त्री और धनादि कारणों के लिए नहीं लड़ी जा रही है, यह कैसी विचित्र धारणा है।। १६।।

दुर्मोचमोहस्य हतिः कुतस्तथा केनाप्युपायेन विद्रताऽपथात् । परस्परप्रेमपुनीतभावना भवेदमीपामिति मेऽस्ति चेतना ॥१७॥

अतएव इस दुर्मीच (कठिनाई से छूटने वाले) भोह का विनाश कैसे हो, छोग किस उपाय से उत्पय (क्रमार्ग) त्याग कर सत्पय (सुमार्ग) पर आवें और कैसे इनमें परस्पर प्रेम की पवित्र भावना जागृत हो। यही मेरी चेतना है अर्थान् कामना है। (ऐसा भगवान् उस समय विचार कर रहे थे।)॥ १७॥

जाड्यं पृथिव्याः परहर्तुं मेव तिचिन्तापरे तीर्थकरे कृषेव तत् । व्याप्तुं पृथिव्यां कटिबद्धभावतामेतत्पुनः सम्ब्रजति स्म तावता ॥

इस प्रकार भगवान् ने पृथ्वी पर फेली हुई जड़ता (मृह्ता) को दूर करने का विचार करते समय मातों उन पर क्रोधित हुए के समान सारी पृथ्वी पर तत्परता से कटिबद्ध होकर जाड़ा फेल गया। अर्थात् शीतकाल आ गया । १८।।

कन्याप्रस्तस्य धनुःप्रसङ्गतस्त्वनन्यमेवातिशयं प्रविश्रतः । शीतस्य पश्यामि पराक्रमं जिन श्रीकर्णवत्कम्पकरं च योगिनः॥

है जिन भगवन् ! कत्या-राशि से उत्पन्न हुए और धनु राशि के प्रसंग से अतिशय वृद्धि को धारण करने वाले, तथा योगियों को कंपा देने वाले इस शीतकाल को मैं श्री कर्ण राजा के समान पराक्रमी देखता हूँ ॥ १६॥

भावार्थ — जैसे कर्ण राजा कुमारी कन्या कुन्ती से उत्पन्न हुन्ना श्रीर धनुर्तिद्या को प्राप्त कर उसके निमित्त से श्रांत प्रतापी श्रीर श्रांतेय हो गया था, जिसका नाम सुनकर योगीजन भी थरी जाते थे, उसी प्रकार यह शीतकाल भी उसी का श्रानुकरण कर रहा है, क्योंकि यह भी कन्या राशिस्थ सूर्य से उत्पन्न हो कर धन राशि पर आने से श्रांत उम्र हो रहा है।

कुचं समुद्घाटयति प्रिये ख्रियाः समुद्भवन्ती शिशिरोचितश्रियाः । तात्रत्करस्पर्शसुखैकलोपकृत् सूचीव रोमाश्चततीत्यहो सकृत्।।२०॥ इस समय प्रिय के द्वारा स्त्री के कुचों को उघाड़ दिये जाने पर शीत के मारे उन पर रोमांच हो आते हैं, जो कि उसके कर-स्पर्श करने पर सुख का लोप कर उसे सुई के समान चुभते हैं॥ २०॥

सम्बिभ्रती सम्प्रति नृतनं तमः समानयन्ती किल क्रूपतः पयः। तुपारतः सन्द्धती सितं शिरस्तुजे श्रमोत्पत्तिकरीत्यहो चिरम्॥

इस शीतकाल में नवीन वय को धारण करने वाली और काले केशों वाली कोई स्त्री जब कुएं से जल भर कर घर को आती है और मार्ग में हिमपात होने से उसके केश श्वेत हो जाते हैं, तब उसके घर आने पर वह अपने बच्चे के लिए भी चिरकाल तक 'यह मेरी माता है, या नहीं' इस प्रकार के भ्रम को उत्पन्न करने वाली हो जाती है, यह आश्चर्य है ॥ २१॥

विवर्णतामेव दिशन् प्रजास्वयं निरम्बरेषु प्रविभक्ति विस्मयम् । फलोदयाधारहर्श्व शीतल-प्रसाद एपोऽस्ति तमां भयङ्करः ॥

यह शीतल-प्रसाद अर्थात् शीतकाल का प्रभाव बड़ा भयंकर है, क्योंकि यह प्रजाओं में (जन साधारण में) विवर्णता (कान्ति-हीनता) को फैलाता हुआ और निरम्बरों (वस्त्र-हीनों) में विस्मय को उत्पन्न करता हुआ फलोद्य के आधार भूत बृक्षों को विनष्ट कर रहा है।। २२।।

भावार्थ — यहां किन ने अपने समय के प्रसिद्ध ब्र० शीतल-प्रसादती की ओर व्यंग्य किया है, जो कि विधवा-विवाह आदि का प्रचार कर छोगों में वर्णशंकरता को फैला रहे थे, तथा दिगम्बर जैनियों में अति आश्चर्य उत्पन्न कर रहे थे और अपने धर्म-विरोधी कार्यों से लोगों को धर्म के फल स्वर्ग आदि की प्राप्ति के मार्ग में रोड़ा अटका रहे थे।

रुचा कचानाकलयञ्जनीष्वयं नितम्बतो वस्त्रमुतापसास्यन् । रदच्छदं सीत्कृतिपूर्वकं धवायते द्धच्छैशिर आग्रुगोऽथवा ॥२३॥

अथवा यह शीतकालीन वायु अपने संचार से स्त्रियों में उनके केशों को बिखेरता हुआ, नितम्ब पर से वस्त्र को दूर करता हुआ सीत्कार शब्द पूर्वक उनके ओठों को चूमता हुआ पति के समान आचरण कर रहा है।। २३।।

दृढं कबाटं द्यितानुशायिन उपर्वथो तूलकुथोऽनपायिनः। अङ्गारिका चेच्छयनस्य पार्श्वतः शीतोऽप्यहो किंकुरुताद्सावतः॥

यदि मकान के किवाड़ दहना से बन्द हैं, मनुष्य अपनी प्यारी स्त्री का आर्लिंगन किये हुए आनन्द से सो रहा है, ऊपर से रई भरी रिजाई को ओड़े हुए है और शब्धा के समीप ही अंगारों से भरी हुई आंगीठी रखी हुई है, तो किर ऐसे छोगों का आहो, यह शीत क्या विगाड़ कर सकेगा १ आर्थात् कुछ भी नहीं ॥ २४॥

सम्रन्थिकन्थाविवरात्तमारुतैर्निशामतीयाद्विचलद्रदोऽत्र तैः । निःस्वोऽपि विश्वोत्तमनामधामतः कुटीरकोले कुचिताङ्गको वत।।

इस शीलकाल में दरिद्र पुरुष भी— जो कि फटी गूदड़ी को अोढ़े हुए हैं और जिसके लिद्रों से ठंडी हवा आ रही है, अत: शीत से पीड़ित होकर दांत किटिकटा रहा है, ऐसी दशा में भी वह विश्वोत्तम भगवान का नाम लेते हुए ही कुटिया के एक कोने में संकुचित अग किये हुए रात बिता रहा है।। २४।। कुशीलवा गल्लकपुः ल्लाकाः पुनिर्हिमर्चु राज्ञो विरदाख्यवस्तुनः। प्रजल्पनेऽनल्पतयेव तत्परा इवामरेशस्य च चारणा नराः॥२६॥

इस समय गालों को फुला कर बड़बड़ाने वाले ऊंट लोग हिम ऋतु रूपी राजा की विरदावली के बखान करने में खूब अच्छी तरह से इस प्रकार तत्पर हो रहे हैं, जैसे कि राजा अमरेश की विरदावली चारण लोग बखानते हैं।। २६॥

भावार्थ - यहां पर अमरेश पद से किव ने अपने रणोली बाम के राजा अमरसिंह का स्मरण किया है।

प्रकम्पिताः कीशकुलो ह्रवास्ततं मदं समुज्झन्ति हिमोद्येन तम्। समन्तभद्रोक्तिरसेण कातराः परे परास्ता इव सौगतीत्तरा ॥२७॥

जंसे समन्तभद्र-स्वामी के स्कि-रस से सौगत (बौद्ध) आदि अत्य दार्शनिक प्रवादी लोग शास्त्रार्थ में परास्त होकर कायर बन अपने मद (ऋहंकार) को छोड़ देते हैं, उसी प्रकार इस समय हिम के उदय से अर्थात् हिम गत होने कीशकुलोद्भव वानर लोग भी कांपते हुए अपने मद को छोड़ रहे हैं।। २७॥

रिवर्धनुः प्राप्य जनीमनांसि किल प्रहतुः विलसत्तमांसि । स्मरो हिमैर्व्यस्तशरप्रवृत्तिस्तस्यासकौ किङ्करतां विभर्ति ॥२८॥

शीतकाल के हिमपात से अस्त-व्यस्त हो गई है शर-संचालन की प्रवृत्ति जिसकी ऐसा यह फामदेव अभिमान से अति विलास को प्राप्त स्त्रियों के मन को हरने में असमर्थ हो रहा है, अतएव उसकी सहायता के लिए ही मानों यह सूर्य घतुष लेकर अर्थात् घतु राशि पर आकर उस कामदेव की किंकरता (सेवकपना) को धारण कर रहा है, अर्थात् उसकी सहायता कर रहा है ॥ २८॥

श्यामास्ति शीताकुलितेति मन्त्रा प्रीत्याम्बरं वासर एप दस्या । किलाधिकं संकुचितः स्वयन्तुः तस्ये पुनस्तिष्ठति कीर्चितन्तु॥२९॥

यह श्यामा (रात्रि रूप स्त्री) शीत से पीड़ित हो रही है, ऐसा समझ कर मानों यह दिन (सूर्य) प्रीति से उसके लिए अधिक अम्बर (बस्त्र और समय) दे देता है और स्त्रयं तो संकुचित होकर के समय बिता रहा है, इस प्रकार उसके साथ स्तेह प्रकट करता हुआ सा प्रतीत होता है ॥ २६॥

भावार्थ:- शीतकाल में दिन छोटे और रात्रि बड़ी होने लगती है, इसे लक्ष्य में रखकर कवि ने उक्त उत्प्रेक्षा की है।

उन्मापि भीष्मेन जितं हिमेन गत्वा पुनस्तिनिख्तं क्रमेण । तिरोभवत्येव सुबोऽवटे च वटे मृगाक्षीस्तनयोस्तटे च ॥३०॥

भयङ्कर हिम के द्वारा जीती गई वह समस्त उष्णता भागकर क्रम से पृथ्वी के कूप में, वह वृक्ष में ख्रीर मुगनयतियों के स्तनों में तिरोहित हो रही है ॥ ३०॥

भावार्थ:- शीतकाल में और तो सर्व स्थानों पर शीत अपना अधिकार जमा लेता है, तब गर्मी भागकर उक्त तीनों स्थानों पर छिप जाती है, अर्थात् शीतकाल में ये तीन स्थल ही गर्म रहते हैं।

सेवन्त एवन्तपनीष्मतुल्य-तारुपयपूर्णापिह भाग्यपूर्णाः । सन्तो हसन्तीं मृगशावनेत्रां किन्वा हसन्तीं परिवारपूर्णाम् ॥३१॥ इस शीतकाल में सूर्य के समान अत्यन्त उष्णता को धारण करने वाली या अत्यन्त कान्तिवाली, एवम् हंसती हुई तथा तारुख से परिपूर्ण स्गनयनियों को और अंगारों से जगमगाती हुई वा परिवार के जनों से घिरी अंगीठी को भारत से परिपूर्ण जन ही सेवन करते हैं।। ३१।।

श्रीतातुरोऽसी तरणिर्निशायामालिङ्गच गाढं द्यितां सुगात्रीम् । श्रेते समुत्थातुमथालसाङ्गस्ततस्स्वतो गौरवमेति रात्रिः ॥३२॥

इस शीतकाल में शीत से आतुर हुआ यह सूर्य भी रात्रि में अपनी सुन्दरी स्त्री का गाढ़ आलिङ्गत करके सो जाता है, अत: आलश्य के वश से वह प्रभात में शीव उठ नहीं पाता है, इस कारण रात्रि स्वत: ही गौरव को प्राप्त होती है, अर्थात् वड़ी हो जाती है।। ३२।।

भावार्थ: - शीतकाल में रात बड़ी क्यों होती है, इस पर किं ने उक्त उत्प्रेक्षा की है।

हिमारिणा विग्रहमभ्युपेतः हिमतु रेतस्य करानथेतः । समाहरन् हैमकुठानुकूले ददाति कान्ताकुचशैठमुले ॥३२॥

यह हेमन्त ऋतु हिम के शत्रु सूर्य के साथ विग्रह (युद्ध) करने को उद्यत हो रही है, इसीलिए मानों उसके उद्या करों (किरणों) को ले किकर हैमकुल की अनुकूलता वाले अर्थान् हिम से बने या सुवर्ण से बने होने के कारण हैमकान्ति वाले स्त्रियों के कुच रूप शैल के मूल में रख देनी है। (इसीलिए स्त्रियों के कुच उष्ण होते हैं।) ॥ ३३॥

महात्मनां संश्रुतपादपानां पत्राणि जीर्णानि किलेति मानात् । प्रकम्पयन्ते दरवारिधारा विभावसुप्रान्तमिता विचाराः ॥३८॥

इस शीतकाल में संश्रुत (प्रसिद्ध-प्राप्त) दृक्षों के पत्र भी जीणी होकर गिर रहे हैं, ऐसा होने से ही मानों दर अर्थात् जरासी भी जल की घारा लोगों को कंपा देती है। तथा इस समय लोगों के विचार हर समय विभावसु (अप्रि) के समीप वेठे रहने के बने रहते हैं। दूसरा अर्थ यह कि इस समय प्रसिद्ध आर्पप्रंथों के पत्र तो जीणी हो गये हैं, अत: उसका अभाव सा हो रहा है और लोग पं० दरवारीलाल की विचार-घारा से प्रभावित हो रहे हैं और विकारी विचारों को अंगीकार कर रहे हैं। ३४॥

भावार्थः किव ने श्रपने समय के प्रसिद्ध सुधारक पं० दरवारी-छाल का उल्लेख 'दरवारि-धारा' पद से करके **उन के** प्रचार कार्य को श्रमुचित बतलाया है।

शीतं वरीवर्त्ति विचार-लोपि स्वयं सरीसर्त्ति समीरणोऽपि । अहो मरीमर्त्ति किलाकलत्रः नरी नरीनर्त्ति कुचोष्मतन्त्रः ॥३४॥।

इस हेमन्त ऋतु में वि अर्थात् पक्षियों के चार (संचार) का लोप करने वाला शीत जोर से पड़ रहा है, समीरण (पवन) भी खयं जोर से चल रहा है, स्त्री-रहित मनुष्य मरणोन्मुख हो रहे हैं और स्त्री के स्तनों की उष्मा से उष्ण हुए मनुष्य नाच रहे हैं, अर्थात् आनन्द मना रहे हैं। ३४॥

नतश्रु वो लब्धमहोत्सवेन समाहतः श्रीकरपञ्चवेन । मुहुर्निपत्योत्पततीह कन्दुमु दाऽधरोदाररसीव बन्धुः ॥३६॥ नतभ्र युवती के आनन्द को प्राप्त श्रीयुक्त कर-पल्लव से ताड़ित किया हुआ यह कन्दुक रूप पुरुष नीचे गिरता है और हर्ष से युक्त होकर के उसके अधरों के उदार रस को पान करने के इच्छुक पति के समान बार बार ऊपर को उठता है।। ३६।।

कन्दुः कुचाकारधरो युवत्या सन्ताड्यते वेत्यनुयोगधारि । पदोः प्रसादाय पतत्यपीति कर्णोत्परुं यन्नयनानुकारि ॥३७॥

कुच के आकार को धारण करने वाला यह कन्दुक युवती स्त्री के द्वारा ताड़ित किया जा रहा है, ऐसा विचार करने वाला और उसके नेत्र-कमल का अनुकरण वाला यह कर्णोत्पल (कान का आभू-पण कनफुल) मानों उसे प्रसन्न करने के लिए अर्थात् खी से अपना अपराध माफ कराने के लिए उसके पैरों में आ गिरता है ॥ ३७॥

भावार्थ: - गेन्द खेलते समय कनफूल हियों के पैरों में गिर पड़ता है, उसे लक्ष्य करके किय ने उक्त उत्प्रेक्षा की है।

श्रीगेन्दुकेली विभवन्ति तासां नितम्बिनीनां पदयोर्विलासाः । ये ये रणन्नु पुरसाररासा यूनां तु चेतःपततां सुभासाः ॥३८॥

श्री कन्दुक-क्रीड़ा में संलग्न उन गेन्द खेलने वाली नितिम्बनी स्त्रियों के शब्द करते हुए नूपुरों से युक्त चरणों के विलास (पद-निज्ञेप) युवाजनों के चिक्त रूप पक्षियों के लिए गिद्ध पक्षी के आक्रमण के समान प्रतीत होते हैं॥ ३८॥

वैमुख्यमप्यस्त्वभिमानिनीनामस्तीह यावन निशा सुपीना । शीतानुयोगात्पुनरर्धरात्रे लगेन्नवोढापि धवस्य गात्रे ॥३९॥ इस शीतकाल में जब तक निशा (रात्रि) अच्छी तरह परिपृष्ट नहीं हो जाती है, तब तक भले ही अभिमानिनी नायिकाओं की पित से विमुखता बनी रहे। किन्तु अर्थ रात्रि के होने पर शीत लगने के बहाने से (प्रौढ़ा की तो बात ही क्या) नवोड़ा भी अपने पित के शरीर से स्वयं ही संलग्न हो जाती है।। ३६।।

तुषारसंहारकृतौ सुदक्षा नो चेन्मृगाक्षी सम्रुपेति कक्षाम् । न यामिनीयं यमभामिनीति किन्त्वस्ति तेषां दुरितप्रणीतिः॥४०॥

तुषार के संहार करने में सुदक्ष मृगाक्षी जिसकी कक्षा (बगल) में उपस्थित नहीं है, उसके लिए तो यह रात्रि यामिनी नहीं. किन्तु दारुण दु:ख देने वाली यम-भामिनी ही है।। ४०।।

शीतातुरैः साम्प्रतमाशरीरं गृहीतमम्भोभिरपीह चीरम् । शनैरवश्यायमिषात् स्वभावाऽसौ दंशनस्य प्रभुता ऽद्गुता वा॥४१॥

इस जीतकाल में औरों की तो बात ही क्या है, ज्ञीत से पीड़ित हुए जलाज्ञयों के जलों ने भी बर्फ के बहाने से अपने सारे ज़रीर पर बस्त्र बहुण कर लिया है। अर्थात् ठंड की अधिकता से वे भी जम गये हैं। यह ज्ञीतऋतु की स्वाभाविक अद्भुत प्रभुता ही समझना चाहिए।। ४१।।

चकास्ति वीकासजुषां वराणां परिस्थितिः कुन्दककोरकारणाम् । लताप्रतानं गमिताऽत्र शीताङ्गीता तु तारातितरेव गीता ॥४२॥

देखो, इस समय विकास के सन्मुख हुई उत्तम छताओं में संछम् कुन्द की कछियों की परिस्थिति ऐसी प्रतीत होती है, मानों वे कुन्दकी कलियां नहीं है, अपितु शीत से भयभीत हुई ताराओं की पंक्ति ही है॥ ४२॥

शाखिषु विपन्लवत्वमथेतत् संकुचितत्वं खलु मित्रेऽतः । शैत्यमुपेत्य सदाचरणेषु कहलमिते द्विजगणेऽत्र मे शुक् ॥४३॥

इस शीतकाल को पाकर वृक्षों में पत्रों का अभाव, दिन में संकुचितता, अर्थान् दिन का छोटा होना, चरणों का ठिठुरना और दांतों का कलह, अर्थात् किट-किटाना मेरे लिए शोचनीय है। दूसरा अर्थ यह है कि कुटुस्बी जनों में विपत्ति का प्राप्त होना, मित्र का रूठना सत्-आचरण करने में शिथिलता या आलस्य करना और दिज-गण (त्राह्मण-वर्ग) में कलह होना, ये सभी वार्ते मेरे लिये चिन्तनीय है। ४३।।

पुरतो बह्निः पृष्ठे भानुर्विधुवद्नाया जानुनि जानुः । उपरि तूलयुतवस्त्रकतानु निर्वाते स्थितिरस्तु सदा नुः ॥४४॥

इस शीतकाल में दिन के समय तो छोगों को सामने अग्नि और पृष्ठ भाग की ओर सूर्य चाहिए। तथा रात्रि में चन्द्र-वदनी स्त्री की जंघाओं में जंघा और ऊपर से अच्छी रुई से भरे वस्त्र (रिजाई) से ढका हुआ शरीर और वायु-रहित स्थान में अवस्थान ही सदा आवश्यक है।। ४४॥

एणो यात्रुपकाण्डकाधरदलस्यास्त्राद्ने ऽपि अमं सिंहो हस्तिनमाक्रमेदपि पुरः प्राप्तं न कुण्ठक्रमः।

वित्रः क्षित्रमुपाक्षिपत्यपि करं प्रातर्विधी नात्मनः

हा शीताऽऽक्रमणेन यात्यपि दशां संशोचनीयां जनः॥४४॥

इस समय शीत के मारे हिरण अपने पास ही पृथ्वी पर पड़ी घास को उठा कर खाने में अति अम का अनुभव कर रहा है। स्वयं सामने आते हुए हाथी पर आक्रमण करने के लिए सिंह भी कुण्ठित कम बाला हो रहा है, अर्थात् पैर उठाने में असमर्थ बन रहा है। और बाह्मण प्रात:कालीन संध्या-विधि के समय माला फेरने के लिए अपने हाथ को भी नहीं उठा पा रहा है। इस प्रकार हा! प्रत्येक जन शीत के आक्रमण से अति शोचनीय दशा को प्राप्त हो रहा है।।।१४॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भु जः स सुषुवे भ्रामलेत्याह्वयं वाणीभृषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् । बीरे स्वार्थसमर्थनैकपरतां लोकस्य संशोचित सम्प्राप्तस्य कथा तुषारभसदोऽस्मिन् तत्कृते भो कृतिन्॥९॥

इस प्रकार श्रीमान सेठ चतुर्भु ज श्रोर घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणीभूषण, बाल-ब्रह्मचारी पं० भूरामल वर्तमान मुनि झान-सागर द्वारा निर्मित इस काव्य में लोगों की स्वार्थ-परायणता श्रोर श्रीत की भयङ्करना का वर्णन करने वाला यह नवां सर्ग समाप्त हुआ।। १।।



# अथ दशमः सर्गः

श्रीमतो वर्धमानस्य चित्ते चिन्तनपित्यभृत् । हिमाक्रान्ततया दृष्ट्वा स्लानमम्भोरुहत्रजम् ॥१॥

शीत के त्राक्रमण से मुरझाये हुए कमलों के समृह को देखकर श्रीमान् वर्धमान भगवान् के चित्त में इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ।। १॥

> भुवने लब्धजनुषः कमलस्येव मादतः। क्षणादेव विपत्तिः स्यात्सम्पत्तिमधिगच्छतः॥२॥

इस संसार में जिसने जन्म लिया है और जो सम्पत्ति को प्राप्त करना चाहता है, ऐसे मेरे भी कमल के समान एक क्षण भर में विपत्ति आ सकती है।। २॥

> दृश्यमस्त्यभितो यद्वद्वनुरैन्द्रं प्रसत्तिमत् । विषादायैव तत्पश्चान्नश्यदेवं प्रपश्यते ॥३॥

यह इन्द्र-धनुष सर्व प्रकार से दर्शनीय है, प्रसन्नता करने वाला है, इस प्रकार से देखने वाले पुरुष के लिए तत्पश्चात् नष्ट होता हुआ वही इन्द्र-धनुष उसी के विषाद के लिए हो जाता है॥ ३॥

> अधिकर्तुं मिदं देही वृथा वाज्छति मोहतः । यथा प्रयतते भूमी गृहीतुं वालको विधुम् ॥४॥ संसारकी ऐसी क्षण-भंगुर वस्तुकों को अपने अधिकार में

करने के लिए यह प्राणी मोह से वृथा ही इच्छा करता है। जैसे कि बालक भूमि पर रहते हुए चन्द्र को प्रहण करने का व्यर्थ प्रयत्न करता है।। ४।।

संविदन्निप संसारी स नष्टो नश्यतीतरः। नावैत्यहो तथाप्येवं स्वयं यममुखे स्थितम् ॥५॥

यह संसारी जीव, वह नष्ट हो गया, यह नष्ट हो रहा है, ऐसा देखता-जानता हुआ भी आश्चर्य है कि स्वयं को यम के मुख में स्थित हुआ नहीं जानता है ॥ ४ ॥

किमन्येरहमध्यस्मि वश्चितो माययाऽनया। धीवरोऽध्यम्बुपूरान्तःपाती यदिव झंझया ॥६॥

ऋौरों से क्या, धीवर ऋर्थात् बुद्धि वाला भी मैं क्या इस माया से वंचित नहीं हो रहा हूँ ? जैसे कि जल के प्रवाह के मध्य को प्राप्त हुआ धीवर (कहार) झंझाबात से आन्दोलित होकर उसी पानी के पूर में डूब जाता है, उसी प्रकार मैं भी इस संसार में डूब ही रहा हूँ॥ ६॥

स्वस्थितं नाञ्जनं वेत्ति वीक्षतेऽन्यस्य लाञ्छनम् । चतुर्यथा तथा लोकः परदोषपरीक्षकः ॥७॥

जैसे आंख अपने भीतर छंगे हुए अंजन को नहीं जानती है और अन्य के छांछन (अंजन या काजछ) को झट देख लेती है, इसी प्रकार यह छोक भी पराये दोषों को ही देखने वाला है, (किन्तु अपने दोषों को नहीं देखता है।)॥ ७॥

## श्रोत्रबद्धिरलो लोके छिद्रं स्वस्य प्रकाशयन् । शृणोति सुखतोऽन्येपासुचितानुचितं वचः ॥८॥

श्रोत्र (कर्ण) के समान विरला पुरुष ही संसार में अपने छिद्र (छेद वा दोष) को प्रकाशित करता हुआ अन्य के उचित और अनु-चित वचन को सुख से सुनता है। प्रा

> जुगुप्सेऽहं यतस्तर्तिक जुगुप्स्यं विश्वमस्त्यदः । शरीरमेव तादृशं हन्त यत्रानुरज्यते ॥९॥

में जिससे ग्लानि करता हूँ, क्या वह यह विश्व ग्लानि-योग्य है ? सब से अधिक तो ग्लानि-योग्य यह इारीर ही है। दुःख है कि उसी में यह सारा संसार अनुरक्त हो रहा है।। ६।।

> अस्मिन्नहत्तयाऽमुध्य पोषकं शोषकं पुनः। वाञ्छामि संहराम्येतदेवानर्थस्य कारणम् ॥१०॥

मैं आज तक इस शरीर में आहंकार करके इसके पोषक को तो चाहता रहा, आर्थान् राग करता रहा, और शरीर के शोषक से द्वेष करके उसके संहार का प्रयत्न करता रहा। मेरी यह राग-द्वेष-मयी प्रवृत्ति ही मेरे लिए आनर्थ का कारण हुई है।। १०।।

> विपदे पुनरेतस्मिन् सम्पद्स्सकलास्तदा । सञ्चरेदेव सर्वत्र विहायोच्चयमीरणः ॥११॥

किन्तु आत्मा से इस इरीर को भिन्न समझ लेने पर सर्व वस्तुएं सम्पदा के रूप ही हैं। पवन उचय अर्थात् पर्वत को छोड़कर सर्वत्र संचार करता ही है॥ ११॥ भावार्थ — आत्म-रूप उच तत्त्व पर जिनकी दृष्टि नहीं है और शरीर पर ही जिनका राग है, इनको सभी वस्तुएं विपत्तिसय बनी रहती हैं। किन्तु आत्म-दर्शी पुरुष को वे ही वस्तुएं सम्पत्तिरूप हो जाती हैं।

> अहीनत्वं किमादायि त्वया वक्रत्वमीवृषा । भुज्जानोऽङ्ग ! मुहुभोगान् वहसीह नवीनताम् ॥१२॥

बक्रता (कुटिल्लता) को प्राप्त होते हुए क्या कभी तूने ऋहीनता (सर्प राजपना वा उचपना) को ब्रहण किया है। जिससे कि हे ऋंग, तू भोगों को वार-वार भोगते हुए भी नवीनता को धारण करता है।। १२।।

विशेषार्थ—इस श्लोक का श्लेष रूप दूसरा अर्थ यह भी निक-लता है कि हे आत्मन्, तूने कुटिलता को अंगीकार करते हुए अर्थान् सर्प जैसी कुटिल चाल को चलते हुए भी कभी अहि-(सपैं-) के इनता अर्थान् स्वामीपने को नहीं धारण किया, अर्थान् शेषनाग जैसी उचना नहीं प्राप्त की। तथा पंचेन्द्रियों के विषय रूप भोगों (सपैं) को भोगते या भक्षण करते हुए भी कभी न वीनता अर्थान् गरुड़-स्वरूपना नहीं प्राप्त की! यह आश्चर्य की बात है।

> स्वचेष्टितं स्वयं भुङ्क्ते पुमानान्यच्च कारणम् । झलंझलावशीभृता समेति च्येति या ध्वजा ॥१३॥

पुरुष अपनी चेष्टा के फल को स्वयं ही भोगता है, इसमें और कोई कारण नहीं हैं। जैसे झंझा वायु के वश होकर यह ध्वजा स्वयं ही उलझती और सलझती रहती है। १३॥

> वस्त्रेण वेष्टितः कस्माद् ब्रह्मचारी च सन्नहम् । दम्भो यन्न भवेतिक भो ब्रह्मवर्त्मनि वाधकः ॥१४॥

में ब्रह्मचारी होता हुआ भी वस्त्र से वेष्टित क्यों हो रहा हूँ १ अही, क्या यह दम्भ मेरे ब्रह्म (आत्म-प्राप्ति) के मार्ग में बावक नहीं है १ ॥ १४ ॥

जगत्तत्त्वं स्फुटीकतु<sup>र</sup> मनोम्रकुरमात्मनः। यद्ययं देहवानिच्छेन्निरीहत्वेन मार्जयेत्।।१५॥

यदि यह प्राणी ऋपने मनरूप दर्पण में जगत् के रहस्य को स्पष्ट रूप से देखने की इच्छा करता है, तो इसे ऋपने मनरूप दर्पण को निरीहता (बीतरागता) से मार्जन करना चाहिए।। १४।।

भावार्थ — जगत् के तत्त्वों का बोध सर्वज्ञता को प्राप्त हुए विना नहीं हो सकता और सर्वज्ञता की प्राप्ति वीतरागता के विना संभव नहों है। अत: सर्वज्ञता प्राप्त करने के छिए पहले वीतरागता प्राप्त करनी चाहिए।

> लोको ऽयं सम्प्रदायस्य मोहमङ्गीकरोति यत् । सुद्दः प्रयतमानो ऽपि सत्यवत्र्मे न विन्द्ति ॥१६॥

यह संसार सम्प्रदाय के मोह को अंगीकार कर रहा है। यही कारण है कि वारम्वार प्रयत्न करता हुआ भी वह सत्य मार्ग को नहीं जानता है।। १६॥

> गतानुगतिकत्वेन सम्प्रदायः प्रवर्तते । वस्तुत्वेनाभिसम्बद्धं सत्यमेतत्पुनर्भवेत् ॥१७॥

सम्प्रदाय तो गतानुगतिकता से प्रवृत्त होता है। ( उसमें सत्य-

असत्य का कोई विचार संभव नहीं है।) किन्तु सत्य तो यथार्थ वस्तुत्व से सम्बद्ध होता है।। १७॥

वस्तुता नैकपक्षान्तःपातिनीत्यत एव सा । सार्वत्वमभ्यतीत्यास्ति दुर्लभाऽस्मिश्चराचरे ।।१८॥

वस्तुता अर्थात् यथार्थता एक पक्ष की अन्तः पातिनी नहीं है, वह तो सार्वत्व अर्थात् सर्वधर्मात्मकत्व को प्राप्त होकर रहती है और यह अनेकान्तता या सर्वधर्मात्मकता इस चराचर छोक में दुर्छभ है।। १८।।

> सगरं नगरं त्यक्त्वा विषमेऽपि समे रसः। वनेऽप्यवनतत्त्वेन सकलं विकलं यतः॥१९॥

भगवान् विचार कर रहे हैं कि संसार की समस्त वस्तुएं विप-रीत रूप धारण किये हुए दिख रही हैं जिसे छोग नगर कहते हैं वह तो सगर अर्थात् विप-युक्त है और जिसे छोग वन कहते हैं उसमें अवनतत्त्व है अर्थात् वह बाहिरी चकाचौंध से रहित है, किर भी उसमें अवनतत्त्व है अर्थात् उसमें सभी प्राणियों की सुरक्षा है। इस छिए नगर को त्याग करके मेरा मन विषम (भीषण एवं विषमय) वन में रहने को हो रहा है।। १६।।

कान्ता लता वने यस्मात्सोधे तु लवणात्मता । त्यक्त्वा गृहमतः सान्द्रे स्थीयते हि महात्मना ।।२०॥

वन में कान्त ( मुन्दर ) छता है, क्योंकि वह कान्तार है अर्थात् स्त्री-सहित हैं। सौथ में छवणात्मकता है, अर्थात् अपृत में खारापन है और सुधा (चूना) से बने मकान में लावस्य (सौन्दर्य) है यह विरोध देखकर ही महात्मा लोग घर को लोड़कर मान्द्र (सुरम्य) वन में रहते हैं।। २०॥

> विहाय मनसा वाचा कर्मणा सदनाश्रयम् । उपैम्यहमपि प्रीत्या सदाऽऽनन्दनकं वनम् ॥२१॥

में भी नगर को-जो कि सदनाश्रय है अर्थात् सदनों (भवनों) से विरा हुआ है, दूसरे अर्थ में — सद् अनाश्रय अर्थात् सजनों के आश्रय से रहित है, ऐसे नगर को छोड़कर सज्जनों के लिए आनन्द-कन्द-स्वरूप वन को अथवा सदा आनन्द देने वाले नन्दन वन को मन, वचन काय से प्रेम पूर्वक प्राप्त होता हूँ॥ २१॥

इत्येवमनुसन्धान-तत्परे जगदीश्वरे । सुरर्षिभिरिहाऽऽगत्य संस्तुतं प्रस्तुतं प्रभोः ॥२२॥

इस प्रकार के विचारों में तत्पर जगदीश्वर श्री वर्धमान के होने पर देवर्षि छौकान्तिक देवों ने यहां आकर के प्रभु की खुति की ॥२२॥

> पुनरिन्द्रादयोऽप्यन्ये समष्टीभृय सत्वरम् । समायाता जिनस्यास्य प्रस्तावमनुमोदितुम् ॥२३॥

पुनः अन्य इन्द्रादिक देव भी शीब्र एकत्रिन होकर के जिन-भगवान् के इस गृहत्याग रूप प्रस्ताव की अनुमोदना करने के लिए आये॥ २३॥

विजनं स विरक्तातमा गत्वाऽप्यविजनाकुलम् । निष्कपटत्वमुद्धत्ं पटानुजिझतवानपि ॥२४॥ उन विरक्तात्मा भगवान् ने अवि (भेड़) जनों से आकुल अर्थान् भरे हुए ऐसे विजन (एकान्त जन-श्रुत्य) वन में जाक निष्कपटता को प्रकट करने के लिए अपने वस्त्रों का परित्याग कर दिया, अर्थान् वन में जाकर देगम्बरी दीक्षा ले ली।। २४।।

### उच्चलान कचौघं स कल्मपोपममात्मनः । मौनमालब्धवानन्तरन्वेष्टुं दस्पुसंग्रहम् ॥२५॥

उन्होंने मिलन पाप की उपमा को धारण करने वाले अपने केश समूह को उखाड़ डाला, अर्थात् केशों का लोच किया और अन्त-रंग में पेठे हुए चोरों के समुदाय को दूं ढने के लिए मौन को अंगी-कार किया ॥ २४ ॥

#### मार्गशीर्षस्य मासस्य कृष्णा सा दशमी तिथिः । जयताञ्जगतीत्येवमस्माकं भद्रताकरी ।।२६।।

वह मगिसर मास के कृष्ण पक्ष की दशमी तिथि है, जिस दिन भगवान् ने देंगम्बरी दीक्षा प्रहण की । यह हम सबके कल्याण करने वाली तिथि जगत् में जयवन्ती रहे ॥ २६ ॥

#### दीपकोऽभ्युदियायाथ मनःपर्ययनामकः । मनस्यप्रतिसम्पाती तमःसंहारकृत्यभोः ।।२७।।

दीक्षित होने के पश्चात् वीर प्रभु के मन में अप्रतिपाती (कभी नहीं छूटने वाला) और मानसिक अन्धकार का संहार करने वाला मनःपर्यय नाम का ज्ञान-दीपक अभ्युदय को प्राप्त हुआ। अर्थात् भगवान् के मनःपर्यय ज्ञान प्रकट हो गया।। २७॥ चिन्तितं हृदये तेन वीरं नाम बद्दित माम् । किं कदैतनमया ऽबोधि कीहशी मिय बीरता ॥२८॥

तब भगवान् अपने हृदय में विचार करने लगे—लोग मुके बीर नाम से कहते हैं। पर क्या कभी मैंने यह सोचा है कि मुझमें कैसी बीरता है १ । २५ ॥

वीरता शिक्षभावश्चे द्वीरुता किं पुनर्भवेत् । परापेक्षितया दास्याधत्र मुक्तिर्न जातुचित् । २९॥

यदि शस्त्र संचालन का या शस्त्र ग्रहण करने का नाम वीरता है, तो फिर भीरुता नाम किसका होगा? शस्त्र-ग्रहण करने वाली बीरता तो परापेक्षी होने से दासता है। इस दासता में मुक्ति कदा-चित् भी सम्भव नहीं है।। २६।।

> वस्तुतो यदि चिन्त्येत चिन्तेतः कीदशी पुनः। अविनाशी ममात्मायं दृश्यमेतद्विनश्वरम् ॥३०॥

यदि वास्तव में वस्तु के स्वरूप का चिन्तवन किया जावे, तो मेरी यह आत्मा तो आविनाशी है और यह सर्व दृश्यमान पदार्थ विनश्वर हैं। फिर मुक्ते चिन्ता केसी।। ३०॥

> विभेति मरणादीनो न दीनोऽथामृतस्थितिः। सम्पदयन्त्रिपदोऽपि सरितः परितश्ररेत् ॥३१॥

दीन पुरुष मरण से डरता है। जो दीन नहीं है, वह अमृत स्थिति है, अर्थात् बीर पुरुष मरण से नहीं डरता है, क्योंकि वह तो आत्मा को अमर मानता है। उसके छिए तो चारों आर से आने वाछी विपत्तियां भी सम्पत्ति के छिए होती हैं। जैसे समुद्र को श्लोभित करने के छिए सर्व ओर से आने वाछी निदयां उसे जुब्ध न करके उसी की सम्पत्ति बन जाती हैं।। ३१।।

यां वीक्ष्य वैनतेयस्य सर्पस्येव परस्य च । क्रूरता दूरतामञ्चेच्छूरता शक्तिरात्मनः ॥३२॥

जैसे गरुड़ की शक्ति को देखकर सर्प की क्रूरता दूर हो जाती है, उसी प्रकार बीर की आत्म-शक्ति को देखकर शत्रु की क्रूरता दूर हो जाती है, क्योंकि शूरता आत्मा की शक्ति है।। ३२।।

शस्त्रोपयोगिने शस्त्रमयं विश्वं प्रजायते । शस्त्र दृष्ट्वाऽप्यभीताय स्पृह्यामि महात्मने ॥३३॥

इास्त्र का उपयोग करने वाले के लिए यह विश्व शस्त्रमय हो जाता है। किन्तु शस्त्र को देख करके भी निर्भय रहने वाले महान् पुरुष की मैं इच्छा करता हूँ।। ३३।।

शपन्ति चुद्रजन्मानो व्यथमेव विरोधकान् । सत्याग्रहप्रभावेण महात्मा त्वनुकूलयेत् ॥३४॥

जुद्र-जन्मा दीन पुरुष विरोधियों को व्यर्थ ही कोसते हैं। महापुरुष तो सत्यावह के प्रभाव से विरोधियों को भी अपने अतु-कूछ कर लेता है।। ३४॥

भावार्थ: - इस ऋोक में प्रयुक्त महात्मा पद से गांधीजी और उनके सत्याप्रह की यथार्थता का किन ने संकेत किया है।

# अथानेके प्रसङ्गास्ते बभुवुस्तपसो युगे। यत्कथा खलु धीराणामपि रोमाश्रकारिणी ॥३५॥

इसके पश्चात् उन वीर प्रभु के तपश्चरण के काल में ऐसे अनेक प्रसङ्ग आये, कि जिनकी कथा भी धीर जनों को भी रोमाञ्चकारी है।। ३४।।

भावार्थ:- भगवान् के साढ़े बारह वर्ष के तपश्चरण-काल में ऐसी-ऐसी घटनाए घटों कि जिनके सुनने मात्र से ही धीर-बीरों के भी रोम खड़े हो जाते हैं। परन्तु भगवान् महाबीर उन सब प्रसङ्गों पर खरे उतरे और उन्होंने अपने ऊपर आये हुए उपसर्गों (आपित्तयों) को भली भांति सहन किया और उन पर विजय प्राप्त की। इन घटनाओं का उल्लेख प्रस्तावना में किया गया है।

# किन्तु वीरप्रभुवीरा हेलया तानतीतवान्। झंझानिलोऽपि किं तावत्कम्पयेन्मेरुपर्वतम्।।३६।।

किन्तु वीर प्रभु तो सचमुच ही वीर थे, उन्होंने उन सब प्रसंगों को कुत्हल-पूर्वक पार किया, श्रर्थात् उन पर विजय पाई। किव कहते हैं कि क्या कभी झंझावायु भी मेरु पर्वत को कंपा सकती है ? अर्थात् कभी नहीं ॥ ३६॥

#### एकाकी सिंहबद्वीरो व्यचरत्स भुवस्तले। मनस्वी मनसि स्वीये न सहायमपेक्षते॥३०॥

वे वीरप्रभु इस भूतल पर सिंह के समान अकेले ही विहार करते रहे। सो ठीक ही है, क्योंकि मनस्वी पुरुष अपने वित्त में दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं करते॥ ३७। ये केऽपि सम्प्रति विरुद्धियो लसन्ति त्वच्चेष्टितस्य परिकर्मभृतो हि सन्ति । आत्मन् पुराऽजनि तवैव विभावस् चिन् सुक्तासु स्त्रसमवायकरीव स्वी ॥३८॥

आज जो कोई भी परस्पर विरुद्ध बुद्धिवाले दिखलाई दे रहे हैं हे आत्मन, वे सब तेरी पूर्व भव की चेष्टा के ही परिकर्म के धारक हैं, क्योंकि, तू ने पूर्व जन्म में अपने विचार विभाव परिणति से परिणत किये, उसीके ये सब परिणाम है। जैसे कि मोतियों में एक सूत्रता करने वाली सुई होती है। ३८।

भावार्थ:- जैसे भिन्न भिन्न स्वतंत्र सत्ता वाले मोतियों में सूत्र (धागा) पिरोने का कार्य सुई करती है, उसी प्रकार विभिन्न व्यक्तित्व वाले पुरुषों में जो अपने विरोधी या अविरोधी दिखाई देती है, वह अपनी राग, देवमयी सूची (सुई) रूप विभाव परिणति का ही प्रभाव है।

गतमनुगच्छति यतोऽधिकांशः सहजतयैव तथा मतिमान् सः । अन्याननुकूलयितुं कुर्यात्स्वस्य सदाऽऽदर्शमयीं चर्याम् ।।३९॥

संसार में अधिकांश जन तो गतानुगत ही चलते हैं, किन्तु बुढ़िमान तो वही है जो औरों को अनुकूछ करने के लिए सदा सहज रूप से अपनी आदर्शमधी चर्या को करे॥ ३६॥

श्रीमान् श्रेष्टिचतुर्भे जः स सुषुवे भ्रामलेत्याह्वयं वाणीभृषण-वर्णिनं वृतवरी देवी च यं धीचयम् । तस्माज्ञब्धभवे प्रगच्छति तमां वीरोदयाख्यानके । सर्गोऽसौ दशमश्च निष्क्रमणवाक् वीरस्य तत्रानके ॥१०॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भु ज स्त्रौर घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणीभूषण बाल-ब्रह्मचारी भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर द्वारा विरिचत वीरोदय स्त्राख्यान में वीर के निष्क्रमण कल्याणक का वर्णन करने वाला दशवां सर्ग समाप्त हुस्रा॥ १०॥

# अथैकादशः सर्गः

श्रृणु प्रवित् सिंहसमीक्षणेन प्राग्जनमञ्जलाधिगमी क्षणेन । सिन्नम्नगोपाङ्कितवारिपूरे मनस्तरिस्थो व्यचरत् प्रभूरे ॥१॥

हे विद्वज्ञत ! सुनो — भगवान् ने सिंहावलोकन करते हुए (अवधि झान से) एक क्षण मात्र में अपने पूर्व जन्मों के वृत्तान्तों को जान लिया। तब वे नीचे लिखी हुई वाक्य-परम्परा से अंकित नदी के पूर में मनरूपी नौका पर बैठकर विचरने लगे, अर्थात् इस प्रकार से विचार करने लगे।। १॥

निरामया बीतभयाः ककुल्पाः श्रीदेवदेवीद्वितयेन तुल्याः । आसन् पुरा भूतलवासिनो ऽपि अनिष्टसंयोगधरो न को ऽपि ॥२॥

बहुत पूर्वकाल में यहां पर सभी भूतल-वासी प्राणी निरामय

(नीरोग) थे, भय-रहित थे, भोगोपभोगों से मुखी थे और देव-देवियों के तुल्य मुखी युगल जीवन बिताते थे। उस समय कोई भी अनिष्ट संयोग वाला नहीं था।। २॥

नानिष्टयोगेष्टवियोगरूपाः कल्पद्रुमेभ्यो विवृतोक्तक्र्पाः । निर्मत्सरा हवतयोपगृदाः परस्परं तुल्यविधानरूढाः ॥३॥

उस काल में कोई भी प्राणी अतिष्ट-संयोग और इष्ट वियोग बाला नहीं था। कल्पवृक्षों से उन्हें जीवनोपयोगी सभी वस्तुएं प्राप्त होती थीं। उस समय के लोग मत्सर भाव से रहित थे और परस्पर समान आचरण-ज्यवहार करते हुए अति स्नेह से रहते थे।। ३॥

भावार्थ-उस समय यहां पर भोग भूमि थी ऋौर सर्व मनुष्य सर्व प्रकार से सुखी थे।

कालेन वैषम्यमिते नृवर्गे कौर्यं पश्नामुपयाति सर्गे । कल्पद्रमौघोऽपि फलप्रकार-दानेऽथ सङ्कोचमुरीचकार ॥४॥

तदनन्तर काल-चक्र के प्रभाव से मनुष्य वर्ग में विषमता के आने पर और पशुओं के कूर भाव को प्राप्त होने पर कल्पवृक्षों के समृह ने भी नाना प्रकार के फलों के देने में संकोच को स्वीकार कर लिया, अर्थात् पूर्व के समान फल देना बन्द कर दिया ॥ ४॥

सप्तद्वयोदारकुलङ्कराणामन्त्यस्य नाभेर्मरुदेवि आणात् । सीमन्तिनी तत्र हृदेकहारस्तत्कुक्षितोऽभृद् ऋषभावतारः ॥४॥

उस समय यहां पर क्रमशः चौदह कुळकर उत्पन्न हुए। उनमें श्रम्तिम कुळकर नाभिराज थे। उनकी स्त्री का नाम मस्देवी था। उसकी कुक्षि से दोनों के हृदय के अद्वितीय हार-स्वरूप श्री ऋषभदेव का अवतार हुआ।। १॥

प्रजासु आजीवनिकाभ्युपायमस्यादिषट्कर्मविधि विधाय। पुनः प्रश्रवाज स सुक्तिहेतु-प्रयुक्तये धर्मगृहैककेतुः । ६॥

उन्होंने प्रजाओं की आजीविका के उपायभूत श्रमि, मिष, कृषि आदि षट् कर्मों का विधान करके पुन: मुक्ति-मार्ग को प्रकट करने के लिए तथा स्वयं मुक्ति प्राप्त करने के लिए परित्राजकता को अंगी-कार किया, क्योंकि वे तो धर्म रूप प्रासाद के श्रद्धितीय केतु- (ध्वज-) स्वरूप थे।। ६।।

एकेऽसुना साकमहो प्रवृत्तास्तप्तुं न शक्ताः स्म चलन्ति वृत्तात् । यहच्छपाऽऽहारविहारशीला दधुर्विचित्रां तु निजीयलीलाम् ॥७॥

उनके साथ सहस्रों लोग परिव्राजक बन गये। किन्तु उनमें से अनेक लोग उम्र तप को तपने के लिए समर्थ नहीं हुए और अपने चारित्र से विचलित होकर स्वच्छन्द आहार-विहार करने लगे। तब उन्होंने अपनी मनमानी अनेक प्रकार की विचित्र लीलाओं को धारण किया।। ७।।

भावार्थ - सत्य साधु मार्ग छोड़कर उन्होंने विविध वेषों को धारण कर धर्म का मनमाना आचरण एवं प्रचार प्रारंभ कर दिया।

पौत्रो ऽहमेतस्य तद्ग्रगामी मरीचिनाम्ना समभ्च्च नामी। ययौ ममायं कपि-लक्षणेनार्जितं मतं तत्कपिल-क्षणे ना ॥८॥

उन उन्मार्ग-गामियों का अप्रगामी (मुखिया) मैं मरीचि नाम

से प्रसिद्ध भगवान् ऋषभदेव का पौत्र ही था। उस समय किष (वानर) जैसी चंचलता से मैंने जो मत प्रचारित किया, वही काला-न्तर में किष्णलमत के नाम से प्रसिद्ध हुआ।। पा।

स्वर्गः गतोऽप्येत्य पुनर्द्धिजत्वं धृत्वा परित्राजकतामतत्त्वम् । प्रचारयन् स्मास्मि सुदृष्टिहान्या समाद्धानोऽप्यपथे तथाऽन्यान्॥

मरीचि के भव से आयु समाप्त कर मैं स्वर्ग गया। वहां से आकर द्विज्ञत्व को धारण कर, अर्थात् ब्राह्मण के कुल में जन्म लेकर और निःसार वाली परिब्राजकता को पुनः धारण कर उसका प्रचार करता हुआ। सुदृष्टि (सम्यग्दर्शन) के अभाव से अन्य जनों को भी उसी कुपथ में लगाता हुआ। विचरने लगा।। ६।।

नानाकुयोनीः समवेत्य तेन हन्ताऽथ दुष्कर्मसमन्वयेन । शाण्डिल्य-पाराशरिकाद्वयस्य प्रत्रोऽभवं स्थावरनाम शस्यः ॥१०॥

इस उन्मार्ग के प्रचार वा स्वयं तथेव आचरण से मैंने जो दुष्कर्म उपार्जन किया, उससे संयुक्त होकर उसके फलस्वरूप नाना प्रकार की कुयोनियों में परिश्रमण करके अन्त में शारिडल्य ब्राह्मण और उसकी पाराशरिका स्त्री के स्थावर नाम का श्रेष्ठ पुत्र हुआ।। १०॥

भृत्वा परित्राट् स गतो महेन्द्र-स्वर्ग ततो राजगृहेऽपकेन्द्रः । जैन्या भवामि सम च विश्वभृतेस्तुक् विश्वनन्दी जगतीत्यपूर्ते॥

इस भव में भी परित्राजक होकर तप के प्रभाव से माहेन्द्र स्वर्ग गया। पुन: वहां से च्युत होकर इस अपवित्र जगत् में परिश्रमण करते हुए राजगृह नगर में विश्वभूति ब्राह्मण और उसकी जैनी नामक स्त्री के विश्वनन्दी नाम का पुत्र हुआ।। ११।। विशाखभूतेस्तनयो विशाखनन्दी समैच्छित्पतुराचशाखम् । यद्विश्वनन्दिप्रथितं किलासीदुधानमभ्रे श्वरसान्द्रभासि ॥१२॥

विश्वभूति के भाई विशाखभूति का पुत्र विशाखनन्दी था। वह पिता के द्वारा विश्वनन्दी को दिये हुए नन्दन वन जैसे शोभायमान उद्यान को चाहता था॥ १२॥

राजा तुजेऽदात्तदही निरस्य युवाधिराजं छलती रणस्य । प्रत्यागती ज्ञातरहस्यवृत्तः श्रामण्यकर्मण्यसकी प्रवृत्तः ॥१३॥

विशासभूति राजा ने रण के बहाने से मुझ विश्वनन्दी को बाहिर भेज दिया और यह उद्यान अपने पुत्र को दे दिया। जब बह मैं विश्वनन्दी युद्ध से वापिस आया और सर्व बृत्तान्त को जाना, तो विरक्त होकर आमण्यकर्म में प्रवृत्त हो गया अर्थात् जिन-दीक्षा ले छी। १३॥

तदेतदाकण्यं विशाखभृतिर्विचार्यं वृत्तं जगतो ऽतिपूर्ति । दिगम्बरीभृयं सतां वतंसः ययौ महाशुक्रसुराखयं स ॥१४॥

राजा विशासभूति यह सब वृत्तान्त सुनकर और जगत् के हाल को अत्यन्त घृणित विचार कर दिगम्बर साधु बन गया और वह सज्जनों का शिरोमणि तप करके महाशुक्र नामक स्वर्ग को प्राप्त हुआ।। १४।।

श्रीविश्वनन्द्यार्यमवेत्य चर्यापरायणं मां मथुरानगर्याम् । विशाखनन्दी शपति सम भृरि ततोऽगमं रोषमहं च स्ररिः ॥१४॥

जब मैं मथुरा नगरी में चर्या के लिये गया हुआ था, उस समय

विशाखनन्दी ने मुक्ते विश्वनन्दी जानकर मेरा भारी अपमान किया, जिससे साधु होते हुए भी मैं रोष को प्राप्त हो गया॥ १४॥

हन्ताऽस्मि रे त्वामिति भाववन्धमथी समाधानि मनःप्रवन्धः। तप्त्वा तपः पूर्ववदेव नामि स्वर्गः महाशुक्रमहं स्म यामि ॥१६॥

तब रोप में मैंने ऐसा भाव-बन्ध (निदान) किया कि रे विश्वास-नन्दी! मैं परभव में तुसे मारू गा। पुन चित्त में समाधान को प्राप्त होकर मैं (वह विश्वनन्दी) पहले के समान ही तपश्चरण करके महाशुक्र नाम के स्वर्ग में गया।। १६॥

वशाखभृतिर्नभसोऽत्र जातः प्रजापतेः श्रीविजयो जयातः । मृगावतीतस्तनयस्त्रिपृष्ठ-नाम्नाऽप्यहं पोदनपुर्यथातः ॥१७॥

विशास्त्रभूति का जीव स्वर्ग से च्युत होकर यहां पोदनपुरी में प्रजापित राजा ऋौर जया रानी से श्री विजय नामक पुत्र हुआ। और मैं उन्हीं राजा की दूसरी सृगावती रानी से त्रिष्ट्रप्ट नाम का पुत्र हुआ।। १७।।

भावार्थ-पूर्व भव के काका-भतीजे हम दोनों यहां पर क्रमशः बलभद्र और नारायण हुए।

विशाखनन्दी समभृद् श्रिमित्वा नीलंयशामानुद्रं स इत्वा । मयुरराज्ञस्तन यो ऽश्वपूर्व ग्रीवो ऽलकायां धृतजनमदूर्वः ॥१८॥

विशासनन्दी का जीव बहुत दिनों तक संसार में परिश्रमण करके ब्रालकापुरी में मयूर राजा और नीलंबशा माता के गर्भ में ब्राकर ब्राश्वश्रीय नाम का पुत्र उत्पन्न हुन्या, जिसका जन्मोत्सव उत्साह से मनाया गया।। १८॥

सोऽसौ त्रिखण्डाधिपतासुपेतोऽश्वग्रीव आरान्मम तार्क्यकेतोः। मृतोऽसिना रौरवमभ्यवाप गतस्तदेवाहमधो सपापः।।१९।

वह अश्वश्रीव (प्रतिनारायण बनकर) तीन छण्ड के स्वामीपने को प्राप्त हुआ। (किन्तु पूर्व भव के वैर से) वह, गरुड़ की ध्वजावाले मुझ त्रिष्टुष्ठ नारायण की तळवार से मर कर रौरव नरकको प्राप्त हुआ और मैं भी पापयुक्त होकर उसी ही नरक में गया।। १६॥

निर्गत्य तस्माद्धरिभ्यमङ्गं लब्ध्वाऽत्रजं चादिविलप्रसङ्गम् । ततोऽपि सिंहाङ्गमुपेत्य तत्र मयाऽऽपि कश्चिन्मुनिराट् पवित्रः॥

पुनः मैं उस नरक से निकल कर सिंह हुआ और मरकर प्रथम नरक गया। वहां से निकल कर मैं फिर भी सिंह हुआ। उस सिंह भव में मैंने किसी पवित्र मुनिराज को पाया, अर्थात् मुक्ते किसी मुनिराज के सत्संग का सुयोग प्राप्त हुआ।। २०॥

स आह भो भव्य ! पुरूरवाङ्ग-भिल्लोऽपि सद्धर्भवशादिहाङ्ग । आदीशपौत्रत्वसुपागतोऽपि कुटक्प्रभावेण सुधर्मलोपी ॥२१॥

मुक्ते देख कर वह मुनिराज बोले—हे भव्य, हे अंग (बल्स) तूपिहले पुरुष्वा भील था, फिर उत्तमधर्म के प्रभाव से आदि जिनेन्द्र के पुत्र भरत सम्राट् के पुत्रपने को प्राप्त हुआ, अर्थात् प्रथम तीर्थ इस का मरीचि नाम का पोता हुआ। फिर भी मिध्यादर्शन के प्रभाव से सुधर्म का लोप करने वाला हुआ।। २१।।

माऽगा विषादं पुनरण्युदारबुद्धं ! विशुद्धेर्गमिताऽसि सारम् । परिव्रजन् यः स्वलति स्वयं स चलत्यथोत्थाय सतां वर्तसः ॥२२ किन्तु हे उदार बुद्धे ! अब तू विषाद को मत प्राप्त हो, तू बहुत शीध विशुद्धि के सार को प्राप्त होगा। जो चलता हुआ गिरता है, वही सज्जन-शिरोमणि मनुष्य स्वयं उठकर चलते लगता है।। २२॥

उपात्तजातिस्पृतिरित्यनेनाश्रुसिक्तयोगीन्द्रपदो निरेनाः । हिंसामहं प्रोज्झितबानथान्ते प्राणाँथ संन्यासितया वनान्ते ॥२३॥

साधु के उक्त वचन सुनकर जाति-स्मरण को प्राप्त हो मैंने अपने आंसुओं से उन योगीन्द्र के चरणों को सींचकर हिंसा को छोड़ दिया और पाप-रहित होकर जीवन के अन्त में उसी वन के भीतर संन्यास से प्राणों को छोड़ा ।। २३ ।।

तस्मादनल्पाप्सरसङ्गतत्वाङ्ग् त्वाऽमृताशी सुखसंहितत्वात् । आयुःससुद्रद्वितयोपमान-क्षणं स्म जाने क्षणसम्बिधानम् । २१॥

उस पुरुष के प्रभाव से मैंने अमृत-भोजी (देव) होकर अनेकों अप्रत्मराध्यों से युक्त हो सुख-परम्परा को भोगते हुए वहां की दो सागरोपम आयु को एक क्षण के समान जाना ॥ २४॥

श्रीधातकीये रजताचले Sहं जातः परित्यज्य सुरस्य देहस् । सुरेन्द्रकोणीयविदेहनिष्ठे तहुत्तरश्रेणिगते विशिष्टे ।।२५॥

श्रीमङ्गलावत्यभिधप्रदेश-स्थिते पुरे श्रीकनकाभिधे सन् । राजाग्रशब्दः कनकोऽस्य माला राज्ञी सहासीत्कनकेंन बाला ॥

तयोर्गतोऽहं कुलसीधकेतुः सुराद्रिसम्पूजनहेतवे तु । भूत्वा सुनिर्लान्त वमभ्रुपेतस्त्रयोदशाब्ध्यापुरुपेत्य चेतः ॥२७॥ तत्पश्चान में देव की देह को छोड़ कर धातकी खंड के पूर्व दिशा में उपस्थित पूर्व-विदेह के रजताचल की उत्तर श्रेणी-गत विकाद श्री मंगलावती नामक देश में विद्यमान श्री कनकपुर में कनक राजा की कनकमाला रानी के उनके कुलक्ष्प भवन की ध्वजा-स्वरूप पुत्र हुआ। उस भव में में सुमेरु पर्वत के चैत्यालयों की पूजन के लिए गया। पुन: मुनि बन कर (श्रीर संन्यास से मरण कर) लान्तव नाम के स्वर्ग को प्राप्त हुआ। श्रीर वहां पर मैंने तेरह सागर की श्रायु पाई।। २४-२७॥

साकेतनामा नगरी सुधामा ऽस्यां चा ऽभवं श्रीहरिषेणनामा । श्रीवज्रपेणावनिषेन शीलवत्याः कुमारो ऽहमथो सलीलः ॥२८॥

पुन उत्तम भवनों वाली जो साकेत नाम नगरी है, उसमें मैं स्वर्ग से च्युत होकर श्री वज्रपेण राजा से शीलवती रानी के श्रीहरि-पेण नाम का पुत्र हुआ और मैंने कुमार-काल नाना प्रकार की लीलाओं में बिताया ॥ २८॥

युवत्वमासाद्य विवाहितो ऽपि नोपासकाचारविचारलोपी । सन्ध्यासु सन्ध्यानपरायणत्वादेवं च पर्वण्युपवासकृत्वात् ॥२९॥

पुन: युवावस्था को प्राप्त कर में विवाहित भी हुआ, परन्तु उपा-सकों (श्रावकों) के आचार विचार का मैंने लोप नहीं किया, अथीत् मैंते श्रावक धर्म का विधिवत् पालन किया। तीनों संध्या-कालों में मैं सन्ध्या-कालीन कर्त्त व्य में परायण रहता था और इसी प्रकार पव के दिनों में उपवास करता था।। २६॥

पात्रोपसन्तर्पणपूर्वभोजी भोगेषु निर्विण्णतया मनोजित् । अधौकदा श्रीश्रुतसागरस्य समीपमाष्ट्या बदतांबरस्य ॥३०॥ दिगम्बरीभ्य तपस्तपस्यन्ममायमात्मा श्रुतसारमस्यन् । भुक्तोज्झितं भोक्तु मुपाजगाम पुनर्महाशुक्रसुपर्वधाम ॥३१॥

में पात्रों के सन्तवण-रूर्वक भोजन करता था, भोगों में विरक्त होने से मन को जीतने वाला था। तभी एक समय आचार्य-शिरोमणि श्री श्रुतसागर के समीप जाकर, दिगम्बरी दीक्षा लेकर और तप को तपता हुआ मेरा यह आत्मा श्रुत के सार को प्राप्तकर भोग करके छोड़े हुए भोगों को भोगने के लिए पुनः महा श्रुक स्वर्ग को प्राप्त हुआ।। ३०-३१।।

प्रान्धातकीये सरसे विदेहे देशे ऽथवा पुष्कलके सुगेहे । श्रीपुण्डरीकिण्यथ पूः सुभागी सुमित्रराजा सुत्रताऽस्य राज्ञी ।।

भृत्वा कुमारः प्रियमित्रनामा तयोरहं निस्तुलरूपधामा ।
पट्खण्डभूमीश्वरतां दधानो विरज्य राज्यादिह तीर्थभानोः ॥
गत्वान्तिकं धर्मसुधां पिपासुः श्रामण्यमाप्त्वा तपसाऽसुनाऽऽञ्ज ।
स्वर्गं सहस्रारसुपेत्य देवीमैमि स्म सम्पत्तिमपापसेवी ॥३४॥

पुनः धातकी खरह के सरस पूर्व विदेह के उत्तम गृहों वाले पुष्कल देश में श्री पुरहरीिकणी पुरी के सुमित्र राजा और सुत्रता रानी के मैं अनुल रूप का धारी प्रिय मित्र नाम का कुमार हुआ। वहां पर षट् खरह भूमि की ईश्वरता को, अर्थात् स्वामित्व को धारण करता हुआ चक्रवर्ती बनकर (राज्य-सुख भोगा। पुनः कारण पाकर) राज्य से विरक्त होकर तीर्थ के लिए सूर्य-स्वरूप आचार्य के पास जाकर और धर्म रूप अमृत के पीने का इच्छुक हो, सुनिपना अज्ञीकार कर वहां किये हुये तपश्चरण के फल से शीध ही सहसार

स्वर्ग में उत्पन्न होकर निष्पाप प्रवृत्ति करने वाले मैंने देवी सम्पत्ति की प्राप्त किया।। ३२-३४॥

छत्राभिधे पुर्यमुकस्थलस्य श्रीवीरमत्यामभिनन्दनस्य । मुतोऽभवं नन्दसमाह्ययोऽहमाष्त्वा कदाचिन्मुनिमस्तमोहम् ॥ समस्तसन्त्रैकहितप्रकारि-मनस्तयाऽन्ते क्षपणत्वधारी । उपेत्य वै तीर्थकरत्वनामाच्युतेन्द्रतामप्यगमं सुदामा ॥३६॥

पुनः उसी धातकी खरहस्थ पूर्व विदेह क्रेत्र के उस पुष्कल देश में छत्रपुरी के राजा अभिनन्दन और रानी श्री वीरमती के नन्द नामका पुत्र हुआ। वहां किसी समय मोह-रहित निर्मन्थ मुनि को पाकर, उनके समीप क्षरणकत्व (दिगम्बरत्व) को धारण कर लिया और समस्त प्राणियों की हितकारीणी मानसिक प्रवृत्ति होने से तीर्थकरत्व नामकर्म का बन्धकर अच्युत स्वर्ग की इन्द्रता को प्राप्त हुआ, अर्थात् उत्तम माला का धारक इन्द्र हुआ।। ३४-३६॥

यदेतदीक्षे जगतः कुवृत्तं तस्याहमेवास्मि कुवीजभृतं । चिकित्सिताऽज्यी भुवि मचिकित्सा विना स्वभावादुत कस्य दित्सा।।

इस प्रकार आज जगत् में जो यह कदाचार देख रहा हूँ, उसका मैं ही तो कुबीजभूत हूँ, अर्थात् पूर्व भवों में मैंते ही जो मिण्या मार्ग का बीज बोया है, वही आज नाना प्रकार के मत-मतान्तरों एवम् असदाचारों के रूप में वृक्ष बनकर फल-फूल रहा है। इसलिए जगत् की चिकित्सा करने की इच्छा रखने वाले मुक्ते पहिले अपनी ही चिकित्सा करनी चाहिए। जब तक में स्वयं शुद्ध (निरोग या निराग) नहीं हो जाऊं, तब तक स्वभावतः दूसरे के लिए औषधि देने की इच्छा कैसे समभव है। ॥ ३७॥

सिद्धिमिच्छन् भजेदेवासहयोगं धनादिभिः । अपि कुर्याद् बहिष्कारं मत्सरादेरिहात्मनः ।।३८॥

आत्म-शुद्धि रूप सिद्धि की इच्छा करने वाले को धन-कुटु-म्बादि से असहयोग करना ही चाहिए, तथा अपनी आत्मा के परम शत्रु मत्सरादिक भावों का भी बहिष्कार करना चाहिए ॥ ३८ ॥

> स्वराज्यप्राप्तये धीमान् सत्याग्रहधुरन्धरः । नो चेत्परिस्खलत्येव वास्तव्यादातमवतर्मनः ॥३९॥

स्वराज्य (खात्म-राज्य) प्राप्ति के छिए बुद्धिमान् पुरुष को सत्याग्रह रूप धुराका धारक होना चाहिए। यदि उसका सत्य के प्रति यथार्थ खाग्रह न होगा, तो वह खपने वास्तविक खात्म-शुद्धि के मार्ग से परिश्रष्ट हो जायगा ॥ ३६ ॥

बहुकुत्वः किलोपाचो ऽसहयोगो मया पुरा । न हि किन्तु बहिष्कारस्तेन सीदामि साम्प्रतम् ॥४०॥

पहिले मैंने अपने पूर्व भवों में धन कुटुम्ब आदि से बहुत वार असहयोग तो किया, कितु राग-द्वेषादि रूप आत्म-शत्रुओं का बहिण्कार नहीं किया। इसी कारण से आज मैं दुःख भोग रहा हूँ॥ ४०॥

> इदमिष्टमनिष्टं वेति विकल्प्य चराचरे । मुधेव द्वेष्टि हन्तात्मच द्वेष्टि तत्स्थलं मनः ॥४१॥

हे आत्मन् ! इस चराचर जगत् में यह वस्तु इष्ट है और यह अनिष्ट है, ऐसा विकल्प करके तू व्यर्थ ही किसी से राग और किसी से द्वेष करता हैं। दुःख है कि इस राग द्वेष के स्थल-भूत अपने मनसे नृदेष नहीं कर रहा है १ ॥ ४१॥

#### तद्य दुष्टभावानां मया ऽ ऽत्मवलवालिना । बहिष्कार उरीकार्यः सत्याग्रहसुपेयुषा ॥ ४२॥

इसलिए आत्म बलशाली मुक्ते सत्याप्रह को स्वीकार करते हुए अपने राग-द्वेषादि दुष्ट भावों का बहिष्कार अङ्गीकार करता चाहिए॥ ४२॥

> अभिवाञ्छिसि चेदातमन् सत्कर्त्तु संयमद्रुमम्। नैराश्यनिगडेनैतनमनोमर्कटमाधर ।।४३।।

हे आत्मन् ! यदि तुम संयम रूप वृक्ष की सुरक्षा करना चाहते हो, तो अपने इस मनरूप मर्कट (बन्दर) को निराशा रूप सांकल से अच्छी तरह जकड़ कर बांधो ॥ ४३॥

अपारसंसारमहाम्बुराशेरित्यात्मनी निस्तरणैकहेतुम् । विचार्य चातुर्यपरम्पराती निबद्धवानात्मविभः स सेतुम् ॥४४॥

इस प्रकार आत्म-वेभव के स्वामी वीर भगवान ने विचार कर इस अपार संसार रूप महा समुद्र के पार होने के एक मात्र हेतु-स्वरूप सेतु (पुळा को अपनी चातुर्य-परम्परा से बांधा ॥ ४४ ॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भु जः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् । तेनास्मिन्नुदिते स्वकर्मविभवस्यादर्शवद् व्यञ्जकः। प्राग्जन्मप्रतिवर्णनोऽर्हत इयान् एकादशस्थानकः ॥११॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भु जजी और घृतवरी देवी से उत्पन्न

हुए वाणीभूषण बाल ब्रह्मचारी पं० भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर द्वारा विरचित इस काव्य में अपने कर्म-वैभव को आदर्श (दर्षण) के समान प्रकट करने वाला और भगवान् के पूर्व जन्मों का वर्णन करने वाला यह ग्यारहवां सर्ग समाप्त हुआ।। ११॥



# अथ द्वादशः सर्गः

विलोक्य वीरस्य विचारबृद्धिमिहेर्ध्ययेवाथ बभूव गृद्धिः। वृषाधिरूदस्य दिवाधिपस्यापि चार आत्तोरुतयेति शस्या ॥१॥

इस प्रकार बीर भगवान् की विचार-वृद्धि को देखकर उनके प्रांत ईर्ष्या करते हुए ही मानों वृष राशि पर ऋारूढ़ हुए सूर्य देव का संचार भी दीर्घता को प्राप्त हुऋा, ऋर्थात् दिन बड़े होने छगे॥ १॥

स्वतो हि संजुम्भितजातवेदा निदाधके रुग्ण इवोष्णरश्मिः। चिरादथोत्थाय करैरशेषात रसानिगृह्णात्यनुवादि अस्मि तरा।

इस निदाघ काल में (ब्रीष्म ऋतु में) स्वतः ही बढ़ी है अबि (जठराबि) जिसकी ऐसा यह उष्ण रश्मि (सूर्य) रुग्ण पुरुष के समान चिरकाल से उठकर अपने करों (किरणों वा हाथों) से पुष्वी के समस्त रसों को ब्रह्ण कर रहा है, अर्थान् खा रहा है, मैं ऐसा कहता हूँ॥ २॥ भावार्थ: - जैसे कोई रोगी पुरुष चिरकाल के बाद शस्या से डठे और जठरामि प्रव्वलित होने से जो मिले उसे ही अपने हाथों से उठाकर खा जाता है, उसी प्रकार सूर्य भी बहुत दिनों के पश्चात् बीमारी से उठकर के ही मानों पृथ्वी पर के सर्व रसों को सुखाते हुए उन्हें खा रहा है।

बोढा नवोढामिव भूमिजातश्छायामुपान्तात्र जहात्यथातः । अनारतं वान्ति वियोगिनीनां श्वासा इवोष्णाः श्वसना जनीनाम्॥

जैसे कोई नवीन विवाहित पुरुष नवोड़ा स्त्री को अपने पास से दूर नहीं होने देता है, उसी प्रकार इस प्रीष्मकाल में भूमि से उत्पन्न हुआ वृक्ष भी छाया को अपने पास से नहीं छोड़ता है। तथा इस समय वियोगिनी स्त्रियों के उष्ण श्वासों के समान उष्ण वायु भी निरन्तर चल रही है।। ३॥

मितम्पचेषूत किलाध्वगेषु तृष्णाभिवृद्धिं समुपैत्यनेन । हरेः शयानस्य मृणालबुद्धचा कर्पन्ति पुच्छं करिणः करेण ॥४॥

इस प्रीष्मकाल के प्रभाव से पथिक जनों में कृपण-जनों के समान ही तृष्णा (प्यास और धनाभिलापा) और भी वृद्धि को प्राप्त हो जाती है। इस समय प्रीष्म से विद्धल हुए हाथी अपनी सूंड से सोते हुए सांप को मृणाल (कमलनाल) की वृद्धि से खीचने लगते हैं॥ ४॥

वियोगिनामस्ति च चित्तवृत्तिरिवाभितप्ता जगती प्रक्लृप्ता । छाया कुशत्वं विद्धाति तावद्वियोगिनीयं वनितेव द्या ॥१॥

इस समय यह पृथ्वी भी वियोगियों के चित्त-सहश सन्तप्त हो

जाती है। सूर्य की छाया भी मानिनी वियोगिनी नायिका के समान कराता को धारण कर लेती है।। ४।।

कोपाकुलस्येव ग्रुखं नृपस्य को नाम परयेद्रविविम्वमय । पयः पिवत्येव ग्रुहुर्मनुष्योऽधरं प्रियाया इव सम्प्रपद्य ॥६॥

इस समय कोप को प्राप्त हुए राजा के मुख के समान सूर्य के विम्ब को तो भला देख ही कौन सकता है ? गर्मी के मारे करठ सूख-सूख जाने से मानों मनुष्य वार-वार अपनी प्रिया को प्राप्त होकर उसके अधर के समान जल को पीता है ॥ ६॥

ज्वाला हि लोलाच्छलतो बहिस्तान्निर्यात्यविच्छिन्नतयेति मानात् । जानामि जागर्त्ति किलान्तरङ्गे वैश्वानरः सम्प्रति मण्डलानाम् ॥७॥

इस ब्रीष्म ऋतु में कुत्तों के भीतर श्रिष्म प्रव्वित हो रही है, इसीलिए मानों उनकी ज्वाला लपलपाती जीभ के बहाने अविच्लिल रूप से लगाकर वार-वार बाहिर निकल रही है, ऐसा मैं अनुमान करता हूँ ॥ ७ ॥

सहस्रधासंगुणितत्विडन्धौ वसुन्धरां शासति पद्मवन्धौ । जडाशयानान्तु कुतो भवित्री सम्भावना साम्प्रतमात्तमैत्री ॥८॥

इस समय सहस्र गुणित किरणों को लेकर पद्मवन्धु (सूर्य के विद्युत्य का शासन करने पर जडाशयों (मूर्ख जनों खौर जलाशयों) की तो बने रहने की सम्भावना ही कैसे हो सकती है। अर्थात गर्मी में सरोवर सूख जाते हैं। म।

त्यक्त्वा प्रयोजानि खताः श्रयन्ते मधुवता वारिणि तप्त एते । छायासु एणः खलु यत्र जिह्वानिलीहकान्तासुख एप शेते ॥६॥ इस समय सरोवरों का जल ऋत्यन्त तप जाने पर भौरे कमलों को छोड़ कर लताओं का ऋाश्रय लेते हैं और हिरण भी ठरही सपन छाया में बैठकर अपनी जिह्ना से प्रिया (हिरणी) का मुख चाटता हुआ विश्राम लें रहा है।। ६।।

मार्चण्डतेजः परितः प्रचण्डं मुखे समादाय मृणालखण्डम् । विराजते सम्प्रति राजहंसः कासारतीरेऽव्जतले सवंशः ॥१०॥

इस समय सूर्य का तेज ऋति प्रचएड हो रहा है, इसिंछए कमल-युक्त मृणाल के खरड को ऋपने मुख में लेकर सपरिवार यह राजहंस सरोवर के तीर पर बैठा हुआ राजहंस (श्रेष्ट राजा) सा शोभित हो रहा है।। १०॥

सन्तापितः सँस्तपनस्य पादैः पथि त्रजन् पांशुभिरुत्कृदङ्गः। तले मयूरस्य निषीद्तीति श्वसन्मुहुर्जिक्कगांतर्भु जङ्गः॥११॥

सूर्य की प्रखर किरणों से सन्ताप को प्राप्त होता हुआ, मार्ग में चलते हुए उष्ण धूलि से अपने आंग को ऊंचा उठाता हुआ, वार-वार दीर्घ श्वास छोड़ता हुआ। मुजंग कुंठित गति होकर आया प्राप्त करने की इच्छा से मोर के तले जाकर बैठ जाता है।। १४।।

भावार्थ गर्भी से संत्रस्त सर्प यह भूळ जाता है कि मोर तो मेरा शत्रु है, केवळ गर्भी से बचने का ही ध्यान रहने से वह उसी के नीचे जा बैठता है।

द्विजा वलभ्यामधुना लसन्ति नीडानि निष्पन्दतया श्रयन्ति । समेति निष्टां सरसे विशाले शिखावलः सान्द्रनगालवाले ॥१२॥ गर्मी के मारे पश्चीराण भी छजां के नीचे जाकर और वहां के घोंसछों का निस्पन्द होकर आश्रय ले लेते हैं, अर्थात् उनमें जाकर शान्त हो चुप-चाप बैठ जाते हैं। और मयूरगण भी किसी युश्च की सघन सरस, विशाल आर्द्र क्यारी में जाकर आसन छगा के चुपचाप बैठ जाते हैं। १२॥

बाहद्विषन् स्वासवगाहमानरछायामयं कर्दम इत्युदानः । विषयते धृलिभिरुष्णिकाभिरूढा क वा आन्तिमतामुताऽभीः ।१३॥

श्रश्वों से द्वेप रखने वाला मैंसा भी गर्मी से संतप्त होकर श्रपने ही श्रांग की लाया को, यह सघन की चड़ है, ऐसा समझकर बैठ जाता है श्रोर उसमें लोट-पोट होने लगता है। किन्तु वहां की उच्च धूलि से उल्टा विपत्ति को ही प्राप्त होता है। सो ठीक ही है— श्रान्ति वाले लोगों को निर्भयता कहां मिल सकती है। १३॥

उशीरसंशीरकुटीरमेके भृगर्भमन्ये शिशिरं विशन्ति । उपैति निद्रापि च पक्ष्मयुग्मच्छायां दशीत्येव विचारयन्ती ॥१४॥

गर्भी में कितने ही धनिक-जन तो उशीर (खस) से संश्रित कुटी में निवास करते हैं, कितने ही शीतल सूमि-गत गर्भालयों में प्रवेश करते हैं। ऐसा विचार करती हुई स्वयं निद्रा भी मनुष्यों की दोनों खांखों की वरीनी का खाश्रय ले लेती है।। १४॥

श्रीतालवृन्तभ्रमणं यद्।युः सर्वात्मना सेव्यत एव वायुः। आलम्बते स्वेद्मिषेण नीरं शीतलं सम्यगुरोजतीरम् ॥१५॥

इस बीष्म काल में वायु भी श्री ताल वृक्ष के वृन्त (इंटल) के

आश्रय को पाकर जीवित रहता है, इसलिए वह सर्वात्म रूप से उसकी सेवा करता है। तथा स्वयं जल भी बीदम से सन्तप्त होकर प्रस्वेद (पसीना) के मिष से युवती स्त्रियों के शीतल स्तर्नों के तीर का भने प्रकार आश्रय लेता है।। १४।।

अभिद्रवचन्द्रनचर्चितान्तं कामोऽपि वामास्तनयोरुपान्तम् । आसाद्य सद्यस्त्रिजगद्विजेता निद्रायतेऽन्यस्य पुनः कथेता ॥१६॥

स्रोरों की तो कथा ही क्या है, स्वयं सदाः (शीव्रता पूर्वक) त्रिजगद्-विजेता कामदेव भी चंदन-रस से चर्चित नवोटास्रों के स्तनों के मूळ भाग को प्राप्त होकर निद्रा लेने छगता है।। १६॥

छाया तु मा यात्विति पादलमा प्रिया ऽध्वनीनस्य गतिश्र भगा। रविस्त्ववित्कर्कशपादपूर्णः कचित् स शेते ऽथ शुचेव तूर्णम् ॥१७॥

पथिक की गति रूप स्त्री तो नष्ट हो गई है और छाया रूप प्रिया 'अभी मत जाओ' ऐसा कहती हुई अपने पथिक पति के पैरों में पड़ जाती है, और इधर सूर्य निर्देयता-पूर्वक अपने कठोर पैर मारता है, अर्थात् अपनी तीक्ष्ण किरणों से सन्तप्त करता है। इस छिए सोच में पड़ करके ही मानों पथिक शीघ्र कहीं एकान्त में जाकर सो जाता है।। १७॥

द्विजिह्वचित्तोपममम्बुतप्तं ब्रह्माण्डकं आष्ट्रपदेन शप्तम् । शैत्यस्य सत्त्वं रविणाऽत्र लुप्तं यत्किञ्चिदास्ते स्तनयोस्तु गुप्तम् ॥

गर्मी में जल तो पिशुन के चित्त के समान सदा सन्तप्त रहता है श्रीर यह सारा ब्रह्माएड भाड़ के समान श्रति उच्चता की प्राप्त हो जाता है। इस समय शीत की सत्ता को सूर्य ने विलक्षल लुप्त कर दिया है। यदि कहीं कुछ थोड़ा-सा शीत शेष है, तो वह कियों के स्तनों में छिपा हुआ है।। १८।।

परिस्फुटत्त्रोटिपुटैर्विडिस्भैः प्राणैस्तरूणामित्र कोटराणाम् । कोक्रयनान्यङ्कगतैः क्रियन्ते रवेर्मयृखैर्ज्विलतान्तराणाम् ॥१९॥

सूर्य की भयंकर किरणों से जल गया है भीतरी भाग जिनका, ऐसे बृक्षों के कोटरों में छिपकर बँठे हुए खौर जिनके चंचु-पुट खुले हुए हैं, ऐसे पक्षियों के बच्चे प्यास से पीड़ित होकर ऐसे खार्त शब्द कर रहे हैं मानों गर्मी से पीड़ित कोटर ही चिछा रहे हों॥ १६॥

प्रयात्यरातिश्च रविर्द्धिमस्य द्रीषु विश्रम्य हिमालयस्य । नो चेत्क्षणक्षीणविचारवन्ति दिनानि दीर्घाणि कृतो भवन्ति॥२०॥

श्रीरों की तो बात ही क्या है, जो हिम का सहज वेरी है वह सूर्य भी हिमालय की गुफाओं में कुछ देर तक विश्राम करके आगे जाता है। यदि ऐसा न होता, तो क्षण-क्षीण विचार वाले दिन आज कल दीर्घ कैसे होते॥ २०॥

भावार्थ—जो दिन अभी तक शीत ऋतु में छोटे होते थे—बड़ी तेजी से निकल जाते थे, वे ही अब गर्भी में इतने लम्बे या बड़े कैसे होने लगे ? इस बात पर ही किव ने उक्त उत्प्रेक्षा की है।

पादैः खरैः पूर्णदिनं जगुर्विद्वर्था रवेर्निर्दिलितेयमुर्वी । आशासिता सायमुपैति रोपात्करैर्वृहिक्श्विसतं विधोः सा ॥२१॥

सारे दिन सूर्य के प्रखर पादों ( किरणों वा पैरों ) से सवाई

गई यह पृथ्वी सायंकाल के समय चन्द्र के करों (किरणों वा हस्तों) से अ श्वासन पाकर रोष से ही मानों दीर्घ निःश्वास छोड़ने लगती है, ऐसा विद्वान लोग कहते हैं।। २१।।

सरोजिनीसौरभसारगन्धिर्मधौ य आनन्दपदानुबन्धी । रथ्या रजांसीह किरन् समीर उन्मत्तकल्पो अमतीत्यधीरः ॥२२॥

वसन्त ऋतु में जो वायु सरोजिनी के सौरभ सार से सुगन्धित था, एवं सभी के स्थानन्द का उत्पादक था, वही वायु स्थव गिल्यों की धूलि को चारों स्थोर फेंकता हुन्या उन्मत्त पुरुष के समान श्रधीर होकर स्थमण कर रहा है। २२।।

नितान्तमुच्चैस्तनशैलम्लच्छायस्य किञ्चित्सवितानुक्लः । यःकोऽपिकान्तामुखमण्डलस्य स्मितामृतैः सिक्ततया प्रशस्यः॥

इस श्रीष्म ऋतु में यदि सूर्य किसी के कुछ अनुकूल है तो उसी के है, जो कि स्त्रियों के अति उन्नत स्तनरूप शैल के मूल की छाया को प्राप्त है और कान्ता के मन्द हास्य रूप अमृत से सिचित होने के प्रशंसनीय सौभाग्य वाला है। १२३।।

शिवद्विषः शासनवत्पतङ्गः प्रयाति यावद्वगनं सुचङ्गः । नतभुवः श्रीकुचवन्धभङ्गः स्फीत्या स एवास्तु जये मृदङ्गः ॥२४॥

यह सुचग (उत्तम) पतंग कामदेव के शासन-पत्र (हुक्म नामा) के समान वेग से जाता हुआ जब आकाश में पहुँच जाता है, उस समय प्रसन्नता से युवती जनों के कुचों का बंधन खुल जाता है, सो मानों यह काम की विजय में मृदंग ही बन रहा है।। २४॥

## पतङ्गतन्त्रायितचित्तवृत्तिस्तदीययन्त्रभ्रमिसम्प्रवृत्तिः । श्यामापि नामात्मजलालनस्य समेति सौरूवं सुगुणाद्रस्य ॥२५॥

जिस स्त्री के अभी तक सन्तान नहीं हुई है, ऐसी श्यामा यामा की चित्त-वृत्ति जब पतंग उड़ाने में संलग्न होती है और जब वह होरी से लिपटी हुई उसकी चर्सी को घुमाने में प्रवृत्त होती है, तब वह सुगुणों का आदर-भूत पुत्र-लालन का सीख्य प्राप्त करती है, अर्थान् होरी की चर्सी को दोनों हाथों में लिए उसे घुमाते समय वह पुत्र खिलाने जैसा आनन्द पाती है।। २४।।

#### पतङ्गकं सम्मुखमीक्षमाणा करेण सोत्कण्ठमना दुतं तम् । उपाचवत्यम्बुजलोचनाऽन्या प्रियस्य सन्देशमिवाऽऽपतन्तम् ।

अन्य कोई कमलनयनी स्त्री अपने सम्मुख आकर गिरे हुए पतंग को देखकर 'यह मेरे पित का भेजा हुआ सन्देश ही हैं', ऐसा समझ कर अति उत्करिठन मन होकर के उसे शीब्र हाथ से उठा लेती हैं॥ २६॥

#### कृपावती पान्थनृपालनाय कृपीटमुब्णं तपसेन्यपायः । प्रपा त्रपातः किल सम्बिभर्त्ति स्वमाननं स्वित्रद्शानुवर्त्ति ॥२७॥

पथिक जनों के पालन के लिए बनाई गई दयामयी प्याऊ भी सूर्य से मेरा जल उदण हो गया है, अब उसके ठंडे होने का कोई उपाय नहीं है, यह देख करके ही मानों लजा से अपने मुख को प्रस्वेद-युक्त दशा का अनुवर्ती कर लेती है। २०।।

वातो ऽप्यथातो ऽतनुमत्तन्नामभ्यङ्गमभ्यङ्गकचन्दनं च । मद्रक्षिसंरक्षणलक्षणं यद्विशोषयत्येवमिति प्रपञ्चः ॥२८॥ वर्तमान की वायु का भी क्या हाल है १ वह यह सोच कर कि इन युवितयों के शरीरों पर चन्दन-लेप हो रहा है, वह मुक्ते स्वाने बाले सपीं की रक्षा करने वाला है, ऐसा विचार करके ही मानों उनके शरीर पर लेप किये हुए चन्दन को शीब सुखा देता है, यह बड़ा प्रपंच है।। २म।।

भावार्थ—सर्पों का एक नाम पवनाशन भी है, जिसका अर्थ होता है पवन को खाने वाला। किव ने इसे ही ध्यान में रख कर चन्दन-लेप सुखाने की उत्प्रेक्षा की है।

# वेषः पुनश्रांकुरयत्यनङ्गं नितम्बिनीनां सकृदाप्लुतानाम् । कण्ठीकृतामोदमयस्रजान्तु स्तनेषु राजार्हपरिष्ठवानाम् ॥२९॥

जिन नितिन्विनियों ने अभी-अभी स्तान किया है, सुगन्धमयी पुष्प-माला कएठ में धारण की है और स्तनों पर ताजा ही चन्दन लेप किया है, उनका वेष अवश्य ही पुरुषों के मन में अनंग को अंकुरित करता है, अर्थात् कुछ समय के लिए उन्हें आनन्द का देने वाला हो जाता है।। २६।।

## जलं पुरस्तायदभूतु कूपे तदङ्गनानामिह नाभिरूपे । स्रोतो विमुच्य स्रवणं स्तनान्ताद् यूनामिदानीं सरसीति कान्ता ॥

जो जल पहिले कुंए में था, वह इस ग्रीष्मकाल में स्त्रियों के नाभि-रूप कूप में था जाता है। ख्रीर जो जल-स्नोत (झरने) पर्वतों से झरते थे, वे अब स्थान छोड़कर स्त्रियों के स्तनों के ख्राग्रभाग में ख्रा जाते हैं। इस समय सरोवरी तो सूख गई है, किन्तु कामी जनों के लिए तो सुन्दर स्त्री ही सरोवरी का काम करती है।। ३०।।

एताहशीयं धरणी व्यवस्था प्रोयोऽप्यभृत्रीरसवस्तुसंस्था । रविर्गतोऽङ्गारबदुज्ज्वलत्वं कविर्वदत्यत्र तदेकतत्त्वम् ॥३१॥

ब्रीष्मकाल में धरणीतल पर इस प्रकार अवस्था हुई। प्रायः सभी पदार्थ नीरस हो गये. अर्थात् उनका रस स्व गया। और सूर्य अङ्गार के समान उज्ज्वलता को प्राप्त हुआ, अर्थात् खूव तपने लगा। ऐसी भीषण गर्मी के समय जो कुछ घटित हुआ, उस अद्वितीय तस्व को कवि यहां पर कहता है।। ३१।।

सर्पस्य निर्मोकिमिवाथ कोशमसेरिवाऽऽनन्दमयोऽपदोपः । शरीरमेतत्परमीक्षमाणः वीरो बभावाऽऽत्मपदैकशाणः ॥३२॥

ऐसी प्रचएड गर्मी के समय निर्दोष एवं आत्मपद की प्राप्ति के लिए अद्वितीय शाण के समान वे वीर भगवान् अपने इस शरीर को सांप की कंचली के समान, अथवा न्यान से खड़ के समान भिज्ञ देखते हुए आनन्दमय होकर विचर रहे थे।। ३२।।

शरीरतोऽसी मनताविदीनः व्रजन् समन्तात्समतां शमीनः । उष्णं हिमं वर्षणमेकरूपं पश्यस्रभृदात्मरसैकक्रपः ।।३३ ।

आत्मीय रस के अद्वितीय कूप-तुल्य वे शांति के सूर्य तीर प्रभु शरीर से ममता रहित होकर और सर्व ओर से समता को प्राप्त होकर भीष्म, शीत और, वर्षाकाल को एक रूप देखते हुए विहार कर रहे थे।। ३३॥

नात्माऽम्भसाऽऽर्द्रत्वमसौ प्रयाति न शोषयेत्तं भ्रवि वायुतातिः । न विद्वाना तप्तिमुपैति जातु व्यथाकथामेष कृतः प्रयातु ॥३४॥ भगवान् सभी प्रकार के परीषह और उपसर्गों को सहते हुए यह विन्तवन करते थे कि यह आत्मा जल से कभी गीला नहीं होता, पवन का वेग इसे सुखा नहीं सकता और अग्नि इसे जला नहीं सकती (क्योंकि यह अमूर्त है)। फिर यह जीव इस संसार में अग्नि जलादिक से क्यों व्यर्थ ही कष्ट की कथा को प्राप्त होवे, अर्थात् इसे जीत-उष्ण परीषहादिक से नहीं हरना चाहिए।। ३४॥

ग्रीष्मे गिरेः शृङ्गमधिष्ठितः सन् वर्षासु वा सूमिरुहादधः सः। विभूषणत्वेन चतुष्पथस्य हिमे बभावाऽऽत्मपद्वैकशस्यः।।३४॥

आत्मीय पद में तहीन वे वीर भगवान् बीष्म काल में पर्वत के शिखर पर बॅठकर, वर्षाकाल में वृक्षों के नीचे रहकर और शीत-काल में चतुष्पथ (चौराहे) के आभूषण बनकर शोभायमान हो रहे थे।। ३४।।

न वेदनाऽङ्गस्य च चेतनस्तु नासामहो गोचरचारि वस्तु । तथापि संसारिजने। न जाने कियरित लग्नोऽर्चिकथाविधाने।।३६॥

शीत-उष्णादि की वेदना सहन करते हुए भगवान् विचार करते थे कि शरीर के तो जानने की शक्ति (चेतना) नहीं है और यह चेतन आत्मा इन शीत-उष्णादि की वेदनाओं का विषयभूत होने वाला पदार्थ नहों है। तो भी न जाने, क्यों यह संसारी जीव पीड़ा की कथा कहने में संलग्न हो रहा है।। ३६।।

मासं चतुर्नासमधायनं वा विनाऽद्नेनाऽऽत्मपथावलम्बात्। प्रयन्नभावेन किलंकतानः स्वस्मिन्नभूदेष सुधानिधानः॥३७॥ असत के निधान वे वीर भगवान आहम-पथ का आश्रय लेकर एक मास, चार मास और छह मास तक भोजन के विना ही प्रसन्न चित्त रहकर और अपने आपमें मन्न होकर अपने छदास्य काल को विता रहे थे॥ २७॥

गत्वा पृथक्त्वस्य वितर्कमारादेकत्वमासाद्य गुणाधिकारात् । निरस्य वातिप्रकृतीरवातिवर्ती व्यभाद्धीसुकृतेकतातिः ॥३८॥

जब छद्धस्थकाछ का अन्तिम समय आया, तब भगवान् क्षपक श्रेणी पर चढ़े और आठवें गुण स्थान में पृथक्त वितर्क छुक ध्यान को श्राप्त होकर घातिया कमें की सर्व प्रकृतियों का क्षय करके अघ (पाप) से परे होते हुए, अथवा अघाति कमें के साथ रहते हुए अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मी के सौभाग्य-परम्परा को धारण कर शोभित हुए॥ ३६॥

मनोरथारुढतयाऽथवेतः केनान्वितः स्नातकतामुपेतः । स्वयम्बरीथृततया रराज मुक्तिश्रियः श्रीजिनदेवराजः ॥३९॥

उस समय बीर प्रभु अपने मनोरथ पर आरूढ़ होकर के अर्थात् आक्ष्मा से अथवा जल से समन्वित होकर स्नातक दश को प्राप्त हुए, मानों मुक्ति श्री के स्वयं वरण करने के लिए ही वे श्री जिनदेवराज वर-राजा से शोभित हो रहे थे।। ३६।।

वैशाखगुक्राऽश्रविधृदितायां वीरस्तिथौ केवलमित्यथायात् । स्वयं समस्तं जगद्प्यपायादुद्धृत्य धतु<sup>°</sup> सुखसम्पदायाम् ॥४०॥

यह समस्त जगन् जो उस समय पापों में संलग्न या उसकी

पाप से दूर करने के लिए, तथा सुख-सम्पदा में लगाने के लिए ही मानों श्री बीर भगवान ने वैशाख शुक्ता दशमी तिथि में केवल हान को प्राप्त किया ॥ ४०॥

अपाहरत् प्राभवभृच्छरीर आत्मस्थितं दैवमलं च वीरः। विचारमात्रेण तपोभृद्ध पूपेव कल्ये कुहरं प्रसद्य ॥४१॥

प्रातःकाळ जैसे सूर्य प्रसन्न होकर विचार मात्र से ही कुहरे को दूर कर देता है, उसी प्रकार उस समय प्रभावान् शरीर वाले बीर भगवान् ने अपने आत्म-स्थित देव (कर्मरूप) मेळ को दूर कर दिया ॥ ४१ ॥

भावार्थ: - इस स्लोक में पठित सर्व विशेषण समान रूप से सूर्य और भगवान दोनां के छिए घटित होते हैं, क्योंकि जैसे सूर्य प्रभावान शरीर का धारक है, क्से ही भगवान भी प्रभा वाले भामएडल से युक्त हैं। जैसे सूर्य तपोभृत् अर्थात् उदणता रूप ताप को धारण करता है, क्से ही भगवान भी तप के धारक हैं। जैसे सूर्य विचार अर्थात् अपने संचार से अन्धकार को दूर करता है, उसी प्रकार भगवान ने भी अपने विचार रूप ध्यान से अज्ञान रूप अन्धकार को दूर दिया है। हां भगवान में इतनी विशेषता है कि सूर्य तो बाहिरी तमरूप मल को दूर करता है, पर भगवान ने देव या अद्य नाम से कहे जाने वाले अन्तरंग कर्म रूप मल को दूर किया, जिसे कि दूर करने में सूर्य समर्थ नहीं है।

अनित्यतैवास्ति न वस्तुभृताऽसौ नित्यताऽप्यस्ति यतः सुपूता । इतीव वक्तुं जगते जिनस्य दृङ् निर्निमेषत्वमगात्समस्य ॥४२॥

केवल ज्ञान प्राप्त करते ही भगवान् के नेत्र निर्निमेप हो गये

अर्थात् अभी तक जो नेत्रों की पलकें खुलती और बन्द होती थीं। उसका होना बन्द हो गया। इसका कारण बतलाते हुए कवि कहते हैं-पदार्थों में केवल अतित्यता ही वस्तुभूत धर्म नहीं है, किन्तु नित्यता भी वास्तविक धर्म है। यह बात जगत के कहने के लिए ही मानों वीर जिन के नेत्र निर्मिष्पने को प्राप्त हो गये।। ४२॥

भावार्थ:- आंखों का वार वार खुलना और बन्द होना वस्तु की अनित्यता का सूचक है तो निर्निमेषता नित्यता को प्रकट करती है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक पदार्थ में नित्यत्व और अनित्यत्व ये दोनों धर्म रहते हैं।

धर्मार्थकामामृतसम्भिदस्तान् प्रवक्तुमर्थान् पुरुषस्य शस्तान् । वभार वीरश्रतुराननत्वं हितं प्रकर्तुं प्रति सर्वसत्त्वम् ॥४३॥

धर्म, अर्थ, काम और अमृत (मोक्ष) रूप पुरुष के हितकारक चार प्रशस्त पुरुषार्थों को सर्व प्राणियों से कहने के लिए ही मानों वीर भगवान ने चतुर्मुखता को धारण कर लिया।। ४३।।

भावार्थः -केवल ज्ञान होते ही भगवान् के चार मुख दीखने लगते हैं, उसको लक्ष्य में रखकर कवि ने उनके वैसा होने का कारण बतलाया है।

रूपं प्रभोरप्रतिमं वदन्ति ये येऽवनी विज्ञवराश्च सन्ति । कुतः पुनर्मे प्रतिमेति कृत्वा निश्छायतामाप वपुर्हितस्वात् ॥४४॥

दूस अवनी (पृथ्वी) पर जो जो श्रेष्ठ ज्ञानी लोग हैं, वे बीर श्रुष्ठ के शरीर के रूप को अनुपम कहते हैं, फिर मेरा अनुकरण करनेवाली प्रतिमा (छाया) भी क्यों हो ? यह सोचकर ही मानों भगवान का शरीर तस्वतः छाया-रहितपने को प्राप्त हुआ, अर्थान् छाया से रहित हो गया ॥ ४४ ॥

अहो जिनोऽयं जितवान् मतल्लं केनाप्यजेयं स्वि मोहमल्लम् । नवाङ्कुराङ्कोदितरोमभारमितीव हर्पादवनिवेशार ॥४५॥

श्रहो, इन जिनदेव ने संसार में किसी से भी नहीं जीता जानेवाला महा बलशाली मोहरूपी महामल जीत लिया, इस प्रकार के हर्ष को प्राप्त हो करके ही मानों सारी पृथ्वी ने नवीन श्रंकुरों के प्रकट होने से रोमाञ्चपने को धारण कर लिया ॥ ४४॥

भावार्थ -सारी पृथ्वी हर्ष से रोमाञ्चित होकर हरी भरी हो गई।

समासजन् स्नातकतां स वीगः विज्ञाननीरै विलसच्छरीरः । रजस्वलां न स्पृथति स्म भृतिमेकान्ततो ब्रह्मपदैकभृतिः ॥७६

विज्ञानरूप नीर से जिनके शरीर ने भछी भांति स्नान कर लिया, अतएव स्नातकता को प्राप्त करने वाले, तथा एकान्ततः ब्रह्मपद के अद्वितीय स्थान अर्थात् बाल-ब्रह्मचारी ऐसे उन वीर भगवान् ने रजस्बला स्त्री के समान भूमिका स्पर्श नहीं किया अर्थात् भूमि पर विहार करना छोड़कर अन्तरिक्ष-गामी हो गये॥ ४६॥

भावार्थ:-जैसे कोई ब्रह्मचारी ख्रौर फिर स्तान करके रजस्वला स्त्री का स्पर्श नहीं करता, वैसे ही बाल-ब्रह्मचारी ख्रौर स्नातक पद को प्राप्त करने वाले भगवान् ने रजस्वला अर्थात् धूलिवाली पृथ्वी का भी स्पर्श करना छोड़ दिया। ख्रब वे गगन-विहारी हो गये।

उपद्रुतः स्यात्स्वयमित्ययुक्तिर्थस्य प्रभावानिरुपद्रवा प्ः । तदा विपाको चितशस्यतुल्या नखाश्रकेशाश्र न वृद्धिमाषुः ॥४७ जिनके प्रभाव से यह सारी पृथ्वी ही उपद्रवों से रहित हो जाती है, वह स्वयं उपद्रव से पीड़ित हों, यह बात अयुक्त है, इसीछिए केवल जान के प्राप्त होने पर भगवान् भी (चेतन देव, मनुष्य, पशु-कृत एवं आकस्मिक अचेतन-कृत सर्व प्रकार के) उपद्रवों से रहित हो गये। तथा परिपाक को प्राप्त हुई धान्य के समान भगवान् के नख और केश भी बुद्धि को प्राप्त नहीं हुए।। ४७।

भावार्थ:- केवल ज्ञान के प्राप्त होने पर जगन् उपद्रव-रहित हो जाता है ऋौर भगवान् के नख ऋौर केश नहीं बढ़ते हैं।

# बभूव कस्यैव बलेन युक्तश्च नाऽधुनासौ कवले नियुक्तः। सुरक्षणोऽसावसुरक्षणोऽपि जनैरमानीति वधैकलोपी ॥४८॥

भगवान् उस समय कबल अर्थात् आत्मा के बल से तो युक्त हुए, किन्तु कबल अर्थात् अस के प्रास से संयुक्त नहीं हुए, अर्थात् केवल ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् भगवान् कवलाहार से रहित हो गये, किर भी वे निर्वल नहीं हुए, प्रत्युत आत्मिक अनन्त बल से युक्त हो गये। वे भगवान् सुरक्षण होते हुए भी असुरक्षण थे। यह विरोध है कि जो सुरों का क्षण (उत्सव-हर्ष) करने वाला हो, वह असुरों का हर्ष-वर्धक कैसे हो सकता है। इसका परिहार यह है कि वे देवों के हर्ष-वर्धक होते हुए भी असु-धारी प्राणी मात्र के भी पूर्ण रक्षक एवं हर्ष-वर्धक हुए। इसीलिए लोगों ने उन्हें वध (हिंसा) मात्र का लोप करने वाला पूर्ण अहिंसक माना।। ४८।।

प्रभोरभृत्सम्प्रति दिव्यबोधः विद्याऽवशिष्टा कथमस्त्वतोऽधः। कलाधरे तिष्ठति तारकाणां ततिः स्वतो व्योम्नि धृतप्रमाणा।।

भगवान् को जब दिञ्य बोध (केवल ज्ञान) प्राप्त हो गया है, तो

किर संसार की समस्त विद्याओं में से कोई भी विद्या अविज्ञष्ट कैसे रह सकती थी ? अर्थीन् भगवान् सर्व विद्याओं के ज्ञाता या खामी हो गये। क्योंकि आकाश में कलाधर (चन्द्र) के रहते हुए ताराओं की पंक्ति तो स्वतः ही अपने परिवार के साथ उदित हो जाती है ॥४६॥

निष्कण्टकाद्र्शमयी धरा वा मन्दः सुगन्धः पवनः स्वभावात् । जयेति वागित्यभवन्नभस्त आनन्दपूर्णोऽभिविधिः समस्तः ॥

भगवान् को केवल ज्ञान प्राप्त होते ही यह सारी पृथ्वी कंटक-रहित होकर दर्पण के समान स्वच्छ हो गई। स्वभाव से ही मन्द सुगन्ध पवन चलने लगा। आकाश जय जयकार करने वाली ध्वित होने लगी और इस प्रकार सभी वातावरण आनन्द से परिपूर्ण हो गया।। ४०।।

स्नाता इवासः ककुभः प्रसन्नास्तदेकवेलामृतवः प्रपन्नाः । गन्धोदकस्यातिशयात् प्रवृष्टिर्यतोऽभवद्धर्षमयीव सृष्टिः ॥५१॥

सभी दिशाएं स्नान किये हुए के समान प्रसन्न हो गईं। सर्व ऋतुएं भी एक साथ प्राप्त हुईं। गन्धोदक की सातिशय वर्षी होने छगी और सारी सृष्टि हर्ष-मय हो गई।। ४१।।

ज्ञात्वेति शको धरणीमुपेतः स्ववैभवेनाथ समं सचेतः। निर्मापयामास सभास्थलं स यत्र प्रभुम् क्तिपथैकशंसः।।५२॥

यह सब जानकर सुचेता इन्द्र भी अपने वैभव के साथ पृथ्वी पर आया और जहां पर मुक्ति-मार्ग के अद्वितीय उपदेश विराजमान थे, वहां पर उसने एक समवशरण नामक सभा-मण्डप का निर्माण किया ॥ ४२ ॥ सम्भोक्ता भगवानमेयमहिमा सर्वज्ञचूड़ामणि— निर्माता तु शचीपतेः प्रतिनिधिः श्रीमान् कुवेगेऽप्रणीः। सन्दृष्टाऽखिलभृश्चवां समुद्यो यस्या भवेत्संयदः पायाज्ञातु रसस्थितिं मम रसाऽप्येषाऽऽशु तत्सम्पदः॥

उस सभा-स्थल का निर्माता तो श्राचीपित शक्र का अप्रणी प्रतिनिधि श्रीमान् कुवेर था और उसके उपभोक्ता अमेय महिमा बाले सर्वज्ञ चूड़ामणि बीर भगवान् थे। तथा उस सभास्थल का संदृष्टा समस्त पृथ्वी पर उत्पन्न हुए जीवों का समूह था। मेरी यह रसा (वाणी) भी शीव उस सम्पदा की रसस्थिति को कुछ वर्णन करने में समर्थ होवे॥ ४३॥

श्रीमान् श्रेष्टिचतुर्भु जः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं वाणीभृषण-वर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् । ग्रीष्मत् द्यतो ऽभवद्भगवतः सद्वोधभान्द्य-स्तस्य द्वादशनाम्नि तेन गदिते सर्गेऽत्र युक्तो ऽन्वयः॥१२॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भु जजी और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणीभूषण बाल-ब्रह्मचारी, पं० भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर द्वारा विरचित इस काच्य में प्रीष्म ऋतु और भगवान् के कंत्रल ज्ञान-प्राप्ति का वर्णन करने वाला बारहवां सर्ग समाप्त हुआ।। १२।।



#### अथ त्रयोदशः सर्गः

वृत्तं तथा योजनमात्रमञ्चं सार्द्धदयक्रोशसमुन्नतं च । ख्यातं च नाम्ना समवेत्य यत्र ययुर्जनाः श्रीशरणं तद्त्र ॥१॥

कुबेर ने बीर भगवान के लिए जो समवज्ञरण नामक सभा-मण्डप बनाया, कवि उसका कुछ दिग्दर्शन कराते हैं—

वह सभा-मण्डप गोलाकार था, मध्य में एक योजन विस्तृत और ऋड़ाई कोश उन्नत था। उसमें चारों खोर से आकर सभी प्रकार के जीव श्री बीर भगवान् के शरण को प्राप्त होते थे, इसलिए वह 'समवशरण' इस नाम से संसार में प्रसिद्ध हुआ।। १।।

आदौ समादीयत घूलिशालस्ततश्च यः खातिकया विशालः। स्वरत्नसम्पत्तिघृतोपहारः सेवां प्रभोरव्धिरिवाचचार ॥२॥

उस समवशरण में सब से पहिले धूलिशाल नाम से प्रसिद्ध कोट था, जो कि चारों छोर खाई से घिरा हुआ था। वह ऐसा प्रतीत होता था, मानों अपनी रत्नादिक रूप सर्व सम्पदा को भेंट में लाकर समुद्र ही बीर प्रभु की सेवा कर रहा है।। २।।

त्रिमेखला-वापिचतुष्कयुक्ताः स्तम्भाः पुनर्मानहरा लसन्ति। रत्नत्रयेणर्षिवरा यथैवमाराधनाधीनहृदो भवन्ति ॥३॥

पुनः तीन मेखलाओं (कटनियों) से और चार वापिकाओं से युक्त मान को हरण करने वाले चार मानस्तम्भ चारों दिशाओं में सुशोभित हो रहे थे। वे ऐसे माल्म पड़ते थे मानों जैसे रत्नत्रय से युक्त और चार आराधनाओं को हृदय में धारण करने वाले ऋषि-बर ही हैं॥ ३॥

स्तम्भा इतः सम्प्रति खातिकायास्ततः पुनः पौष्पचयः शुभायाः। श्रीमालतीमौक्तिकसम्बिधानि अनेकरूपाणि तु कौतुकानि ॥४॥

मानस्तम्भों के इधर और उस श्रेष्ट खाई से उधर पुष्प-वाटिका थी, जिसमें कि मालती, मोतिया, गुलाब, मोंगरा आदि अनेक प्रकार के पुष्प खिल रहे थे।। ४।।

रत्नांशकैः पश्चविधैर्विचित्रः सुक्तेश्च्युतः कङ्कणवत्पवित्रः । शालः स आत्मीयरुचां चयेन सजस्तदैन्द्रं धनुरुद्रतेन ॥५॥

तत्पश्चान् पांच प्रकार के रत्नों से निर्मित होने के कारण चित्र-विचित्र वर्ण वाला प्रथम शाल (कोट) था, जो ऐसा प्रतीत होता था, मानों मुक्ति रूप स्त्री का ऊपर से गिरा हुआ प्रवित्र कड्कण ही हो। बह शाल अपने रत्नों की किरणों के समृह से आकाश में उदित हुए इन्द्र-घनुष की शोभा को विस्तार रहा था।। १।

नवानिधीनित्यभिधारयन्तं समुल्लसत्तोरणतो बृहत्त्वात् । ततः पुनः प्रावरणं वदामि स्थाङ्गिवद्धे नर् ! राजतत्त्वात् ॥६॥

हे पाठक गण, तत्पश्चात् नव निधियों को धारण करने वाला, विशाल उल्लासमान तोरण-द्वार से संयुक्त राजतस्व वाला (चांदी से निर्मित) रथाङ्गी (चक्री) के समान प्रावरण (कोट) था, ऐसा हम कहते हैं ॥ ६॥

भावार्थ-- जैसे चक्रवर्ती नव निधियों को धारण करता है, उसी

प्रकार यह कोट भी नव-निधियों से संयुक्त था। चक्रवर्ती तो गण के कौशल से युक्त होता है, यह कोट तोरण-द्वार से युक्त था। चक्रवर्ती विशाल राज-तस्त्र से संयुक्त होता है, यह कोट भी राजतस्त्र से युक्त था, अर्थात् चांदी से बना हुन्आ था।

ततो मरालादिद्शप्रकार-चिह्न यु तानां नभसोऽधिकारः । प्रत्येकमभ्राभ्रविधूदितानामष्टाधिकानां परितो ध्वजानाम् ॥७॥

तदनन्तर हंस, चक्रवाक ऋादि दश प्रकार के चिह्नों से संयुक्त और प्रत्येक एक सौ आठ, एक सौ आठ संख्या वाली ध्वजाओं की पक्ति थी, जो फहराती हुई खाकाश में अपना अधिकार प्रकट कर रही थी।। ७।।

सर्वेर्मनुष्येरिह स्पितव्यमितीव वप्रच्छलतोऽथ भव्यः । श्रीपुष्करद्वीपगतोऽद्रिरेवाऽऽगत्य स्थितः स्वीकुरुते सम सेवाम् ॥

तत्पश्चात् सर्व मनुष्यों को यहां आकर रहना चाहिए, मानों ऐसा कहता हुआ ही कोट के बहाने से पुष्कर-द्वीपवर्ती भव्य भानुषोत्तर पर्वत यहां आकर प्रभु की सेवा को स्वीकार करके अव-स्थित है, ऐसा प्रतीत होता था।। मा।

स मङ्गलद्रव्यगणं द्धानः स्वयं चतुर्गोपुरभासमानः । यत्र प्रतीहारतयास्ति वानदेवैः प्रणीतो गुणसम्बिधानः ॥९।

वह दूसरा कोट अष्ठ मंगल द्रव्यों को स्वयं धारण कर रहा या, चार गोपुर द्वारों से प्रकाशमान था, सर्व गुणों से विराजमान या और जिस पर प्रतीहार (द्वारपाल) रूप से व्यक्तर देव पहरा दे रहे थे।। हा। भवन्ति ताः सस्प्रति नाट्यशाला नृत्यन्ति यास्तमदेववालाः । त्रिलोकनाथस्य यशोवितानं सृद्योषयन्त्यः प्रतिवेशदानम्॥१०॥

इसके पश्चात् नाट्यशालाएं थीं, जिनमें देव-बालाएं त्रिलोकी-नाथ श्री बीर प्रभु के यशोवितान की सर्व आरे घोषणा करती हुई नाच रहीं थीं।। १०॥

सप्तच्छदाऽऽम्रोरुकचम्पकोपपदैर्वनैर्यत्र कृतोपरोपः। मनोहरोऽतः समभृत्प्रदेशस्तत्तत्कचैत्यद्रुमपुक्तलेगः॥११॥

इसके अनर र सप्तपर्ण, आम्र, अशोक और चम्पक जाति के बृहों से युक्त चारों दिशाओं में चार वन थे। जिनमें उन-उन नाम वाले चेत्य वृक्षों से संयुक्त मनोहर प्रदेश सुशोभित हो रहे थे॥ ११॥

श्रीवीरदेवस्य यशोभिरामं वप्रं तपो राजतमाश्रयामः । यस्य प्रतिद्वारग्रुशन्ति सेवामथाऽईतो भावननामदेवाः । १२॥

पुनः उस समवक्षरण में हम श्री वीर भगवान् के समान श्रीभ-राम, राजत (चांदी निर्मित) कोट का श्राश्रय करते हैं, जिसके कि प्रत्येक द्वार पर भवनवासी देव श्ररहंत भगवान् की सेवा कर रहे थे। १२॥

विनापि वाञ्छां जगतोऽखिलस्य सुखस्य हेतुं गदतो जिनस्य । वैयर्थ्यमावेदयितुं स्वमेष समीपमेति सम सुरद्रदेशः ॥१३॥

तत्पश्चात् कल्पवृक्षों का वन था. जो मानों छोगों से कह रहाथा कि हम तो बांछा करने पर ही छोगों को बांछित वस्तु देते हैं, किन्तु ये भगवान् तो विना ही वांछा के सर्व जगन् के सुख के कारण को कह रहे हैं, अतएव अब हमार। होना व्यर्थ है, इस प्रकार अपनी व्यर्थता को स्वयं प्रकट करता हुआ ही मानों यह कल्प वृक्षों का वन भगवान् के समीप में आया है।। १३।।

अस्मिन प्रदेशेऽग्त्यखिलासु दिच्च सिद्धार्थनामावनिरुट् दिद्द्यः । भन्योऽत्र सिद्धप्रतिमास्रुपेतः स्फूर्त्ति नयत्याद्रतः स्वचेतः ॥१८॥

इसी स्थान पर चारों दिशाओं में सिद्धार्थ नामक वृक्ष हैं,जो कि सिद्ध-प्रतिमात्रों से युक्त हैं और जिन्हें देखने के छिए भव्य जीव त्रादर भाव से यहां आकर अपने चिक्त में स्फूर्ति को प्राप्त करते हैं।। १४॥

ततोऽपि वप्रः स्फटिकस्य शेष इवाऽऽवभौ कुण्डलितप्रदेशः । संसेवमानो भवसिन्धुसेतुं नभोगतत्वप्रतिपत्तये तु ।।१४।।

तदनन्तर स्फटिक मणि का तीसरा कोट है, जो ऐसा शोभित हो रहा है कि मानों शेषनाग ही अपने सर्पपना से रहित होने के छिए अथवा भोगों से विरक्ति प्राप्त करने के छिए भव-सागर के सेतु-(पुछ) समान इन बीर भगवान् की सेवा करता हुआ कुर्उडळाकार होकर अवस्थित है।। १४॥

ततः पुनर्हाद्य कोष्ठकानि जिनेन्द्रदेवं परितः शुभानि । सम भान्ति यद्वद्रविमाश्रितानि भेषादिलग्रानि भवन्ति तानि ॥

पुनः तीसरे कोट के आगे जिनेन्द्रदेव को घेर कर सर्व ओर उत्तम बारह कोठे सुशोभित हैं। (जिनमें चतुर्निकाय के देव, उनकी देवियां, मुनि, आर्थिका वा आविका, मनुष्य और पशु बैठकर भग-वान का धर्मीपदेश सुनते हैं।) ये भगवान को घेर कर अवस्थित बारह कोठे ऐसे शोभित होते हैं. जैसे कि सूर्य को आश्रय करके वारों खोर अवस्थित मीन-मेप आदि छप्न राशियां शोभित होती हैं॥ १६॥

मध्येसमं गन्धकुटीमुपेतः सम्रुत्थितः पीठतलात्तथेतः । बमौ विभुद्देष्टमिदं विधानं समस्तमुच्छिष्टमिवोज्जिहानः ॥१७॥

इस समवक्षरण-सभा के मध्य में गन्ध कटी को प्राप्त और सिंहासन के तलभाग से ऊपर अन्तरिक्ष अवस्थित भगवान इस समस्त आयोजन को (समवक्षरण की रचना विधान को) उच्छिष्ट के समान छोड़ते हुए से शोभायमान हो रहे थे।। १७॥

नाम्ना स्वकीयेन बध्व योग्यस्तत्पृष्ठतोऽशोकतरुर्मनोज्ञः । यो दृष्टमात्रेण हरञ्जनानां शोकप्रबन्धं सुमुदो विधानात ॥१८॥

भगवान के पीठ पीछे अपने नाम से योग्य अर्थात् अपने नाम को सार्थक करनेवाला मनोज्ञ अशोक बृक्ष था, जो कि दर्शन-मात्र से ही सर्व जनों के शोक-समृद को हरता हुआ, तथा हर्ष का विधान करता हुआ शोभिन हो रहा था॥ १८॥

पुष्पाणि भृयो बद्दुर्वभस्तः नाकाशपुष्पं भवतीत्यशस्तः । जनै प्रवादो न्यकथीत्यनेन स्याद्वादविद्याधिपते रसेण ॥१९॥

स्याद्वाद विद्या के ऋधिपति श्री वीर भगवान् के पुरुषोद्य से इस समवशरण में ऋाकाश से पुष्प बरस रहे थे। वे मानों यह प्रकट कर रहे थे कि लोगों ने हमारा जो यह ऋप गद फेला रखा है कि ऋाकाश में फूल नहीं होते, वह फूठ है।। १६॥

गङ्गातरङ्गायितसत्वराणि यक्षेविधृतानि तु चामराणि । मुक्तिश्रियोऽपाङ्गनिमानि पेतुर्वीरप्रभोः पार्श्ववरद्वये तु ॥२०। उस समय बीर प्रभु के दोनों पार्श्व भागों में गंगा की नरंगों के समान लम्बे और यक्षों के द्वारा ढोरे जाने वाले चामर (चंबरों के समृह) ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों मुक्ति-छक्ष्मी के कटाक्ष ही हो ॥२०॥

प्रभोः प्रभामण्डलमत्युदात्तं न कोटिस्यूर्येर्यदिहाभ्युपात्तम् । यदीक्षणे सम्प्रभवः क्षणेन म्मो नाम जन्मान्तरलक्षणेन ॥२१॥

वीर प्रभु के मुख का प्रभा-मरहल इतना दीप्ति-युक्त था कि वह दीप्ति कोटि सूर्यों के द्वारा भी संभव नहीं है। जिस प्रभा-मरहल को देखने पर एक क्षण में लोग अपने-अपने जन्मान्तरों को देखने में समर्थ हो जाते थे।। २१।।

भावार्थ:- भगवान् का ऐसा ऋतिशय होता है कि उनके भामएडळ में प्रत्येक प्राणी को ऋपने तीन पूर्व के भव, तीन आगे के भव और एक वर्तमान का भव इस प्रकार सात भव दिखाई देते हैं।

जगत्त्रयानन्द्दशाममत्रं वदामि वीरस्य तदातपात्रम् । त्रैकालिकायाब्धितुजे सुसत्रं सतां जरामृत्युजनुर्विपत्त्रम् ॥२२॥

वीर भगवान के उपर जो छत्रत्रय अवस्थित थे, वे मानों जगत्त्रय के नेत्रों के आनन्द के पात्र ही थे, ऐसा मैं वहता हूँ। वह छत्रत्रय त्रैकालिक (सदा) रहने वाले अव्धिसुत चन्द्र के लिए उत्तम कांति देनेवाला उत्तम सत्र (सदावर्त) ही था और वह सज्जन पुरुषों की जन्म, जरा और मरण रूप तीन विपत्तियों से त्राण (रक्षा) करने वाला था।। २२।।

मोहप्रभावप्रसरप्रवर्ज श्रीदुन्दुभिर्यं ध्वनिमुत्ससर्ज । समस्तभृव्यापिविधिं समर्जन्नानन्द्वाराशिरिवाघवर्जः ॥२३॥ उस समवशरण में देव-दुन्दुभि, मोहकर्म के प्रभाव के विस्तार को निवारण करने वाली, समस्त भू-त्यापी आनन्द विधि को करने वाली, पाप-रहित निर्दोष आनन्दरूप समुद्र की गर्जना के समान गम्भीर ध्वनि को कर रहे थे॥ २३॥

वाचां रुचा मेघमधिक्षिपन्तं पर्याश्रयामो जगदेकसन्तम् । अखण्डरूपेण जगञ्जनेभ्योऽमृतं समन्ताद्पि वर्षयन्तम् ॥२४॥

उस समवशरण में भगवान की दिव्य ध्वनि अखरह रूप से जगत् के जीवों को पीने के लिए सर्व ओर से अमृत रूप जल को वर्षाती हुई और मेघ की ध्वनि का निरस्कार करती हुई प्रकट हो रही थी।। २४॥

इत्येवमेतस्य सतीं विश्तिं स वेद-वेदाङ्गविदिन्द्रभृतिः । जनैर्निशम्यास्वनिते निजीये प्रपूरयामास विचारहृतिम् ॥२५॥

इस प्रकार चारों ख्रोर फैली हुई बीर भगवान की इस विभूति को लोगों से सुनकर वेद-वेदाङ्ग का वेत्ता वह इन्द्रभूति ब्राह्मण अपने चित्त में इस प्रकार के विचार प्रवाह को पूरता हुआ विचारने लगा।। २४॥

वेदाम्बुधेः पारमिताय महां न सम्भवो ऽद्याविध जातु येषाम् । तदुज्झितस्याग्रपदं त एव भावा भवेषुः स्मयस्तिरेषा ॥२६॥

वेद-शास्त्ररूप समुद्र के पार को प्राप्त हुए मुझे तो इस प्रकार की विभूतियों की प्राप्ति आज तक भी संभव नहीं हुई है और उससे रहित अर्थात् वेद-बाह्य आचरण करने वाले वीर के आगे ये सर्व वैभव समुपस्थित है, अहो यह बड़ा आश्चर्य है। २६॥

चचाल दृष्टुं तद्तिप्रसङ्गमित्येवमाश्चर्यपरान्तरङ्गः । स प्राप देवस्य विमानभूमिं स्मयस्य चासीन्मतिमानभूमिः ॥ अतएव श्रिधिक सोच-विचार करने से क्या लाभ है ? (मैं चलकर स्वयं ही देख़ं कि क्या बात है ?) इस प्रकार विचार कर और आश्चर्य-परम्परा से ज्याप्त है अन्तरंग जिसका, ऐसा वह इन्द्रभूति भगवान् वीर के समवशरण की और स्वयं ही चल पड़ा। जब वह वीर जिनेन्द्रदेव की विमान-भूमि (समवशरण) को प्राप्त हुआ तो अमानभूमि (अभिमान से रहित) होकर परम आश्चर्य को प्राप्त हुआ।। २७॥

रेभे पुनिश्चन्तियतुं स एप शब्देषु वेदस्य कुतः प्रवेशः । ज्ञानात्मनश्चात्मगतो विशेषः संस्मयतामात्मनि संस्तुते सः ।।

और वह इस प्रकार त्रिचारने लगा—इन बोले जाने वाले शब्दों में वेद (ज्ञान) का प्रवेश कैसे संभव है १ ज्ञानरूपता तो आत्म-गत विशेषता है और वह आत्मा की स्तुति करने पर ही पाई जा सकती है ॥ २८ ॥

मयाऽबुधेर्मध्यमतीत्य तीर एवाद्ययावत्कलितः समीरः । कुतोऽस्तु मुक्ताफलभावरीतेस्तावकाशो मन सम्प्रतीतेः ॥२९॥

मैंने आज तक समुद्र में जाकर भी उसके तीर का ही समीर (पवन) खाया है। समुद्र में गोता लगाये विना मेरी बुद्धि को भी जीवन की सफलता कैसे प्राप्त हो सकती है ? ।। २६।।

मुहुस्त्वया सम्पठितः किला ऽऽत्मन् वेदे ऽपि सर्वज्ञपरिस्तवस्त। आराममापर्यटतो बहिस्तः किं मौमनस्याधिगतिः समस्तु ॥

हे आत्मन् ! तू ने अनेक वार वेद में भी सर्वज्ञ की खुति की पढ़ा, (किन्तु उसके यथार्थ रहस्य को नहीं जान सका) और उस ज्ञान

के उद्यान के बाहिर ही बाहिर पर्यटन (परिश्रमण) करता रहा। क्या बाहिर बूमते हुए भी उद्यान के सुन्दर सुमनों के समुदाय की प्राप्ति सम्भव है ? ।। ३०॥

वातवसनता साधुत्वायेति वेदवाचः पूर्तिमधाये । नान्यत्रास्ति साधनासरणिप्रोधुतयेऽयमेव स्रुवि तरणिः॥३१॥

'वात-वसनता ऋषीत् दिगम्बरता ही साधुत्व के लिए कही गई है' इस वेद के बचन की पूर्ति को (यथार्थ ज्ञान को) मैं आज प्राप्त हुआ हूँ। यह दिगम्बरता ही संसार में आत्म-साधना की सर्गण (पद्धति) को प्रकट करने के लिए सूर्य है। इस दिगम्बरता के सिवाय वह अन्यत्र सम्भव नहीं है। ३१॥

सत्यसन्देशसंज्ञप्तये प्रसादं कुरु भो जिन । इत्युक्त्वा पदयोरेष पपात परमेष्टिनः ॥३२॥

(ऐसा मन में ऊहापोह करके) हे जिनेन्द्र ! सत्य सन्देश के ज्ञान कराने के लिए मेरे ऊपर प्रसाद करो (प्रसन्न होख्यो), ऐसा कहकर वह इन्द्रभूति गौतम वीर परमेष्टी के चरणों में गिर पड़ा ॥ ३२॥

> लब्ध्वेमं सुभगं वीरोऽभिददौ वचनासृतम् । यथाऽऽपाढं समासाध मघवा वारि वर्षति ॥३३॥

इस सुभग इन्द्रभृति को पाकर वीर भगवान् ने उसे बचनामृत दिया। जैसे कि आषाढ़ मास को प्राप्त होकर इन्द्र जल बरसाता है।। ३३।।

> यदाऽवतिरतो मातुरुद्राद्यि शोभन । तदा त्वमपि जानासि समायातोऽस्यकिञ्चनः ॥३४॥

हे शोभन । जब तुम माता के उदर से अवतरित हुए, तब तुम अकिञ्चन (तग्न) ही आये थे, यह बात नो तुम भी जानते हो ॥३४॥

गृहीतं वस्त्रमित्यादि यन्मायाप्रतिरूपकम् । मात्सर्यादिनिमित्तं च सर्वीनर्थस्य साधकम् ॥३४॥

पुनः जन्म लेने के पश्चात् जो यह वस्त्र आदि शहण किए हैं, वे तो माया के प्रतिरूप हैं, मात्मर्थ, लोभ, मान आदि के निमित्त हैं और सर्व अनुर्थों के साधक हैं ॥ ३४॥

अहिंसा वर्त्म सत्यस्य त्यागस्तस्याः परिस्थितिः । सत्यानुयायिना तस्मात्संग्राह्यस्त्याग एव हि ॥३६॥

सत्य तस्य का मार्ग तो ऋहिंसा ही है और त्याग उसकी परि-स्थिति है ऋर्थान् परिपालक है। ऋतएव सत्यमार्ग पर चलने वाले के लिए त्यागभाव ही संग्राह्य है ऋर्थान् ऋाश्रय करने योग्य है।। ३६॥

त्यागोऽपि मनसा श्रेयान्न शरीरेण केवलम् । मुलोच्छेदं विना वृक्षः पुनर्भवितुमर्हति ॥३७॥

किसी वस्तु का मन से किया हुआ त्याग ही कल्याण-कारी होता है, केवल शरीर से किया गया त्याग कल्याण-कारी नहीं होता। क्योंकि मूल (जड़) के उच्छेद किये विना ऊपर से काटा गया वृक्ष पुनः पल्लवित हो जाता है।। ३७।।

वर्धमानादनभ्राज एवं गौतमचातकः । लेभे सक्तामृतं नाम्ना साऽऽपाढी गुरुपूर्णिमा ॥३८॥

इस प्रकार जिस दिन श्री वर्धमान रूप मेघराज से गौतम रूप चातक ने सत्य सूक्त रूप वचनामृत को प्राप्त किया, वह दिन आषाड़ी गुरु पूर्णिमा है।। ३८॥ भावार्थ:- यतः आषाढ़ सुदी पूर्णिमा को गौतम ने बीर भग-वान् रूप गुरु को पाकर और स्वयं शिष्य बनकर बचनामृत का पान किया। अतः तभी से छोग डसे गुरु पूर्णिमा कहते हैं।

वीरवलाहकतो Sभ्युदियाय गौतमकेकिकृतार्थनया यः। अनुभुवनं स वारिसमुदायः श्रावणादिमदिने निरपायः॥३९॥

गौतम रूप मयूर के द्वारा की गई प्रार्थना से बीर भगवान रूप मेच से जो वाणी रूपी जल का निर्दोष प्रवाह प्रकट हुआ, वह आवण मास के प्रथम दिन सर्व भुवन में व्याप्त हो गया॥ ३६॥

भावार्थः – भगवान् महावीर का प्रथम उपदेश श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को हुन्त्रा ।

श्रीमान् श्रेष्टिचतुर्भु जः स सुषुवे भूरामलेत्याह्ययं । वाणीभृषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् । श्रीमचीर्थकरस्य संसदमगाच्छीगौतमस्त्रपुत्तरेऽ । स्मिन् दशमे च तेन रचिते वीरोदयस्योज्ज्वरे ॥१३॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भु जजी और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणीभूषण, बाल-ब्रह्मचारी पं० भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर के द्वारा रचे गये इस उउज्बल वीरोदय काव्य में भगवान् की सभा का और उसमें गौतम इन्द्रभूति के जाने का वर्णन करने वाला यह तेरहवां सर्ग समाप्त हुआ।। १३॥



## अथ चतुर्दशः सर्गः

श्रीवीरसन्देशसमर्थने ऽयं गणी यथा गौतमनामधेयः । दशाऽपरे ऽपि प्रतिवोधमापुस्तेषामथाख्याऽथ कथा तथा पृ: ॥१॥

जिस प्रकार श्री बीर भगवान् के सन्देश के प्रसार करने में गौतम नामक गणधर समर्थ हुए, उसी प्रकार अन्य भी दश गणधर प्रतिबोध को प्राप्त हुए। अब उनके नाम, नगरी आदि का कुछ वर्णन किया जाता है।। १।।

युतोऽग्निना भृतिरिति प्रसिद्धः श्रीगौतमस्यानुज एविमद्धः । अभृद् द्वितीयो गणभृत्स वायुक्तिस्तृतीयः सफलीकृताऽऽयुः ॥२॥

श्री गौतम का छोटा भाई, जो कि अग्निभूति नाम से प्रसिद्ध एवं विद्यात्र्यों से समृद्ध था, वह भगवान् का दूसरा गणधर हुआ। अपने जीवन को सफल करने वाला वायुभूति तीसरा गणधर हुआ॥ २॥

सनाभयस्ते त्रय एव यज्ञानुष्ठायिनो वेदपदाऽऽशयज्ञाः । गीर्वाणवाण्यामधिकारिणोऽपि समो ह्यमीपामपरो न कोऽपि ॥३॥

ये तीनों ही भाई यज यागादि के अनुष्ठान करने वाले थे, वेद के पदों और मंत्रों के आभिष्ठाय एवं रहस्य के ज्ञाता, तथा देववाणी संस्कृत भाषा के अधिकारी विद्वान् थे। उस समय इनके समान भारतवर्ष में और कोई दूसरा विद्वान् नहीं था॥ रे॥

श्रीगोवरग्रामिवस्पयुक्तभृतेः पृथिव्याश्च सुताः सद्काः । ध्वनिर्यकान् समेच्छति पुत्रबुद्धचा स्वयम्बरत्वेन वृता विशुद्धचा॥४॥ ये तीनों ही सराध देशान्तर्गत गोवर प्राम-निवासी वसुभूति ब्राह्मण श्रीर पृथिवी देवी के पुत्र थे। इन्हें सरस्वती माता ने पुत्र-बुद्धि से स्वीकार किया श्रीर विशुद्धि देवी ने स्वयस्वर रूप से स्वयं वरण किया था॥ ४॥

अभृचतुर्थः परमार्थ आर्यव्यक्तोऽस्य वसा धनमित्र आर्यः । कोल्लागवासी भ्रुवि वारुणीति माता द्विजाऽऽख्यातकुलप्रतीतिः ॥४॥

परम आर्य आर्यव्यक्त चौथे गणधर हुए। इनके पिता कोल्हाग प्रामवासी आर्य धनमित्र थे और माता वारुणी इस नाम से प्रसिद्ध थी। ये भी प्रसिद्ध ब्राह्मण कुछ में उत्पन्न हुए थे।। ४॥

तत्रत्यधिमिल्लधरासुरस्य पुत्रोऽभवद् महिलया प्रशस्यः । भृतार्थवेदी गणभृत् सुधर्मः स पञ्चमोऽवाष्य वृषस्य मर्म ॥६॥

उसी कोल्छाग प्राप्त के धिम्मिल्छ नामक भूदेव (ब्राह्मण) के भिह्ला नाम की स्त्री से उत्पन्न प्रशंसनीय सुधर्म पांचवें गणधर हुए। जो कि धर्म के मर्म को प्राप्त होकर तत्त्व के यथार्थवेत्ता बन गये थे।। ६॥

मार्थस्थले मण्डिकसंज्ञयाऽन्यः बभृव षष्टो गणभृत्सुमान्यः । पिताऽस्य नाम्नाधनदेव आसीत्स्याताच माता विजया शुभाशीः।।

मौर्य नामक प्राप्त में उत्पन्न हुए, मिरिडक नाम वाले छठे सुमान्य गणधर हुए। इनके पिता का नाम धनदेव था और शुभ-हृद्य वाली माता विजया नाम से प्रसिद्ध थी।। ७॥ असूत माता विजयाऽथ पुत्रम्मीर्येण नाम्ना स हि मौर्यपुत्रः। बीरस्य साम्निध्यमुपेत्य जातस्तत्त्वप्रतीत्या गणराडिहातः॥८॥

सातवं गणधर मीर्थपुत्र हुए। इनकी माता का नाम विजया और पिता का नाम मीर्थ था। ये भी वीर भगवान् के सामीप्य को प्राप्त कर तत्त्व की यथार्थ प्रतीति हो जाने से दीक्षित हुए थे॥ =॥

माता जयन्ती च पिता च देवस्तयोः सुतोऽकम्पितवाक् स एव । वीरस्य पार्श्वे मिथिलानिवासी वसूव शिष्यो यशसां च राशिः ॥९॥

मिथिछा-निवासी और यशों की राशि ऐसे अकस्पित वीर भगवान के पास में दीक्षित हो शिष्य बनकर आठवें गणधर बने। इनकी माता का नाम जयन्ती और पिता का नाम देव था॥ ६॥

गणी बभूवाऽचल एवमन्यः प्रभोः सकाशान्त्रिजनामधन्यः। वसुः पिताऽम्बाऽस्य बभौ च नन्दा सा कौशलाऽऽख्या नगरीत्यमन्दा॥

नवें गणधर स्व-नाम-धन्य अचल हुए, जिन्होंने वीर प्रभु के पास जाकर शिष्यत्व स्वीकार किया था। इनके पिता का नाम वसु और माता का नाम नन्दा था। ये महा सौभाग्य वाली कौशलापुरी के निवासी थे।। १०।।

मेतार्यवाक् तुङ्गिकसन्निवेश-वासी पिता दत्त इयान् द्विजेशः । माता ऽस्य जाता वरुगोति नाम्ना गणीत्युपान्त्यो निलयः सधामनाम् ॥

परम कान्ति के तिलय (गृह) मेतार्थ उपान्त्य अर्थात् दशवें गणवर हुए। ये तुंगिक सिन्नवेश के निवासी थे। इनके पिता का नाम दत्त और माता का नाम वारुणी था। ये भी श्रेष्ठ ब्राह्मण थे॥ ११॥

वलः पिता Sम्बाडस्य च साऽस्तु भद्रा स्थितिः स्वयं राजगृहे किल हाक्। प्रभासनामा चरमो गणीशः श्रीवीरदेवस्य महान् गुणी सः ॥१२॥

श्री वीर भगवान् के अन्तिम अर्थात् ग्यारहवें गणधर प्रभास नाम के महान् गुणी पुरुष हुए। इनके पिता का नाम बल एवं माता का नाम भद्रा था और ये स्वयं राजगृह के रहने वाले थे॥ १२॥

सर्वेऽप्यमी विष्रकुलप्रजाता आचार्यतां वृद्धिथरेषु याताः । अर्थं कमण्यस्फुटमर्पयन्तः सम्माननीयत्वमिहाश्रयन्तः ॥१३॥

ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए ये सभी गणधर बुद्धिधारियों में सम्माननीयता को प्राप्त कर किसी तत्त्व-विशेष के रहस्य को स्पष्ट रूप से यथार्थ नहीं जानते हुए भी ब्याचार्यपने को प्राप्त हो रहे थे।। १३॥

अन्तस्तले स्वामनुभावयन्तस्त्रुटिं बहिर्भावुकतां नयन्तः । तस्युः सग्नन्यांत्रिद्शां वहन्तः हृदार्तिमेतामनुचिन्तयन्तः ॥१४॥

ये सभी विद्वान् अपने अपने अन्तस्तल में अपनी अपनी बुटि को अनुभव करते हुए भी, बादिर भावुकता को प्रकट करते हुए और हृदय में अपनी मानसिक पीड़ा का विन्तवन करते हुए पर में कांटा लगे व्यक्ति की दशा को धारण करने वाले पुरुष के समान विचरते थे।। १४।।

अथाभवद्यज्ञविधानमेते निमन्त्रितास्तत्र मुदस्थले ते । स्वकीयसार्थातिशयप्रभृतिः सर्वेषु मुख्यः स्वयमिन्द्रभृतिः ॥१५॥ उस समय किसी स्थान पर विशेष यहा का विधान हो रहा था, उस यहा-विधान में ये उपर्युक्त सर्व विद्वान अपनी-अपनी शिष्य-मण्डली के साथ आमन्त्रित होकर सन्मिलित हुए। उन सबके प्रमुख स्वयं इन्द्रभूति थे।। १४॥

समाययुः किन्तु य एव देवा न तस्थुरत्रेति किलामुदे वा । लब्ध्वेन्द्रभृतिर्यजनं स नाम समाप्य तस्मान्नतु निर्जगाम ॥१६॥

यज्ञ होने के समय आकाश से देवगण आते हुए दिखे। (जिन्हें देखकर यज्ञ में उपिथत सभी छोग अति हिर्षित हुए। वे सोच रहे थे कि यज्ञ के प्रभाव से देवगण आ रहे हैं)। किन्तु जो देव आये थे, उनमें से कोई भी इस यज्ञस्थल पर नहीं ठहरे और आगे चले गये। तब सब को खेद हुआ। इन्द्रभूति यह देखकर आश्चर्य से चिकत हो यज्ञ को समाप्त कर वहां से चल दिये। (यह देखने के लिए कि वे देव कहां जा रहे हैं)॥ १६॥

किमेनमाश्चर्यनिमम्बिचाः सर्वे ऽपि चेलुः समुदायविचाः । जयो ऽस्तु सर्वज्ञजिनस्य चेति स्म देवतानां वचनं निरेति ॥१७॥

इन्द्रभूति को जाते हुए देखकर यह क्या है, इस प्रकार के विचार से आश्चर्य-निमग्न-चित्त वे अग्निभूति आदि शेष सर्व आचार्य अपने-अपने शिष्य-परिवार के साथ चल दिये। आगे जाने पर उन्होंने 'सर्वेज्ञ जिनकी जय हो' ऐसा देवताओं के द्वारा किया गया जय-जय-कार शब्द सुना।। १७॥

एपो ऽखिलज्ञः किस्रु येन सेवा-परायणाः सन्ति समस्तदेवाः । सभाऽप्यभिन्यक्तनभास्वतो ऽहस्करस्य भातीव विभो ममोहः ॥१८॥ क्या यह वास्तव में सर्वज्ञ है जिसके प्रभाव से ये समस्त हेव-गण सेवा-परायण हो रहे हैं। यह सभा भी सूर्य की प्रभा से अधिक प्रभावान् होती हुई आकाश की ज्याप्त कर रही है। हे प्रभो। यह मेरे मन में विचार हो रहा है।। १८।।

यथा रवेरुद्रमनेन नाशो ध्वान्तस्य तद्वत्सहसा प्रकाशः ।
मनस्सु तेषामनुजायमानश्रमञ्जकाराद्भुतसम्बिधानः ।।१९॥

जैसे सूर्य के उदय होने से अन्धकार का नाश हो जाता है, वैसे ही उन लोगों के हृदय का अज्ञान विनष्ट हो गया और उनके हृदयों में चित्त को चमत्कृत करने वाला प्रकाश सहसा प्रकट हुआ।। १६॥

यस्यातु तद्विप्रसतामनीकं उद्दिश्य तं साम्प्रतमग्रणीकम् । इन्द्रप्रभृतिं निजगाद देवः भो पाठकाः यस्य कथा मुदे वः ॥२०॥

जिसके पीछे उन ब्राह्मण-विद्वानों की सेना लग रही है, उनके अप्रणी उस इन्द्रभूति को उद्देश्य करके श्री बीर जिनदेव ने जो कहा, उसे हे पाठको ! सुनो, उसकी कथा तुम सब के लिए भी आनन्द-कारी है।। २०॥

हे गीतमान्तस्तव कीहगेष प्रवर्तते सम्प्रति काकुलेकः । शृास्त चेद्रुद्ध्वद्धि जीवः परत्र धीः किन्न तवात्मनीव ॥२१॥

भगवान् ने कहा—हे गौतम ! तुम्हारे मन में इस समय यह कैसा प्रश्न उत्पन्न हो रहा है ? सुनो, यदि जीव जल के बब्ला के समान है, तो फिर अपने समान दूसरे पाषाण आदि में भी वह बुद्धि क्यों नहीं हो जाती ॥ २१॥ अहो निजीयामरताभिलाषी भवँश्च भूयादुपलव्धपाशी। नरः परस्मायिति चित्रमेतत्स्वयं च यस्मात् परवानिवेतः ॥२२॥

आश्चर्य है कि अपनी अमरता का अभिलाषी होता हुआ यह प्राणी दूसरे के प्राण लेने के लिए पाश लिए हुए है ? किन्तु आश्चर्य है कि स्वयं तू भी तो दूसरों के लिए पर है, ऐसा क्यों नहीं सोचता ? ।। २२ ।।

वभूव तच्चेतसि एप तर्कः प्रतीयते ताबद्यं स्विद्रकः । यतो ममान्तस्तमसो निरासः सम्भृय भ्याद्तुलः प्रकाशः ॥२३॥

भगवान् की यह वाणी सुनकर इन्द्रभूति के चित्त में यह तर्क (विचार) उत्पन्न हुन्ना कि यह वास्तव में सूर्य के समान सर्व तत्त्वों के यथार्थ प्रकाशक सर्वज्ञ प्रतीत होते हैं। इनके द्वारा मेरे अन्तरंग के अन्यकार का विनाश होकर मुक्ते अनुल प्रकाश प्राप्त होगा, ऐसी आजा है।। २३।।

एवं विचार्याथ वभूव भूय उपाचपापप्रचयाभ्यस्यः । गुश्रृषुरीगस्य वचोऽतएव जगाद सम्मञ्जु जिनेगदेवः ॥२४॥

ऐसा विचार कर पुन: उपार्जन किये हुए पाप-समुदाय से मानों ईच्यों करके ही इन्द्रभूति गौतम गणधर ने भगवान के वचन सुनने की ऋौर भी इच्छा प्रकट की, ऋतएव श्री वीर जिनेन्द्रदेव की मधुर वाणी प्रकट हुई ।। २४।।

सचेतनाचेतनभेदभिन्नं ज्ञानस्वरूपं च रसादिचिह्नम् । कमाद् द्वयं भो परिणामि नित्यं यतोऽस्ति पर्यायगुणैरितीत्यम्॥२५ हे गौतम ! यह समस्त जगन् सचेतन और अचेतन इन दो प्रकार के भिन्न-भिन्न द्रव्यों से भरा हुआ है । इनमें क्रमशः सचेतन द्रव्य तो ज्ञानस्वरूप हैं और अचेतन द्रव्य ज्ञानरूप चेतना से रहित हुप-रसादि चिह्न बाला है । ये दोनों ही प्रकार के द्रव्य परिणामी और नित्य हैं; क्योंकि वे सब गुण और पर्यायों से संयुक्त हैं ॥ २४॥

भावार्थ-गुणों की अपेक्षा सर्व द्रव्य नित्य हैं और पर्यायों की अपेक्षा सभी द्रव्य अनित्य या परिणासी हैं।

अनादितो भाति तयोर्हि योगस्तत्रैक्यधीश्चेतनकस्य रोगः। ततो जनुर्मृत्युमुपैति जन्तुरुपद्रवायानुभन्नैकतन्तुः।।२६॥

श्रनादि से ही सचेतन श्रात्मा श्रीर श्रचेतन शरीरादि हम पुद्गल द्रव्य का संयोग हो रहा है। इन दोनों में ऐक्य बुद्धि का होना चेतन जीव का रोग है—बड़ी भूल हैं। इस भूल के कारण ही यह जन्तु प्रत्येक भव में जन्म श्रीर मरण को प्राप्त होता है श्रीर यह भव-परम्परा ही उपद्रव के लिए है, श्रयीत् दु:खदायक है।। २६॥

श्रभं रुपा जुञ्धकतावलेन कीटादितां वा पश्चतां छलेन । परोपकारेण सुरश्रियं स सन्तोषतो याति नरत्वशंसः ॥२७॥

यह जीव अपने क्रोधरूप भाव से नरक जाता है, लुब्धकता से क्रिम-कीट आदि की पर्याय पाता है, छल-प्रपंच से पशुपना को प्राप्त होता है, परोपकार से देव-लक्ष्मी को प्राप्त करता है और सन्तोष से सनुष्यपने को पाता है।। २७॥

लभेत मुक्ति परमात्मवृद्धिः समन्ततः सम्प्रतिपद्य ग्रुद्धिम् । इत्युक्तिलेशेन स गौतमोऽत्र वभृव सद्योऽप्युपलब्धगोत्रः ॥२८॥ परमात्म-बुद्धि वाला जीव सर्व प्रकार से अन्तरंग और बाह्य बुद्धि को प्राप्त कर अर्थात् द्रव्य कर्म, (ज्ञानावरणादिक) भावकर्म (राग-द्वेषादिक) और नोकर्म (शरीरादिक) से रहित होकर मुक्ति को प्राप्त करता है। इस प्रकार भगवान् के अल्प वचनों से ही वह गौतम बीव सम्यखान को प्राप्त कर सन्मार्ग को प्राप्त हुआ।। २८॥

समेत्य तत्राऽप्यनुक्लभावं वीरप्रभुः प्राह पुनश्च तावत् । भो भव्य ! चित्तेऽनुभवाऽऽत्मनीने तत्त्वस्य सारं सुतरामहीने ॥

तदनन्तर अनुकूछ समय (अवसर) पाकर पुन: बीर प्रभु ने कहा — हे भव्य ! अपने हीनता रहित उदार चित्त में तस्त्र के सार को अनुभव करों ॥ २६॥

जानाम्यनेकाणुमितं शरीरं जीवः पुनस्तत्प्रमितं च धीरः । धीरस्ति यस्मिन्नधिकारपूर्णां कर्मानुसारेण विलब्धवृर्णा ॥३०॥

यह शरीर अनेक पौट्गलिक परमागुओं से निर्मित है, इससे जीव सर्वधा भिन्न स्वरूप बाला होते हुए भी उस शरीर के ही प्रमाण है। यतः जीव इस शरीर में रहता है, अतः लोगों की बुद्धि कर्म के अनुसार विपरीतता को धारण कर शरीर को ही जीव मानने लगती है।। ३०।।

समेति नैष्कर्म्यस्रतात्मनेयं नैराश्यमभ्येत्य चराचरे यः । निजीयमात्मानमधात्र पुष्यन् स एव शान्ति लभते मनुष्यः ॥

जो पुरुष इस चराचर जगत् में निराशा को प्राप्त होकर अपने आप निष्कर्मता को प्राप्त होता है, वही मनुष्य अपनी आत्मा को पुष्ट करता हुआ शान्ति को प्राप्त करता है।। ३१।। नरस्य नारायणताऽऽप्तिहेतो र्जनुवर्यतीतं भवसिन्धुसेतो । परस्य शोषाय कृतप्रयत्नं काकप्रहाराय यथैव रत्नम् ॥३२॥

अस्माभिरद्यावधिमानवायुर्व्यर्थाकृतं तस्य किमस्ति जायुः । इत्युक्तिलेशे सति गौतमस्य प्राह प्रभुः सर्वजनैकशस्यः ॥३३॥

(भगवान् के यह दिव्य वचन सुनकर गौतम बोले—) है भव-सिन्धु-सेतु भगवन्! नारायणता (परमात्म-दशा) की प्राप्ति के कारण-भूत इस मनुष्य के जन्म को मैंने यो ही व्यतीत कर दिया। आज तक मैंने दूसरे के शोषण करने के छिए ही प्रयत्न किया। जैसे कोई काक को मारने के छिए रत्न को फेंक देवे, उसी प्रकार मैंने भी आज तक तक यह अमूल्य मनुष्य जीवन व्यर्थ गवां दिया। अब इसकी क्या औषधि है १ ऐसा गौतम के कहने पर सर्व जनों के द्वारा प्रशंस-नीय प्रभु पुन: बोले—॥ १२-३३॥

गतं न शोच्यं विदुषा समस्तु गत्तच्यमेवाऽऽश्रयणीयवस्तु । सम्भालयाऽऽत्मानमतो द्विजेश! कोऽसीह ते कः खलुकार्यलेशः॥

हे द्विजेश (ब्राह्मणोत्तम)। विद्वान् को बीत गई बात का शोच नहीं करना चाहिए। अब तो गन्तव्य मार्ग पर ही चलना चाहिए और प्राप्त करने योग्य वस्तु को पाने का प्रयत्न करना चाहिए। अत-एव अब त् अपनी आत्मा की सम्भाल कर और विचार कर कि तु कौन है और अब यहां पर तेरा क्या कर्त्तव्य है॥ ३४॥

त्वं त्राक्षणोऽसि स्वयमेव विद्धि क त्राक्षणत्वस्य भवेत्प्रसिद्धिः। सत्यावधास्तेयविरामभावनिःसङ्गताभिः सम्रुदेतु सा वः ॥३४॥ हे गौतम! तुम ब्राह्मण कहलाते हो, किन्तु स्त्रयं अपने भीतर तो विचार करो कि वह ब्राह्मणता की प्रसिद्धि कहां होती है। अरे, वह ब्राह्मणता तो सत्य, अहिंसा, अस्तेय, स्त्री-परित्याग और निःसंगता से ही संभव है। ऐसी यह ब्राह्मणता तुम सबके प्रकट हो॥ ३४॥

तपोधनश्राक्षजयी विशोकः न कामकोपच्छलविस्मयौकः । शान्तेस्तथा संयमनस्य नेता स ब्राह्मणः स्यादिह ग्रुद्धचेताः ॥

ब्राह्मण तो वही हो सकता है जो तपोधन हो. इन्द्रिय-जयी हो, शोक-रहित हो। जो काम, क्रोध, छल और विस्मय खादि दोषों का घर न हो। तथा जो शांति और संयम का नेता हो और गुद्ध चित्त बाला हो। ऐसा पुरुष ही संसार में ब्राह्मण कहलाने के योग्य है।।३६॥

पीडा ममान्यस्य तथेति जन्तु-मात्रस्य रक्षाकरणैकतन्तु । कृपान्त्रितं मानसमत्र यस्य स ब्राह्मणः सम्भवतान्नृशस्य ॥३७॥

हे पुरुषोत्तम ! जिसके यह विचार रहता हो कि जैसी पीड़ा मुफे होती है, वैसी ही अन्य को भी होती होगी। इस प्रकार विचार कर जो प्राणिमात्र की रक्षा करने में सदा सावधान रहता हो, जिसका हदय सदा दया से युक्त रहता हो, वही इस संसार में ब्राह्मण होने के योग्य है।। ३७॥

सदाऽऽत्मनश्चिन्तनमेव वस्तु न जात्वसत्यसमरणं समस्तु । परापवादादिषु मुक्तभावः स्याद् ब्राह्मणस्येष किल स्वभावः ॥

जिसके सदा ही आत्मा का चिन्तन करना लक्ष्य हो, जो कदा-चित् भी असत्य-संभाषण न करता हो, पर-निन्दा आदि में मौनभाव रखता हो। वही ब्राह्मण कहलाने के योग्य है, क्योंकि ब्राह्मण का यही स्वभाव (स्वरूप) है।। ३८॥

नानाविधानेकविचित्रवस्तुसमर्थिते भूमितले समस्तु । न किञ्चनाऽऽदातुमिहेहमानः स ब्राह्मणो बुद्धिविधानिधानः ॥

जो नाना प्रकार की अनेक विचित्र वस्तुओं से भरे हुए इस भूतल पर कुछ भी नहीं प्रहण करने की इच्छा रखता है, वही बुद्धि का निधान मानव ब्राह्मण है।। ३६॥

जले ऽिक्जनीपत्रवदत्र भिन्नः इष्टे ऽप्यनिष्टे ऽपि न जातु खिन्नः। कुर्मो यथा सम्वरितान्तरङ्गः सर्वत्र स ब्राह्मणसम्पदङ्गः ॥४०॥

जैसे जलमें रहते हुए भी कमिलनी उससे भिन्न (अलिप्त) रहती है, इसी प्रकार संसार में रहते हुए भी जो उससे अलिप्त रहे, इष्ट वियोग और अनिष्ट-संयोग में भी कभी खेद-खिन्न न हो और कलुए के समान सर्वत्र अपने चित्त को सदा संवृत रखता हो, वही ब्राह्मण रूप सम्पदा का धारी है।। ४०।।

मनोवचो ऽङ्गैः प्रकृतात्मशुद्धिः परत्र कुत्राभिरुचेर्न बुद्धिः । इत्थं किलामैथनताम्रपेतः स ब्राह्मणो ब्रह्मविदाश्रमेऽतः ॥४१॥

इस प्रकार जिसते सन, वचन और काय से स्वाभाविक आहम-शुद्धि प्राप्त कर ली है, अन्यत्र कहीं भी जिसकी न अभिकृषि है और न जिसकी बुद्धि है, एवं जो निश्चय से द्वैतभाव से रहित होकर अद्वैतभाव को प्राप्त हो। यथा है, वही पुरुष ब्रह्म-ज्ञानियों के आश्रम में ब्राह्मण माना गया है।। ४१।। तिशाचरत्वं न कदापि यायादेकाशनो वा दिवसेऽपि भाषात् । मयं च मांपं मधुकं न मक्षेत् स ब्राह्मणो योऽङ्गभृतं सुरक्षेत् ॥

जो कभी भी निशाचरता को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् रात्रि में नहीं खाता, जो दिन में भी एकाशन करता है, मद्य, मांस, और मधु को कभी नहीं खाता है, एवं सदा प्राणियों की रक्षा करता है, वही ब्राह्मण है।। ४२॥

परित्यजेद्वारि अगालितन्तु पिबेत्पुनस्तोषपयोऽपजन्तु । कुर्यान्न कुत्रापि कदापि मन्तुं श्रीब्राह्मणोऽन्तःप्रभुभक्तितन्तुः ॥

जो ऋगालित जल को छोड़े ऋौर निर्जन्तुक एवं सन्तोपहर जल को पीवे, कभी भी कहीं पर किसी भी प्रकार के अपराध को नहीं करे ऋौर अन्तरंग में प्रभु की भक्ति रूप तन्तु (सूत्र) को धारण करे। वहीं सचा ब्राह्मण है।। ४३॥

भावार्थः - जो उपर्युक्त गुणों से रहित है, केवल ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुन्या है, ख्रीर शरीर पर सूत का यज्ञोपवीत धारण करता है, वह ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता।

जवादयः स्वर्णिमित्रोपलोन श्रीगौतमस्यान्तरभृदनेनः । अनेन वीरप्रतिवेदनेन रसोऽगदः स्नागित्र पारदेन ॥४४॥

जिस प्रकार पारस पापाण के योग से छोहा शीश्र सोना बन जाता है और जैसे पारा के योग से धातु शीश्र रोग-नाशक रसायन बन जाती हैं। ठीक उसी प्रकार भगवान् बीर प्रभु के उपर्युक्त विवेचन से श्री गौतम इन्द्रभूति का चिक्त भी पाप से रहित निर्देष हो गया।। ४४।। अन्येऽप्रिभृतिप्रमुखाश्च तस्य तुल्यत्वमेवानुबग्धः समस्य । निम्बाद्यश्चन्दनतां लभनते श्रीचन्दनद्रोः प्रभवन्तु अन्ते ॥४४॥

उनके साथ के अन्य अग्निभूति आदिक दशों विद्वान् भी इन्द्र-भूति के समान ही तत्त्व के यथार्थ रहस्य का अनुभव कर आनित्त हुए, सो ठीक ही है। श्रीचन्दनवृक्ष के समीपमें अवस्थित नीम आदि के भी चन्दनपने को प्राप्त होते हैं, इसमें कोई आधर्य की बात नहीं है।। ४४॥

वीरस्य पश्चायृतबुद्धिमत्सु सक्रत्प्रभावः समभूनमहत्सु । वृत्तं तदेतत्प्रससार लोकप्रान्तेषु शीवं प्रमुदामथीकः ॥४६॥

इन्द्रभूति आदि ग्यारहों विद्वानों का जो पांच हजार के लगभग शिष्य परिवार था, उन सबमें भी भगवान् महाबीर के बचनों का महा प्रभाव पड़ा, और उन सबके हृदय भी एकदम पलट गये। यह हुई-बर्धक समाचार संसार के सब्दे प्रान्तों में शीब फैल गया।।४६॥

समागमः क्षत्रियवित्रबुद्धचोरभृद्पूर्वः परिरब्धग्रुद्धचोः । गाङ्गस्य वै याद्यनतः प्रयोग इवाऽऽसकौ स्पष्टतयोपयोगः ॥४७॥

परम शुद्धि को प्राप्त यह श्चित्रय-बुद्धि महाबीर और विप्र-बुद्धि इन्द्रभूति का अभूतपूर्व समागम हुआ, जैसे कि प्रयाग में गंगाजल का यमुनाजल से संगम तीर्थरूप से परिणत हो गया। और आज तक पृथ्वी-मंडल पर उसका स्त्रष्ट रूप से उपयोग हो रहा है।। ४५॥

निशम्य सम्यङ् महिमानमस्याऽऽयाता तन्भृत्तिरिक्षशस्या । यस्यां द्विजो बाहुज एव न सी द्वे श्योऽपि वा शिल्पिजनः शुभाशी॥ बीर प्रभु की ऐसी मिहमा को सुनकर उनके दर्शनार्थ और धर्म अवणार्थ लोगों की दर्शनीय पंक्तियों का आना प्रारम्भ हो गया, धर्म जिसमें केवल बाह्मण और क्षत्रिय ही नहीं थे, अपितु वैश्य भी थे और शुभ आशा रखनेवाले शिल्पिजन (श्रूद्र) भी थे॥ ४८॥

यो वा उन्तरङ्गे निजकल्मषस्य प्रक्षालनायानुभवत्समस्य । आयात एषो ऽपि जनः किलेतः वीरोदयं तीर्थमपूर्वमेतत् ॥४९॥

जिस व्यक्ति ने भी सुना और जो भी व्यक्ति अन्तरंग के अपने पाप को धोने का अनुभव करता था, वे सभी जन आये और इस प्रकार संसार में यह 'वीरोदय' रूप अपूर्व ही तीर्थ प्रकट हुआ। ॥४६॥

नस्थ नारी च पशुश्र पक्षी देवोऽथवा दानव आत्मलक्षी। तस्यैव तस्मिन्नुचितोऽधिकारः परस्परप्रेममयो विचारः ॥५०॥

इस वीरोदय रूप तीर्थ में स्तान करने के लिए जो भी आत्म-लक्षी नर-नारी, पशु-पक्षी ऋथवा देव-दानव आया, उसको उसमें योग्य समुचित ही ऋथिकार मिला और सभी जीवों में परस्पर प्रेम मय विचार प्रकट हुआ।। ४०॥

सिंहो गजेनाखुरथौतुकेन वृकेण चाजो नकुलोऽहिजेन । स्म स्नेहमासाध वसन्ति तत्र चात्मीयभावेन परेण सत्रा ॥५१॥

उस समय उस समयशारण में सिंह गज के साथ, मूषक विडाल के साथ, बकरा मेडिये के साथ, नीला सांप के साथ बैर भूल करके परस्पर स्तेह को प्राप्त होकर अपने विरोधी के साथ आत्मीय भाव से बैठ रहे थे।। ४१।। दिवा-निशोर्यत्र न जातु भेदः कस्मै मनुष्याय न को ऽपि खेद्।। वभूत्र सर्वतुंसमागमो ऽपि शीतातपादि-प्रतिवादलोपी ॥५२॥

उस समवशरण में दिन-रात्रि का भेद नहीं था, न कभी किसी मनुष्य या पशु के लिए किसी प्रकार का कोई खेद था। वहां सर्दी गर्मी आदि को दूर करने वाला सर्व ऋतुआं का भी समागम हुआ।। ४२॥

भावार्थः-उस समय सभी ऋतुत्रों के फल-फूल उत्पन्न हो गये त्रौर वसन्त जैसा सुहावना समय हो गया। किन्तु न वहां पर प्रीष्म ऋतु जैसी प्रचंड गर्मी थी, न शीतकाल जैसी उप सर्दी और न वर्ष-काल जैसी घनघोर वर्षा। सभी प्रकार का वातावरण परम शांत और ऋतन्द-दायक था।

समवशरणमेतन्नामतो विश्वताऽऽसीजिनपतिपदपूता संसदेपा शुभाशीः ।
जिन-मरणजदुःखादुखितो जीवराशिरिह समुपगतः सन् सम्भवेदाशु काशीः ॥५३॥

श्री जिनपित बीर प्रभु के चरण कमलों से पित्रत हुई यह शुभा-शयबाली संसद्(सभा)संसार में 'समवशरण' इस नाम से प्रसिद्ध हुई जिसमें कि जन्म-मरण-जिनत दुःख से दुखित जीव-राशि खा-आकर शीव काशी बन रही थी। क खर्थात् खात्मा की खाशा वाली खात्म-स्वरूप प्राप्त करने की खिभलाषिणी हो रही थी।। ५३॥

श्रीमान् श्रेष्टिचतुर्भे जः स सुषुवे ध्रामलेत्याह्वयं । वाणीभृषण-वर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् । तत्त्रोक्ते गणिनां विवर्णनमभूच्छीवीरनाथप्रभोः सर्गे ऽस्मिन् खलु मार्गणोचितमितौ संपश्य तद् भव्य मोः॥१४॥

इस अकार श्रीमान् सेठ चतुर्भु जजी श्रीर घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणीभूषण बाल-ब्रह्मचारी पं० भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर द्वारा रचे गये इस वीरोद्य काव्य में गणधरों का वर्णन करने वाला चौदहवां सर्ग समाप्त हुआ।। ४॥



### अथ पञ्चदशः सर्गः

गर्जनं वारिदस्ये दुन्दुभेरिव गुजनम् । जगदानन्दनं जीयाद्रणनं परमेष्टिनः ॥१॥

मेघ की गर्जना के समान, अथवा दुन्दुभि की ध्वति के समान गूंजने वाळी और संसार के प्राणियों को आनन्द देने वाली ऐसी परमेष्ठी श्री वर्धमान स्वामी की वाणी जयवन्ती रहे॥ १॥

> वीणायाः स्वरसम्पत्तिं सन्निशम्यापि मानवः । गायक एव जानाति रागोऽत्रायं भवेदिति ॥२॥

वीणा की स्वर-सम्पत्ति को ऋर्थात् उसमें गाये जाने वाले गीत के राग को सुनकर गान-रस का वेत्ता मानव ही जान सकता है कि इस समय इसमें ऋमुक राग प्रकट होगा। हर एक मनुष्य नहीं जान सकता। २।।

#### उदियाय जिनाधीशाधो ऽसौ दिव्यतमो ध्वनिः। विवेद गौतमो हीदमेतदीयं समर्थनम्।। ३।।

इसी प्रकार जिनाधीश बीर प्रभु से जो ध्वनि प्रकट हुई, उसके यथार्थ रहस्य को गौतम सदश विद्वान् ही समझ सके, सर्व साधारण जन नहीं समझ सके ।। ३ ।।

> स्वाकूतस्योत्तरं सर्व एवाभ्याप स्वभाषया । निःशेषं ध्वनिमीशस्य किन्तु जग्राह गौतमः ॥॥॥

यद्यपि समवदारण में अवस्थित सभी जन अपने प्रश्न का उत्तर अपनी भाषा में ही प्राप्त कर लेते थे, किन्तु वीर प्रभु की पूर्ण दिव्य-ध्वनि को गीतम गणधर ही प्रहण कर पाते थे।। ४।।

> पिवन्तीक्ष्वादयो वारि यथापात्रं पयोमुचः। अथ शेषमशेपन्तु वार्घावेव निधीयते ॥ ५ ॥

जैसे मेघ से बरसने वाले जल को इन्नु आदि वृक्ष अपनी पात्रता के अनुसार प्रहण करते हैं, किन्तु शेष समस्त जल तो समुद्र में ही स्थान पाता है। इसी प्रकार प्रत्येक श्रोता अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार भगवान् की वाणी को प्रहण करता था, परन्तु उसे पूर्ण रूप से हृदयङ्गम तो गौतम गणधर ही कर पाते थे।। ४॥

> पश्नां पक्षिणां यद्वदुल्कादीनां च शब्दनम् । शक्कानिः सिन्नशम्यतदर्थयत्येष तादृशम् ॥ ६ ॥

जिस प्रकार एक शक्त-शास्त्र का वेता पुरुष पशु, पश्ची और विजली आदि के शब्द को सुनकर उनके यथार्थ रहस्य को जानता

है, हर एक मनुष्य नहीं। उसी प्रकार भगवान की वाणी के यथार्थ रहस्य को गौतम गणधर ही जान पाते थे, हर एक मनुष्य नहीं।।६॥

> वाणीं द्वादशमागेषु भक्तिमान् स विभक्तवान् । अन्तिमस्यान्तरध्यायाः सम्बभृतुश्चर्तु दश ॥ ७ ॥

उस महान् भक्त गौतम ने भगवान् की वाणी को सुनकर आचारांग आदि बारह् आंगों (भागों) में विभक्त किया। उसमें के बारहवें आंग के पांच भाग किये। उसमें से पूर्वगत के चौदह भेद किये॥ ७॥

> शुश्रृष्णामनेका वाक् नानादेशनिवासिनाम् । अनक्षरायितं वाचा सार्वस्यातो जिनेशिनः ॥८॥

नाना देशों के निवासी श्रोता जनों की भाषा अनेक प्रकार की थी। (यदि भगवान् किसी एक देश की बोली में उपदेश देते, तो उससे सब का कल्याण नहीं हो सकता था।) अतएव सर्व के हितेषी जिनेन्द्रदेव की वाणी अनक्षर रूप से प्रकट हुई। (जिससे कि सभी देशवासी लोग उसे अपनी अपनी बोली में समझ लेवें, यह भगवान् का अतिशय था)।। मा

वीरोक्तमनुवद्ति गणेशे विश्वहेतवे । दूराद् दूरतरं निन्युनीमतो मागधाः सुराः ॥ ९ ॥

वीर भगवान के द्वारा कथित तत्त्व को विश्व-कल्याण के लिए गणधर अनुवाद करते जाते थे और मागध जाति के देव उस योजन ज्यापिनी वाणी को दूरवर्ती स्थान तक फैला देते थे।। ६।। पतितोद्धारकस्यास्य सार्वस्य किम्रु मानवाः । प्रेम्णा पपुस्तिर्यञ्चोऽपि मिथो जातिविरोधिनः ॥१०॥

पतितों के उद्धारक श्रीर सर्व के हितकारक वीर प्रमु की वाणी को मनुष्यों ने ही क्या, परस्पर जाति-विरोधी तिर्यंचों तक ने भी प्रेम से पान किया, श्रर्थात् सुना ॥ १०॥

> यदेशवासिनां पुण्यं तत्राभूदस्य पर्यटः । निरीहचारिणो वारिवाहस्येव महात्मनः ॥ ११ ॥

जिस-जिस देश के निवासी जनों का जैसा पुरव था, उसके अनु-सार इच्छा-रहित विहार करने वाले महात्मा महावीर का विहार मेघ के समान उस उस देश में हुआ। । ११ ॥

> दिक्कुमारीगणस्याग्रे गच्छतो हस्तसम्पुटे । यात्रायाः समये रेजुर्वसुमङ्गलसम्पदः । १२ ॥

भगवान् के विहार-समय आगे आगे चलने वाली दिक्कुमारी देवियों के हस्त-कमलों में अष्ट मंगल द्रव्य परम शोभा को प्राप्त होते थे।। १२॥

दिशि यस्यामनुगमः सम्भाव्योऽभूजिनेशिनः। तत्रैव धर्मचक्राख्यो वर्त्म वर्तयति स्म सः॥ १३॥

बीर जिनेश का विहार जिस दिशा में संभव होता था, उसी दिशा में धर्मचक आगे आगे अपना मार्ग बनाता चलता था ॥१३॥

चचारु यामिलामेषो ऽलङ्कुबँन् पाद्चारतः। रोमाणीव पयोजानि धारयन्तीह सा बभौ ॥ १४ ॥ ये वीर भगवान् अपने पाद-संचार से जिस पृथ्वी को अलंकत करते हुए चलते थे, वहां पर वह रोमाञ्च के समान कमलों को वारण करती हुई शोभित होती थी ॥ १४॥

> एवं पर्यटतो ऽमुष्य देशं देशं जिनेशिनः । शिष्यतां जगृहुभू पा बहवश्चेतरे जनाः ॥ १४ ॥

इस प्रकार प्राणि-मात्र को उनके कर्त्तव्य-पथ का उपदेश करते हुए देश-देश में विहार करने वाले वीर जिनेश का अनेकों राजा छोगों ने एवं अन्य मनुष्यों ने शिष्यपना स्वीकार किया॥ १४॥

> राजगृहाधिराजो यः श्रेणिको नाम भूपतिः। लोकप्रख्यातिमायातो बभृव श्रोतृषूत्तमः ॥ १६ ॥

बिहार प्रान्त के राजगृह नगर का अधिराज श्रेणिक नाम का राजा भगवान् का शिष्य बनकर और श्रोताओं में अप्रणी होकर संसार में प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ।। १६॥

जाता गौतमसंकाशाः सुधर्माद्या दशापरे । वीरस्य वाचसुद्धतु<sup>©</sup> क्षमा नानर्द्धिसंयुताः ॥ १७ ।

वीर भगवान् की वाणी का उद्धार करने में समर्थ एवं नाना ऋद्वियों से संयुक्त गौतम-तुल्य सुधर्मा आदि दश गणधर और भी हुए ॥ १७ ॥

> चम्पाया भूमिपालो ऽपि नामतो द्धिवाहनः । पद्मावती प्रिया तस्य वीरमेतौ तु जम्पती ॥ १८॥

चम्पा नगरी का प्रतिपालक दिधवाहन नाम का राजा और उसकी पद्मावती नाम की रानी ये दोनों ही दम्पती भगवान् के शिष्य बनकर जैन धर्म पालन करने लगे।। १८।।

> वैशाल्या भूमिपालस्य चेटकस्य समन्वयः । पूर्वस्मादेव वीरस्य मार्गमाठौकितोऽभवत् ॥ १९॥

वैशाली के राजा चेटक का वश तो पहिले से ही बीर भगवान् के मार्ग का अनुयायी था। (अब भगवान् के वहां पर विहार होने से वह और भी जैन-धर्म में टढ़ हो गया)।।१६॥

> काशीनरेश्वरः शंखो हस्तिनागाधिपः शिवः । चिलातिः कोटिवर्षेशो दशाणेशोऽपि दीक्षितः ॥ २०॥

काशी देश के नरेश्वर महाराज शंख, हस्तिनापुर के महाराज शिव, कोटि वर्ष देश के स्वामी चिलाति श्रीर दशार्ण देश के नरेश भी भगवान् के धर्म में दीक्षित हुए।। २०।।

वीतभयपुराधीश उदायनमहीपतिः । प्रभावती प्रियाऽमुख्याऽऽपतद्वौं वीरशासनम् ॥ २१ ॥

वीतभयपुर का अवीश उदायन राजा और उसकी प्रभावती रानी ये दोनों ही वीर भगवान् के शासन को प्राप्त हुए ॥ २१ ॥

कौशम्ब्या नरनाथोऽपि नाम्ना योऽसौ सतानिकः। मृगावती प्रिया चास्य वीरांघी स्म निषेवते ॥ २२ ॥

कौशाम्बी का नरनाथ सतानिक राजा और उसकी पद्मावती राणी ने भी बीर भगवान् के चरणों की सेवा स्वीकार की ॥ २२ ॥ प्रधोतन उज्जियित्या अधिपो ऽस्य शिवा प्रिया। वीरस्य मतमेतो हो सेवमानो स्म राजतः ॥ २३ ॥ उज्जियनी का राजा प्रद्योत श्रीर उसकी रानी शिवादेवी ये दोनों ही वीर भगवान के मत का सेवन करते हुए सुशोभित हुए॥ २३॥

राजपुर्या अश्वीशानो जीवको महतां महान् । श्रामण्यमुपयुद्धानो निर्वृतिं गतवानितः ॥ २४॥ राजपुरी नगरी का जीवक अर्थात् जीवन्धर स्वामी जो महा-पुरुषों में भी महान् था, वह भी भगवान् से श्रमणपता अङ्गीकार करके भगवान् के जीवन-काल में ही मोक्ष को शाप्त हुआ॥ २४॥

> श्रेष्ठिनोऽप्यर्ददासस्य नाम्ना जम्बूकुमारकः । दीक्षामतः समासाध गणनायकतामगात् ॥ २५ ॥

अर्हहास सेठ के सुपुत्र जम्बुकुमार तो (उसी दिन विवाह करके छाई हुई अपनी सर्व खियों को सम्बोध कर) भगवान् से दीक्षा लेकर गण के स्वामीयने को प्राप्त हुआ।। २४॥

विज्ञुच्चौरोऽप्यतः पश्चशतसंख्यैः स्वसार्थिभिः। समं समेत्य श्रामण्यमात्मवोधमगादसौ।। २६॥

इन्हीं जम्बूकुमार के साथ विद्युचीर भी अपने पांच सौ साथियों को लेकर और अमणपना अङ्गीकार कर आत्मज्ञान को प्राप्त हुआ।। २६।।

> सूर्यवंशीयभूपालो रथोऽभृहशपूर्वकः । सुत्रभा महिपीत्यस्य जैनधर्मपरायणा ॥ २७ ॥

सूर्यवंशी राजा दशस्य और उसकी रानी सुप्रभा ये दोनों ही वीर शासन को स्वीकार कर जैन धर्म-परायण हुए ॥ २७॥

मिक्का महिषी चासीत्त्रसेनजिन्महीपतेः। दार्फवाहनभूषस्याभया नाम नितस्विनी ॥ २८॥

प्रसेनजित् राजा की रानी मल्लिकादेवी और दार्फवाहन नरेश की रानी अभयदेवी ने वीर-शासन को अङ्गीकार किया ॥ २८ ॥

सुधर्मस्वामिनः पार्श्व उष्ट्रदेशाधिपो यमः। दीक्षा जग्राह तत्पत्नी श्राविका धनवत्यभृत् ॥२९॥

ज्ष्ट्रदेश के स्वामी राजा यम ने (महावीर स्वामी के शिष्य) सुधर्मास्वामी से जिनदीक्षा ब्रहण की और उसकी रानी धनवती आवक के ब्रत खड़ीकार कर श्राविका बनी ॥ २६॥

> श्रीवीरादासहस्राब्दीपर्यन्तिमह तद्-दृषः । बभ्व भूषणं राज्ञां कुलस्येत्यनुमीयते ॥३०॥

इस प्रकार श्री बीर भगवान् के समय से लेकर एक हजार वर्ष तक उनके द्वारा प्रचारित जैन धर्म राजाओं के कुछ का श्राभूषण रहा, ऐसा ( प्राचीन इतिहास से ) श्रानुमान होता है ॥ ३०॥

एतद्-धर्मानुरागेण चैतदेशप्रजाऽखिला। प्रायशोऽत्र बस्वापि जैनधर्मानुयायिनी ॥३१॥

उपर्युक्त उन-उन राजाश्चों के जैनधर्मानुराग से ही इस देश की समस्त जनता भी प्राय: जैनधर्मानुयायिनी हो गई थी॥ ३१॥

खारवेलोऽस्य राज्ञी च नाम्ना सिंहयशा पुनः। जैनधर्मप्ररोहार्थे प्रकमं भूरि चक्रतुः ॥₹२॥ किन देश-नरेश महाराज खारवेल और उनकी महारानी सिंह-यशा देवी ने जैनवर्म के प्रचार के लिये बड़ा पराक्रम किया॥ ३२॥

इक्ष्वाकुवंशिपबस्य पत्नी धनवती च या । मौर्यस्य चन्द्रगुप्तस्य सुपमाऽऽसीद्याऽऽहती ॥३३।

इक्ष्वाकुवंशी राजा पद्म की पत्नी धनवती ने तथा सम्राट् चन्द्र-गुप्त मीय की पत्नी सुपमा देवी ने भी जैन धर्म को धारण किया॥३३॥

> महीशूराधिपास्तेषां योषितोऽद्यावधीति ताः। जैनधर्मानुयायित्वं स्वीकुर्वाणा भवन्त्यपि ॥३४॥

मेंसूर के नरेश और उनकी राजपत्नियां तो आज तक भी जैन-धर्म के अनुयायी होते आ रहे हैं। ३४॥

पन्छवाधिपतेः पुत्री कदाञ्छी मरुवर्मणः ।
निर्णु न्ददेशाधिपतेः परंत्र्रस्य चाङ्गना ।।३५॥
कारयामासतुर्लोकतिलकाच्यजिनालयम् ।
यद्वचवस्थार्थमादिष्टं प्नन्लिग्रामनामकम् ॥३६॥
स्थानं श्रीपुरुषाच्येन राज्ञा स्वस्त्रीनिदेशतः ।
भूरन्त्रव्यापिनी यस्मादासीद् धर्मप्रभावना ।।३७॥

पल्लव देश के नरेश की पुत्री और मरुवर्मा राजा की रानी कदाव्छी तथा निगुन्द देश के राजा परंत्र की रानी इन दोनों ने लोक तिलक नामका जिनालय बनवाया और अपनी पत्नी की प्रेरणा से उसके स्वामी पुरुषराज ने पुनल्लि नाम का प्राम उस चैत्यालय की ट्यवस्था के लिए अपण किया। इससे सारे संसार में जैन धर्म की महती प्रभावना हुई ॥ ३४-३७॥

जाकियव्वे सचरस-नागार्ज् नस्य भामिनी । श्रीश्रभचन्द्रसिद्धान्त-देवशिष्या वभ्व या ॥३८॥

सत्तरस नागार्जु न की धर्मपत्नी जाकियव्ये श्री शुभचन्द्र सिद्धांत देव की शिष्या हुई झौर उसने जैनधर्म का पालन किया ॥ ३८॥

निर्मापय्य जिनास्थानं तद्रथं भूमिदायिनी । महिषी नागदेवस्यातिमव्वेऽप्यतिधार्मिका ॥३९॥

नागदेव की महारानी अतिमन्त्रे भी बड़ी धर्मात्मा थी, जिसने कि जिनालय बनवा करके उसके निर्वाह के लिए भूमि प्रदान की थी।। ३६॥

> वीरचाम्रण्डराजरच तत्पत्नी तस्य चाम्बिका। श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचिकसेवकतां द्धुः ॥४०॥

वीर चामुण्डराज, उनकी पत्नी और उनकी साता ये तीनों ही श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के सेवक हुए और जैन धर्म का महान् उद्योत किया ॥ ४०॥

चन्द्रमौलेस्तु या भार्या वीरबल्लालमन्त्रिणः। नामतोऽचलदेवी या बभव दृढधार्मिका ॥४१॥

राजा वीरवल्लाल के मन्त्री चन्द्रमौलि की अचलदेवी नाम की जो भार्या थी, वह भी जैनधर्म का दृढ़ता से पालन करती थी ॥४१॥

> या पत्नीकदम्बराज-कीर्त्तिदेवस्य मालला । श्रीपद्मनन्दिसिद्धान्त-देवपादाभ्युपासिका ॥४२॥

कदम्बराज कीर्तिदेव की भार्या मालला भी श्रीपद्मनिद्सिखात-देव के चरणों की उपासिका थी।। ४२॥ पन्लवराट् काइवेदी महिषी चट्टलासिधा। जिनसञ्जदेवं च साधुसेवासु तत्परा। ४३॥

पल्ळवराज काडुवेदी की चट्टला नाम की महारानी सदा जैन साधुत्र्यों की सेवा में तत्पर रहा करती थी। उसने भी एक जिनमंदिर बनवाया था।। ४३।।

> दोर्बलगंगहेमाण्डि-मान्धातुर्या सधर्मिणी । श्रीपट्टदमहादेवी वभूव जिनधर्मधृक् ॥४४॥

भुजवल गंगहेमारिड मान्धाता की सहधर्मिणी श्रीपट्टद्महादेवी भी जिनधर्म को धारण करने वाली हुई है।। ४४॥

माचिकव्वेऽपि जैनाऽभून्मारसिंगय्यभामिनी । शैवधर्मी पतिः किन्तु सा तु सत्यानुयायिनी ॥४५॥ मारसिंगय्य की भामिनी माचिकव्वे भी सत्य (जैन) धर्म की कट्टर अनुयायिनी थी, यद्यपि उसका पति शैवधर्मानुयायी था॥४५॥

> विष्णुवर्धनभूपस्य शान्तला पट्टदेविका। श्रीप्रभाचन्द्रसिद्धान्त-देवशिष्यत्वमागता।।४६॥

विष्णुवर्धन राजाकी पट्टरानी शान्तलादेवी श्रीप्रभाचन्द्र सिद्धान्त-देव की शिष्या बनी और जैन धर्म पालती थी।। ४६॥

हरियव्यरसिः पुत्री शान्तलाया जिनास्पदम् । कारयामास द्वादश्यां शताब्द्यां विक्रमस्य सा ॥४७॥ भूमिदानं चकारापि तस्य निर्वाहहेतवे । मणिमाणिक्यसम्पन्न-शिखरं सुमनोहरम् ॥४८॥ शान्तलादेवी की पुत्री हरियव्यरसी ने विक्रम की बारहवी शताब्दी में एक जिनालय बनवाया, जिसका शिखर मणि-माणिक्य से सम्पन्न और अति मनोहर था। उसने मन्दिर के निर्वाह के लिए भूमिदान भी किया था।। ४७-४८॥

विष्णुचन्द्रनरेशस्याग्रजजाया जयकणिः । नित्यं जिनेन्द्रदेवार्चां कुर्वती समभादियम् ॥४९॥

विष्णुचन्द्र नरेश के बड़े भाई की स्त्री जयकणि जैन धर्म पालती थी ख्रौर नित्य जिनेन्द्रदेव की पूजन करती थी ॥ ४६॥

> सेनापतिर्गङ्गराजश्चास्य ठक्ष्मीमतिः प्रिया । जिनपादाञ्जसेवायामेवासन् विससर्ज तान् ॥५०॥

सेनापित गङ्गराज और उसकी पत्नी टक्सीमती ये दोनों ही जैन धर्म के धारक थे और उन्होंने जिन भगवान के चरण-कमलों की सेवा करते हुए ही अपने प्राणों का विसर्जन किया था।। ४०॥

> चौहानवंशभृतकीर्त्ति-पालनाममहीपतेः । देवी महीबलाख्याना वभूव जिनधर्मिणी ॥५१॥

चौहानवंशी कीर्त्तिपाल नामक नरेश की महीबला नाम की रानी भी जिनधर्म की धारण करने वाली हुई ॥ ४१॥

> परमारान्वयोत्थस्य धरावंशस्य भामिनी । शृङ्गारदेवी आसीच्च जिनभक्तिसुतत्परा ॥५२॥

परमार वंश में उत्पन्न हुए राजा धरावंश की भामिनी शृङ्गारदेवी हुई। जो जिनदेव की भक्ति करने में तत्पर रहती थी।। ४२।। राजवर्गमिहेत्येवं प्लावयन् वीरभास्वतः। गोमण्डलप्रसारोऽभ् इुवि तत्त्वं प्रकाशयन्।।५३।।

इस प्रकार भारतवर्ष के अनेकों राज-वंशों को प्रमावित करता भगवान् महात्रीर रूप धर्म-सूर्य के वचन रूप किरणों का समूद संसार में सत्य तस्त्र का प्रकाश करता हुआ सर्व ओर फैला॥ ४३॥

भूमिपालेष्त्रिवामीषु वैश्येषु त्राह्मणेषु च। शूद्रकेष्वपि वीरस्य शासनं समवातरन् ॥५४॥

वीर भगवान् का यह जिन-शासन राजात्रों के समान वैश्यों में, ब्राह्मणों में ख्रोर शुद्रों में भी फेला। (आज भी घोड़ी बहुत संख्या में सभी जाति के लोग इस धर्म के अनुयायी दृष्टिगोचर होते हैं)।।१४॥

> वीरस्य शासनं विश्वहिताय यद्यपीत्यभृत् । किन्तु तत्प्रतिपत्तारो जातास्तद्नुयायिनः ॥५५॥

यद्यपि वीर भगवान् का यह शासन विश्व मात्र के कल्याण के छिए था, किन्तु जिन छोगों ने उसे धारण किया, वे उसके अनुयायी कहे जाने छगे।। ४४।।

भावार्थ—आज बीर मतानुयाबी अलप संख्यक जैनों को देख कर कोई यह न सममें कि बीर भगवान का उपदेश कुछ जाति विशेष वालों के लिए था, इसलिए जैनों की संख्या कम है। नहीं, उनका उपदेश तो प्राणिमात्र के हितार्थ था, और एक लम्बे समय तक जैन धर्मानुयायियों की संख्या भी करोड़ों पर थी। पर अनेक घटना-चकों से आज उनकी संख्या कम है।

> इतरेष्यपि लोकेषु तत्प्रभावस्त्वभृद् भ्रुवम् । येऽहरमन्यारुवदोपेण तन्मतं नातुचिकिरे ॥।५६॥

जिन अन्य छोगों ने अहम्मन्यता दोष वश वीर भगवान् के मत का अनुकरण नहीं किया, उन छोगों पर भी वीर-भगवान् हारा प्रक्षित अहिंसा-धर्म का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। (यही कारण है कि हिंसा-प्रधान यज्ञादिक करने वाले वैदिक धर्मियों में भी आज हिंसा दृष्टिगोचर नहीं होती है और वे छोग भी हिंसा से घृणा करने छगे हैं।)।। ४६॥

यत्र श्राद्धे ऽपि गोमांसः ख्यातस्तत्सम्प्रदायिनः । वदेयुर्मातरं धेनुं प्रभावः सन्मतेरयम् ॥५७॥

जिन वैदिक सम्प्रदाय वालों के यहां श्राद्ध में भी गोमांस का विधान था, वे लोग ऋाज गौ को माता कहते हैं और उसका वध नहीं करते, यह प्रभाव वीर-शासन का ही है।। ४७॥

भावार्थ — वैदिक धर्म में ऐसा विधान था — कि "महोजं वा महोत्तं वा श्रोत्रियाय प्रकल्पयेत्" अर्थात् "श्राद्ध के समय महान् अर्थ को अथवा महान् वेल को श्रोत्रिय ब्राह्मण के लिए मारे और उसका मांस उसे खिलावें" — उस समय सर्वत्र प्रचलित इस विधान का आज जो अभाव दृष्टिगोचर होता है, वह वीर भगवान् के 'अहिंसा परमो धर्मः के सिंहनाद का ब्रेही प्रभाव है।

यद्वा सर्वेऽपि राजानो वीरमार्गानुयायिनः । यतः प्रजाया रक्षायां यतन्ते सततं तके ॥५८॥

श्रथवा संसार के सभी राजा लोग वीर-मार्ग के श्रनुयायी हैं, क्योंकि वे लोग प्रजा की रक्षा करने में निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं।। ४८।।

> अन्तर्नीत्याऽखिलं विश्वं वीरवत्मीभिधावति । दयते स्वकुदुम्बादौ हिंसकादपि हिंसकः ॥५९॥

अन्तरंग नीति से यदि देखा जाय, तो यह समस्त विश्व ही वीर भगवान् के द्वारा वतलाये हुए ऋहिंसा मार्ग पर चल रहा है, क्योंकि हिंसक से भी हिंसक मनुष्य या पशु भी अपने कुटुम्ब आदि पर दया करता ही है उनकी हिंसा नहीं करता। ४६॥

ततः पुनयों यावत्यां मात्रायामुपढौकते। अहिंसामधिकं तावत् स वीरमनुगच्छति।।६०।।

इसलिए जो जीव जितनी भी मात्रा में अहिंसा धर्म को धारण करता है, वह उतनी ही मात्रा में भगवान् महावीर के मार्ग पर चलता है।। ६०।।

अर्थुत्युनः सन्मतिसम्प्रदायेऽपि तत्प्रभावः सहयोगिताये । यतो मृतश्राद्धमवश्यकर्म हीत्यादि धीरश्चति जैनमर्म ॥६१॥

समय-परिवर्तन के साथ सन्मति वीर भगवान् के सन्प्रदाय वालों पर भी अन्य सहवर्ती सम्प्रदाय वालों का प्रभाव पड़ा कि जैन लोग भी मरे हुए ज्यक्ति का श्राद्ध करना आवश्यक कर्तत्व्य मानने लगे, तथा इसी प्रकार की अन्य लौकिक क्रियाओं को करने लगे, जो कि जैन धर्म के मर्म पर चोट पहुँचाती हैं॥ ६१॥

वीरेण यत्प्रोक्तमदृष्टपारमगाधमप्यस्ति किलास्य सारम् । रत्नाकरस्येव निवेदयामि य इष्यते कौस्तुभवत् सुनामी ॥६२॥

वीर भगवान् ने अपने दिव्य प्रवचनों में संसार के हित के छिए जो कुछ कहा, वह वस्तुत: रत्नाकर के समान, अगाध और अपार है। किन्तु उसमें कौस्तुभ मणि के समान जो मुख्य मुख्य तन्त्र हैं, उनका सारांश में निवेदन करता हूँ। ६२॥

साम्यमहिंसा स्याद्वाद्म्तु सर्वज्ञतेयमुत्तनवस्तु । अनुपमतयाऽनुसन्धेयानि पुनरपि चत्वारीत्येतानि ॥६३॥

भगवान् महावीर के श्रमाध प्रवचनों में से साम्यशद, श्रहिंसा, स्याद्वाद श्रौर सर्वज्ञता ये चार श्रनुपम उत्तम तत्त्र हैं। जिज्ञानु जनों को इनका श्रनुसन्धान करना जाहिए।। ६३॥

भावार्थ – ऋागे इन्हीं चारों तत्त्वों का कुछ विवेचन किया जायगा।

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भु जः स सुषुवे भूरामलेत्याह्नयं वाणीभृषणवर्णिनं वृतवरी देवी च यं धीचयम् । सर्गे ऽनेन कृते विवर्णनमभृत्पश्चं कसंख्यावति प्राप्ता कीदशरूपतो ऽथ जनता वीरोपदेशं सती ॥१५॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भु जजी श्रौर घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणी-भूषण, बाल-ब्रह्मचारी पं० भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञान-सागर रचित इस वीरोद्य काव्य में बीर भगवान् के धर्म का देश-देश में प्रचार श्रौर प्रभाव का वर्णन करने वाला पन्द्रहवां सर्ग समाप्त हुआ।। १४।।



## अथ पोडशः सर्गः

BUON A विश्वस्य रक्षा प्रभवेदितीयद्वीरस्य सच्छासनमद्वितीयम् । ममाश्रयन्तीह धरातले ऽस्त्र को ऽपि भ्यादसुखीति तेषु ।।१।।

भगवान् महावीर के शासन की यही सब से बड़ी अदितीय विशेषता थी कि इस धरातल पर कोई प्राणी दुःखी न रहे, सब सखी हों और सारे संसार की रक्षा हो।। १।।

आत्मन् वसेस्त्वं वसितुं परेभ्यः देयं स्ववन्नान् रहृदत्र तेभ्यः। भवेः कदाचितस्वभवे यदि त्वं प्रवाञ्छिस स्वं सुखसम्पदित्वम् ॥

भगवान ने कहा-हे आत्मन्, यदि तुम यहां सुख से रहना चाहते हो, तो ऋौरों को भी सुख से रहने दो। यदि तुम स्वयं दुखी नहीं होना चाहते हो, तो ख्रौरीं को भी दुःख मत दो॥ २॥

भावार्थ -तुम स्वयं जैसा बनना चाहते हो, उसी प्रकार का व्यवहार दूसरों के साथ भी करो।

आपन्नमन्यं समुदीक्ष्य मास्थास्त्रणीं वहेः किन्तु निजामिहास्थाम्। स्वेदे वहत्यन्यजनस्य रक्त-प्रमोक्षणे स्वस्य भवे प्रसक्तः ॥३॥

दूसरे को आपत्ति में पड़ा देखकर तुम चुप मत बैठे रहो, किन्तु उसके संकट को दूर करने का शक्ति-भर प्रयत्न करो। दूसरे का जहां पसीना वह रहा हो, वहां पर तुम अपना खून बहाने को तैयार रहो।। ३॥

बोढार एवं तब थूत्कमेते स्वयं स्वपाणाविष यायिने ते । छत्रं द्धाना शिर्सि प्रयासाचित्यं भवन्तः स्वयमेव दासाः ॥४ जब तुम दूसरों की भछाई के छिए मरने को तैयार रहोगे, तब दूसरे छोग भी तुम्हारे थूक को भी अपने हाथ पर फेळने को तैयार रहेंगे। वे तुम्हारे चळते समय शिर पर छत्र-धारण करेंगे और सदा तुम्हारी आज्ञा को पाळन करने के छिए स्वयं ही दास समान प्रयतन्त्री छ रहेंगे॥ ४॥

उच्छालितोऽकाय रजःसमृहः पतेच्छिरस्येव तथाऽयमृहः। कृतं परसमै फलति स्वयं तन्निजात्मनीत्येव वदन्ति सन्तः॥॥॥

जैसे सूर्य के ऊपर फेंकी गई धूछि फेंकने वाले के सिर पर आकर गिरती है, इसी प्रकार दूसरों के लिए किया गया बुरा कार्य स्वयं अपने लिए ही बुरा फल देता है। इसलिए दूसरों के साथ भला ही ज्यवहार करना चाहिए, यही सन्त पुरुषों का कहना है॥ ४॥

यथा स्वयं वाञ्छति तत्परेभ्यः कुर्याजनः केवलकातरेभ्यः । तदेतदेकं खलु धर्ममूलं परन्तु सर्वः स्विद्युष्य तूलम् ॥६॥

मनुष्य जैसा व्यवहार स्वयं अपने लिए चाहता है, वैसा ही व्यवहार उसे दूसरे दीन-कायर पुरुषों तक के साथ करना चाहिए। यही एक तत्त्व धर्म का मूल है और शेष सर्व कथन तो इसी का विस्तार है।। ६।।

निहन्यते यो हि परस्य हन्ता पातास्तु पुज्यो जगतां समन्तात् । किमङ्ग ! न ज्ञातमहो त्वयैव हगञ्जनायाङ्गुलिरञ्जितेव ॥७॥

जो दूसरों को मारता है, वह स्वयं दूसरों के द्वारा मारा जाता है और जो दूसरों की रक्षा करता है, वह सर्व जगत में पूज्य होता है। हे बत्स, क्या तुम्हें यह ज्ञात नहीं है कि आंख में काजल लगाने बाली आंगुलि पहले स्त्रयं ही काली बनती है।। ७।।

तथाष्यहो स्वार्थपरः परस्य निक्रन्तनार्थं यतते नरस्य । नानाच्छलाच्छादिततत्त्ववेदी नरो न रौतीति किमात्मखेदी ॥८॥

तथापि आश्चर्य तो इस बात का है कि मनुष्य अपने स्वार्थ के बश में तत्पर होकर दूसरे मनुष्य के मारने या कष्ट पहुँचाने के लिए निरन्तर प्रयत्न करता है और नाना प्रकार के छलों से यथार्थ सत्य को छिपा कर दूसरों को घोखा देना है। दूसरों को घोखा देना वास्तव में अपने आपको घोखा देना है। ऐसा मनुष्य करणी के कल मिलने पर क्या नहीं रोवेगा ? अर्थान् अवश्य ही रोवेगा।। पा

अजाय सम्भाति द्धत् कृपाणं नाकं ददामीति परित्रुवाणः । भवेत्स्ववंश्याय तथैव किन्न यथापयन् मोदकमण्यखिनः ॥९॥

श्राश्चर्य है कि लोग 'स्वर्ग भेज रहे हैं' ऐसा कहते हुए बकरे के गले पर तलवार चलाते हैं। किन्तु इस प्रकार यदि यज्ञ में पशु के मारने पर सचमुच उसे स्वर्ग मिलता है, तो फिर अपने वंश वाले लोगों को ही क्यों नहीं स्वर्ग भेजते १ जैसे कि लाडू बांटते हुए पहले अपने ही बच्चों को सहर्ष देते हैं।। ६।।

कस्मै भवेत्कः सुख-दुःख कर्ता स्वकर्मणोऽङ्गी परिपाकभर्ता । कुर्यान्मनः कोमलमात्मनीनं स्वशर्मणे वीक्ष्य नरोऽन्यदीनम् ॥१०

यदि वास्तव में देखा जाय तो कौन किसके लिए सुख या दुःख देता है। प्रत्येक प्राणी अपने अपने किये कमों के परिपाक की भोगता है। जब मनुष्य किसी के दुःख दूर करने के लिए कोमल चित्त करता है, तो उसका वह कोमल भाव उसे सुखदायक होता है और जब दूसरे के लिए कठोर भाव करता है, तो वह उसे ही दुःख-दायक होता है।। १०॥

संरक्षितुं प्राणभृतां महीं सा वजत्यतोऽम्बा जगतामहिंसा। हिंसा मिथो भक्षितुमाह तस्मात्सर्वस्य शत्रुत्वसुपैत्यकम्मात् ॥११

श्रहिंसा सर्वे प्राणियों की संसार में रक्षा करती है, इसिंछए वह माता कहलाती है। हिंसा परस्पर में खाने को कहती है, और श्रकस्मात् (श्रकारण) ही सब से शत्रुता उत्पन्न करती है, इसिंछए वह राक्ष्मसी है श्रतएव श्रहिंसा उपादेय है।। ११।।

समन्ततो जीवचितेऽत्र लोके प्रकुर्वतः स्यादगतिः कृतोऽके । ततोऽस्त्वहिंसेयमगेहिधर्मः किलेनि वक्त्राकलितं न मर्म ।।१२॥

कुछ लोग कहते हैं कि जब यह लोक सर्वत्र जीवों से व्याप्त है, तब उसमें गमनागमनादि आरम्भ करने वाला गृहस्थ पाप से कैसे बच सकता है ? अतएव यह अहिंसा गृह से रहित साधुआं का धर्म भले ही माना जाय, पर यह गृहस्थ का धर्म नहीं हो सकती। ऐसा कहने वालों ने अहिंसा धर्म के मर्म की नहीं समझा है ॥ १२॥

भवेच्च कुर्याद्वधमत्र भेदः भावे भवान् संयततामखेदः । वृतः कृषीशाद्षि धीवरः स्याद्वः थ पापीत्युचिता समस्या ॥१३॥

वस्तु-तत्त्व यह है कि हिंसा हो, और हिंसा करे, इन दोनों वातों में आकाश-पाताल जैसा भेद है, इसे आप खेद-रहित होकर के भाव में जानने का प्रयत्न करें। देखों— खेत जोवते समय जीवधान करने वाले किसान से घर पर बैठा हुआ और जीवधान नहीं करने वाला मच्छीमार धीवर अधिक पापी है और वस्तुतत्त्व की समस्या सर्वथा उचित है। इसका कारण यह है कि किसान का भाव खेत जोवने का है, जीवधात करने का नहीं अतः वह अहिंसक है, और धीवर का भाव घर बेंठे हुए भी मछली मारने का बना रहता है, अतः वह हिंसक है।। १२।।

प्रमादतोऽसुव्यपरोपणं यद्धधो भवत्येष सतामरम्यः । अधोविधानाय तमेकमेव समासतः प्राह जिनेशदेवः ॥१४॥

प्रमाद से जीवों के प्राणों का विनाश करना हिंसा है, जो कि सत्पुरुषों के करने योग्य नहीं है, क्योंकि जीव को अधोगित ले जाने के लिए वह अकेली ही पर्याप्त है, जिनेन्द्र वीरदेव ने संचेप से धर्म-अधर्म का यही सार कहा है। १४॥

दौस्थ्यं प्रकर्मानुचितिक्रयत्वं कर्त्तव्यहानिर्द्धं वशेन्द्रियत्वम् । संक्षेपतः पञ्चविधत्वमेति प्रमत्तत्ता यात्मपथान्तिरेति ॥१५॥

मन की कुटिलता, कार्य का अतिक्रमण, अनुचित क्रियाकारिता, कर्त्त व्य-हानि और अजितेन्द्रियता (इन्द्रियों को वश में नहीं रखता) संक्षेप से प्रमाद के ये पांच भेद हैं, जो कि जीवको आत्म-कल्याण के मार्ग से श्रष्ट करने वाले हैं ॥ १४॥

अर्थानमनस्कारमये प्रधानमधं सघं संकलितुं निदानम् । वैद्यो भवेद्गुक्तिरुथेव धन्यः सम्पोषयन् खड्डिकको जधन्यः ॥

जीवका मानसिक अभिप्राय ही पाप के संकलन करने या नहीं

करने में निदान अर्थात् प्रधान कारण है। रोगी के भोजन को रोक-कर छंचन करानेवाला बेच धन्य है - पुग्य का उपार्जक है। किन्तु बकरे को खिला-पिलाकर पुष्ट करनेवाला खटीक जघन्य है। पाप का उपार्जन करनेवाला है।। १६॥

स्तनं पिवन् वा तनुजो ऽनकाय स्पृशंश्र कश्चिन्महतेऽप्यघाय । कुलाङ्गनाया इति तत्त्रचिन्ता न स्पुर्भवच्चेतसि विज्ञ ! किं ताः ॥

कुलीन स्त्री के स्तन को पीनेवाला बालक निर्दोष है। पाप-रहित है। किन्तु उसीके स्तन का स्पर्श करनेवाला अन्य कामी पुरुष महा-पाप का उपार्जक है। हे विज्ञ! क्या आपके चित्त में यह तास्विक विचार जागृत नहीं होता है।। १७।।

स्वमात्रामतिक्रम्य कृत्यं च कुर्यात्तदेव प्रकर्माऽभ्यधुर्घर्मधुर्याः । प्रपाठोऽस्ति मोढचस्य कार्यं तदेवाऽऽनिशं धार्यमाणो विकारायते वा॥

करने योग्य अपने कर्त्त व्य को भी सीमा का उल्लंघन करके अधिक कार्य करने को धर्म-धुरीण पुरुषों ने प्रकर्म कहा है। देखो— शिष्य कर्त्त व्य है, किन्तु यदि वह रात-दिन पढ़ता रहे और खान-पान शयनादि सर्व कार्य छोड़ दे, तो यह उसी के लिए विकार का उत्पादक हो जाता है।। १८।।

गृहस्थस्य वृत्तेरभावो हाकृत्यं भवेत्त्यागिनस्तद्विधिद् ष्टनृत्यम् । नृपः सन् प्रद्यान्न दुष्टाय दण्डं क्षतिः स्यान्सुनेरेतदेवेम्य मण्डम् ॥

गृहस्य पुरुष के आजीविका का अभाव ही अकृत्य है और साधु की आजीविका करना भी अकृत्य है। राजा होकर यदि दुष्टों को दगड न दे, तो यह उसका अकृत्य है और यदि राज्यापराधियों की मुनि दगड देने छंगे तो यह उसका अकृत्य है ॥ १६॥

भावार्थः - सब लोगों को अपने-अपने पदोचित ही कार्य करना चाहिए। पद के प्रतिकृल कार्य करना ही अनुचित क्रिया-कारिता कहलाती है।

न चौर्य पुनस्तस्करायास्त्ववस्तु गवां मारणं वा नृशंसाङ्गिनस्तु । न निर्वाच्यमेतद्यतः सोऽपिमत्र्यः कुतः स्यात्पुनस्तेन सोऽर्थःप्रवर्त्यः॥

यदि कहा जाय कि अपने पदोचित कार्य को करना मनुष्य का कर्नाञ्य है, तब तो चोर का चोरी करना और कसाई का गायों का मारना भी उनके पदानुसार कर्नाञ्यासिद्ध होता है, सो ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि चोरी और हिंसा करना तो मनुष्यमात्र का अकर्नाञ्य कहा गया है, किर उन अकर्नाञ्यों को करना कर्नाञ्य कैसे माना जा सकता है ? इसलिए मनुष्य को सत्कर्ताञ्य में ही प्रवृत्ति करना चाहिए, असत्कर्त्त ज्य में नहीं, ऐसा प्रकृत में अभिप्राय लेना चाहिए। २०।।

पलस्याशनं चानकाङ्गिप्रहारः सनाग् वा पराधिष्ठितस्यापहारः। न कस्यापि कार्यः भवेज्जीवलोके ततस्तत्प्रवृत्तिः पतेत्किन्नसोऽके॥

मांस का खाना, निरपराध प्राणियों को मारना, दूसरे की स्वामित्व वाली वस्तु का अपहरण करना इत्यादि निंद्य कार्य संसार में किसी भी प्राणी के लिए करने योग्य नहीं हैं। अतएव इन दुष्कृत्यों में प्रवृत्ति करनेवाला क्यों न पाप-गर्त में गिरेगा १ अर्थात् अवश्य ही उसे पाप का फल भोगना पड़ेगा ॥ २१ ॥

यतो मातुरादौ पयो भक्तवान् स न सिंहस्य चाहार एवास्ति मांसः विकारः पुनर्दु निमित्तप्रभावात्समुत्थो न संस्थाप्यतां सर्वदा वा ॥२२

यदि कहा जाय कि सिंह का तो मांस खाना ही धमें है, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि वह भी तो जन्म लेने पर प्रारम्भ में अपनी माता का ही दूध पीता है। इसिटिए सिंह का आहार मांस नहीं है, किन्तु उसका विकार है, जो कि खोटे निमित्तों के प्रभाव से अपने मां-बाप आदि की देखा-देखी प्रकट हो जाता है, अतएव वह उसका स्वाभाविक और सर्वदा रहनेवाला धर्म नहीं मानना चाहिए॥ २२॥

पते वा दत्ते वा उस्तु को उसौविशेषः द्वये प्राणिनो उङ्गप्रकारस्य लेशः वद् जित्यनादेयमुच्चारमत्तु पयोवक किं तत्र तत्सम्भवत्तु ॥२३॥

यदि कहा जाय कि मांस में और शाक-पत्र में कौतसी विशेषता है ? क्योंकि दोनों ही प्राणियों के शरीर के ही खंग हैं, सो ऐसा कहने वाले का वचन भी उपादेय नहीं है, क्योंकि गोबर और दूध ये दोनों ही गाय-भेंस आदि से उत्पन्न होते हैं, फिर मनुष्य दूध को ही क्यों खाता है और गोबर को क्यों नहीं खाता ? इससे जात होता कि प्राणि-जनित वस्तुओं में जो पवित्र होती है, वह प्राह्म है, अपवित्र नहीं। अतः शाक-पत्र और दूध प्राह्म है, मांस और गोबर आदि प्राह्म नहीं। सेतः शाक-पत्र और दूध प्राह्म है, मांस और गोबर आदि प्राह्म नहीं हैं।। २३।।

दलाद्यमिना सिद्धमनासुकत्वं त्यजेदित्यदः स्थावराङ्गस्य तत्त्वन् । पलं जङ्गमस्याङ्गमेतत्तु पकमपि प्राघदं प्रासुकं तत्पुनः क ॥२४॥

शाक-पत्रादि तो अग्नि से पकते पर अप्रासुकता को छोड़ देते हैं अर्थात् वे 'अग्नि से पक जाने पर प्रासुक (निर्जीव) हो जाते हैं। दूसरे वे

स्थावर एकेन्द्रिय जीव का अंग हैं, किन्तु मांस तो चलते-फिरते जंगम जीवों के शरीर का अंग है, अतएव वह अग्नि से पकने पर भी प्राप्तक नहीं होता, प्रत्युत पाप का कारण ही रहता है, अतएव शाक-पत्रादि प्राह्म है, मांसादि नहीं ॥ २४॥

न शाकस्य पाके पलस्येत्र पृतिर्न च क्लेद्भावो जलेनाचस्रतिः। इति स्पष्टभेदः पुनश्चापि खेदः दुरीहावतो जातुचिकास्ति वेदः॥२५

श्रीर भी देखों — शाक के पकाने पर मांस के समान दुर्गन्य नहीं श्राती तथा शाक-पत्रादि मांस के समान जल से सड़ते भी नहीं हैं, क्योंकि उनकी उत्पत्ति जल से हैं। इस प्रकार शाक-पत्रादि श्रीर मांस इन दोनों में स्पष्ट भेद है, फिर भी यह महान् खेद है कि मांस खाने के दुराग्रह वाले को इसका कदाचित् भी विवेक नहीं है।। २४।।

तदेवेन्द्रियाधीनवृत्तित्वमस्ति यद्ज्ञानतोऽतक्यवस्तु प्रशस्तिः। विपत्तिं पतङ्गादिवत्सम्प्रयाति स पश्चात्तपन् सर्ववित्तुल्यजातिः॥२६

इस प्रकार से मांस और शाक-पत्रादि के भेद को प्रत्यक्ष से देखता और जानता हुआ भी मांस खाना नहीं छोड़ता है, यही उसकी इन्द्रियाधीन प्रवृत्ति है और उसके वश होकर अज्ञान से कुतर्क करके मांस जैसी निय वस्तु को उत्तम बताता है। जिस प्रकार पतंगे आदि जन्तु इन्द्रियों के विषयों के अधीन होकर अग्नि आदि में गिरकर विनाश को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार सर्ववेत्ता परमात्मा के समान जातिवाला यह मनुष्य भी प्रशात्ताप का पात्र बने, यह महान दुःख की बात है।। २६।।

हिंसायाः समुपेत्य शासनविधि ये चेन्द्रियैराहताः । पश्यास्मिञ्जगति प्रयान्ति विवशा नो कस्य ते दासताम् ॥

## यश्राज्ञामधिगम्य पावनमना धीराहर्दिसाश्रियः जित्वाऽक्षाणि समावसेदिह जगज्जेता स आत्मप्रियः ॥२७॥

देखो, इस जगत् में जीव हिंसा के शासन-विधान को स्वीकार करके इन्द्रियों के विषयों से पीड़ित रहते हैं, वे परवश होकर किस किस मनुष्य की दासता को अङ्गीकार नहीं करते ? अर्थात् उन्हें सभी की गुलामी करनी पड़ती है। किन्तु जो पवित्र मनवाले बुद्धिमान् मानव आहिंसा भगवती की आज्ञा को प्राप्त होकर और इन्द्रियों के विषय को जीतकर संसार में रहते हैं, ये जगज्जेता और सर्वात्मिप्रय होते हैं।। २७।।

स्वस्वान्तेन्द्रियनिग्रहैकिविभवो याद्यभवेच्छ्वीर्यते – स्ताद्दक् सम्भवतादिष स्वमनसः सम्पत्तये भृपतेः। राज्ञः केवलमात्मनीनविषयादन्यत्र न स्याद् रसः योगीन्द्रस्य समन्ततोऽषि तु पुनर्भेदोऽयमेताद्दशः॥२८॥

अपने साध्य की सिद्धि के लिए जिस प्रकार एक साधु को अपने मन और इन्द्रियों का निग्रह करना आवश्यक होता है, वैसा ही निग्रह राजा को भी अपनी राज्य-सम्पत्ति के संरक्षण करने के लिए भी आवश्यक है। किन्तु दोनों की साधना में केवल यह भेद है कि राजा केवल अपने योग्य विषयों के सिवाय शेष अन्य विषयों में रस नहीं लेता है और योगिराज के सभी विषयों में रस नहीं रहता है, अर्थान् वे इन्द्रिय और मनके सर्व विषयों से उदासीन हो जाते हैं। २५॥

अतएव कियत्याः स राजा भूमेर्भवेत्पतिः । विश्वस्य किन्तु साम्राज्यमधिगच्छति योगिराट् ॥२९॥ अतएव राजा तो कुछ सीमित भूमि का ही स्वामी वनता है, किन्तु योगिराज विश्व भर के साम्राज्य का स्वामी वन जाता है।।२६॥

खड्गेनायसनिर्मितेन न हतो बज्जेण वै हत्यते तस्मान्त्रिर्जनते नराय च विपदे वेन ते तत्यते। दैवां किन्तु निहत्य यो विजयते तस्यात्र संहारकः

कः स्यादित्यनुशासनाद्विजयतां वीरेषु वीरः सकः ॥३०॥

जो मनुष्य छोहे से बनी खड्ग से नहीं मारा जा सकता, वह वज्र से निश्चयतः मारा जाता है। जो वज्र से भी नहीं मारा जा सकता, वह देव से अवश्य मारा जाता है, किन्तु जो महापुरुष देव को भी मारकर विजय प्राप्त करता है, उसका संहार करने वाला फिर इस संसार में कौन है ? वह वीरों का वीर महावीर ही इस संसार में सर्वेत्तम विजेता है, और वह सदा विजयशील बना रहे॥ ३०॥

श्रीमान् श्रेष्ठि चतुर्भु जः म सुषुवे भूरामलेत्याह्नयं वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् । श्रोक्तोन च पोक्तोडशोऽयमधुना सर्गः समाप्तिं गतः वीरोपज्ञविहिंसनस्य कथनप्रायोऽति संक्षेपतः ॥१६॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भ जजी और घृतवरी देवी से उत्तन्न हुए वाणीभूषण, बाल-ब्रह्मचारी पं० भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर विरचित वीरोद्य में श्री वीर भगवान् द्वारा उपदिष्ठ ऋहिंसा धर्म का संदोप से वर्णन करने वाला सोलहवां सर्ग समाप्त हुआ। १६॥



## अथ सप्तदशः सर्गः

अज्ञोऽपि विज्ञो नृपतिश्च द्तः गजोऽप्यजो वा जगित प्रमृतः । अस्यां धरायां भवतोऽधिकारस्तावान् परस्यापि भवेन्नुसार ॥१॥

हे पुरुषोत्तम, इस भूतल पर जो भी उत्पन्न हुआ है, वह चाहे मूर्ख हो या विद्वान, राजा हो या दास, गज हो या अज, (बकरा); इस पृथ्वी पर जितना आपका अधिकार है, उतना ही दूसरे का भी अधिकार है, ऐसा विचार करना चाहिए ॥ १॥

पूर्विक्षयो चौरतयाऽतिनिनदाः स एव पश्चान्जगतोऽभिवन्दाः। यो नाभ्यवाञ्छत्कुलयोषितं स वेश्यायुगासीनमहतां वतंसः॥२॥

संसार के खरूप का विचार करो, जो विद्युचर अपने जीवन के पूर्व समय में चोर रूप से अति निंद्य था, वही पीछे जगन् का वन्दनीय महापुरुष बन गया। और जो महापुरुषों का शिरोमणि चारुदत्त सेठ अपनी विवाहिता कुळ खी के सेवन की भी इच्छा नहीं करता था, वही पीछे वेश्यासेवी हो गया। कसी विचित्रता है। २॥

गुणो न कस्य स्वविधौ प्रतीतः स्ट्या न कार्यं खलु कर्तरीतः । ततोऽन्यथा व्यर्थमशेषमेतद्वस्तूत नस्तुच्छतया सुचेतः ॥३॥

हे सुचेतः (समझदार), यह तुच्छ है और वह महान है, ऐसा सोचना न्यर्थ है, क्योंकि अपने अपने कार्य में किसका गुण प्रतीत नहीं होता। देखो, केंची से सुई छोटी है, पर सुई का कार्य केंची से नहीं हो सकता। इससिए छोटे श्रीर बड़े की कल्पना करना ज्यर्थ है।। ३।।

स्वयुत्तमं सम्प्रति मन्यमानोऽन्यं न्यकरोतीति विवेकमानो । तवेयमात्मंभरिता हि रोगं-करी भवेग्रस्य न कोऽपि योगः ॥॥॥

हे विवेक-सूर्य आत्मन्, इस समय तू अपने आपको उत्तम मानता हुआ दूसरे को तुच्छ समझ कर उसका तिरस्कार करता है, यही तो तेरी सब से बड़ी स्वार्थपरता है और यही तेरे उस भव-रोग को उत्पन्न करने वाळी है, जिसका कि कोई इलाज नहीं है ॥ ४॥

भावार्थ —स्वार्थी मनोवृत्ति से ही तो मनुष्य पतित बनता है स्र्यौर उसे छोड़ देने पर ही मनुष्य का उद्धार होता है, इसिंछए हे स्रात्मन्, यदि तू स्रापना उद्धार चाहता है, तो स्रपनी स्वार्थपरा-यणता को छोड़ दे।

सम्मानयत्यन्यसतस्तु वर्तिं सैवाधुना मानवतां विभर्ति । स केन दृश्योऽस्तु न पश्यतीति परानिदानीं समवायरीतिः ॥४॥

जो दूसरे सज्जन पुरुष की बात का सन्मान करता है, उसकी छोटी सी भी भछी बात को बड़ी समझता है, वही आज वास्तव में मनुष्यता को धारण करता है। जो औरों को तुच्छ समझता है, उनकी और देखता भी नहीं है, स्वयं अहंकार में मन्न रहता है, क्या उसे भी कोई देखता है ? नहीं। क्योंकि वह छोगों की दृष्टि से गिर जाता है। अतएव दूमरे का सन्मान करना ही आत्म-उत्थान का मार्ग है। ४।।

मनुष्यता द्यात्महितानुवृत्तिर्न केवलं स्वस्य सुखे प्रवृत्तिः। आत्मा यथा स्वस्य तथा परस्य विश्वैकसम्बादविधिर्नरस्य ॥६॥ श्रात्म-हित के श्रनुकूल श्राचरण का नाम ही मनुष्यता है, केवल श्राप्ते सुख में प्रवृत्ति का नाम मनुष्यता नहीं है। जैसा श्रात्मा श्रप्पना समझते हो, वैसा ही दूसरे का भी समझना चाहिए। श्रदा विश्व भर के प्राणियों के लिए हितकारक प्रवृत्ति करना ही मनुष्य का धर्म है, श्रोरों के सुख में करटक बनना महान् श्रधमें है। ६॥

भावार्थ — तुम जैसा व्यवहार श्रपने लिए चाहते हो, वैसा ही व्यवहार दूसरों के साथ करो।

पापं विमुच्येव भवेत्पुनीतः स्वर्णं च किट्टप्रतिपाति हीतः । पापाद् घृणा किन्तु न पापिवर्गीनमनुष्यतैवां प्रभवेन्त्रिसर्गीत् ॥७॥

पाप को छोड़कर ही मनुष्य पिवत्र कहला सकता है। (केवल उच्च कुल में जन्म ले लेने से ही कोई पिवत्र नहीं हो जाता।) कीट-कालिमा से विमुक्त होने पर ही सुवर्ण सम्माननीय होता है, (कीट-कालिमादि युक्त सुवर्ण सम्मान नहीं पाता।) इसलिए पाप से घृणा करना चाहिए, किन्तु पापियों से नहीं। मनुष्यता स्वभाव से ही यह सन्देश देती है।। ७॥

वृद्धानुपेयादनुवृत्तवुद्धचाऽनुजान् समं स्वेन वहेत्त्रिशुद्धया । कमण्युपेयात्र कदाचनान्यं मनुष्यतामेविमयाद्वदान्यः । ८॥

अतएव बुद्धिमानों को चाहिए कि अपने से बड़े बृद्ध जनों के साथ अनुकूल आचरण करें, अपने से छोटों को अपने समान तन-मन-धन से सहायता पहुँचावें, किसी भी मनुष्य को दूसरा न समझें। सभी को अपना कुटुम्ब मानकर उनके साथ उत्तम व्यवहार करें। इस प्रकार उदार मनुष्य सची मानवता को प्राप्त करें।। 5 ॥

प्रोद्धाटयेन्नैव परस्य दोषं स्ववृत्तितोऽपीह परस्य पोषम् । कुर्वात मर्त्यत्विमयात्सजोषं गुणं सदैवानुसरेदरोपम् ॥९॥

दूसरे के दोष को कभी भी प्रकट न करे, उसके विषय में मौन धारण करे, अपनी वृत्ति से दूसरे का पालन-पोषण करे, दूसरे के गुणों का ईर्ब्या-रोषादि से रहित होकर अनुसरण करे और इस प्रकार सची मनुष्यता को प्राप्त होवे ॥ ६॥

नरो न रौतीति विपन्निपाते नोत्सेकमेत्यभ्युद्येऽपि जाते। न्याच्यात्पथो नैवमथावसन्नः कर्त्तव्यमञ्चेत्सततं प्रसन्नः ॥१०॥

मनुष्य को चाहिए कि वह विपत्ति के आने पर हाय हाय न करे, न्यायोचित मार्ग से कभी च्युत न होवे और सदा प्रसन्न रहकर अपना कर्ताव्य पालन करे ॥ १०॥

स्वार्थाच्च्युतिः स्वस्य विनाशनाय परार्थतश्चेदपसम्प्रदायः। स्वत्वं समालम्ब्य परोपकारान्मनुष्यताऽसौ परमार्थसारा ॥११॥

स्वार्थ से श्रष्ट होना अपने ही विनाश का कारण है और परार्थ (परोपकार) से च्युत होना यह सम्प्रदाय के विरुद्ध है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि अपने स्वार्थ को संभालते हुए दूसरे का उपकार अवश्य करे। यही परमार्थ के सारभूत मनुष्यता है।। ११।।

समाश्रिता मानवताऽस्तु तेन समाश्रिता मानवतास्तु तेन । पूज्येष्वथाऽमानवता जनेन सम्रत्थसामा नवताऽऽप्यनेन ॥१२॥

जिस पुरुष ने मानवता का आश्रय लिया, अर्थात् सत्कार

किया, उसने मानवता का आद्र किया। तथा जिसने पूज्य पुरुषों में अभिमान-रहित होकर व्यवहार किया उसने वास्तविक मानवता को प्राप्त किया॥ १२॥

भावार्थ — पूज्य पुरुषों में मान-रहित विनम्न होकर, सर्व साधा-रण जनों में समान भाव रखता हुआ सत्य-मार्ग को अपनाने वाला उत्तम पुरुष ही सदा मानवता के आदर्श को प्राप्त होता है।

विपन्निशेवाऽनुमिता अवीतः सम्पत्तिभावो दिनवत्पुनीतः । सन्ध्येव भाषाद् रुचिरा नृता तु द्वयोरुपात्तप्रणयप्रमातुः ॥१३॥

संसार में मनुष्य की सम्पत्ति का प्राप्त होना दिन के समान पुनीत (श्रानन्द-जनक) है, इसी प्रकार विपत्ति का श्राना भी रात्रि के समान श्रनुमीत (श्रवश्यम्भावी) है। इन दोनों के मंध्य में मध्य-स्य रूप से उपस्थित एवं स्तेहभाव को प्राप्त होने वाले महानुभाव के मनुष्यता सन्ध्याकाल के समान रुचिकर (मनोहर) प्रतीत होना चाहिए।। १३॥

एवं समुत्थान-निपात पूर्णे धरातले ऽस्मिन् शतरजतूर्णे । भवेत्कदा कः खलु वाजियोग्यः प्रवक्तु मीशो भवतीति नो ऽज्ञः।।

इस प्रकार उत्थान और पतन से परिपूर्ण, शतरंज के खेल के समान इस धरातल पर हम लोगों में से कब कौन मनुष्य बाजी मार जाय, इस बात को कहने के लिए यह ऋज प्राणी समर्थ नहीं है ॥१४॥

किमत्र नाज्ञोऽश्वति विद्विधानं विज्ञोऽपि विक्षेपमिति प्रथा नः। संशोधयेपुर्मद्मत्सरादीखना निजीयात्र परोऽत्र वादी ॥१४॥ क्या इस संसार में अज्ञानी पुरुष विद्वता को प्राप्त नहीं होता है और क्या विद्वान भी विद्येप-(पागल-) पने को प्राप्त नहीं होता है १ (जब संसार की ऐसी दशा है, तब भाग्योदय से प्राप्त विद्वता आदि का मनुष्य को अहंकार नहीं करना चाहिए) किन्तु मनुष्यों को अपने मद, मत्सर आदि दुर्भावों का संशोधन करना चाहिए। महान् पुरुष बनने का यही निर्विवाद मार्ग है, अन्य नहीं ॥ १४॥

भर्ता ऽहमित्येष वृथा ऽभिमानस्ते भयो विना ते च कतो ऽथ शानः। जलौकसामाश्रयणं निपानमे भयो विना ऽमुख्य च शुद्धता न ॥१६॥

एक राजा या स्वामी को छक्ष्य में रख कर किव कहते हैं कि है भाई, जो त्यह अभिमान करता है कि मैं इन अधीनस्थ लोगों का भरण-पोषण करने वाला हूँ, इन सेवकों का स्वामी हूँ, सो यह तेरा अभिमान व्यर्थ है; क्योंकि उन आश्रित जनों या सेवकों के विना तेरी यह ज्ञान कहां संभव है ? देखों, मछलियों का आश्रयदाता सरोवर है, किन्तु उनके विना सरोवर के जल की शुद्धता संभव नहीं है, क्योंकि वे मछलियां ही सरोवर की गन्दगी को खाकर जल को स्वच्छ रखती हैं ॥ १६॥

को नाम जातेश्व कुलस्य गर्वः सर्वः स्वजात्या प्रतिभात्यस्र्वः । विप्रोऽपि चेन्मांसभुगस्ति निन्यः सद्-वृत्तभावाद् वृषलोऽपि वन्वः१७

जाति का, या कुछ का गर्व करना कँसा ? सभी मनुष्य अपनी जाति में अपने को बड़ा मानते हैं। मांस को खाने वाला बाह्मण निंच है और सदाचारी होने से शूद्र भी वंच है।। १७॥

भावार्थ — जो छोग उच जाति या कुछ में जन्म लेने मात्र से ही अपने को उच मानते हैं, किन्तु काम नीच पुरुषों जसे करते हैं, उन्हें

कभी उच्च नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार भाग्यवश जो श्रुद्राद्दि के कुछ में भी उत्पन्न हुआ है, किन्तु कार्य उच्च करता है, तो उसे नीच भी नहीं कहा जा सकता। कहने का सार यह है कि सदाचरण से मनुष्य उच्च और असदाचरण से मनुष्य नीच कहलाने के योग्य है।

विवाहितो आतृजयाङ्गभाजा सम्माननीयो वसुदेवराजः । नारायणो नाम जगत्प्रसिद्धस्तस्यास्तन्जः समभृत्समिद्धः ॥१८॥

देखो, प्राणियों में सम्माननीय वसुदेव राजा ने ऋपने भाई उप्रसंत की छड़की देवकी से विवाह किया और उसके उदर से जगत् प्रसिद्ध ऋौर गुण-समृद्ध श्रीकृष्ण नाम के नारायण का जन्म हुआ। १८॥

वेश्यासुता आतृविवाहितापि भद्राधुना यत्र तयाऽऽर्यताऽऽपि । संसार एषोऽस्ति विगर्हणीयः भ्याद्भवाद्याम स वर्हणीयः ॥१९॥

वेश्या की लड़की अपने समें भाई के द्वारा विवाही गई और अन्त में वह आर्थिका बनी। यह संसार ऐसा ही निन्दनीय है, जहां पर कि लोगों के परस्पर में बड़े विचित्र सम्बन्ध होते रहते हैं। इसलिये संसार से विरक्ति ही सारभूत है।। १६॥

भावार्थ - किन ने इस ऋोक-द्वारा ऋठारह नाते की कथा की स्त्रोर संकेत करके संसार के सम्बन्धों पर ऋपनी ग्लानि प्रकट की है।

आराधनायां यदि कार्त्तिकेयः पित्रा सुतातोऽजनि भृतले यः। स चेदिहाचार्यपदप्रतिष्ठः कोऽथो न हि स्याज्जगदेकनिष्ठः॥२०

आराधना कथाकोश में वर्णित कथा के अनुसार कार्त्तिकेय स्वामी इसी भूतल पर पिता के द्वारा पुत्री से उत्पन्न हुए और उन्होंने ही यहां पर आचार्य पद की प्रतिष्ठा प्राप्त की। यह घटना देखकर जगत् एकनिष्ठ क्यों नहीं होगा ?।। २०।।

आलोचनीयः शिवनाम भर्ता व्यासोऽपि वेदस्य समध्टिकर्ता।
किमत्र दिक् तेन तन्भृतेति यः कोऽपि जातेरभिमानमेति॥२१॥

शिव नाम से प्रसिद्ध रुद्र की और वेद के सप्रहकर्ता पाएडवों के दादा व्यास ऋषि की उत्पत्ति भी विचारणीय है। ऐसी दशा में जो कोई पुरुष जाति के ऋभिमान को प्राप्त होता है, उस मनुष्य के साथ बात करने में क्या तथ्य है ?।। २१॥

सर्वोऽिप चेद् ज्ञानगुणप्रशस्तिः को वस्तुतोऽनादरभाक समस्ति। यतोऽतिगः कोऽिप जनोऽनणीयान् पापप्रवृत्तिः खलु गर्हणीया॥२२

यदि सभी प्राणी ज्ञान गुण से संयुक्त हैं, तब वस्तुतः अनादर के योग्य कौन रहता है ? अर्थात् कोई भी नहीं। हां, पापों में प्रवृत्ति करना अवश्य निन्दनीय है, जो कोई मनुष्य उससे दूर रहता है, वही महान् कहा जाता है।। २२।।

सत्यानुकूलं मतमात्मनीनं कृत्वा समन्ताद् विचरन्नदीनः । पापादपेतं विद्धीत चित्तं समस्ति कीचाय तदेकवित्तम् ॥२३॥

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि अपने मत (विश्वास) को सर्व प्रकार से सत्य के अनुकूल हड़ बना कर दीनता-रहित हो निर्भय विचरण करता हुआ अपने चित्त को पाप से रहित करे। बस, यही एक उपाय पवित्र या शुद्ध होने के लिए कहा गया है।। २३॥ पराधिकारे त्वयनं यथाऽऽपिन्नजाधिकाराच्च्यवनं च पापम् । अमान वं कर्म दुरन्तकुन्तिन् संक्षेपतः शास्त्रविदो वदन्ति ॥२४॥

पाप-विनाश के लिए भाले के समान हे भव्या शास्त्रकारों ने पाप को संक्षेप से तीन प्रकार का कहा है—पहिला पराये अधिकार में जाना, अर्थात् अनधिकार चेष्टा करना, दूसरा अपने अधिकार से च्युत होना और तीसरा विश्वासवात आदि अमानवीय कार्य करना। २४।।

वंश्योऽहमित्यायभिमानभावात्तिरस्करोत्यन्यमनेकथा वा । धर्मो वदेत केवलिन हि सर्व न धर्मवित्सोऽस्ति यतो ह्यसर्वः॥२४

मैं उच्च वंश में उत्पन्न हुआ हूँ, इस प्रकार के अभिमान से जो दूसरे का नाना प्रकार से तिरस्कार करता है, वह धर्म का स्वरूप नहीं जानता है, क्योंकि जैनधर्म तो सभी प्राणियों को केवलज्ञान की शक्ति से सम्पन्न कहता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह गर्व से रहित वने और अभिमान से कभी किसी का तिरस्कार न करे।। २४॥

वंशश्च जातिर्जन धरय मातुः प्रसङ्गतः केवलमाविभ तयोः किया कि पुनरेकरूपा विचार्यतामत्र विवेकमृपाः । १२६॥

पिता के पक्ष को वंश (कुछ) कहते हैं और माता के पक्ष को जाति कहते हैं, इस विषय में सब एक मत हैं। यदि माता और पिता के प्रसंग से ही केवछ जाति और कुछ की व्यवस्था मानी जाय, तो हे विवेकवान् पुरुषो, इस विषय में विचार करो कि माता-पिता इन दोनों की क्रिया क्या सर्वथा एक रूप रहती है ?।। २६।!

वतुष्पदेषूत खगेष्वगेषु वदन्नहो क्षत्रियताद्यमेषु । विकल्पनामेव दधत्तदादिमसौ निराधार वचोऽभिवादी ॥२७॥

आश्चर्य है कि कितने ही छोग मनुष्यों के समान गाय, मैंस आदि चौपायों में, पिक्षयों में और वृक्षों में भी श्लित्रय आदि वर्णों की कल्पना करते हैं, किन्तु वे निराधार वचन बोछने वाले हैं; क्योंकि 'श्लित्रयाः श्लातस्त्राणात्' अर्थात् जो दूसरे को आपत्ति से वह श्लित्रिय है, इत्यादि आर्ष वाक्यों का अर्थ उनमें घटित नहीं होता है।। २७।।

रङ्गप्रतिष्ठा यदि वर्णभङ्गी शौक्ल्येन विप्रत्विमयात् फिरङ्गी । शू द्रत्वतो नातिचरेच्च विष्णुर्नैकं गृहं चैकरुचेः सहिष्णुः ॥२८॥

कुछ लोगों का कहना है कि वर्ण-त्यवस्था वर्ण अर्थात् रूप-रंग के आश्रित है, शुक्छ वर्ण वाले ब्राह्मण, रक्तवर्ण वाले क्षत्रिय, पीतवर्ण वाले वैश्य और कृष्णवर्ण वाले शूद्र हैं। प्रन्थकार उन लोगों को लक्ष्य करके कहते हैं कि यदि वर्णत्र्यवस्था रंग पर प्रतिष्ठित है, तो फिर फिरंगी (अंग्रेज) लोगों को ब्राह्मणपना प्राप्त होगा, क्योंकि वे रवेतवर्ण वाले हैं। तथा काले वर्ण वाले श्री कृष्ण नारायण शूद्रपने का अतिक्रमण नहीं कर सकेंगे, अर्थात् वे शूद्र कहे जावेंगे। इसके अति-रिक्त ऐसा एक भी घर नहीं बचेगा जिसमें अनेक वर्ण के लोग न हों। अर्थात् एक ही मां-बाप की सन्तान गौरी-काली आदि अनेक वर्ण वाली देखी जाती है, तो उन्हों भी आपकी व्यवस्थानुसार भिन्न-मिन्न वर्ण का मानना पड़ेगा।। २५।।

दशास्य-निर्मीषणयोश्च किन्नाप्येकाम्बयोरप्युत चिद्विभिन्ना । न जातु जातेरुदितो विशेष आचार एवाम्युद्यप्रदेशः ॥२९॥ देखो—एक माता के उदर से उत्पन्न हुए दशानन (रावण) और विभीषण में परस्पर कितना अन्तर था ? रावण रामचन्द्र का वेरी, कर और काला था। किन्तु उसी का सगा भाई विभीषण राम का स्तेही, शान्त और गोरा था। एक ही जाति और कुल में जन्म लेने पर भी दोनों में महान् अन्तर था। अतएव जाति या कुल को मनुष्य की उन्नति या अवनति में साधक या बाधक बताना भूल है। जाति या कुल विशेष में जन्म लेने मात्र से ही कोई विशेषता कभी भी नहीं कही गई है। किन्तु मनुष्य का आचरण ही उसके अभ्युद्य का कारण है। २६।।

आखुः प्रवृत्तौ न कदापि तुल्यः पश्चाननेनानुशयैकमूल्यः। तथा मनुष्येषु न भाति भेदः मूलेऽथ तूलेन किमस्तु खेदः॥३०

यदि कहा जाय कि मूषक शूरवीरता की प्रवृत्ति करने पर भी सिंह के साथ कभी भी समानता के मूल्य को नहीं प्राप्त हो सकता, इसी प्रकार शूद्र मनुष्य कितना ही उच्च आचरण करे, किन्तु वह कभी बाह्यणादि उच्चवर्ण वालों की समता नहीं पा सकता, सो यह कहना भी व्यर्थ हैं; क्योंकि मूषक और सिंह में तो मूल में ही प्राक्तिक भेद हैं किन्तु ऐसा प्राकृतिक भेद शूद्र और ब्राह्मण मनुष्य में हिष्टिगोचर नहीं होता। अत्यव जातिवाद को तूल देकर व्यर्थ खेद या परिश्रम करने से क्या लाभ है।। ३०।।

भावार्थ: — जैसा प्राकृतिक जातिभेद चूहे और सिंह में देखा जाता है वैसा ग्रूड और ब्राह्मणादि मनुष्यों में नहीं। यही कारण है कि इतिहास और पुराणों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि उच्च कुळ या जाति में जन्म जेने पर भी बक राजा जैसे पतित हुए और ग्रूडक राजा जैसे उत्तम पुरुष सिद्ध हुए हैं।

अनेक जाति वाले पहले जो क्षत्रिय थे, आज वैश्य और शुद्र माने जा रहे हैं। इसिटिए जातिवाद को सहस्व देना व्यर्थ है। उच्च आच-रण का ही सहस्त्र है और उसे करने वाला ऊंच और नहीं करने वाले को नीच जाति का सानना चाहिए।

मुताभुजः किश्व नराशिनो ऽपि न जनम किं क्षात्रकुले ऽथ को ऽपि। मिल्लाङ्गजश्चेत् समभृतकृतज्ञः गुरो ऋ णीत्थं विचरेदपिजः ॥३१

इतिहास में ऐसे भी अनेक कथानक दृष्टिगोचर होते हैं जो कि श्रित्रिय कुळ में जन्म लेकर भी अपनी पुत्री के साथ विषयसेवन करने और मनुष्य तक का मांस खाने वाले हुए हैं। इसी प्रकार भीळ जाति में उत्पन्न हुआ शूद्र पुरुष भी गुरुभक्त, कृतज्ञ और वाण-विद्या का वेत्ता दृष्टि-गोचर होता है।। ३१।।

प्रयुम्तवृत्ते गदितं भविनः शुनी च चाण्डाल उवाह किन्न। अण्वादिकद्वादशसद्वतानि उपासकोक्तानि शुभानि तानि।।३२॥

हे संसारी प्राणी, प्रशुम्तचरित में कहा है कि कुत्ती ने और चारखाल ने मुनिराज से श्रावकों के लिए बतलाये गये असुव्रतादि बारह ब्रतों को धारण किया और उनका भली-भांति पालन कर सद्गति प्राप्त की है।। ३२।।

सुद्गेषु कङ्कोडकमीक्षमाणः मणि तु पाषाणकगेव्वकाणः। जातीयतायाः स्मयमित्थमेति दुराग्रहः कोऽपि तमासुदेति ॥३३

मूंग के दानों में घोरडू (नहीं सीझने वाला) मूंग को और पाषाण-कणों में दीरा आदि मणि को देखने वाला भी बहुष्मान

पुरुष जातीयता के इस प्रकार ऋभिमान को करता है, तो यह उसका कोई दुराग्रह ही समझना चाहिए॥ ३३॥

यत्राप्यहो लोचनमैमि वंशे तत्रैव तन्मौक्तिकमित्यशंसे। श्रीदेवकी यत्तनुजापिद्ने कंसे भवत्युग्रमहीपस्ने ॥१३४॥

जिस वांस में वंशलोचन उत्पन्न होता है, उसी वांस में मोती भी उत्पन्न होता है। देखों, जिस उन्नसेन महाराज के श्री देवनी जैसी सुशील लड़की पैदा हुई, उसी के कंस जैसा करूर पुत्र भी पैदा हुआ।। ३४॥

जनोऽखिलो जन्मनि शूद्र एव यतेत विद्वान् गुणसंग्रहे वः। भो सज्जना विज्ञतगज्ञ एवमज्ञाङ्गजो यत्नवशाज्ज्ञदेवः॥३४॥

हे सजानो, देखो—जन्म-समय में सर्व जन शृद्ध ही उत्पन्न होते हैं; (क्योंकि उस समय वह उत्पन्न होने वाला बालक और उसकी माता दोनों ही अस्पृश्य रहते हैं, पीछे स्नानादि कराकर नाम-करण आदि संस्कार किया जाता है, तब वह शुद्ध समझा जाता है।) विद्वान् पुरुष का लड़का भी आब देखा जाता है और अबानी पुरुष का लड़का विद्वान् देखा जाता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह जातीयता का अभिमान न करके गुणों के उपार्जन में प्रयत्न करे।। ३४॥

चुल्लिकात्वमगाधत्र देवकी धीवरीचरे । पामरो मुनितां जन्मन्योदार्थं बीक्ष्यतां च रे ।।३६॥

श्रीकृष्ण की माता देवकी ने अपने पूर्व जन्म में धीवरी के भव

में चुल्लिका के ब्रत धारण किये थे और पद्मपुराण में वर्णित अग्नि-भूति वायुभूति की पूर्व भव की कथा में एक दीन पामर किसान ने भी मुनि दीक्षा ब्रहण की थी। हे भाई, जैनधर्म की इस उदारता को देखो।। दे६।।

विमलाङ्गजः सुदृष्टिचरोऽपि व्यभिचारिण्या जनुर्घरोऽपि। पर्यतोहरोऽपि सुनितामाप जातेरत्र न जात्वपि शापः।।३७॥

सुदृष्टि सुनार का जीव अपनी व्यभिचारिणी स्त्री विमला के ही उदर से उत्पन्न हुआ, पीछे मुनि बनकर मोक्ष गया । उसके मोक्ष में जाने के लिए जाति का शाप कारण नहीं बना ॥ ३७॥

भावार्थ - श्राराधना कथाकोश में एक कथा है कि एक सुदृष्टि नाम का सुनार था। उसके कोई लड़का न था, इसलिए किसी अन्य जाति के लड़के को उसने काम सिखाने के लिए अपने पास रख लिया। कुछ समय बाद सुनार की खी उस लड़के के साथ कुक में करने लगी और अपने पति को अपने पाप में बाधक देखकर उसने उस लड़के से उसे मरवा दिया। वह सुनार मर कर अपनी इसी व्यभिचारिणी खी के गर्भ से उत्पन्न हुआ और अन्त में मुनि बन कर मोक्ष गया। इस कथानक से तो जातीयता का कोई मूल्य नहीं रह जाता है। कथा अन्थों में इस प्रकार के और भी कितने ही उदाहरण देखने में आते हैं।

नर्तक्यां मुनिरुत्पाय सुतं कुम्भकारिणीतः पुनरतु तम्। राजसुतायामुत्पाय ततः शुद्धिमेत्य तैः सह मुक्तिमितः ॥३८॥

हरिषेणकथाकोश में राज मुनि की कथा है, तदनुसार उन राजमुनि ने पहिले एक नर्तकी के साथ व्यभिचार किया और उससे

१ देखो-वृहत्कथा कोष कथाञ्क १५३। पृष्ठ ३४६।

एक पुत्र उत्पन्न हुआ। पुतः एक कुम्भार की पुत्री के साथ व्यभिचार किया और उससे भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ। पुतः एक राजपुत्री से व्यभिचार किया और उससे भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ। पीछे वह इन तीनों ही पुत्रों के साथ प्रायश्चित्त लेकर मुनि बन गया और अन्त में वे चारों ही तपश्चरण करके मोक्ष गये ।। ३८।।

## हरिषेणरचितवृहदाख्याने यमपाशं चाण्डालं जाने । राज्ञा ऽर्धराजदानपूर्वकं दत्वा ऽ ऽत्मसुतां पूजितं तकम् ॥३९॥

उसी हरिषेण-रचित बृहत्कथाकोश में एक और कथानक है कि अहिंसा धर्म को पालन करने के उपलक्ष्य में यमपाश चारडाल को राजा ने अपने आधे राज्य के दान-पूर्वक अपनी लड़की उसे विवाह दी और उसकी पूजा की रा। ३६॥

धर्मे ऽथात्मविकासे नैकस्पैवास्ति नियतमधिकारः । यो ऽनुष्ठातुं यतते सम्भान्यतमस्तु स उदारः ॥४०॥

सर्व कथन का सार यह है कि धर्म-धारण करने में, या आत्म-विकास करने में किसी एक व्यक्ति या जाति का अधिकार नहीं है। जो कोई धर्म के अनुष्ठान के छिए यत्न करता है, वह उदार मनुष्य संसार में सबका आदरणीय बन जाता है।। ४०।।

तुल्यावस्था न सर्वेषां किन्तु सर्वेऽपि भागिनः । सन्ति तस्या अवस्थायाः सेवामो यां वयं अवि ॥४१॥

यग्रिप वर्तमान में सर्व जीवों की अवस्था एक सी समान नहीं है-हमारी अवस्था कुछ और है, दूसरे की कुछ और। किन्तु आज

१ देखो-चृहत्कथा कीय कथांक ९८। पृष्ठ २३८।

२ देखो- बृहत्कथा कोष कथांक ७४। पृष्ठ १७८।

हम संसार में जिस अवस्था को धारण कर रहे हैं, उम अवस्था को भविष्य में दूसरे लोग भी धारण कर सकते हैं और जिस अवस्था को आज दूसरे लोग प्राप्त हैं, उसे कल हम भी प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि कर्म के उदय से जीव की दशा कभी एक सी नहीं रह पाती, हमेशा परिवर्तन होता रहता है, इसलिए मनुष्य को अपनी वर्तमान उच्च जाति या कुलादि का कभी गर्व नहीं करना चाहिए॥ ४१॥

अहो जरासन्धकरोत्तरैः शरैष्ठ रारिरासीत्स्वयमक्षतो वरैः। जरत्कुमारस्य च कीलकेन वा सृतः किमित्यत्र बलस्य संस्तवाः॥४२

जिस प्रकार जाति का अभिमान करना व्यर्थ है, उसी प्रकार बल का गवं करना भी व्यर्थ है। देखो—जरासन्ध के हाथों से चलाये गये उन महाबाणों से श्रीकृष्ण स्वयं अक्षत शरीर रहे, उनके शरीर का बाल भी बांका नहीं हो सका। वे ही श्रीकृष्ण जरत्कुमार के एक साधारण से भी बाण से मरण को प्राप्त हो गये। अतएव बल का गर्व करना क्या महत्त्व रखता है।। ४२।।

अर्हत्त्वाय न शक्तोऽभृत्तपस्यन्तिष दोर्बिलः। चक्रिणा क्षण एवाऽऽप्तं किन्तु वाच्यमतः परम् ॥४३॥

बाहुबली दीर्घकाल तक तपश्चरण करते हुए जिस अर्हन्त पद को पाने में शीव्र समर्थ नहीं हो सके, उसी अर्हन्त पद को भरत चकी ने क्षण भर में ही प्राप्त कर लिया। इससे अधिक और क्या कहा जाय ? तपस्या का मद करना भी व्यर्थ है। ४३॥

> नो चेत्परोपकाराय सम्रप्तं गुप्तमेव तु । धनं च निधनं भृत्वाऽऽपदे सद्भिर्निवेधते ॥४४॥

पूर्व पुरुषोदय से प्राप्त धन यदि परोपकार में नहीं लगाया गया और उसे भूमि में गाड़कर अत्यन्त गुप्त भी रखा गया, तो एक दिन वह धन तो नष्ट होगा ही, साथ में अपने स्वामी को भी आपित के लिए होगा और उसके प्राणों का भी विनाश करेगा, ऐसा सभी सन्त जन कहते हैं। और आज लोक में भी हम यही देख रहे हैं। अत्यव धन का मद करना भी व्यर्थ है। ४४।

इत्येवं प्रतिपद्य यः स्वहृदयादीष्पीमदादीन् हरन् हर्षामर्षनिमित्तयोः सममतिर्निद्ध न्द्रभावं चरन् । स्वात्मानं जयतीत्यहो जिन् इयन्नाम्ना समाख्यायते तत्कर्ताव्यविधिर्हि जैन इति वाक् धर्मः प्रसारे क्षितेः ॥४४॥

इस प्रकार जाति, कुछ ख्रौर धनादिक को निःसार समझ कर जो मनुष्य ख्रपने हृदय से ईर्ष्या, ख्रहंकार ख्रादि को दूर कर खाँर हर्ष या क्रोध के निमित्तों में समान बुद्धि रहकर निर्द्धन्द्ध भाव से विचरता हुखा ख्रपनी खात्मा को जीतता है, वह संसार में 'जिन' इस नाम से कहा जाता है। उस जिनके द्वारा प्रतिपादित करींव्य-विधान को ही 'जैनधर्म' इस नाम से कहते हैं।। ४४।।

पिता पुत्रश्चायं भवति गृहिणः किन्तु न यते—
स्तथैवायं विप्रो विणिगिति च बुद्धिं स लभते।
य आसीन्नीतिज्ञोऽभ्युचितपरिवाराय मतिमान्।
प्रभो गीतिज्ञः स्यानु विकलविकल्पप्रगतिमान्।।।१६॥

यह पिता है और यह पुत्र है, इस प्रकार का व्यवहार गृहस्य का है, साधु का नहीं। इसी प्रकार यह बाह्मण है और यह बैश्य हैं। इस प्रकार की भेद-बुद्धि को भी स्त्रीकृत परिवार के व्यवहार के लिए बही नीतिज्ञ बुद्धिमान् गृहस्थ करता है। किन्तु जो घर-त्रार छोड़कर त्याग मार्ग को अंगीकार कर रहा है, ऐसा जिन प्रभु की रीति का जानने वाला साधु इन सब विकल्प-जालों से दूर रहता हुआ सम-भाव को धारण करता है।। ४६।।

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भे जः स सुषुवे युरामलेत्याह्नयं वाणीभ्षणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् । तेनास्मिन् रचिते सतीन्दुसमिते सर्गे समावर्णितं सर्वज्ञेन द्यावता भगवता यत्सास्यमादेशितम् ॥४७॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भु ज और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए, वाणीभूषण, वालब्रह्मचारी पं० भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर द्वारा विरचित इस वीरोदय काव्य में सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा उप-दिष्ट साम्यभाव का प्रतिपादन करने वाला यह सत्तरहवां सर्ग समाप्त हुआ।। १७॥

## अथ अध्यादशः सर्गः

हे नाथ केनाथ कृतार्थिनस्तु जना इति प्रार्थित आह वस्तु । सन्द्र्यते स्वस्य गुणक्रमेण कालस्य च प्रोब्लिखितअमेण ॥१॥

हे नाथ, संक्लेश से भरे हुए ये संसारी प्राणी किस उपाय से कृतार्थ हो सकते हैं अपयोन् संक्लेश से छूटकर सुखी केसे बन सकते

हैं ? गौतम स्वामी के ऐसा पूछने पर वीर भगवान ने कहा—प्रत्येक वस्तु अपने अपने गुण और पर्यायों के द्वारा सहज ही स्वयं परिण-मनशील है और बाह्य कारण काल की सहायता से यह परिवर्तन होता रहता है ॥ १॥

न कोऽपि लोके बलवान विभाति समस्ति चैका समयस्य जातिः। यतः सहायाद्भवतादभृतः परो न कश्चिद्भुवि कार्यदृतः।।२॥

यथार्थ में इस संसार का कोई कत्ती या नियन्ता ईश्वर नहीं है। एक मात्र समय (काल) की ही ऐसी जाति है, कि जिसकी सहा-यता से प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण नवीन नवीन पर्याय उत्पन्न होती रहती है और पूर्व पर्याय विनष्ट होती रहती है इसके सिवाय संसार में और कोई कार्यदूत ऋर्थात् कार्य कराने वाला नहीं है। २॥

रथाङ्गिनं बाहुबितः स एकः जिगाय पश्चात्तपर्सा श्रिये कः । तस्यैव साहाय्यमगात्स किन्तु क्षणेन लेमे महतां महीन्तु ॥३॥

श्रकेले बाहुबळी ने भरत चक्रवर्ती को जीत ळिया। पश्चात् वह तपस्त्री बन गये। घोर तपस्या करने पर भी जब केवळ ज्ञान प्राप्त नहीं हुन्त्रा तब वही भरत चक्रवर्ती बाहुबळी की सहायता को प्राप्त हुए। किन्तु उन्होंने स्वयं क्षण भात्र में महापुरुषों की भूमि श्राईन्य पद्वी को प्राप्त कर ळिया। यह सब समय का ही प्रभाव है। । ३।।

मृत्युं गतो हन्त जरत्कुमारेकवाणतो यो हि पुरा प्रहारैः । नातों जरासन्धमहीश्वरस्य किन्नाम मूर्ल्यं वलविकमस्य ।४॥

जो श्रीकृष्ण जरासन्ध त्रिखरखेरवर के महान् प्रहारों से भी

परास्त नहीं हुए, वे जरस्कुमार के एक वाण से ही मृत्यु को प्राप्त हो गये। यहां पर बल-विक्रम का क्या मृल्य रहा ? कुछ भी नहीं। यह सब समय की ही बलिहारी है।। ४।।

आतमा भवत्यातमित्रचारकेन्द्रः कतुः मनाङ् नान्यविधि किलेन्द्रः। कालप्रभावस्य परिस्तवस्तु यदन्यतोऽन्यत्प्रतिभाति वस्तु ॥४॥

यह आतमा अपने विचारों का केन्द्र बना हुआ है। रात-दिन नाना प्रकार के विचार किया करता है कि अब यह करूंगा, अब वह करूंगा। किन्तु पर की कुछ भी अन्यथा विधि करने के लिए यह समर्थ नहीं है। यह तो काल के प्रभाव की बात है कि वस्तु कुछ से कुछ और प्रतिभासित होने लगती है।। ४।।

इत्येकदेटक् समयो वभूव यतो जना अत्र सुपर्वभूवत् । निरामया वीतभयाः समान-भावेन भेजुर्निजजन्मतानम् ॥६॥

इस प्रकार काल-चक्र के परिवर्तन से यहां पर एक वार ऐसा समय उपस्थित हुआ जब कि यहां के सर्व लोग स्वर्गलोक के समान निरामय (नीरोग) निर्भय और समान रूप से अपने जीवन के आतन्द को भोगते थे। । ६।।

दाम्पत्यमेकं कुलमाश्रितानां पृथ्वीसुतैरर्पितसंविधानाः । सदा निरायासभवत्तयात्राध्यगादमीषां खलु जन्मयात्रा ॥॥॥

उस समय बालक ऋौर बालिका युगल ही उत्पन्न होते थे और वे ही परस्पर स्त्री-पुरुष बनकर दाम्पत्य जीवन व्यतीत करते थे। कल्पबृक्षों से उनको जीवन-वृत्ति प्राप्त होती थी। उनकी जीवन-यात्रा सदा सानन्द विना किसी परिश्रम या कष्ट के सम्पन्न होती थी।।॥। स्वर्गप्रयाणक्षण एव पुत्र-पुत्रयौ सम्रत्याय तकावमुत्र । सञ्जग्मतुर्दम्यतितामिहाऽऽरादेतौ पुनः सम्ब्रजतोऽभ्युदाराम् ॥८॥

उस समय के श्ली-पुरुष स्वर्ग जाने के समय ही पुत्र व्यीर पुत्री को उत्पन्न करके परलोक चले जाते थे ख्रीर ये पुत्र पुत्री दोनों बड़े होने पर पित-पत्नी बनकर उदार भोगों को भोगते रहते थे॥ ५॥

चतुर्गु णस्तत्र तदायसार एवं द्वितीयस्त्रिगुणप्रकारः । सत्याख्योः स्त्री-धवयोरिवेदं युगं समाप्तिं समगादखेद

उक्त प्रकार से इस अवसापिणी काल के आदि में युगल जन्म लेने वाले जीवों का चार कोड़ा-कोड़ी सागरोपम का प्रथम काल और तीन कोड़ा-कोड़ी सागरोपम का दूसरा काल था, जो कि सत्य युग के नाम से कहा जाता है। इस समय में उत्पन्न होने वाले स्त्री और पुरुष ईर्ज्या-द्रेष आदि से रहित सदा प्रसन्न चित्त रहते थे और कलपबृक्षों से प्रदत्त भोगोपभोगों को आनन्द से भोगते थे। समय के परिवर्तन के साथ यह युग समाप्त हुआ।। ६॥

त्रेता पुनः काल उपाजगाम यस्मिन् मनः संकुचितं वदामः । निवासिनामाप शनैस्ततस्त सङ्कोचसुर्वीतनयाख्यवस्तु ॥१०॥

पुनः त्रेतायुग नाम का काल आया, अर्थात् तीसरा काल प्रारंभ हुआ, जिसमें यहां के रहने वाले लोगों का मन धीरे-धीरे संकुचित होने लगा। इसके फलस्वरूप पृथ्वी के पुत्र कल्पवृक्षों ने भी फल देने में संकोच करना प्रारम्भ कर दिया॥ १०॥

ईर्ष्यामदस्वार्थपदस्य लेशमगादिदानीं जनसन्निवेशः । नियन्त्रितुं तान् मनवो बभुस्ते धरातलेऽस्मिन् समवाप्त दुस्थे ॥११ जब कल्पवृत्तों से फछादिक की प्राप्ति कम होने छगी, तब यहां के निवासी जनों में भी ईर्ष्या, मद, स्वार्थपरायणता आदि दोष जागृत होने छगे, तब उनका नियन्त्रण करने के छिए दुरवस्था को प्राप्त इस धरातछ पर कम से चौदह मनु उत्पन्न हुए, जिन्हें कि कुछकर भी कहा जाता है।। ११।।

तेष्वन्तिमो नामिरग्रुष्य देवी प्राग्नत पुत्रं जनतैकसेवी। बभूव यस्तेन तदस्य नाम न्यगादि बुद्धैऋष्यभोऽभिरामः॥१२॥

उन मनुत्रों में अन्तिम मनु नाभिराज हुए। इनकी श्री मरू-देवी ने एक महान् पुत्र को जन्म दिया, जो कि जनता की अहितीय सेवा करने वाला हुआ और जिसे पुराण-पुरुषों ने 'ऋषभ' इस सुन्दर नाम से पुकारा ॥ १२॥

वीक्ष्येदशीमङ्गभृतामवस्थां तेषां महातमा कृतवान् व्यवस्थाम् । विभज्य तान् क्षत्रिय-वैश्य-श्रूद्र-भेदेन मेधा-सरितां समुद्रः ॥१३॥

उस समय के लोगों की ऐसी पारस्परिक कलह-पूर्ण दुखित दीन-दशा को देखकर बुद्धिरूपी सरिताओं के समुद्र उस महात्मा ऋषभ ने उन्हें चत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्गों में विभक्त कर उनके जीवन-निर्वाह की समुचित व्यवस्था की !! १३॥

यस्यानुकम्पा हृदि तूदियाय स शिल्पकल्पं वृपलोत्सवाय । निगद्य विड्भ्यः कृषिकर्म चायमिहार्थशास्त्र नृपसंस्तवाय ॥ १४॥

लोगों के दु:ख देखकर उन ऋषभदेव के हृदय में अनुकम्पा प्रकट हुई जिससे द्रवित होकर उन्होंने सेवा-परायण शूद्र लोगों को नाना प्रकार की शिल्प कलाएं सिखाई, वैश्यों को पशु पालना, खेती करना सिखाया तथा अर्थशास्त्र की शिक्षा देकर प्रजा के भरण-पोषण का कार्य सौंपा। और क्षत्रियों को नीति शास्त्र की शिक्षा देकर उन्हें प्रजा के संरक्षण का भार सौंपा।। १४॥

लोकोपकारीणि बहूनि कृत्वा शास्त्राणि कष्टं जगतोऽथ हत्वा। योगस्य च क्षेमविधेः प्रमाता विचारमात्रात्समभृद्विधाता ॥१५॥

उन ऋषभदेव ने समय के विचार से लोकोपकारी अनेक शास्त्रों की रचना करके जगत के कष्टों को दूर किया, उन्हें योग (श्रावश्यक वस्तुओं को जुटाना) और क्षेम (प्राप्त वस्तुओं का संरक्षण करना) सिखाया। इस प्रकार प्रजा की सर्व प्रकार जीविका और और सुरक्षा विधि के विधान करने से वे ऋषभदेव जगत् के विधाता, सृष्टा या ब्रह्मा कहलाये॥ १४॥

यथा सुखं स्वादिह लोकयात्रा प्रादेशि सर्वं विधिना विधाता। प्रयत्नवानुत्तरलोकहेतु-प्रव्यक्तये सत्त्वहितेकसेतुः । १६॥

पुनः प्रवत्राज स लोकधाता शान्तेरवाद्ये विषयेऽनुमाता । गतानुगत्या कतिचित्प्रयाताः परेऽपि ये वस्तुतयाऽनुदात्ताः॥१७॥

इस लोक की जीवन-यात्रा सब लोगों की सुखपूर्वक हो, इसके लिए प्राणि-मात्र के हितेषी उन आदि विधाता ऋषभदेव ने सभी योग्य उपायों का विधिपूर्वक उपदेश दिया। पुनः लोगों को परलोक के उत्तम बनाने के साधनों को प्रकट करने के लिए प्रयत्नशील एवं आन्तरिक शान्ति के अनुसन्धान करने वाले उस लोक-विधाता श्री ऋषभदेव ने प्रबुख्या को अंगीकार किया, अर्थात् सर्व राज्यपाट आदि छोड़कर साधु बन गये। कितने ही अन्य छोग भी उनकी देखा-देखी उनके गतानुगतिक बनकर चले; अर्थात् साधु बन गये, किन्तु वे छोग साधु बनने के वास्तविक रहस्य से अपरिचित थे॥ १६-१७॥

समस्तवि शैकविभृतिपाताप्यतीन्द्रियज्ञानगुणैकधाता । अलौकिकीं वृत्तिसुपाश्रितोऽपि न सम्भवंन्लोकहितैकलोपी ॥१८॥

सर्व विद्यात्रों के एक मात्र विभूति के धारक, अतीन्द्रिय ज्ञान गुण के अद्वितीय स्वामी और अलौकिक वृत्ति के आचरण करने वाले उन ऋषभदेव ने सर्व लोक के उपकारक अनेक महान् कार्य किये। ऐसा एक भी कार्य नहीं किया, जो कि लोक-हित का लोप करने वाला हो।। १८।।

चुधादिकानां सहनेष्वशक्तान् कर्त्तव्यमृहानमुकस्य भक्तान् । त्यक्त्वाऽयनं स्वेशतया प्रयातान् सस्वोधयामास पुनर्विधाता ॥१९॥

भगवान् ऋषभदेव के साथ जो लोग प्रवृज्ञित हुए थे, वे लोग भूख-प्यास ख्रादि के सहन करने में ख्रममर्थ होकर कर्तव्य-विमृद् हो गये, साधु-मार्ग को छोड़ कर स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने लगे और जिस किसी के भक्त हो गये, ख्रथवा भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करके जिस किसी भी वस्तु को खाने लगे। उन लोगों की ऐसी विपरीत दशा को देखकर धर्म के विधाता भगवान् ऋषभदेव ने पुनः सम्बो-धित किया और उन्हें धर्म के मार्ग पर लगाया। १६।

हे साधवस्तावद्वाधवस्तु-सिद्धये प्रयत्नो भवतां समस्तु । होध्यं पुनर्वस्तुनि सत्तया तु जाड्यं विदाहयत्वमपि प्रभातु ॥२०॥ ऋषभदेव ने उनसे कहा—हे साधुआो, आप लोग पहले निर्दोष वस्तु-स्वरूप समझने के लिए प्रयस्त करें। सत्ता रूप से जो एक तस्व है वह जड़ और चेतन के भेद से दो वस्तु रूप है, इस बात को आप लोग हदयंगम करें।। २०॥

तयोस्तु सम्मिश्रणमस्ति यत्र कलङ्कहेमोच्चययोर्विचित्रम् । हेमाश्मनीवेदमनादिसिद्धं संसारमाख्याति धिया समिद्धः ॥२१॥

जिस प्रकार सुवर्ण-पाषाण में सुवर्ण और कीट-कालिमादि सम्मिश्रण अनादि-सिद्ध है, कभी किसी ने उन दोनों को मिलाया नहीं है, किन्तु अनादि से दोनों स्वयं ही मिले हुए चले आ रहे हैं। इसी प्रकार जड़ पुद्गल और चेतन जीव का विचित्र सम्बन्ध भी अनादि काल से चला आ रहा है और इसे ही बुद्धि से सम्पन्न लोग संसार कहते हैं।। २१॥

भावार्थ — जीव और पुद्रगल के सम्बन्ध से ही संसार की यह विचित्रता और विविधता दृष्टिगोचर हो रही है. इसे समझने का प्रत्येक बुद्धिमान् को प्रयत्न करना चाहिए।

सिद्धिस्तु विश्लेषणमेतयोः स्यात् सा साम्प्रतं ध्यातिपदैकपोष्या। स्वाध्यायमेतस्य भवेदथाधो यज्जीवनं नाम समस्ति साधोः॥२२॥

इन परस्पर मिले हुए जीव और पुद्गल के विश्लेषण का — भिन्न-भिन्न कर लेने का — नाम ही सिद्धि या मुक्ति है। यह सिद्धि एक मात्र ध्यान (श्रात्म-स्वरूप चिन्तन) के द्वारा ही सिद्ध की जा सकती है। (अतएव साधु को सदा आत्म-ध्यान करना चाहिए।) जब ध्यान में विच न लगे, तब स्वाध्याय करना चाहिए। यही साधु का सत्- जीवन है। ( इस स्वाध्याय और ध्यान के अतिरिक्त सर्व कार्य हेय हैं, संसार-बृद्धि के कारण हैं )॥ २२॥

सिद्धिः प्रिया यस्य गुणप्रमातुरुपिक्रया केवलमाविभातु । निरीहचित्त्वाक्षजयोऽथवा तु प्राणस्य चायाम उद्कीपातुः ॥२३॥

जिस गुणी पुरुष को सिद्धि प्राप्त करना अभीष्ट हो, उसे चाहिए कि वह सांसारिक वस्तुओं की चाह छोड़ कर अपने चित्त को निरीह (निस्पृह) बनावे, अपनी इन्द्रियों को जीते और प्राणायाम करे, तभी उसका भविषय सुन्दर बन सकता है। ये ही कार्य सिद्धि प्राप्त करने के छिए एक सात्र उपकारी हैं।। २३।।

शरीरहानिर्भवतीति भृयात्साधोर्न चैतद्विषयास्त्यस्या। पुनर्न संयोगमतोऽज्युपेयादेषामृतोक्तिः स्कुटमस्य पेया ॥२४॥

श्रात्म-साधना करते हुए यदि शरीर की हानि होती है, तो भले ही हो जाय, किन्तु साधु के शरीर-हानि होते हुए भी देव, खेद या असूया भाव नहीं प्रकट होना चाहिए। साधु का तो श्रात्म-साधना करते हुए यही भाव रहना चाहिए कि इस जड़ शरीर का मेरे पुनः संयोग न होवे। यही अमृतोक्ति (अमर बनाने वाले बचन) साधु को निरन्तर पान करते रहना चाहिए॥ २४॥

खुतं समन्वेषयितुं प्रदावदस्मै सुनेर्नीतिरधीतिनावः। जग्धिर्निजोद्देशसमर्थनाया ऽतुद्दिष्टरूपेण समर्पिता या ॥२५॥

चिर काळ से विलुप्त या मुधित आत्म-धन का अन्वेषण करने

के लिए साधु अपने शरीर को भोजन देता है। भोजन-प्राप्ति के लिए वह अपने उद्देश्य का समर्थन करने वाली अनुदिष्ट एवं भक्ति-पूर्वक दाता के द्वारा समर्पित भिक्षा को अंगीकार करता है।। २४।।

भावार्थ-जैसे कोई धनी पुरुष अपनी खोई हुई वस्तु को द्वंदन के छिए रखे हुए नौकर को वेतन या मजदूर को मजदूरी देता है. इसी प्रकार साधु भी अपने अनादिकाल से विस्पृत या कर्म रूप चोरों से अपहत आत्म-धन को हुं इने या प्राप्त करने के लिये शरीर-ह्रप नौकर को भिक्षा रूपी वेतन देकर सदा उसके द्वारा अपने अभीष्ट साधन में लगा रहता है। साधु शरीर की स्थिति के लिए जो भिक्षा लेते हैं वह उनके निमित्त न बनाई गई हो, निर्दोष हो, निर्विकार और साच्यिक हो, उसे ही अलप मात्रा में गृहस्य के द्वारा भक्ति-पूर्वक एक बार दिये जाने पर दिन में एक बार ही ग्रहण करते हैं। यदि भोजन करते हुए किसी प्रकार का दोष उसमें दिखे, या श्चन्तराय आ जावे, तो वे उसका भी त्याग कर उस दिन फिर दुवारा आहार नहीं लेते हैं। पानी भी वे भोजन के समय ही पीते हैं, उसके पश्चात् नहीं, अर्थात् भोजन व जल-पान एक वार एक साथ ही लेते हैं। रात्रि में तो वे गमन, संभाषण तक के त्यागी होते हैं, तो आहार की तो कथा ही दूर है। इस ऋोक के द्वारा एवणा समिति का प्रति-पादन किया गया है, जिसका कि पालन साधु का परम कर्त्तव्य है।

स्योंद्ये सम्बिचरेत् पुरोद्दक् शकुन्तवन्नैकतलोपभोक्ता । हितं यथा स्यादितरस्य जन्तोस्तथा सदुक्तः प्रभवन् प्रयोक्ता ॥२६॥

साधु को सूर्य के उदय हो जाने और प्रकाश के भली-भांति फैंछ जाने पर ही सामने भूमि को देखते हुए विचरना चाहिए। पश्ची के समान साधु भी सदा विचरता ही रहे, किसी एक स्थान का उप- भोक्ता न बने। श्रोर दूसरे जीव का हित जैसे संभव हो, वैसी सट्-बक्ति वाली हित मित भाषा का प्रयोग करे॥ २६॥

भावार्थ साधु को आगम की आज्ञा के अनुसार वर्षा ऋतु के सिवाय आम में एक दिन और नगर में तीन या पांच दिन से अधिक नहीं ठहरना चाहिए। वर्षा ऋतु में चार मास किसी एक ऐसे स्थान पर रहना चाहिए, जो कि कीचड़-कांद्रे से रहित हो, जहां बरसाती जीवों की उत्पत्ति कम हो और नीहार आदि के छिए हरियाछी से रहित बंजर भूमि सुलम हो। साधु को किसी के पूछने पर ही हित मित प्रिय बचन बोलना चाहिए, बिना पूछे और अनावश्यक या अनवसर तो बोलना ही नहीं चाहिए। इस श्लोक के पूर्वार्ध इंग्यानित और उत्तरार्ध के द्वारा भाषासमिति का प्रतिपादन किया गया है।

मनोवचःकायविनिग्रहो हि स्यात्सर्वतोऽम्रुष्य यतोऽस्त्यमोही। तेषां प्रयोगस्तु परोपकारे स चापवादो मदमत्सरारेः।।२७॥

यतः साधु सोह-रहित होता है और अपने मद-मत्सर आदि भावों पर विजय पाना चाहता है, अतः उसे अपने मन, वचन और काय की संकल्प-विकल्प एवं संभाषण और गमनादि रूप सभी प्रकार की कियाओं का विनिध्रह करना चाहिए। यही साधु का प्रधान कर्ष वियोग परोपकार में ही होना चाहिए। किन्तु यह उसका अपवार मार्ग है। उत्सर्ग मार्ग तो साधु का यही है कि वह मौन-पूर्वक आत्म-साधना करे और अपने अन्तरंग में अवस्थित मद, मत्सर, राग, देपादि विकारों को निकालने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे। रिणा

भावार्थ-इसन्होक-द्वारा साधु को मनोगुन्नि, वचनगुनि और कायगुनि रखने का विधान किया गया है। यही उसका प्रधान कार्य है। किन्तु निरन्तर मन-वचन-काय को गुन रखना संभव नहीं है, अतः प्रयोजन-वश मन, वचन, काय की क्रिया कर सकता है, किन्तु वह भी अत्यन्त सावधानी-पूर्वक। इसी सावधान प्रवृत्ति का नाम ही समिति है।

कस्यापि नापत्तिकरं यथा स्यात्तथा मलोत्सर्गकरो महात्मा । संशोध्य तिष्ठे हु वमात्मनीनं देहं च सम्पिच्छिकया यतात्मा ॥२८॥

साधु महात्मा को चाहिए कि वह ऐसे निर्जन्तु और एकान्त स्थान पर मल मूत्रादि का उत्सर्ग करे, जहां पर कि किसी भी जीव को किसी भी प्रकार की आपत्ति न हो। वह संयतात्मा साधु भूमि पर या जहां कहीं भी बैठे, उस स्थान को और अपने देह को पिच्छि-का से भली भांति संशोधन और परिमार्जन करके ही बैठे और सावधानी-पूर्वक ही किसी वस्तु को उठावे या रखे॥ २५॥

भावार्थ --इस ऋोक के पूर्वार्ध-द्वारा व्युत्सर्ग समिति का और उत्तरार्ध-द्वारा आदान-निचेपण समिति का तिरूपण किया गया है।

निःसङ्गतां वात इवाभ्यपेयात् स्त्रियास्तु वार्तापि सदैव हेया। शरीरमात्मीयमवैति भारमन्यत्किमङ्गी कुरुतादुद्वारः ॥२९॥

साघु को चाहिए कि वह निःसगता (ऋपरिग्रहता) को वायु के समान स्वीकार करे अर्थात् वायु के समान सदा निःसंग होकर विचरे। क्रियों की तो बात भी सदा त्याज्य है, स्वप्न में भी उनकी याद न करे। जो उदार साधु अपने शरीर को भी भार-भूत मानता है, वह दूसरी वस्तु को क्यों अंगीकार करेगा॥ २६॥ एकं विहायोद्वहतोऽन्यदङ्गः गतस्य जीवस्य जडप्रसङ्गम् । भवाम्बुधेरुत्तरणाय नौका तनुनरोक्तीव समस्ति मौका ॥३०॥

यह प्राणी जड़ कमों के प्रसंग को पाकर चिरकाल से एक शरीर को छोड़कर अन्य शरीर को धारण करता हुआ चला आ रहा है। इसके लिए इस मानव-देह का पाना एक बढ़िया मौका है अर्थात् अपूर्व अवसर है और यह मनुष्य भव संसार-समुद्र से पार होने के लिए नौका के समान है।। ३०।।

ततो नुजन्मन्युचितं समस्ति यत्प्राणिमात्राय यशःप्रशस्ति । अव्यं पुनर्नित्रहणीयमेतद्वदामि युक्तावगमित्रयेऽतः ॥३१॥

इसिंडिए इस नर-भव में प्राणिमात्र के लिए जो उचित और यशस्त्रर प्रशस्त कर्त्त व्य है, उसे में उपयुक्त और हितकर शब्दों से वर्णन करता हूँ, उसे सुनना चाहिये, सुनकर धारण करना चाहिए और धारण कर भली भांति निभाना चाहिए॥ ३१॥

कौमारमत्राधिगमय्य कालं विधानुयोगेन गुरोरथालम् । मिथोऽनुभावात्महयोगिनीया गृहस्थता स्यादुपयोगिनी या ॥३२॥

कुमार-काल में गुरु के समीप रहकर विद्या के उपार्जन में काल ज्यतीत करें। विद्याभ्यास करके पुनः युवावस्था में योग्य सहयोगिनी के साथ विवाह करके परस्पर प्रेम-पूर्वक रहते हुए (तथा न्याय पूर्वक आजीविकोपार्जन करते हुए) उपयोगिनी गृहस्थ-अवस्था को वितावे॥ ३२॥

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं क्रिष्टेषु जीवेषु तदर्तितोद्म् । साम्यं विरोधिष्वधिगम्य जीयात् प्रसाद्यन् बुद्धिमहो निजीयाम् ॥३३

गृहस्थ श्रवस्था में रहते हुए प्राणिमात्र पर मेत्री भाव रखे, गुणी जनों पर प्रमोद भाव और दुखी जीवों पर उनके दुख दूर करने का करुणाभाव रखे। विरोधी जनों पर समता भाव को प्राप्त होकर और श्रपनी बुद्धि को सदा प्रसन्न (निर्मल) रखकर जीवन-यापन करे॥ ३३॥

समीक्ष्य नानाप्रकृतीन्मनुष्यान् कद्र्यिभावः कप्रथाप्यनुस्यात् । सम्भावयन्नित्यनुक्लचेता नटायतामङ्गिषु यः प्रचेता ॥३४॥

संसार में नाना प्रकृति वाले मनुष्यों को देखकर श्रपने हृदय में खोटा भाव कभी न त्राने देवे, किन्तु उनके त्रानुकूल चित्त होकर उनका समादर करते हुए सावधानी के साथ बुद्धिमान् मनुष्य को सब प्राणियों पर यथा योग्य स्तेह मय व्यवहार करना चाहिए, रूखा या आदर-रहित व्यवहार तो किसी भी मनुष्य के साथ न करे ॥३४॥

सम्बुद्धिमन्वेति पराङ्गनासु स्वर्णे तथान्यस्य तृणत्वमाशु । धृत्वाऽखिलेभ्यो सृदुवाक् समस्तु स्कामृतेनानुगतात्मवस्तु ॥३४॥

पर स्त्रियों में सद्बुद्धि रखे अर्थात् उनमें यथोयोग्य माता, बहिन और पुत्री जैमा भाव रखकर अपने हृदय को शुद्ध बनावे, पराये सुवर्ण में धनादिक में तृण जेसी बुद्धि रखे, बृद्ध जनों के आदेश और उपदेश को आदर से स्वीकार करे, सबके साथ सृद् वाणी बोळकर बचनामृत से सब को तृप्त करे, उन्हें अपने अनुकूल बनावे और उनके अनुकूल आचरण कर अपने व्यवहार को उत्तम रखे।। ३४.।।

कुर्यान्मनो यन्महनीयमञ्चे नमग्रज्ञः संस्तवनं समञ्चेत्। दृष्ट्वा पठाशस्य किलाफलत्वं को नाम वाञ्छेच्च निशाचरत्वम्॥३६

हे भन्यो, यदि तुम संसार में पूजनीय बनना चाहते हो, तो मन को सदा कोमल रखो, सब के साथ भद्रता और नम्रता का ज्यवहार करो, मद्य आदिक मादक वस्तुओं का सेवन कभी भी न करो। पलाश (ढाक वृक्ष) की अफलता को देखकर पल अर्थात् मांस का अशन (भक्षण) कभी मत करो और रात्रि में भोजन करके कीन भला आदमी निशाचर बनना चाहेगा ? अर्थात् कोई भी नहीं ॥३६॥

भावार्थ—पठाश अर्थात् टेसू या ढाक के फूछ छाठ रंग के बहुत सुन्दर होते हैं, पर न तो उनमें सुगन्ध होती है और न उस वृक्ष में फळ ही छगते हैं उस वृक्ष का होना निष्फळ ही है। इसी प्रकार जो पठ (मांस) का भक्षण करते हैं, उनका वर्तमान जीवन तो निष्फळ है ही प्रत्युत भविष्य जीवन दृष्फळों को देने वाठा हो जाता है, अतएव मांस-भक्षण का विचार भी स्वप्न में नहीं करना चाहिए। रात्रि में खाने बाठों को निशाचर कहते हैं और 'निशाचर' यह नाम राक्षसों तथा उल्लू आदि रात्रि-संचारी पक्षियों का है। उन्हें छक्ष्य में रखकर कहा गया है कि कौन आत्म-हितेषी मनुष्य रात्रि में खाकर निशाचर बनना चाहेगा, या निशाचर कहळाना पसन्द करेगा ? अत-एव रात्रि में कभी भी खान-पान नहीं करना चाहिए।

वहावशिष्टं समयं न कार्यं मनुष्यतामञ्च कुलन्तु नार्य ! नार्थस्य दासो यशसश्च भृयाद् धृत्वात्ववे नान्यजनेऽभ्यस्याम्॥३७ हे आर्थ, सदा सांसारिक कार्यों के करने में ही मत लगे रहो, कुछ समय को भी बचाओ और उस समय धर्म-कार्थ करो। मनुष्यता को प्राप्त करो, उसकी कीमत करो, जाति और कुल का मद मत करो। सदा अर्थ (धन या स्वार्थ) के दास मत बने रहो, किन्तु लोकोपकारी यहा के भी कुछ काम करो। अन्य मनुष्यों पर ईच्या, देख आदि धारण कर पाप से अपने आपको लिप्त मत करो॥ ३७॥

मनो ऽधिकुर्यात्र तु बाह्यवर्गमन्यस्य दोषे स्विद्वाग्विसर्गः । सुञ्चेदहन्तां परतां समञ्चेत्कृतज्ञतायां-महती-प्रपञ्चे ॥३८॥

सांसारिक बाह्य वस्तुओं पर अधिकार पाने के छिए मन को अपने अधिकार में रखो। (भाग्योदय से सहज में जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसमें सन्तोष धारण करो।) दूसरे के दोषों को मत कहो, यदि कहने का अवसर भी आवे, तो भी मौन धारण करो। अहम्भाव को छोड़ो। इस छल-छिद्रों और प्रवंचनाओं से भरे महा प्रपंचमय संसार में कृतज्ञता प्रकट करो, कृतब्नी मत बनो।। ३८।।

श्रुतं विगाल्याम्बु इवाधिकुर्यादेतादशी गेहभृतोऽस्तु चर्या । तदा पुनः स्वर्गल एव गेहः क्रमोऽपि भृयादिति नान्यथेह ॥३९॥

सुनी हुई बात को जल के समान छान कर स्वीकार करे, सहसा किसी सुनी बात का भरोसा न करे, किन्तु खूब छान बीनकर उचित अनुचित का निर्णय करे। इस उपर्युक्त प्रकार की चर्या गृहस्थ की होनी चाहिए। यदि वह ऊपर बतलाई गई विधि के अनुसार आचरण करता है, तो वह यहां पर भी स्वर्गीय जीवन बिताता है और अगले जन्म में तो अवश्य ही स्वर्ग का भागी होगा। अन्यथा इससे विपरीत आचरण करने वाला गृहस्थ यहां भी नारकीय या

या पशु-तुल्य जीवन विताता है और अगले जन्म में भी वह नरक या पशु गति का भागी होगा ॥ ३६॥

एवं समुल्लासितलोकयात्रः संन्यस्ततामन्त इयाद्थात्र । समुज्झिताशेषपरिच्छदोऽपि अमुत्र सिद्धचे दुरितैकलोपी ॥४०।

इस प्रकार भली भांति इस लोक-यात्रा का निर्वाह कर, अन्त समय में परलोक की सिद्धि के लिए सर्व परिजन और परिव्रहादि को छोड़कर, तथा पांचों पापों का सर्वथा त्याग कर संन्याम दला को स्त्रीकार करे अर्थात् साधु बनकर समावि पूर्वक अपने प्राणां का विसर्जन करे।। ४०।।

निगोपयेन्मानसमात्मनीनं श्रीध्यानवप्रे सुतरामदीनम् । इत्येष भृयादमरो विपश्चित्र स्यात्पुनमीरियताऽस्य कश्चित्।।४१॥

संन्यास दशा में साधक का कर्त्त व्य है कि वह अपने मन को हता-पूर्वक श्री बीतराग प्रभु के ध्यान रूप कोट में सुरक्षित रखे और सर्व संकल्प-विकल्पों का त्याग करें। ऐसा करने वाला साधक विद्वान् नियम से अजर-अमर बन जायगा, फिर इसे संमार में मारने वाला कोई भी नहीं रहेगा।। ४१॥

सम्बोधयामास सचेति शिष्यान् सन्मार्गगामीति नरो यदि स्यात्। तदोक्षतेरुच्चपदं प्रगच्छेदुनमार्गगामी निपतेदनच्छे ॥४२॥

इस प्रकार श्री ऋषभदेव ने अपने शिष्यों को समझाया और कहा कि जो मनुष्य सन्मार्गगामी बनेगा, वह उन्नति के उच पद को अवश्य प्राप्त होगा। किन्तु जो इसके विपरीत आचरण कर उन्मार्ग- गामी बनेगा, वह संसार के दुरन्त गर्त में गिरेगा और दुःख भोगेगा ॥ ४२ ॥

एवं पुरुर्मानवधर्ममाह यत्रापि तैः संकलितोऽवगाहः। त्रेतेतिरूपेण विनिर्जगाम कालः पुनर्द्वापर आजगाम ॥४३॥

इस प्रकार भगवान् ऋषभ ने तात्कालिक छोगों को मानव-धर्म का उपदेश दिया, जिसे कि यहां पर संज्ञेग से संकठित किया गया है। भगवान् के उपदेश को उस समय के छोगों ने बड़े आदर के साथ अपनाया। इस प्रकार त्रेता युग अर्थात् तीसरा काछ समाप्त हुआ। और द्वापर नाम का चौथा काछ आ गया॥ ४३॥

त्रेता बभ्व द्विगुणो ऽप्ययन्तु कालो मनागूनगुणैकतन्तु । यस्मिन् शलाकाः पुरुषाः प्रभ्या बग्रुश्च दुर्मार्गकृताभ्यस्याः ॥४४॥

त्रेता युग दो कोड़ा-कोड़ी सागरोपम काल प्रमाण वाला या। यह द्वापर युग कुछ कम ऋथांत् चौरासी हजार वर्ष कम एक कोड़ा-कोड़ी सागरोपम काल का था। इस द्वापर युग में तीर्थं हुर, चक्रवर्ती ऋादि शलाका नाम से प्रसिद्ध महापुरुष हुए, जो कि संसार में फैलने वाले दुर्मार्ग के विनाशक एवं सन्मार्ग के प्रचारक थे।। ४४॥

पुरुदितं नाम पुनः प्रसाधापुष्मिस्तु धर्माधिभुवोऽजिताधाः। प्रजादरीहाधिकृतान्यभावं निवारयन्तः प्रवसूर्यथावत् ॥४५॥

इस द्वापर युग में ऋजितनाथ ऋषिक तेईस तीर्थद्वर और भी हुए, जिन्होंने गुरुदेव भगवान् ऋषभ के द्वारा प्रतिपादित धर्म का ही पुनः प्रचार ऋौर प्रसार करके प्रजा की दुर्व तियों को दूर करते हुए सन्मार्ग का संरक्षण किया है ॥ ४४ ॥

तत्रादिमश्रकिषु पौरवस्तुक्-शताग्रगण्यो भरतः समस्तु । दाढर्चे न धर्मामृतमाबुग्रुत्स्नाहूय तांस्तत्र परं युयुत्सुः ।।४६॥

सम्मानयामास स यज्ञसूत्र चिह्ने न भद्रं व्रजताममुत्र । कर्मेदमासीच पुरोरबाह्यः प्रमादतश्रकशृताऽवगाह्यः ॥४७॥

उन शलाका पुरुषों में के चक्रवर्त्तियों में प्रथम चक्रवर्ती भरत हुए, जो कि ऋषभदेव के सी पुत्रों में सब से बड़े थे। उन्होंने अपनी प्रजा में से धर्मामृत पान करने के इच्छुक एवं परलोक सुधारने की चिन्ता रखने वाले लोगों को बुला कर यहोपवीत रूप रूप सूत्र-चिह्न देकर उनका सन्मान किया और उन्हें 'ब्राह्मण' नाम से प्रसिद्ध किया। यद्यपि यह कार्य भगवान् ऋषभदेव की दृष्टि से बाह्य था, ऋषीत् ठीक नथा। किन्तु भरत चक्री ने प्रमाद से यह कार्य कर लिया।। ४६-४७।।

यतस्त आशीतलतीर्थमापुराचित्यमस्मात् पुनरुन्मनस्ताम् । आसाय जातीयकतां त्रजन्तः प्रथामुरीचक्रुरिहाण्यशस्ताम् ॥४८॥

भारत चक्रवर्ती ने जिन ब्राह्मणों का एक धार्मिक वर्ग प्रश्वापित किया था, वह दशवें तीर्थं द्वर शीतलनाथ के समय तक तो अपने धार्मिक कत्त व्य का यथोचित रीति से पालन करता रहा। पुनः इसके पश्चात् धर्म-विमुख होकर जातीथता को प्राप्त होते हुए उन्होंने इस भारतवर्ष में श्वप्रशस्त प्रथाओं को स्वीकार किया और मन-माने क्रियाकाएड का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। ४८। धर्माधिकर्तृ त्वममी द्धाना वाद्यं क्रियाकाण्डमिताः स्वमानात् । गुरोरमी वेकतराद्धीत-विदोर्विवादः समभू हुवीतः ॥४९॥

धीरे-धीरे जातीयता के श्रामिमान से इन ब्राह्मणों ने अपने आपको धर्म का श्राधिकारी घोषित कर दिया और बाहिनी क्रिया-काएड को ही धर्म बता कर उसके करने-कराने में ही छम गये। बीसवें तीर्थं हुर मुनि सुव्रतनाथ के समय में जाकर उनमें एक ही गुरु से पड़े हुए से ब्राह्मण बिद्वानों में एक वाक्य के श्रर्थ पर विवाद खड़ा हो गया।। ४६।।

समस्ति यष्टन्यमजैरमुष्य छागैरियत्पर्वत आह दृष्यम् । पुराणधान्यैरिति नारदस्तु तथोरभृत्सङ्गरसाध्यवस्तु ॥५०॥

दोनों विद्वानों में से एक का नाम था पर्वत और दूसरे का नाम था नारद । विवाद का विषय था 'अजैर्यंष्टव्यम्' (अजों से यह करना चाहिए) । पर्वत 'अज' पद का अर्थ छाग (बकरा) करता या और नारद कहता था कि उस पद का अर्थ उगने या उत्पन्न होने के अयोग्य पुराना धान्य है। जब आपस में विवाद न सुलझा, तब उसे सुलझाने के लिए उन्होंने आपस में प्रतिज्ञा-बद्ध होकर अपने सहाध्यायी तीसरे गुरु भाई वसु राजा को निर्णायक न्यायाधीश नियुक्त किया ।। ४०॥

न्यायाधिपः प्राह च पार्वतीयं वची वसुर्वाग्विवशो महीयम् । भिन्नाऽगिरत्सम्भवती तमाराद् यतो ऽधुना ऽभूज्जनता द्विधारा ॥४१॥

(पर्वत की मां ने पहिले ही जाकर बसु राजा को अपने पुत्र के पक्ष में मत देने के लिए बचन-बद्ध कर लिया, अतः मतदान के समय ) बचन-बद्ध होने से विवश न्यायाधीश वसु राजा ने कहा कि पर्वत का बचन सत्य है। उसके ऐसा कहते ही अर्थान असत्य पक्ष का समर्थन करने पर तुरन्त पृथ्वी फटी और वह राज्य-सिंहासन के साथ ही उसमें घस गया। उसी समय उपस्थित जनता दो धाराओं में विभक्त हो गई। जो तत्त्र के रहस्य को नहीं जानते थे, वे पर्वत के पक्ष में हो गये और जो तत्त्र हो थे, वे नारद के पक्ष में हो गये ॥४१॥

यथा दुरन्तोच्चयमभ्युपेता जलस्नुतिन् नमशक्तरेताः । इत्यत्र सम्पादितसम्पदा वाऽनुमातुमहन्ति महानुमानाः ॥४२॥

जैसे बीच में किसी बड़े पर्वत के आ जाने पर जल का प्रवाह उसे न हटा सकने के कारण दो भागों में विभक्त होकर बहने लगता है, उसी प्रकार उसे वसु राजा के असत्य पक्ष का समर्थन करने से धार्मिक जनता के भी दो भाग हो गये। ऐसा महापुरुष कहते हैं ॥४२॥

निवार्यमाणा अपि गीतवन्तः सत्यान्वितरागमिभिई दन्तः। वाक्यावळीघोरगुणोदरीयिकते ये पुनः पर्वतपक्षकीयाः॥५३॥

जो लोग आगम के जानकार और सत्य पक्ष से युक्त थे, जिनके हृदय में सत्य मार्ग से प्रेम था, उनके द्वारा पर्वत के पक्ष का निवारण किये जाने पर भी पर्वत के पक्ष वाले लोगों ने हिंसा के समर्थक गीतों की रचना करके उन्हें गाना प्रारम्भ कर दिया और तभी से यहाँ में हिंसा करने और पशु होमने की प्रथा का प्रचलन प्रारम्भ हो गया।। ४३।।

व्यासर्पिणाथो भविता पुनस्ताः प्रयत्नतः सङ्गलिताः समस्ताः । यथोचितं पल्लविताश्च तेन सङ्गल्पने युद्धिविशारदेन ॥४४॥ इसके पश्चात् पांडवों के दादा व्यास ऋषि ने, जो कि नवीन कल्पना की रचना में बुद्धि-विशारद थे,—अति चतुर थे—परम्परागत उन सब गीतों का बड़े प्रयत्न से संकलन किया, उन्हें यथोचित पल्ल-वित किया और उनको एक नया ही रूप दे दिया ॥ ४४॥

तत्सम्प्रदायश्रयिणो नरा ये जाताः स्त्रिद्द्यावधि सम्पराये । सर्वेऽपि हिंसापरमर्थनापुर्यतोऽभितस्त्रस्तिनिताऽखिला प्ः ॥५५॥

उस सम्प्रदाय का आश्रय करने वाले आज तक जितने भी विद्वान् हुए हैं, वे सभी उन मन्त्रों का हिंसा-परक अर्थ करते हुए चले आये, जिससे कि सकल प्रजा अत्यन्त त्रास को प्राप्त हुई।। ४४॥

वाढ क्षणे चोपनिषत्समर्थेऽभूत्तर्कणा ययपि तावदर्थे । तथाष्यहिसामयवाचनाया नासीत्प्रसिद्धिः स्फुटरूपकायाः ॥५६॥

यद्यपि उपनिषक्ताल में उनके रचिता आचार्यों के द्वारा हिंसा-परक मंत्रों के विषय में तर्क-वितर्क हुआ और उन्होंने उन मन्त्रों का आहिंसा-परक अर्थ किया। तथापि उन आहिंसामयी स्पष्ट अर्थ करने वाली वाचना की जैसी चाहिए—प्रसिद्धि नहीं हो सकी और लोग हिंसा-परक अर्थ भी करते रहे॥ ४६॥

स्वामी दयानन्द्रवस्तदीयमर्थं त्वहिंसापरकं श्रमी यः। कृत्वाय शस्तं प्रचकार कार्यं हिंसाम्रुपेक्ष्येव चरेत्किलार्यः॥५०॥

हां, अभी जो स्वामी दयानन्द सरस्वती हुए, जो कि अध्ययन शील परिश्रमी सज्जन थे, उन्होंने उन्हीं मन्त्रों का अहिंसा-परक अर्थ करके बतला दिया कि हिंसा करना अप्रशस्त कार्य है। अतः आर्य- जन हिंसा की अपेक्षा करके अहिंसक धर्माचरण करें। उन्होंने यह बहुत प्रशस्त कार्य किया, जो कि धर्मात्मा-जनों के द्वारा सदा प्रशंस-नीय रहेगा।। ४७।।

करोति नरो विचारं सम्पधते समयमेत्य तद्प्यथाऽरम् । कुर्यात्प्रयत्नमनिशं मनुजस्तथापि न स्यात्कलं यदि पलप्रतिकूलताऽऽपि ॥५८॥

मनुष्य स्वष्न में भी जिस बात का विचार नहीं करता है, समय पाकर वही बात श्रासानी से सम्पन्न हो जाती है। यदि समय प्रति-कूछ है, तो मनुष्य निरन्तर प्रयत्न करे, तो भी उसे अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती है।। ४८।।

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भु जः स सुषुवे भ्रामलेत्याह्वयं वाणीभृषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् । तस्यानन्द्पदाधिकारिणि शुभे वीरोद्येऽयं कम-प्राप्तोऽत्येतितमामिहाष्टविधुमान् सर्गोऽधुनासत्तमः ॥१८॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भु जजी श्रोर घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणी भूषण, बाळ ब्रह्मचारी पं० भूरामळ वर्तमान मुनि झानसागर द्वारा विरचित इस वीरोद्य काव्य में सत्ययुगादि तीनों युगों का वर्णन करने वाळा यह श्रठारहवां सर्ग समाप्त हुआ।। १८॥

## अथैकोनविशः सर्गः

श्रीवीरदेवेन तमामवादि सत्सम्मतोऽयं नियमोऽस्त्यनादिः। अर्थक्रियाकारितयाऽस्तु वस्तु नोचेत्पुनः कस्य कुतः स्तवस्तु॥१॥

श्री महावीर भगवान् ने बतलाया कि प्रत्येक पदार्थ सत्स्वरूप है। वस्तु-स्वभाव का यह नियम अनादि है और जो भी वस्तु है, वह अर्थिकयाकारी है, अर्थान् कुछ न कुछ क्रियाविशेष को करती है। यदि अर्थिकयाकारिता वस्तु का स्वरूप न माना जाय, तो कोई उसे मानेगा ही क्यों ? और क्यों किसी वस्तु की सत्ता को स्वीकार किया जायगा॥ १॥

प्राग्-रूपमुज्झित्य समेत्यपूर्वमेकं हि वस्तृत विदो विदुर्वः । हे सज्जनाम्तत्त्रयमेककालमतो विरूपं वदतीति बालः ॥२॥

प्रत्येक वस्तु प्रति समय अपने पूर्व रूप (अवस्था) को छोड़कर अपूर्व (नवीन) रूप को धारण करती है फिर भी वह अपने मूल ख-रूप को नहीं छोड़ती है, ऐसा ज्ञानी जनों ने कहा है, सो हे सज्जनो, आप छोग भी वस्तु को वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक त्रिरूपता एक एक काल में ही अनुभव कर रहे हैं। जो वस्तु-स्वरूप से अनभिज्ञ हैं, ऐसे बाल ( मूर्ख) जन ही इससे विपरीत स्वरूप वाली वस्तु को कहते हैं॥ २॥

भावार्थ—जो केवल उत्पाद या व्यय या ध्रीव्यरूप ही वस्तु को मानने हैं, वे वस्तु के यथार्थ स्वरूप को न जानने के कारण अज्ञानी ही हैं। प्रवर्धते चेत्पयसाऽऽमशक्तिस्तद्धानये किन्तु द्धिप्रयुक्तिः । द्वये पुनर्गोरसता तु भाति त्रयात्मिकाऽतः खलु वस्तुजातिः ॥३॥

देखो — दूध के सेवन करने से आमशक्ति बढ़ती है और उसी दूध से बने दही का प्रयोग आम को नष्ट करता है। किन्तु उस दूध दही दोनों में ही गोरसपना पाया जाता है, अतः समस्त वस्तु-जाति उत्पाद-व्यय-ध्रोव्यरूप त्रयात्मक है, यह बात सिद्ध होती है॥ ३॥

नरस्य दृष्टी विडमक्ष्यवस्तु किरेस्तदेतद्वरमक्ष्यमस्तु । एकत्र तस्मात्सद्सत्प्रतिष्ठामङ्गीकरोत्येव जनस्य निष्ठा ॥४॥

मनुष्य की दृष्टि में विष्टा अभक्ष्य वस्तु है, किन्तु सूकर के तो वह परम भक्ष्य वस्तु है। इसलिए एक ही वस्तु में सत् और असत् की प्रतिष्ठा को ज्ञानी जन की श्रद्धा अङ्गीकार करती ही है॥ ४॥

रेखैिकका नैव लघुर्न गुर्वी लघ्ट्याः परस्या भवति स्विदुर्वी । गुर्वी समीक्ष्याथ लघुस्तृतीयां वस्तुस्वभावः सुतरामितीयान् ॥५॥

कोई एक रेखा (लकीर) न स्वयं छोटी है और न बड़ी है। यदि उसी के पास उससे छोटी रेखा खींच दी जाय, तो वह पहिली रेखा बड़ी कहलाने लगती है, और यदि उसी के दूसरी और बड़ी रेखा खींच दी जाय, तो वही छोटी कहलाने लगती है। इस प्रकार वह पहिली रेखा छोटी और बड़ी दोनों रूपों को, अपेक्षा-विशेष से धारण करती है। बस, वस्तु का स्वभाव भी ठीक इसी प्रकार का जानना चाहिए।। ४।।

भावार्थ - इस प्रकार अपेक्षा-विशेष से वस्तु में अस्तित्व और

नास्तित्व धर्म सिद्ध होते हैं। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, चेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अस्ति रूप है और पर द्रव्य, चेत्र, काल, भाव की अपेक्षा नास्ति रूप है।

सन्ति स्वभावात्परतो न यावास्तस्मादवाग्गोचग्कृत्प्रभावाः। सहेत्यतस्तित्वितयात्प्रयोगाः सप्तात्र विन्दन्ति कलावतो गाः॥६॥

जैसे यव (जौ) अपने यवरूप स्वभाव से 'हैं', उस प्रकार गेहूं आदि के स्वभाव से 'नहीं' हैं। इस प्रकार यव में अस्तित्व और नास्तित्व ये दो धर्म सिद्ध होते हैं। यदि इन दोनों ही धर्मों को एक साथ कहने की विवक्षा की जाय, तो उनका कहना संभव नहीं है, अतः उस यव में अवक्तव्य रूप तीसरा धर्म भी मानना पड़ता है। इस प्रकार वस्तु में अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य ये तीन धर्म सिद्ध होते हैं। इनके दिसंयोगी तीन धर्म और त्रिसंयोगी एक धर्म इस प्रकार सब मिला कर सात धर्म सिद्ध हो जाते हैं। ज्ञानी-जन इन्हें ही सप्त भंग नाम से कहते हैं॥ ६॥

सप्तप्रकारत्वमुशन्ति भोक्तुः फलानि च त्रीण्यधुनोपयोक्तुम् । पृथक्कृतौ व्यस्त-समस्ततातः न्यूनाधिकत्वं न भवत्यथातः ॥७॥

जैसे हरड, बहेड़ा श्रीर आंवला, इन तीनों का अलग-अलग स्वाद है। द्विसंयोगी करने पर हरड और आंवले का मिला हुआ एक स्वाद होगा, हरड और बहेड़े का मिला हुआ दूसरा स्वाद होगा। श्रीत बहेड़े आंवले का मिला हुआ तीसरा स्वाद होगा। तीनों को एक साथ मिला कर खाने पर एक चौथी ही जाति का स्वाद होगा। इस प्रकार मूल रूप हरड, बहेड़ा और आंवला के एक संयोगी तीन भंग, दिसंयोगी तीन भंग और त्रिसंयोगी एक भंग, ये सब मिल कर

सात भंग जैसे हो जाते हैं, उसी प्रकार श्रास्त, नास्त और श्रवक्तव्य के भी द्विसंयोगी तीन भंग श्रीर त्रिसयोगी एक भंग, ये सब मिठा कर सात भंग हो जाते हैं। ये भंग न इससे कम होते हैं श्रीर न श्राधिक होते हैं॥ ७॥

भावार्थ—श्रास्त १, नास्ति २, श्रवक्तव्य ३, श्रास्त-नास्ति ४, श्रास्त-श्रवक्तव्य ४, नास्ति-श्रवक्तव्य ६ श्रोर श्रास्त-नास्ति-श्रवक्तव्य ७ ये सात भंग प्रत्येक वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करते हैं। प्रत्येक भंग का कथन किसी अपेक्षाविशेष से ही किया जाता है, श्रतः उस अपेक्षा को प्रकट करने के लिए प्रत्येक भंग के पूर्व 'स्थात्' पद का प्रयोग किया जाता है। इसे ही स्याद्वाद रूप सप्तभंगी कहते हैं। इस स्याद्वाद रूप सप्तभंग वाणी के द्वारा ही वस्तु के यथार्थ स्वरूप का कथन संभव है, श्रन्यथा नहीं।

अनेकशक्त्यात्मकवस्तु तत्त्वं तदेकया संवदतोऽन्यसत्त्वम् । समर्थयतस्यात्पदमत्र भाति स्याद्वादनामैवमिहोक्तिजातिः ॥८॥

वस्तुतस्य अनेक शक्त्यात्मक है, अर्थात् अनेक शक्तियों का पुआ है। जब कोई मनुष्य एक शक्ति की अपेक्षा से उसका वर्णन करता है, तब वह अन्य शक्तियों के सस्य का अन्य अपेक्षाओं से समर्थन करता ही है। इस अन्य शक्तियों की अपेक्षा को जैन सिद्धांत 'स्यात' पद से प्रकट करता है। वस्तु तस्य के कथन में इस 'स्थात' अर्थान् कथि तु पद के प्रयोग का नाम ही 'स्यादाद' है। इसे ही कथि खिद्द-वाद या अनेकान्तवाद भी कहते हैं। मा

भावार्थ —प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण, धर्म या शक्तियां हैं। उन सब का कथन एक साथ एक शब्द से संभव नहीं है, इसलिए किसी एक गुण या धर्म के कथन करते समय बद्यपि वह मुख्य रूप से विव- श्चित होता है, तथापि शेष गुणों या घमों की विवक्षा न होते से उनका स्थाय नहीं हो जाता, किन्तु उस समय उनकी गीणता रहती है। जैसे गुलाब के फूल में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श स्थाद स्थानक गुण विद्यमान हैं, तो भी जब कोई मनुष्य यह कहता है कि देखों यह फूल कितना कोमल है, तब उसकी विवक्षा स्पर्श गुण की है। किन्तु फूल की कोमलता को कहते हुए उसके गन्ध स्थादि गुणों का स्थाय नहीं हो जाता, प्रत्युत यही कहा जायगा कि उस समय शेष गुणों की विवक्षा नहीं है। इस विवक्षा की स्पेक्षा से जो कथन होता है, उसे ही स्थाद्वाद, स्थानेकान्तवाद, स्थिशावाद स्थादि नामों से कहा जाता है।

द्राक्षा गुडः खण्डमथो सिताऽपि माधुर्वमायाति तद्कलापी । वैशिष्टचमित्यत्र न वक्तुमीशस्तस्मादवक्तव्यकथाश्रयी सः ॥९॥

दाख मिष्ट है, गुड़ मिष्ट है, खांड मिष्ट है और मिश्री मिष्ट है, इस प्रकार इन चारों में ही रहने वाले माधुर्य या मिठास को 'मिष्ट' इस एक ही शब्द से कहा जाता है। किन्तु उक्त चारों ही वस्तुओं में मिष्टता की जो तर-तमभावगत विशिष्टता है, उसे कहने के लिए हमारे पास कोई शब्द नहीं है। (तर और तम शब्द भी साधारण स्थिति को ही प्रकट करते हैं, पर उनमें परस्पर कितनी मिष्टता का अन्तर है, इसे वे भी व्यक्त नहीं कर सकते।) इसलिए उक्त भाव के अभिव्यक्त करने को 'अवक्तव्य' पद के कथन का ही आश्रय लेना पड़ता है। हा।

तुरुक्तताभ्येति कुरानभारादीशायिता वाविलवेकथारा । ततोस्तु वेदेऽयमुपैति विष्ठः स्याद्वाददृष्टान्त इयान् सुदीष्रः ॥१०॥

तुरुष्क (मुसलमान) 'कुरान' का आदर करता है, किन्तु ईसाई

उसे न मानकर 'बाइबिल' को मानता है। इन दोनों का ही 'बेद' में में आदर भाव नहीं है। किन्तु बाद्याण बेद को ही प्रमाण मानता है, कुरान और बाइबिल को नहीं। इस प्रकार 'स्याद्वाद' सिद्धान्त उक्त हुट्टान्त से बहुत अच्छी तह देदीप्यमान सिद्ध होता है॥ १०॥

भावार्थ — मुसलमान और ईसाई अपने-अपने धर्म प्रन्थ को ही प्रमाण मानते हैं, एक के प्रन्थ को दूसरा प्रमाण नहीं मानता है, इस अपेक्षा एक प्रन्थ एक के लिए प्रमाण है, तो दूसरे के लिए अप्रमाण है। कि न्तु ब्राह्मण दोनों को ही अप्रमाण मानते हैं और वेद को प्रमाण मानते हैं। इस हष्टान्त में मुसलमान और ईसाई परस्पर विरोधी होते हुए भी वेद को प्रमाण नहीं मानने में दोनों अविरोधी है, अर्थात एक हैं। इस प्रकार एक की अपेक्षा जो प्रन्थ प्रमाण है, बही दूसरे की अपेक्षा अप्रमाण है और तीसरे की अपेक्षा दोनों ही अप्रमाण हैं। इस स्थित को एक मात्र स्याद्वाद सिद्धान्त ही वयार्थतः कहने में समर्थ है, अन्य एकान्तवादी सिद्धान्त नहीं। इसी से स्याद्वाद की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

गोऽजोष्ट्रका वेरदलं चरन्ति वाम्ब्लसृष्ट्रश्छगलोऽप्यनन्तिन्। समत्ति मान्दारमजो हि किन्तु तान्येकभावेन जनाः श्रयन्तु ॥११॥

गाय, बकरी और ऊंट ये तीनों ही वेरी के पत्तों को खाते हैं, किन्तु बबूळ के पत्तों को ऊंट और बकरी ही खाते हैं, गाय नहीं। मन्दार (आकड़ा) के पत्तों को बकरी ही खाती है, ऊंट और गाय नहीं। किन्तु मनुष्य बेरी, बबूळ और आक इन तीनों के ही पत्तों को नहीं खाता है। इसिछए हे अनन्त धर्म के मानने वाले भव्य, जो वस्तु एक के लिए भक्ष्य या उपादेय है, बही दूसरे के लिए अभक्ष्य या हेय हो जाती है। इसे समझना ही स्याद्धाद है, सो सब लोगों को इसका ही एक भाव से आश्रय लेना चाहिए॥ ११॥

हंसस्तु शुक्रोऽसृगमुष्य रक्तः पदोरिदानीमसकौ विरक्तः। किरूपतामस्य वदेद्विवेकी भवेत्कर्थं निर्वचनान्वयेऽकी ॥१२॥

यद्यपि हंस बाहिर से शुक्त वर्ण है, किन्तु भीतर तो उसका रक्त छाल वर्ण का है, तथा उसके पर श्वेत और लाल दोनों ही वर्णों के होते हैं। ऐसी स्थिति में विवेकी पुरुष उसको किस रूप वाला कहे ? अतएव कथिब्बद्-वाद के स्वीकार करने पर ही उसके ठीक निर्दोष रूप का वर्णन किया जा सकता है।। १२॥

घूकाय चान्ध्यं दददेव भास्त्रान् कोकाय शोकं वितरन् सुवाबान्। अवस्तले किन्न पुनर्धियापि अस्तित्वमेकत्र च नास्तितापि ॥१३॥

देखो – इस भूतल पर प्राणियों को प्रकाश देने वाला सूर्य उल्लू को अन्धपना देता है और सब को शान्ति देने वाला चन्द्रमा कोक पक्षी को प्रिया-वियोग का शोक प्रदान करता है ? फिर बुद्धिमान् लोग यह बात सत्य क्यों न मानें कि एक ही वस्तु में किसी अपेक्षा अस्तित्व धर्म भी रहता है और किसी अपेक्षा नास्तित्व धर्म भी रहता है ॥ १३॥

पटं किमञ्चेद् घटमाप्तुमुक्तः नोचेत्प्रवन्धः क इह प्रयुक्तः । घटस्य कार्यः न पटः श्रियेति घटः स एवं न पटत्वमेति ॥१४॥

घड़े को लाने के लिए कहा गया पुरुष क्या कपड़ा लायगा ? नहीं; क्योंकि घड़े का काम कपड़े से नहीं निकल सकता। अर्थात प्यासे पुरुष की प्यास को घड़ा ही दूर कर सकता है, कपड़ा नहीं। यदि ऐसा न माना जाय, तो फिर इस प्रकार के वाक्य-प्रयोग का क्या अर्थ रहेगा ? कहने का भाव यह है कि घड़े का कार्य कपड़ा नहीं कर सकता। और न घड़ा पट के कार्य को कर सकता है। यहा अपने जल-आहरण आदि कार्य को करेगा और कपड़ा अपने शीत-निवा-रण आदि कार्य को करेगा॥ १४॥

घटः पदार्थश्च पटः पदार्थः शैत्यान्त्रितस्यास्ति घटेन नार्थः। पिपासुरभ्येति यमात्मशक्त्या स्याद्वाद्मित्येतु जनो ऽति भक्त्या ॥१४

घट भी पदार्थ है और पट भी पदार्थ है, किन्तु ज्ञीत से पीड़ित पुरुष को घट से कोई प्रयोजन नहीं। इसी प्रकार प्यास से पीड़ित पुरुष घट को चाहता है, पट को नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि पदार्थपना घट और पट में समान होते हुए भी प्रत्येक पुरुष अपने अभीष्ट को ही प्रहण करता है, अनभीष्सित पदार्थ को नहीं। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य को स्याद्वाद सिद्धान्त भक्ति से स्वीकार करना चाहिए।। १४।।

स्यूतिः पराभृतिरिव भ्रुवत्वं पर्यायतस्तस्य यदेकतत्त्वम् । नोत्पद्यते नश्यति नापि वस्तु सत्त्वं सदैतद्विद्धत्समम्तु ॥१६॥

जैसे पर्याय की अपेक्षा वस्तु में स्यूति (उत्पत्ति) और पराभूति (विपत्ति या विनाश ) पाया जाता है, उसी प्रकार द्रव्य की अपेक्षा प्रवपना भी उसका एक तस्व है, जो कि उत्पत्ति और विनाश में बरावर अनुस्यूत रहता है। उसकी अपेक्षा वस्तु न उत्पन्न होती है और न विनष्ट होती है। इस प्रकार उत्पाद, व्यय और प्रव इन तीनों रूपों को धारण करने वाली वस्तु को ही यथार्थ मानता चाहिए॥ १६॥

भाष्ये निजीये जिनवाक्यसारम्पतञ्जलिश्चैतदुरीचकार।
तमाममीमांसकनाम को ऽपि स्ववार्त्तिके भट्टकुमारिलो ऽपि ॥१७॥

जिन भगवान के स्थाद्वाद रूप इस सार वाक्य को पत जिल महर्षि ने भी अपने भाष्य में स्वीकार किया है, तथा मीमांसक मत के प्रधान व्याख्याता कुमारिल भट्ट ने भी अपने ऋोक-वार्त्तिक में इस स्याद्वाद सिद्धान्त को स्थान दिया है।। १७॥

भ्रुवांशमाख्यान्ति गुणेति नाम्ना पर्येति यो ऽन्यद्द्वितयोक्तशामा । द्रव्यं तदेतद् गुणपर्ययाभ्यां यद्वा ऽत्र सामान्यविशेषता ऽऽभ्याम् ॥१८

ज्ञानी जन वस्तु-गत घ्रुवांश को 'गुण' इस नाम से कहते हैं और अन्य दोनों धर्मों को अर्थात् उत्पाद और व्यय को 'पयीय' इस नाम से कहते हैं। इस प्रकार गुण और पर्याय से संयुक्त तस्त्र को, अथवा सामान्य और विशेष धर्म से युक्त तस्त्र को 'द्रव्य' इस नाम से कहा जाता है।। १८॥

सद्भिः परैरातुलितं स्वभावं स्वव्यापिनं नाम द्धाति तावत् । सा ान्यमुर्ध्वं च तिरश्च गत्वा यदस्ति सर्वं जिनपस्य तत्त्वात् ॥१९

जो कोई भी वस्तु है, वह आगे-पीछे होने वाली अपनी पर्यायों में अपने स्वभाव को व्याप्त करके रहती है, इसी को सन्त लोगों ने ऊर्ध्वता सामान्य कहा है। तथा एक पदार्थ दूसरे पदार्थ के साथ जो समानता रखता है, उसे तिर्यक् सामान्य कहते हैं। इस प्रकार जिन-देव का उपदेश है।। १६॥

भावार्थ - सामात्य दो प्रकार का है - तिर्यक् सामात्य और ऊर्ध्वता सामात्य। विभिन्न पुरुषों में जो पुरुषत्व-सामात्य रहता है, उसे तिर्यक् सामात्य कहते हैं। तथा एक ही पुरुष की वाल, युवा और बृद्ध अवश्या में जो अधुक व्यक्तित्व रहता है, उसे ऊर्ध्वता सामात्य कहते हैं। प्रत्येक वस्तु में यह दोनों प्रकार का सामान्य धर्म पाया

अन्यैः समं सम्भवतो ऽप्यसुष्य व्यक्तित्वमस्ति स्वयमेव पुष्यत् । यथोत्तरं नृतनतां दधान एवं पदार्थः प्रतिभासमानः ॥२०॥

अन्य पदार्थों के साथ समानता रखते हुए भी प्रत्येक पदार्थ अपने ड्यक्तित्व को स्वयं ही कायम रखता है, अर्थात् दूसरों से अपनी भिन्नता को प्रकट करना है। यह उसकी ट्यितरेक रूप विशेषता है। तथा वह पदार्थ प्रति समय नवीनता को धारण करता हुआ प्रतिभास-मान होता है, यह उसकी पर्यायरूप विशेषता है॥ २०॥

भावार्थ—वस्तु में रहने वाला विशेष धर्म भी दो प्रकार का है-व्यतिरेक रूप और पर्याय रूप। एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में जो असमानता या विलक्षणता पाई जाती है, उसे व्यतिरेक कहते हैं और प्रत्येक द्रव्य प्रति समय जो नवीन रूप को धारण करता है, उसे पर्याय कहते हैं। यह दोनों प्रकार का विशेष धर्म भी प्रत्येक पदार्थ में पाया जाता है।

समस्ति निन्यं पुनरप्यनित्यं यत्प्रत्यभिज्ञाख्यविदा समित्यम् । कुतोऽन्यथा स्याद् व्यवहारनाम स्रक्तिं पवित्रामिति संश्रयामः॥२१

द्रव्य की अपेक्षा वस्तु नित्य है और पर्याय की अपेक्षा वह अनित्य है। यदि वस्तु को सर्वथा नित्य कूटस्थ माना जाय, तो उसमें अर्थिक्या नहीं बनती है। और यदि सर्वथा क्षण-भंगुर माना जाय, तो उसमें 'यह वही है' इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता। अत्यप्त वस्तु को कथि जात नित्य और कथि जित् अनित्य मानना पड़ता अत्यप्त वस्तु को कथि जात नित्य और कथि जित् अनित्य मानना पड़ता

है। अन्यथा लोक-व्यवहार कैसे संभव होगा। इसलिए लोक-व्यवहार के संचालनार्थ हम भगवान् महाबीर के पवित्र अनेकान्तवाद का ही आश्रय लेते हैं।। २१॥

दीपेऽञ्जनं वार्दकुले तु श्रम्पां गत्वाऽम्युश्रौ वाडवमप्यकम्पा । मेथा किलाम्माकमियं विभाति जीयादनेकान्तपदस्य जातिः ॥२२॥

दीपक में अञ्जन, बादलों में विजली और समुद्र में बढ़वानल को देखकर हमारी बुद्धि नि:शङ्क रूप से स्वीकार करती है कि भग-वान का अनेकान्तवाद सदा जयवन्त है।। २२॥

भावार्थ—दीपक भासुराकार है. तो भी उससे काला काजल उत्पन्न होता है। बादल जलमय होते हैं, फिर भी उतसे अप्रिक्ष बिजली पेदा होती है और समुद्र जल से भरा है, फिर भी उससे बाडवाप्ति प्रकट होती है। इन परस्पर-विशोधी तस्त्रों को देखने से यही मानना पड़ता है कि प्रत्येक पदार्थ में अनेक धर्म है। इसी अनेक धर्मारमकता का दूसरा नाम अनेकान्त है। इसकी सदा सर्वत्र विजय होती है।

सेना-बनादीन गदतो निरापद् दारान् स्त्रियं किञ्च जलं किलापः। एकत्र चैकत्वमनेकताऽऽपि किमक्तभर्तु न धियाऽभववापि।।२३॥

जिसे 'सेना' इस एक नाम से कहते हैं, उसमें अनेक हाथी, घोड़े और पयादे होते हैं। जिसे 'वन' इस एक नाम से कहते हैं, उनमें नाना जाति के बृक्ष पाये जाते हैं। एक स्त्री को 'दारा' इस बहुवचन से, तथा जल को 'अप्' इस बहुवचन से कहते हैं। इस प्रकार एक ही वस्त में एकत्व और अनेकत्व की प्रतीति होती है। फिर हे अह (वत्स), क्या तुम्हारी बुद्धि इस एकानेकात्मक रूप अनेकान्ततस्य को स्त्रीकार नहीं करेगी। अर्थात् तुम्हें उक्त व्यवहार को देखते हुए अनेकान्ततस्य को स्वीकार करना ही चाहिए॥ २३॥

द्रव्यं द्विधैतचिदचित्प्रभेदाचिदेष जीवः प्रभुरात्मवेदात्। प्रत्यक्रमन्यः स्वकृतैकभोक्ता यथार्थतः स्वस्य स एव मोक्ता ॥२४॥

जो द्रव्य सरसामान्य की अपेक्षा एक प्रकार का है, वही चेतन और अचेतन के भेद से दो प्रकार का है। उनमें यह जीव चेतन द्रव्य है जो अपने आपका वेदन (अनुभवन) करने में समर्थ है, प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, अपने किये हुए कमीं का स्वयं ही भोक्ता है और यथार्थत: अपने आपका विमोक्ता भी यही है।। २४।।

मत्राङ्गत्र इत्समागमेभ्यश्विच्चेन्न भ्यादसमोऽम्रकेभ्यः । कृतः स्पृतिर्वा जनुरन्तरस्यानवयरूपात्र च भूरिशः स्यात् ॥२४॥

कुछ लोग एसा कहते हैं कि मदिरा के श्रंग-भूत गुड़-पीठी श्रादि के संयोग से जंसे मदशक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार पृथ्वी श्रादि चार भूत द्रव्यों के संयोग से एक चेतन शक्ति उत्पन्न हो जाती है, वस्तुतः चेतन जीव नाम का कोई पदार्थ नहीं है। किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि गुड़-पीठी श्रादि में तो कुछ न कुछ मद शक्ति रहती ही है, वही उनके संयोग होने पर श्रधिक विक-सित हो जाती है। किन्तु पृथ्वी श्रादि भूत चतुष्ट्य में तो कोई चेतनाशक्ति पाई नहीं जाती। श्रादः उनसे वह विलक्षण चेतन्य कैसे उत्पन्न हो सकता है ? दूसरी बात यह है कि यदि जीव नाम का कोई चेतन पदार्थ हो हो नहीं, तो किर लोगों को जो जन्म। तर की स्पृति

आज भी निर्दोष रूप से देखने में आती है। वह कसे संभव हो। तथा भूत-प्रेतादि जो आपने पूर्व भवों को कहते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, उनकी सत्यता कसे बने। आतएव यही मातना चाहिए कि अचेतन पृथ्वी आदि से चेतन जीव एक स्वतन्त्र पदार्थ है।। २४॥

| निजेङ्गितात्ताङ्गविशेषभावात्संसारिणोऽभी ह्यचराश्चरा वा । तेषां श्रमो नारकदेवमर्त्यतिर्यक्तया तावदितः प्रवर्त्यः ॥२६॥

अपने शुभाशुभ भावों से उपार्जित कभी के द्वारा शरीर-विशेषों को धारण करते हुए ये जीव सदा संसार में पिरश्रमण करते हुए चले आ रहे हैं, अत: इन्हें संसारी कहते हैं। ये संसारी जीव दो प्रकार के हैं चर (त्रस) और अचर (स्थावर)। जिनके केवल एक शरीर रूप स्पर्शनेन्द्रिय होती हैं, उन्हें अचर या स्थावर जीव कहते हैं और जिनके स्पर्शनेन्द्रिय के साथ रसना आदि दो, तीन, चार या पांच इन्द्रियां होती हैं उन्हें चर या त्रस जीव कहते हैं। नारक, तिर्थंच, मनुष्य और देवगित के भेद से वे जीव चार प्रकार के होते हैं। नारक, देव और मनुष्य तो त्रस जीव हैं और तिर्थंच त्रस तथा स्थावर दोनों प्रकार के होते हैं। इस प्रकार से जीवों के और भी भेद-प्रभेद जानना चाहिए।। रहा।

नरत्वमाष्त्वा भ्रुवि मोहमायां मुञ्चेदमुञ्चेच्छिवतामथायात् । नोचेत्पुनः प्रत्यववर्तमानः संसारमेवाश्चति चिन्निधानः ॥२०॥

संसार में परिश्रमण करते हुए जो जीव मनुष्य भव को पाकर मोह-माया को छोड़ देता है, वह शिवपने को प्राप्त हो जाता है अर्थात् कर्म-बन्धन से छूट जाता है। किन्तु जो संसार की मोह-माया को नहीं छोड़ता है, वह चंतन्य का निधान (भरडार) होकर भी चतुर्यति में परिश्रमण करता हुआ संसार में ही पड़ा रहता है।। २०।। पुलिः पृथिव्याः कणशः सचित्तास्तत्काधिकैराईतस्कवितात् । अचेतनं भस्म सुधादिकन्तु शौचार्थमेतन्मुनयः श्रयन्तु ॥२८॥

(उपर्युक्त देव, नारकी और मनुष्यों के सिवाय जितने भी संसारी जीव हैं, वे सब तियंच कहलाते हैं। वे भी पांच प्रकार के हैं—एके-दिन्न, द्वीन्द्रिय, बीन्द्रिय, चनुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। इनमें एकेन्द्रिय जीव भी पांच प्रकार के हैं — पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक।) पृथ्वी ही जिनका श्रारीर है, ऐसे जीवों को पृथ्वीकायिक कहते हैं। पृथ्वी की धृलि, पत्थर के कण आदिक सचित्त हैं, क्योंकि उन्हें अईत्परमातम में पृथ्वीकायिक जीवों से युक्त कहा गया है। जली हुई पृथ्वी की भस्म, चूना की कली आदि पाथिव वस्तुएं अचेतन हैं, शौच-शुद्धि के लिए मुनिजनों को इस भस्म आदि का ही उपयोग करना चाहिए॥ २६॥

संगालिते वारिणि जीवनन्तु तत्कायिकं किन्तु न तत्र जन्तुः। ततः समुष्णीकृतमेव वारि पिवत्यही संयमिनामधारी ॥२९॥

सभी प्रकार के जल के भीतर जलकायिक जीव होते हैं, जल ही जिनका शरीर है उन्हें जलकायिक कहते हैं। वस्न से गालित (छाने हुए) जल में भी जलकायिक जीव रहते हैं। हां, छान लेने पर उसमें त्रस जीव नहीं रहते। इसलिए वस्न-गालित जल को अच्छी तरह उदण करके प्रामुक बना लेने पर ही संयमी नाम-धारी पुरुष उसे पीते हैं।। २६॥

नान्यत्र सस्मिश्रणकृत्प्रशस्तिर्विद्धिश्च सञ्जीवनभृत्समस्ति । भोज्यादिकेष्वाचपदस्त्वजीवभावं भजेड्रो सुतपःपदी वः ॥३०॥ अपि ही जिनका शरीर है उन्हें अप्रिकायिक जीव कहते हैं। जैसे काष्ट्र, कोयला आदि के जलाने से उत्पन्न हुई सभी प्रकार की अप्रि, बिजली, दीपक की ली आदि। किन्तु जो अप्रि मोज्य पदार्थों में प्रविष्ट हो चुकी है, वह सचित्त नहीं है, किन्तु अचित्त है। पर जो अन्य पदार्थों में मिश्रण को नहीं प्राप्त हुई है, ऐसे घघकते अगार आदि सचित्त ही हैं, ऐसा जान कर हे सुतपस्त्री जनो, आप लोग अचित्त अप्रि का उपयोग करें।। ३०।।

#### प्रत्येक-साधारणभेदभिन्नं वनस्पतावेवमवेहि किन्न । भो विज्ञ ! पिण्डं तनुमत्तनृतां चिदस्ति चेते सुतरापद्वा ॥३१॥

वृक्ष, फल, फूल आदि में रहने वाले एकेन्द्रिय जीव वनस्पति कायिक कहलाते हैं। प्रत्येक और साधारण के भेद से वनस्पति कायिक जीव दो प्रकार के होते हैं। हे विज्ञ जनो, क्या तुम लोग वनस्पति के पिएड को सचेतन नहीं मानते हो १ अग्नि-पक्ष या शुष्क हुए विना पत्र, पुष्प, फलादि सभी प्रकार की वनस्पति को सचित्त ही जानना चाहिए॥ ३१॥

एकस्य देहस्य युगेक एव प्रत्येकमाहेति जिनेगदेवः । यत्रैकदेहे बहवोऽङ्गिनः स्युः साधारणं तं भवदुःखदस्युः ॥३२॥

जिस एक वनस्पति रूप देह का एक जीव ही खामी होता है, उसे जिनेन्द्रदेव ने प्रत्येक वनस्पति कहा है। जैसे नारियळ, खजुर आदि के वृक्ष । जिस एक वनस्पति रूप देह में अनेक वनस्पति जीव रहते हैं, उसे साधारण वनस्पति कहते हैं। जैसे कन्द मूळ आदि। साधारण वनस्पति का मक्षण संसार के अनन्त दु:खों को देने वाळा है। ३२।।

यद्ग्निसिद्धं फलपत्रकादि तत्प्रासुकं श्रीविश्वना न्यगादि । यच्छुष्कतां चाभिद्धचृणादि खादेचदेवासुमतेऽभिवादी ॥३३॥

जो पत्र, फल आदिक आग्न से पक जाते हैं, अथवा सूर्य की गर्मी, आदि से शुष्कता को प्राप्त हो जाते हैं, उन्हें ही श्री जिनेन्द्रदेव ने प्राप्तक (निर्जीव) कहा है। प्राणियों पर दया करने वाले संयमी जनों को ऐसी प्राप्तुक वनस्पति ही खाना चाहिए॥ ३३॥

वातं तथा तं सहजप्रयातं सचित्तमाहाखिलवेदितातः। स्यात्स्पर्शनं हीन्द्रियमेतकेषु यत्प्रासुकत्वाय न चेतरेषु ॥३४॥

वायु (पवन) ही जिनका शरीर है, ऐसे जीवों को वायुकायिक कहते हैं। सहज स्वभाव से बहने वाली वायु को सर्वे देव ने सचित्त कहा है। सभी वायुकायिक जीवों के एक स्पर्शनेद्रिय ही होती है। यह वायु भी प्रयोग-विशेष से प्राप्तक या अचित्त हो जाती है किन्तु इतर त्रस जीवों का शरीर कभी भी अचित्त नहीं होता है॥ २४॥

कृमिर्घु णोऽलिर्नर एवमादिरेकैकवृद्धेन्द्रिययुग् न्यगादि। महात्मभिस्तचनुरत्र जातु केनाप्युपायेन विचिन्न भातु । ३५॥

कृमि (लट) घुण, कीट, अमर और मनुष्य आदि के एक-एक अधिक इन्द्रिय होती है। अर्थात् लट, शंख, कें चुआ आदि द्वीन्द्रिय जीवों के स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां होती हैं। घुण, कीड़ी- मकोड़ा आदि त्रीन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना और बाण ये तीन मकोड़ा आदि त्रीन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना और बाण ये तीन इन्द्रियां होती हैं। अमर, मिक्षका, पतंगा आदि चतुरिन्द्रिय जीवों के इन्द्रियां होती हैं। अमर, मिक्षका, पतंगा आदि चतुरिन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना, बाण और चतु ये चार इन्द्रियां होती हैं। मनुष्य, स्पर्शन, रसना, बाण और चतु ये चार इन्द्रियां होती हैं।

देव, नारकी और गाय, भैंस, घोड़ा आदि पंचेन्द्रिय जीवों के कर्ण सहित उक्त चारों इन्द्रियां होती हैं। इन द्वीन्द्रियादि जीवों का शरीर किसी भी उपाय से अचित्त नहीं होता, सदा सचित्त ही बना रहता है, ऐसा महर्षि जनों ने कहा है।। १४।।

अचित्पुनः पञ्चविधत्वमेति रूपादिमान् पुर्गल एव चेति । भवेदणु-स्कन्धतया स एव नानेत्यपि प्राह विभुषु दे वः ॥३६॥

अनेतन द्रव्य पांच प्रकार का होता है—पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश और काल। इनमें पुद्गल द्रव्य ही रूपादिवाला है, अर्थात् पुद्गल में ही रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पाया जाता है, अत: वह रूपी या मूर्च कहलाता है। शेष चार द्रव्यों में रूपादि गुण नहीं पाये जाते, अत: वे अरूपी या अमूर्च कहलाते हैं। पुद्गल के अगु और स्कन्ध रूप से दो भेद हैं। पुनः स्कन्ध के भी बादर, सूक्ष्म आदि की अपेक्षा नाना भेद जिन भगवान् ने कहे हैं। आप लोगों को प्रमोद-वर्धक जितना कुल दिखाई देता है, वह सब पुद्गल द्रव्य का ही वैभव है।। ३६।।

गतेर्निमित्तं स्वसु-पुरुत्तेभ्यः धर्मं जगद्-व्यापिनमेतकेभ्यः । अधर्ममेतद्विपरीतकार्यं जगाद सम्वेदकरोऽर्हदार्यः ॥३७॥

जीव और पुद्गल द्रव्यों को गमन करने में जो निमित्त कारण है, उसे धर्म द्रव्य कहते हैं। इससे विपरीत कार्य करने वाले द्रव्य को, अर्थात् जीव और पुद्गलों के ठइरते में सहायक निमित्त कारण को अधर्म द्रव्य कहते हैं। ये दोनों ही द्रव्य सर्व जगन् में ब्याप्त हैं, ऐसा विश्व-ज्ञायक अर्द्द वे ने कहा है।। ३७॥

नभोऽवकाशाय किलाखिलेभ्यः कालः परावर्तनकृत्तकेभ्यः। एवं तु पड्द्रव्यमयीयमिष्टिर्यतः सम्रुत्था स्वयमेव सृष्टिः॥३८॥

जो समस्त द्रव्यों को अपने भीतर अवकाश देता है, उसे आकाश द्रव्य कहते हैं। और जो सर्व द्रव्यों के परिवर्तन कराने में निमित्त कारण होता है, उसे काल द्रव्य कहते हैं। इस प्रकार यह समस्त जगत् पट् द्रव्यमय जानना चाहिए। इसी से यह सब सृष्टि स्वत: सिद्ध उत्पन्न हुई जानना चाहिए॥ ३८॥

भावार्थ—इस षट् द्रव्यमयी छोक को किसी ने बनाया नहीं है। यह स्वतः सिद्ध अनादि-निधन है। इसमें जो भी रचना दृष्टि-गोचर होती है, वह भी स्वतः उत्पन्न हुई जानना चाहिए।

न सर्वथा नूत्नमुदेति जातु यदस्ति नश्यत्तदथो न भातु । निमित्त-नैमित्तिकभावतस्तु रूपान्तरं सन्दधदस्ति वस्तु ॥३९॥

कोई भी वस्तु सर्वथा नवीन उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार जो वस्तु विद्यमान है, वह भी कभी नष्ट नहीं होती है। किन्तु निमित्त-नेमित्तिक भाव से प्रत्येक वस्तु नित्य नवीन रूप को बारण करती हुई परिवर्त्तित होती रहती है, यही वस्तु का वस्तुत्व धर्म है।। ३६॥

भावार्थ —यद्यपि वस्तु के परिणमन में उसका उपादान कारण ही प्रधान होता है, तथापि निमित्त कारण के विना उसका परिणमन नहीं होता है, अत्राप्व निमित्त-नैमित्तिक भाव से वस्तु का परिणमन कहा जाता है।

समस्ति वस्तुत्वमकाटयमेतन्नोचेत्किमाश्वासनमेतु चेतः। यदग्रितः पाचनमेति कर्तु जलेन तृष्णामथवाऽपहर्तुम् ॥४०॥ प्रत्येक वस्तु का वस्तुत्व धर्म अकाट्य है, वह सर्वदा उसके साथ रहता है। यदि ऐसा न माना जाय, तो मनुष्य का चित्र कैसे किसी वस्तु का विश्वास करे ? देखो — किसी वस्तु के पकाने का कार्य अग्नि से ही होता है और प्यास दूर करने के लिए जल से ही प्रयोजन होता है। अग्नि का कार्य जल नहीं कर सकता और जल के कार्य को अग्नि नहीं कर सकती। वस्तु की वस्तुता यही है कि जिसका जो कार्य है, उसे वही सम्पन्न करे। ॥ ४० ॥

बीजादगोऽगादुत बीज एवमनादिसन्तानतया सुदे वः । सर्वे पदार्थाः पश्चतो मनुष्या न कोऽप्यमीपामधिकार्यनु स्यात् ॥४१

बीज से वृक्ष होता है और वृक्ष से बीज उत्पन्न होता है। यह परम्परा अनादिकाल से बराबर सन्तान रूप चली आ रही है। इसी अकार पशु, मनुष्य आदिक सभी पदार्थ अपने-अपने कारणों से उत्पन्न होते हुए अनादि से चले आ रहे हैं। इन पदार्थों का कोई अधिकारी या नियन्ता ईश्वर आदि नहीं है, जिसने कि जगत् के पदार्थों को बनाया हो। सभी चेतन या अचेतन पदार्थ अनादिकाल से स्वयं सिद्ध हैं। ४१।।

चेत्कोऽपि कर्तेति पुनर्यवार्थं यवस्य भ्याद्वपनं व्यपार्थम् । प्रभावकोऽन्यस्य भवन् प्रभाव्यस्तेनार्थं इत्येवमतोऽस्तु भाव्यः ॥४२

यदि जगत् के पदार्थों का कोई ईश्वरादि कर्त्ता-धर्त्ता होता, तो फिर जो के लिए जो का बोना व्यर्थ हो जाता। क्योंकि वही ईश्वर विना ही बीज के जिस किसी भी प्रकार से जो को उत्पन्न कर देता। फिर विवक्षित कार्य को उत्पन्न करने के लिए उसके कारण-कलापों के अन्वेषण की क्या आवश्यकता रहती? अतएव यही मानना युक्ति-

संगत है कि प्रत्येक पदार्थ स्त्रयं प्रभावक भी है और स्वयं प्रभाव्य भी है, अर्थात् अपने ही कारण कळापों से उत्पन्न होता है और अपने कार्य-विशेष को उत्पन्न करने में कारण भी वन जाता है। जैसे बीज के ळिए वृक्ष कारण है और बीज कार्य है। किन्तु वृक्ष के ळिए वही कार्य रूप बीज कारण बन जाता है और वृक्ष उसका कार्य बन जाता है। यही नियम विश्व के समस्त पदार्थों के ळिए जानना चाहिए॥ ४२॥

> सूर्यस्य वर्मत इहोत्थितमस्ति पश्य वाष्पीभवयद्पि वारि जलाशयस्य। तस्यैव चोपरि पतेदिति कारणं किं विश्वप्रबन्धकनिबन्धविधासृदङ्किन् ॥ ४३ ॥

देखो — जलाशय (सरोवरादि) का जल सूर्य के घाम से भाप बन कर उठता है और आकाश में जाकर बादल बन कर उसी के ऊपर वरसता है और जहां आवश्यकता होती है, वहां नहीं बरसता है, इसका क्या कारण है ? यदि कोई ईश्वरादिक विश्व का प्रवन्धक या नियामक होता, तो किर यह गड़बड़ी क्यों होती। इसी प्रकार ईश्वर को नहीं मानने वाला सुत्वी जीवन व्यतीत करता है और दूसरा रात-दिन ईश्वर का भजन करते हुए भी दुत्वी रहता है, सो इसका क्या कारण माना जाय ? आवएव यही मानना चाहिए कि श्रत्येक जीव अपने ही कारण-कलापों से सुत्वी या दुत्वी होता है, कोई दूसरा सुत्व या दु:स्व को नहीं देता।। ४३॥

यदभावे यन्न भवितुमेति तत्कारणकं तत्सुकथेति । कुम्भऋदादिविनेव घटादि किभितरकल्पनयाऽस्त्वभिवादिन् ॥ १४॥ न्याय शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि जिसके अभाव में जो कार्य न हो. वह तत्कारणक माना जाता है। जैसे कुम्भकार आदि के विना घड़ा उत्पन्न नहीं होता, तो वह उसका कारण या कर्ता कहा जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक कार्य अपने अपने अविना-भावी कारणों से उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में हे अभिवादिन, ईश्वरादि किसी अन्य कारण की कल्पना करने से क्या लाभ है।।४॥।

इस विषयका विस्तृत विवेचन प्रमेयकमलमार्तण्ड, आप्न-परीक्षा, अष्टसहस्री आदि न्याय के प्रन्थों में किया गया है। अतः यहां पर् अधिक कथन करने से विराम लेते हैं।

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्धे जः स सुषुवे भ्रामलेत्याह्ययं वाणीभृषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् । सर्गे ऽङ्को न्दुसमङ्किते तदुदिते ऽनेकान्ततत्त्वस्थितिः श्रीवीरप्रतिपादिता समभवत्तस्याः पुनीतान्वितिः ॥१९॥

इस प्रकार श्रीमान सेठ चतुर्भु ज और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए, वाणीभूषण, वाल-ब्रह्मचारी पं० भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञान-सागर-विरचित इस वीरोदय काव्य में वीर-भगवान द्वारा प्रति-पादित अनेकान्तवाद और वस्तुतत्त्व की स्थिति का वर्णन करने वाला यह उन्नीसवां सर्ग समाप्त हुआ।। १६॥



# अथ विंशतितमः सर्गः

जिना जयन्त् चमसीख्यक्ष्पाः सम्मोहदंशाय सम्रत्थधूपाः। विश्वस्य विज्ञानि पदैकभूपा दर्पादिसर्पाय तु ताक्ष्यस्पाः॥१॥

जो उत्तम खतीन्द्रिय सुख के भएडार हैं, मोह रूप डांस-मच्छरों के लिए दशांगी धूप से उठे हुए धूस्र के समान हैं, जिन्होंने विश्व भर के ज्ञेय पदार्थों को जान लेने से सर्वज्ञ पद को प्राप्त कर लिया है और जो दप (अहंकार) मात्मर्य खादि सर्पों के लिए गरुड़-स्वरूप हैं, ऐसे जगज्जयी जिनेन्द्र देव जयवन्त रहें ॥ १ ॥

सम्रुत्थितः स्नेहरुडादिदोषः पटेऽञ्जनादीव तदन्यपोषः। निरीहता फेनिलतोऽपसार्यं सन्तोषवारीत्युचितेन चार्यः!।।२॥

जैसे श्वेत वस्त्र में अंजन (काजल) आदि के निमित्त से मिल-नता आ जाती है, उसी प्रकार निर्मल आत्मा में भी स्तेह (राग) हेप आदि दोष भी अन्य कारणों से उत्पन्न हुए समझता चाहिए। जैसे वस्त्र की कालिमा साबुन और निर्मल जल से दूर की जाती है, उसी प्रकार हे आर्थ, निरीहता (वीतराग) रूप फेनिल (साबुन) और सन्तोष रूप जल से आत्मा की मिलनता को दूर करना चाहिए।।रा।

नकादिभिर्वक्रमथाम्बु यद्वन्नदस्य ते ज्ञानिमदं च तद्वत् । मदादिभिर्भाति ततो न वस्तु-सम्वेदनायोचितमेतदस्तु ॥३॥

जैसे मगर-मच्छों के द्वारा उन्मधित जल वाले नदी-सरोवरा-दिक के अन्तस्तल में पड़ी हुई वस्तुएं स्पष्ट हिटगोचर नहीं होती, उसी प्रकार मद-मात्सर्यादि के द्वारा उत्मधित तेरा यह ज्ञान भी अपने भीतर प्रतिविभ्वित समस्त ज्ञेयों की जानने में असमर्थ ही रहा है।। ३।।

नैरचल्यमाप्त्वा विलसेयदा तु तदा समस्तं जगदत्र भातु । यदीक्ष्यतामिन्धननाम बाद्यं तदेव भृयादुत बिह्नदाद्यम् ॥४॥

जब यह आत्मा क्षोभ-रहित निश्चलता को प्राप्त होकर विलित होता है, तब उसमें प्रतिबिन्बित यह समस्त जगत् स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगता है; क्योंकि क्षेय पदार्थों को जानना ही ज्ञान रूप आत्मा का स्वभाव है। जैसे बाहिरी दाह्य इन्यन को जलाना दाहक रूप अग्निका काम है, उसी प्रकार बाहिरी समस्त क्षेयों को जानना ज्ञायक रूप आत्मा का स्वभाव है।। ४।।

भविष्यतामत्र सतां गतानां तथा प्रणालीं द्धतः प्रतानाम् । ज्ञानस्य माहात्म्यमसाववाधा-वृत्तोः पवित्रं भगवानथाऽधात् ॥५॥

भविष्य में होने वाले, वर्तमान में विद्यमान और भूतकाल में उत्पन्न हो चुके ऐसे वेकालिक पदार्थों की परम्परा को जानना निरावरण ज्ञान का माहात्म्य है। ज्ञान के आवरण दूर हो जाने से सार्वकालिक वस्तुओं को जानने वाले पवित्र ज्ञान को सर्वज्ञ भगवान् धारण करते हैं, अतः वे सर्व के ज्ञाता होते हैं। ४॥

भूतं तथा भावि खपुष्पवद्वा निवेधमानोऽपि जनोऽस्त्वसद्वाक् । तमप्रये त्विन्धनवासमस्य जलायितस्यं करकेषु परयन् ॥६॥

जो कार्य हो चुका, या आगे होने वाला है वह आकाश-कुमुम

के समान श्रमद्-रूप है श्रीर श्रमत् पदार्थ को विषय करने वाला ज्ञान सम्यक्तान केसे हो सकता है ? ऐसा कहने वाला मनुष्य भी सम्यक् भाषी नहीं है, क्योंकि अग्नि के लिए इन्धन एकत्रित करने वाला मनुष्य इन्धन में श्रारो होने वाली श्रिप्त पर्याय को देखता है श्रीर करकों (श्रोलों) में जल तत्त्व को वह देखता है, श्रयीत् वह जानता है कि जल से श्रोले बने हुए हैं। किर यह कैसे कहा जा सकता है कि मूत श्रीर भावी वस्तु श्राद्-रूप है, कुल भी नहीं है।। ई।।

त्रैकालिकं चाक्षमतिश्च वेत्ति कुतो ऽन्यथा वार्थ इतः क्रियेति । अस्माकमासाय भवेदकम्या नाष्ट्या प्रजा पातुमुपैति कंका ॥७॥

उपर्युक्त कथन से यह बात सिद्ध होती है कि सर्वज्ञ के ज्ञान की तो बात ही क्या है, हमारा-तुम्हारा इन्द्रिय जन्य ज्ञान भी कथं-चित् कुछ त्रिकालवर्ती वस्तुओं को जानता है। अन्यथा मनुष्य किसी भी पदार्थ से कोई काम नहीं ले सकेगा। देखों—पानी को देखकर प्यासा मनुष्य क्या उसे पीने के छिए नहीं दौड़ता १ अर्थात् दौड़ता ही है। इसका अभिप्राय यही है कि पानी के देखने के साथ ही उसके पीने से मिटने वाली प्यास का भी ज्ञान उसे हो गया है। तभी तो वह नि:शक्क होकर उसे पीवेगा और अपनी प्यास को बुझावेगा। ७।

प्रास्कायिको ऽङ्गान्तरितं यथेति सौगन्धिको भूमितलस्थमेति । को विस्मयस्तत्र पुनर्यतीशः प्रच्छन्नवस्त् चितसम्मतिः सः ।।८॥

इसी प्रकार प्रच्छन्न (गुप्त) वस्तुत्रों का ज्ञान भी लोगों को होता हुआ देखा जाता है। देखो—प्रास्कायिक-(अङ्ग-निरीक्षक) एक्स रे यन्त्र के द्वारा शरीर के भीतर छिपी हुई वस्तु को देख लेता है और सौगन्धिक (मूमि को सृंघ कर जानने वाला) मनुष्य पृथ्वी के भीतर लिए या दबे हुए पदार्थों को जान लेता है। किर यदि अतीन्द्रिय ज्ञान का धारक यतीश्वर देश, काल और मूमि आदि से प्रच्लित स्थार दूर-वर्ती पदार्थों को जान लेता है, तो इसमें विश्मय की क्या वात है।। 5।।

यथैति दूरेक्षणयन्त्रशकत्या चन्द्रादिलोकं किन्नु योगमकत्या। स्वर्गादिहब्दावधुनातियोगः सोऽतीन्द्रियो यत्र किलोपयोगः। १।।।

देखो — दूर-दर्शक यन्त्र की शक्ति से चन्द्रलोक आदि में स्थित वस्तुओं को आज मनुष्य प्रत्यक्ष देख रहे हैं। फिर योग की शक्ति से स्वर्ग-नरक आदि के देखने में क्या आपित आती है ? योगी पुरुष आतीन्द्रिय ज्ञान के धारक होते हैं, वे स्वर्गादि के देखने में उस अतीन्द्रिय ज्ञान का उपयोग करते हैं, ऐसा मानने में कोई आपित नहीं होनी चाहिए।। ६।।

एको न स्वीमिप दृष्टुमर्हः विमन्द्दृष्टिः कलितात्मगर्हः। परो नरश्चेत त्रसरेणुदृककः किन्नाम न स्याद्णुमाद्धत्कः॥१०॥

एक मन्द दृष्टि वाला पुरुष सूई को भी देखने के लिए समर्थ नहीं है, इसलिए वह अपनी मन्द दृष्टि की निन्दा करता है और दूसरा सूक्ष्म दृष्टि वाला मनुष्य त्रसरेगा (अति सूक्ष्म रजांश) को भी देखता है और अपनी सूक्ष्म दृष्टि पर गर्व करता है। फिर योग-दृष्टि से कोई पुरुष परमाग्नु जैसी सूक्ष्म वस्तु को क्यों नहीं जान लेगा।। १०।।

न्यगादि वेदे यदि सर्ववित्कः निषेधयेतं च पुनः सुचित्कः। श्रुत्यैव स स्यादिति तूपक्लृष्तिः शासेन किं वा दपदोऽपि दक्षिः॥११ यदि वेद में सर्ववेत्ता होने का उल्लेख पाया जाता हैं, तो फिर कौन सुचेता पुरुष उस सर्वज्ञ का निषेश्व करेगा १ यदि कहा जाय कि श्रुति (वेद-वाक्य) से ही वह सर्वज्ञ हो सकता है, श्रन्यथा नहीं, तो यह तभी सम्भव है, जब कि मनुष्य में सर्वज्ञ होने की शक्ति विद्य-मान हो । देखों — मणि के भीतर चमक होने पर ही वह शाण से प्रकट होती है । क्या साधारण पाषाण में वह चमक शाण से प्रकट हो सकती है १ नहीं । इसका अर्थ यही है कि मनुष्य में जब सर्वज्ञ बनने की शक्ति है, तभी वह श्रुति के निमित्त से प्रकट हो सकती है ।। ११ ।।

सूची क्रमादश्चिति कौतुकानि करण्डके तत्क्षण एव तानि । भवन्ति तद्वद्भुवि नस्तु बोध एकैकशो सुक्त इयात्र रोधः ॥१२॥

जैसे सूई माला बनाते समय कम-क्रम से एक-एक पुष्प को प्रहण करती है किन्तु हमारी दृष्टि तो टोकरी में रखे हुए समस्त पुष्पों को एक साथ ही एक समय में प्रहण कर लेती है। इसी प्रकार हमारे छद्मास्य जीवों का इन्द्रिय-ज्ञान कम-कम से एक-एक पदार्थ को जानता है। किन्तु जिनका ज्ञान त्रावरण से मुक्त हो गया है, वे समस्त पदार्थों को एक साथ जान लेते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है।। १२।।

किन्नानुगृह्णाति जगज्जनो ऽपि सेना-बनाद्ये कपदन्तु को ऽपि । समस्तवस्तृत्युपयातु तद्वद् विरोधनं भाति जनाः कियद्वः ॥१३॥

हमारे जैसा कोई भी संसारी मनुष्य सेना, वन श्रादि एक पद को ही सुनकर हाथी, घोड़े, रथ, पियादों के समृह को वा नाना प्रकार के वृक्षों के समुदाय को एक साथ जान लेता है, फिर सर्वज्ञ प्रभु का अतीन्द्रिय ज्ञान यदि समस्त वस्तुओं को एक साथ जान लेवे, तो इसमें आप छोगों को कौनसा विरोध प्रतीत होता है।। १२।।

समेति भोज्यं युगपनमनस्तु सुखं क्रमेणात्ति तदेव वस्तु । सुक्तान्ययोरीदशसेव भेदसुवैमि भो सज्जन नष्टखेदः ॥१४॥

हे सजानो, देखो — याळी में परोसे गये समस्त मोज्य पदार्थों को हमारा मन तो एक साथ ही ब्रहण कर लेता है, अर्थान् प्रत्येक वस्तु के भिन्न-भिन्न स्वादों को एक साथ जान लेता है, किन्तु उन्हों वस्तुओं को मुख एक-एक ब्रास के कम से ही खाता है। यस, इसी प्रकार का भेद आवरण-विमुक्त अतीन्द्रिय ज्ञानियों के और आवरण-यक्त इन्द्रिय ज्ञान वाले अन्य छोगों के ज्ञान में जानना चाहिए।।१४।

उपस्थिते वस्तुनि वित्तिरस्तु नैकान्ततो वाक्यमिदं सुवन्तु । स्वप्नादिसिद्धरिह विभ्रमस्तु भो भद्र ! देशादिकृतः समातु ॥१५

यदि कहा जाय कि वर्तमान काल में उपस्थित वस्तु का तो ज्ञान होना ठींक है, किन्तु जो वस्तु है ही नहीं, ऐसी भूत या भविष्य-स्वालीन अविद्यमान वस्तुओं का ज्ञान होना कैसे संभव है ? तो यह कहना भी एकान्त से ठींक नहीं है, क्योंकि स्वप्नादि से अविद्यमान भी वस्तुओं का ज्ञान होना सिद्ध है। यदि कहा जाय कि स्वप्नादि का ज्ञान तो विश्रम रूप है, मिथ्या है, सो हे भद्र पुरुष, यह कहना ठींक नहीं है, क्योंकि स्वप्न में देखी गई वस्तु का देश-कालादि-कृतभेद हो सकता है, किन्तु सर्वथा वह ज्ञान मिथ्या नहीं होता ॥ १४॥

मावार्थ-स्वप्त में देखी गई वस्तु भले ही उस समय उस देश में न हो, किन्तु कहीं न कहीं किसी देश में और किसी काल में तो उसका अस्तित्व है ही । इसलिए वह सर्वथा मिध्या रूप नहीं है।

यद्वा स्मृतेः साम्प्रतमर्थजातिः किमस्ति या सङ्गतये विभाति । सा चेदसत्याऽनुमितिः कथं स्यादेवन्तु चार्वाकमतप्रशंसा ॥१६॥

ख्यवा स्वप्न ज्ञान को रहने दो। स्मरण ज्ञान का विषयभूत पदार्थ समूह क्या वर्तमान में विद्यमान है। वह भी तो देशान्तर और कालान्तर में ही गहता है। फिर अविद्यमान वस्तु के ज्ञान को सत्य माने विना स्पृति ज्ञान के प्रमाणता की संगति के लिए क्या खाधार मानोगे। यदि कहा जाय कि स्पृति तो असत्य है, प्रमाण रूप नहीं है; तो फिर अनुमान ज्ञान के प्रमाणता कैसे मानी जा सकेगी ? क्योंकि कार्य-कारण के अविनाभावी सम्बन्ध के स्मरण-पूर्वक ही तो अनुमान ज्ञान उत्पन्न होता है। यदि कहा कि अनुमान ज्ञान भी अवस्तु है— अप्रमाण रूप है—तव तो चार्वक (नास्तिक) मत ही प्रशंसनीय हो जाता है, जो कि केवल एक प्रत्यक्ष वस्तु के ज्ञान को ही प्रमाण मानता है।। १६॥

स चात्मनो ऽभीष्टमनिष्टहानि-पुरस्सरं केन करोतु मानी । ततो ऽनुमापि प्रतिपादनीया या चा ऽविनाभ्स्पृतितो हि जीयात्॥१७

यदि कहा जाय कि अनुमान ज्ञान को प्रमाण नहीं मानना हमें अभीष्ट है, तो हम पूछते हैं कि किर अनुमान के विना आप चार्वाक लोगों के लिए अनिष्ट परलोक आदिका निषेध कैसे संभव होगा ? इसलिये चार्वाकों को भी अपने अभीष्ट सिद्धि के लिये अनुमान को प्रमाण मानने पर स्पृति को प्रमाण मानना ही पड़ेगा, क्योंकि को प्रमाण मानना ही एड़ेगा, क्योंकि अनुमान तो साध्य-साधन के अविनाभाव-सम्बन्ध की स्पृति से ही अनुमान तो साध्य-साधन के अविनाभाव-सम्बन्ध की स्पृति से ही

जीता है। इस प्रकार जब बीती हुई बात को जानने वाला हम लोगों का स्मरण-झान प्रमाण सिद्ध होता है, तब भूत और भविष्य की बातों को जानने वाला सर्वज्ञ का श्रतीन्द्रिय ज्ञान कैसे प्रमाण न माना जायगा ? श्रतएव सर्वज्ञ के भूत-भावी वस्तु-विषयक ज्ञान को प्रमाण मानना ही चाहिए॥ १७॥

#### श्रुताधिगम्यं प्रतिपध वस्तु नाध्यक्षमिच्छेदिति कोऽयमम्तु । दुराग्रहोऽपास्य गुरुं विनेयमभीच्छतो यद्वदहो प्रणेयः ॥१८॥

परोक्ष ज्योतिष शास्त्र आदि से ज्ञात होने वाले सूर्य-प्रहण, चन्द्र-प्रहण आदि वातों को स्त्रीकार करके भी यदि कोई अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा ज्ञात होने वाली वस्तुओं को स्वीकार न करे, तो उसे दुराप्रह के सिवाय और क्या कहा जाय ? क्योंकि प्रत्यक्ष-दृष्टा के वचनों को ही शास्त्र कहते हैं। इसलिए प्रत्यक्ष-दृष्टा सर्वज्ञ को स्वीकार करना चाहिए। जैसे गुरु के विना शिष्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार सर्वद्शी शास्ता के विना शास्त्र का होना संभव नहीं है। १८॥

#### यदस्ति वस्तृदितनामधेयं ज्ञेयं न भृयात्तु कुतः प्रशेयम् । ज्ञेयं तद्यक्षमपीति नीतेस्तत्पृर्वकत्वाद्परप्रणीतेः ॥१९॥

जो कोई भी वस्तु है, वह ज्ञेय है, श्रीर ज्ञेय को किसी न किसी ज्ञान का विषय अवश्य होना चाहिए। यदि वस्तु को ज्ञेय न माना जाय, तो उसको प्रणेय (ज्ञातच्य या वर्णन-योग्य) केसे माना जा सकेगा। अतएव प्रत्येक वस्तु ज्ञेय है, वह किसी न किसी के प्रत्यक्ष होना ही चाहिए। क्योंकि अन्य सत्र ज्ञानों का मूळ आधार तो प्रत्यक्ष ज्ञान ही है। इस प्रत्यक्ष ज्ञान-पूर्वक ही अन्य ज्ञान प्रस्तुत होते हैं। अतः सम्पूर्ण पदार्थों का प्रत्यक्ष-हच्टा भी कोई न कोई अवस्य है, यह बात निश्चित होती हैं।। १६।।

नालाकसापेक्षमुल्कजातेज्ञीनं द्युत्पन्नमहो यथा ते । नासन्नतापेक्ष्यमिदं भविनः प्रत्यक्षमीयस्य समस्तु किन्न ॥२०॥

यदि कहा जाय कि आलोक (प्रकाश आदि बाहिरी साधनों की सहायता से ही हमें पदार्थों का ज्ञान होता है, तब उसके बिना अतीन्द्रिय ज्ञानी को पदार्थों का ज्ञान कसे हो जायगा १ सो यह कहना भी ठीक नहीं है, कारण कि उल्लू आदि रात्रियर जीवों को आलोक आदि के बिना भी ज्ञान होता हुआ देखा जाता है। इस-खिए आलोक आदि की अपेक्षा से ज्ञान होता है, यह कथन दूषित सिद्ध होता है। यदि कहा जाय कि आसन्नता (निकटता) की अपेक्षा पदार्थों का ज्ञान होता है, सो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि दूर-वर्ती भी पदार्थों का ज्ञान होता है, सो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि दूर-वर्ती भी पदार्थों का ज्ञान होता है, सो यह अहना भी ठीक नहीं, क्योंकि दूर-वर्ती भी पदार्थों का ज्ञान होता है, सो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि दूर-वर्ती भी पदार्थों का ज्ञान होता है, तब इस उल्लू-गिद्ध आदि को भी प्रकाश और सामीप्य के बिना अध्यक्तर-स्थित एवं दूर-वर्ती पदार्थों का ज्ञान होना संभव है, तब हे भव्य प्राणी, सर्व-दर्शी ईश्वर को सब का प्रत्यक्ष ज्ञान होना क्यों न संभव माना जाय।। २०॥

शातमानमशं प्रति वर्तते यत् प्रत्यक्षमित्याह पुरुः पुरेयत् । यदिन्द्रियाद्यौरुपजायमानं परोक्षमर्थाद्भवतीह मानम् ॥२१॥

विश्वदक्षा सर्वज्ञ का ज्ञान प्रत्यक्ष होकर भी इन्द्रिय, आलोक आदि की सहायता के विना ही उत्पन्न होता है। भगवान् पुरु (ऋषभ) देव ने आक्षं आत्मानं प्रति यद् वर्तते, तत्प्रत्यक्ष' ऐसा कहा है। अर्थात् जो ज्ञान केवल आस्मा की सहायता से उत्पन्न हो, वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है और जो ज्ञान इन्द्रिय, आलोक आदि की सहायता से उत्पन्न होता है, वह ज्ञान जनागम में वस्तुतः परोक्ष ही माना गया है॥ २१॥

सर्वज्ञतामाप च वर्धमानः न श्राद्धिकोऽयं विधिरेकतानः। ताथागतोक्ते ऽध्ययनेऽपि तस्य प्रशस्तिभावाच्छृणु भो प्रशस्य॥२२

श्री वर्धमान स्वामी ने सर्वज्ञता को प्राप्त किया था, यह वात केवल श्रद्धा का ही विषय नहीं है, ऋषितु इतिहास से भी सिद्ध है। देखो -- ताथागत (बौद्ध-) प्रतिपादित मिन्झिमिनकाय ऋदि प्रत्यों में भी तिगांथ नाठपुत्त भगवान् महाबीर को दिन्य ज्ञानी ऋौर जन्मा-न्तरों का वेता कहा गया है। ऋतएव हे भन्योत्तम, बौद्ध प्रत्यों की उक्त प्रशस्ति से तुम्हें भी भगवान् महाबीर को सर्वज्ञ मानना चाहिए।। २२।।

भावार्थ — इस प्रकार जब एक महावीर के सर्वज्ञता सिद्ध हो जाती है, तब उन जैसी वीतरागता को प्राप्त करने वालों के भी सर्व-ज्ञता मानने में कोई आपत्ति नहीं रह जाती है। अतः सर्वज्ञ का सद्भाव मानना चाहिए।

वृथाऽभिमानं वजतो विरुद्धं प्रगच्छतोऽस्माद्पि हे प्रशुद्ध । प्रवृत्ति रेतत्पथतः समस्ति ततोऽस्य सत्यानुगता प्रशस्तिः ॥२३॥

इसलिए हे प्रबुद्ध (जागरूक) भव्य, व्यर्थ के अभिमान को प्राप्त होकर भगवान महाबीर वे द्वारा प्रतिपादित सार्ग से विरुद्ध चलना ठीक नहीं है। क्योंकि उनके द्वारा प्रतिपादित अनेकास्तवाद के मार्ग से ही लोकिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक जगत् की प्रवृत्ति समी-चीन रूप से चल सकती है, अन्यथा नहीं। इसलिए भगवान् महा-वीर की सर्वज्ञता-सम्बन्धी प्रशस्ति सत्यानुगत (सच्ची) है, यह अनायास ही स्वत सिद्ध हो जाता है॥ २३॥

### ज्ञानाद्विना न सद्वाक्यं ज्ञानं नैराश्यमञ्चतः। तस्मालमो नमोहाय जगतामतिवर्तिने ॥२४॥

पूर्ण या सत्य ज्ञान के विना सद्-वाक्य संभव नहीं हैं और निराशा, निरीहता एवं वीतरागता को प्राप्त पुरुष के ही पूर्ण सत्य ज्ञान हो सकता है, अन्य के नहीं। इसलिए जगत् से पर-वर्ती अर्थात् जगडजं जालों से रहित उस विमोही महात्मा के लिए हमारा नमस्कार है।। २४।।

यज्ज्ञानमस्तसकलप्रतिबन्धभावाद्
व्याप्नोति विश्वगपि विश्वभवांश्र भावात्।
मद्रं तनोतु भगवान् जगते जिनोऽसावङ्कोऽस्य न स्मयत्याभिनयादिदोषाः ॥२४॥

जिनका ज्ञान समस्त प्रतिबन्धक कारणों के दूर हो जाने से सर्व विश्व भर के पदार्थों को व्याप्त कर रहा है, अर्थात् जान रहा है और जिनके भीतर मद, मत्सर, आवेग, राग, द्वेषादि दोष नहीं हैं, ऐसे वे जिन भगवान् समस्त संसार का कल्याण करें।। २४

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भ जः स सुषुवे भूरामलेत्याह्ययं वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् । सर्वज्ञत्वयुताह वीरभगवान् यत्प्राणिनां भृषणं सर्गे खाक्षिभिते तदीयगदिते व्यक्तं किलाद्षणम् ॥२०॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भु ज और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए, वाणी-भूषण, बाल ब्रह्मचारी, पं० भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञात-सागर-विरचित इस वीरोद्य काव्य में भगवान् महावीर की सर्वज्ञता का प्रतिपादन करने वाला वीसवां सर्ग समाप्त हुआ।। २०॥

-: 0: -

## अथैकविंशः सर्गः

शिवश्रियं यः परिशेतुमिद्धः समाश्रितो वल्लभतां प्रसिद्धः । धरातले वीक्षितुमईतां तं पतिं शस्त् प्राप किलैककान्तम् ॥१॥

जो शिव-लक्ष्मी को विवाहने के लिए उद्यत हैं, सर्व बनों की वल्लभता को प्राप्त हैं, जगत् में प्रसिद्ध हैं, अरहन्तों के स्वामी हैं और श्राद्वितीय सुन्दर हैं, ऐसे भगवान् महावीर को देखने के लिए ही मानो शरद् ऋतु धरातल पर अवतीर्ण हुई ॥ १॥

ारिस्फुरचारकता ययाऽऽपि सिताम्बरा गुप्तपयोधरापि । ाठाशयं सम्प्रति मोदयन्ती शरन्नशेढेयमथात्रजन्ती ॥२॥

यह शरद्-ऋतु नव-विवाहिता की के समान आती हुई ज्ञात हो रही है। जैसे नवोड़ा स्त्री के नेत्रों की तारकाएं (पुतलियां) चंचल होती हुई चमकती हैं, उसी प्रकार यह शरद्-धृतु भी आकाश में ताराआं की चमक से युक्त हैं। जैसे नवोढा वधु स्वच्छ वस्त्र धारण करती हैं, उसी प्रकार यह शरद्-ऋतु भी स्वच्छ आकाश को धारण कर रही है। जैसे नवोढा अपने पयोधरों (स्तनों) को गुप्त रखती है, उसी प्रकार यह शरद्-ऋतु भी पयोधरों (बादछों) को अपने भीतर छिपा कर रख रही है। और जैसे नवोढा छोगों के हदयों को प्रमुद्दित करती है, उसी प्रकार यह शरद्-ऋतु भी जलाशयों में कमलों को विकसित कर रही है। २॥

## परिस्फुरत्पष्टिशरद् धराऽसौ जाता परिश्रष्टपयोधरा द्यौः। इतीव सन्तप्ततया गभस्तिः स्वयं यमाशायुगयं समस्ति ॥३॥

शरद्-ऋतु में साठी धान्य पक जाती है, आकाश बादलों से से रहित हो जाता है और सूर्य उत्तरायण से दक्षिणायन हो जाता है। इस स्थिति को लक्ष्य में रख कर इस श्लोक में व्यंग्य किया गया है कि अपनी धरा रूप स्त्री को साठ वर्ष की हुई देखकर, तथा शौ नाम की स्त्री को अष्ट-पयोधरा (लटकते हुए स्तनों वाली) देखकर ही मानों सूर्य सन्तप्त चित्त होकर स्वयं भी यमपुर जाने के लिए तत्पर हो रहा है।। ३।।

पुरोदकं यद्विषदोद्भवत्वात्सुधाकरस्यायकरेष्ट्र तत्वात् । पयस्तदेवास्ति विभृतिपाते बलीयसी सङ्गतिरेव जातेः ॥४॥

वर्षा ऋतु में जो जल विषद् अर्थात् मेघों से, पक्षान्तर में विष देने वालों से उत्पन्न होने के कारण लोगों को अतीव कष्ट-कारक प्रतीत होता था, वही अब शरद्-ऋतु में सुधा (अष्टत-) मय कर (हाथ) वाले सुधाकर (चन्द्रमा) की किरणों का सम्पर्क पाने से दूध जैसा स्वच्छ एवं सुस्वादु बन गया। नीतिकार कहते हैं कि जाति की अपेक्षा संगति ही वलवती होती है।। ४॥

विलोक्यते हंसरवः समन्तान्मीनं पुनर्भोगश्चजो यदन्तात् । दिवं समाकामति सत्समृहः सेवं शरधोगिसभाऽस्मरृहः ॥४॥

किव कहते हैं कि हमारे विचार से यह शरद-ऋतु योगियों की सभा के समान प्रतीत होती है। जैसे योगियों की सभा में 'श्रहं सः' (मैं वही परमात्म-रूप हूँ) इस प्रकार ध्यान में प्रकट होने वाला शब्द होता है, उसी प्रकार इस शरद-ऋतु में हंतों का सुन्दर शब्द प्रकट होने लगता है। तथा जैसे योगियों की सभा में भोगों को भोगने वाले भोगी-जन मौन-धारण करते हैं, उभी प्रकार इस शरद-ऋतु में भोगों श्रयीत सपीं को खा जाने वाले मयूर गण बोलना बन्द कर मीन धारण कर लेते हैं। इसी प्रकार जैसे योगियों की सभा में सज्जतों का समूद स्वर्ग पाने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार इस शरद ऋतु में तारागण आकाश में चमकते हुए आगे बढ़ने का प्रयत्न करते हैं। १॥

स्फुरत्पयोजातमुखी स्वभावादङ्के शयालीन्द्रकुशेशया वा । शरन्ख्रियं दृष्टुमपङ्कपात्री विस्कालिताक्षीव विभाति धात्री ॥६॥

शरद्-ऋतु में पृथ्वी पर कमल खिलने लगते हैं और उन पर आकर भोरे बेठते हैं, तथा सारी पृथ्वी की चड़-रहित हो जाती है। इस स्थिति को देखकर किव उत्प्रेक्षा करते हुए कहते हैं कि निर्मल पात्र बाली पृथ्वी विकसित कमल-मुखी हो कर भ्रमर रूप नेत्रों को धारण करती हुई मानों अपने नेत्रों को खोल कर शरद् ऋतु की शोभा देखती हुई शोभित हो रही है।। ६।। इत प्रसादः कुमुदोदयस्य श्रीतारकाणान्तु ततो वितानम् । मरालवालस्तत इन्दुचालः सरोजलं च्योमतलं समानम् ॥७॥

इरद् ऋतु में सरोवर का जल और गगन-तल एक समान दिखते हैं। देखो—इधर सरोवर में तो कुमुद-(श्वेत कमल) के उदय का प्रसाद होता है, अर्थात् श्वेत कमल खिल जाते हैं और उधर नाराओं को कान्ति का विस्तार हो जाता है। इधर सरोवर में मराल-(इस-) का बालक चलता हुआ दृष्टिगोचर होता है और उधर चन्द्रमा की चाल दृष्टिगोचर होती है॥ ७॥

नभोगृहे प्राग्विपदेरुद्ढे चान्द्रीचयैः क्षालननामगृहे । विकीर्य सत्तारकतन्दुलानीन्दुदीपमञ्चेत्क्षणदा त्विदानीम् ॥८॥

जो आकाश रूप गृह पहिले विष-(जल) दायी मेघों से उपगृह व्याप्त) अर्थात् विष-दृषित था, वह अब चिन्द्रका रूप जल-समृह से प्रक्षालित हो गया है। अतएव उसमें इस समय मंगल के लिए ही मानों रात्रि ने चन्द्रमा रूप दीपक रखकर तारा रूप चांवलों को विखेर दिया है। म।

तारापदेशाननणिमुष्ठिमारात्त्रतारयन्ती विगताधिकारा । सोमं शरत्सम्मुखनीक्षनाणा रुपेत्र वर्षा तु कृतप्रयाणा ॥९॥

सोम (चन्द्रमा) को शरद् ऋतु के सम्मुख गया हुआ देखकर अपने अधिकार से रहित हुई वर्षा ऋतु मानों रोष से ताराओं के बहाने मुद्दी में भरे हुए मणियों की फेंक कर प्रतारणा करती हुई वहां से शीव चली गई॥ ६॥ जियांसुरप्येणगणः शुभानासुपान्तभृच्छालिकवालिकानाम् । सुगीतिरीतिश्रवशेशितेति न शालिमालं स पुनः समेति ॥१०॥

धान्य चरने के लिए आया हुआ सग-समृह धान्य रखाने वाली सुन्दर बालिकाओं के द्वारा गाये जाने वाले मधुर गीतों के सुनने में इस प्रकार तल्लीन हो जाता है कि वह धान्य को चरना भूल जाता है और फिर धान्य की क्यारियों में नहीं आता है। १०॥

जिता जिताम्भोधरसारभाषां रुतैस्तामी पततामुदासाः । उन्मूलयन्ति स्वतन्त्साणि शिखावला आश्विनमासि तानि ॥११॥

इस शारदीय आश्विन मास में मेघों की भी गम्भीर वाणी को जीतने वालें हंसों के शब्दों से हम लोग पराजित हो गये हैं, यह सोच करके ही मानों उदास हुए मयूर गण अपने शरीर की पांशों को उखाइ-उखाइ कर फेंकने लगते हैं।। ११।।

सेत्रेम्य आकृष्य फलं खलेषु निक्षिण्यते चेत्क्रपकैन्तु तेषु । फलेशवेषः कुनरेशदेशः को वाऽनयोरस्तु निथी विशेषः ॥१२॥

जब किसान लोग उत्पन्न हुई धान्य को खेतों में से ला-लाकर खलों (खलियानों ख्रीर पक्षान्तर में दुर्जन पुरुषों) में फेंक रहे हैं, तब यह शरद काल खोटे राजा के देश के समान है, क्योंकि उन दोनों में परस्पर क्या विशेषता है ? अर्थान् कुल भी नहीं ॥ १२ ॥

स्मरः शरयस्ति जनेषु कोषी तपस्त्रिनां धैर्रमुणो व्यलोषि। यतो दिनेशः समुपैति कन्याराशि किलासीमतपोधनोऽपि॥१३॥ शरद् ऋतु में कामदेव मनुष्यों पर कुपित होता है और तपस्वी तनों के भी धर्य गुण का लोप कर देता है। क्योंकि असीम तपोधन बाला अर्थात् प्रचुर ताप को धारण करने वाला सूर्य भी इस समय सिंह-राशि को छोड़ कर कन्या-राशि को प्राप्त होता है।। १३।।

भावार्थ - सूर्य जैसा तेजस्त्री देव भी इस शरत् काल में कामा-सक्त होकर अपनी सिंह वृत्ति को छोड़ कन्याओं के समृह पर आ पहुँचता है। यह आश्चर्य की बात है।

ते शारदा गन्धवहाः सुवाहा वहन्ति सप्तच्छद्गन्धवाहाः।
सन्मैथनस्लानवध्विहारातिमन्थरामोदमयाधिकाराः॥१४॥

वे शरत्-कालीन हवाएं, जो सप्तपर्ण बृक्षों की सुगन्ध को लेकर बहा करती हैं, वे इस समय मैंथुन-प्रसंग से शिथिल हुई बधुओं के समीप विहार करने से ऋति मन्थर (मन्द) गति वाली और आमोद-युक्त ऋधिकार वाली होकर काम-वासना को बढ़ाने में और भी ऋधिक सहायक हो जाती हैं।। १४॥

मही-महाङ्के मधुविन्दुवृन्दैः सुपिच्छिले पान्थ इतोऽपि विष्वक् । सरोजिनीं चुम्बति चञ्चरीके निक्षिप्तदृष्टिः स्खलतीति शरवत् ॥१५

फूलों के मधु-बिन्दुओं के समृह से अति पिन्छिल (कीचड़-युक्त ) हुए इस भूमएडल पर चलने वाला पिथक जब कमिलनी को चूमते हुए असर के ऊपर अपनी हिन्द डालता है, तब अपनी प्राण-प्रिया की याद कर पग-पग पर स्विलित होने लगता है।। १४॥

तल्लीनरोलम्बपमाजराजि-च्याजेन जाने शरदाऽङ्कितानि । नामाक्षराणीव मनोभवस्यातिपेशले पद्मदलेऽर्पितानि ॥१६॥ श्रति सुन्दर कमल-दल पर आकर निश्चल रूप से बैठे हुए भ्रमर-पंक्ति के बहाने से मानों शरद ऋतु ने कामदेव की प्रशस्ति के अन्नर ही लिख दिये हैं, ऐसा प्रतीत होता है ॥ १६ ॥

रमा समासाय भुजेन सख्याः स्कन्यं तदन्यार्धवयात्तमध्या । पन्थाननीपन्महता धुतान्तःकुचाञ्चला कस्य कृतेऽक्षिकृदा ॥१७॥

इस शरद् ऋतु में मन्द-मन्द चलती हुई हवा से जिसके स्तनों का आंचल कम्पित हो रहा है, ऐसी कोई प्रोषित-भर्त का नारी एक हाथ अपनी सखी के कन्धे पर रख कर और दूसरा हाथ अपनी कमर पर रख कर खड़ी होकर किस भाग्यवान के लिए प्रतीक्षा करती हुई मार्ग को देख रही है।। १७॥

स्वयं शर्च्चामग्पुष्पिणीयं छत्रं पुनः सप्तपलाशकीयम् । हंसध्यनिर्वन्धनतो विश्वक्तः स्मरस्तु साम्राज्यपदे नियुक्तः ॥१८॥

इस शरद्-ऋतु में ऐसा प्रतीत होता है, मानों कामदेव साम्राज्य पद पर नियुक्त हुआ है, जिसके चंबर तो फूले हुए कांस हैं और सप्त-पर्ण के पत्र ही मानों छत्र हैं। तथा राज्याभिषेक की खुशी में कारा-गार के बन्धन से त्रिमुक्त हंसों की ध्वनि ही गाई जाने वाली विकदावली है।। १६॥

अनन्यजन्यां रुचिमाप चन्द्र आत्मप्रियायामिति कोऽस्त्वमन्द्रः। इत्येवमेकान्ततयाऽनुराग-सम्वर्धनोऽभूच्छरदो विभागः॥१९॥

इस समय चन्द्रमा भी अपनी प्राणिप्रया रात्रि में ऐसी अनन्य-जन्य कान्ति को धारण कर रहा है, जैसी कि उसने शेष पांचों सतुबाँ में कभी नहीं धारण की थी। इस समय कीन ऋालशी पुरुष अपनी प्राण-प्यारी के प्रति उदासीन रहेगा ? इस प्रकार शरद्-ऋतु का यह समय-विभाग एकान्त रूप से लोगों में ऋपनी श्चियों के प्रति ऋनुराग बढ़ाने वाला हो रहा है।। १६॥

अपि मृदुभावाधिष्ठशरीरः सिद्धिश्रियमनुसर्तुं वीरः । कार्त्तिककृष्णाब्धीन्दुनुमायास्तिथेर्निशायां विजनस्याज्यात् ॥२०॥

ऐसी शरद्-ऋतु में ऋति मृदुछ शरीर को धारण करने वाले भगवान् महावीर भी मुक्ति-छक्ष्मी को प्राप्त करने के छिए कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि में एकान्त स्थान को प्राप्त हुए।। २०॥

पावानगरोपवने मुक्तिश्रियमनुगतो महावीरः । तस्या वर्त्मानुसरन् गतोऽभवत् सर्वथा धीरः ॥२१॥

उसी रात्रि के अन्तिम समय में वे धीर वीर महावीर पावा-नगर के उपवन में मुक्ति-लक्ष्मी के अनुगामी बने और उसके मार्ग का अनुसरण करते हुए वे सदा के लिए चले गये॥ २१॥

प्रापाथ ताद्दगनुबन्धनिबद्धभावं प्रत्यागतो न भगवान पुनरद्य यावत् । तस्या मुखाम्बुरुहि सङ्गतद्दिरस्मात् तस्येव भाक्तिकजनानिष दृष्टुमस्मान् ॥ २२ ॥

इसके पश्चात् भगवान् महावीर उस सिद्धि-वध् के साथ ऐसे अनुराग भाव से निबद्ध हुए कि वहां से वे आज तक भी छौट कर वापिस नहीं आये। वे उस सिद्धि-वध् के मुख-कमल पर ऐसे आसक्त दृष्टि हुए कि हम भक्त जनों को देखने की भी उन्हें याद नहीं रही ॥ २२ ॥

देवैर्नरेरिप परस्परतः समेतै-दीपावळी च परितः समपादि एतैः । तद्वर्त्म शोशितुमित्राथ तकैः स हृतः नव्यां न मोक्तुमशकत्सहसात्र प्तः ॥२३॥

भगवान् महाबीर के मुक्ति-वधू के पास चले जाने पर उनका मार्ग शोधन करके के लिए ही मानों देवों और मनुष्यों ने परस्पर मिलकर चारों और दीपावली प्रक्वलित की, उन्हें हूं हा और पुकारा भी। किन्तु वे पवित्र भगवान् उस नब्य दिव्य मुक्ति-वध् को सहसा छोड़ने के लिए समर्थ न हो सके।। २३।।

सोऽसी स्वशिष्यगुरुगीतममात्मनीने कैवल्यशर्मणि नियुक्तमगादहीने । कृत्वेति सिद्धिवनितामनुतामचिन्तः रेसे स्म किं पुनरुदीक्षत इक्तिनीं तत् ॥ २४ ॥

वे भगवान् महावीर अपने महान् केवलज्ञान मयी अनत्त सुख रूप सिंहासन पर अपने प्रधान शिष्य गौतम गणधर को नियुक्त करके गये, इमलिए उन्हें हम लोगों के संभालने की चिन्ता न रही और इसी कारण वे उस आनन्द-दायिनी मुक्ति-वध् के प्रेम में अतन्य रूप से संलग्न हो गये॥ २४॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भु जः स सुषुवे भ्रामलेत्याह्वयं वाणीभ्षणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् । तस्या साबुपयाति सर्ग उत सा चन्द्राक्षिसंख्ये कृतिः सम्प्राप्ते अस्दागमेऽनु सन बृद्धीरप्रश्चर्निवृतिम् ॥२१॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भु ज श्रौर घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए, बाणी-भूषण, बाल-त्रह्मचारी, प० भूरामल वर्तमान सुनि ज्ञान-सागर विरचित इस वीरोदय काज्य में भगवान् महावीर के निर्वाण-गमन को वर्णन करने वाला इकीसवां सर्ग समाप्त हुआ।। २१॥

-: :: -

## अथ द्वाविंशः सर्गः

वीरस्तु धर्मिनित यं परितोऽनपायं विज्ञानतस्तुलितमाह जगद्धिताय । तस्यानुयाथिधृतविस्मरणादिदोषा-द्याऽभृद्या क्रमगतोच्यत इत्यहो सा ॥१॥

वीर भगवान् ने सर्व प्रकार से निर्दोष और विज्ञान-सन्तुलित जिस धर्म का उपदेश जगत् भर के प्राणियों के हित के लिए दिया था, उस धर्म की जो दशा भगवान् महावीर के ही अनुयायियों द्वारा विस्मरण आदि दोष से हुई, वह क्रम से यहां पर कही जाती है।।१॥

मो मो प्रपश्यत पुनीतपुराणपन्था विश्वस्य शैत्यपरिहारकृदेककन्या। आभद्रबाहु किल वीरमतानुगाना-मेका स्थितिः पुनरभूदसकी द्विदाना॥२॥ हे पाठको देखो-बह पवित्र, पुरातन (सनातन) धर्म-पन्य (सार्ग) विश्व की शीतता (जड़ता) को परिहार करने के छिए श्रद्धितीय कन्या (रिजाई) के समान था। उस धर्म के श्रनुयायियों की स्थिति भद्रबाहु श्रुतकेवछी तक तो एक रूप रही, पुनः वह दो धाराश्रों में परिणत हो गई।। २॥

कर्णाटकं स्थलमगात् स तु भद्रवाहु-र्यः वीरवाचि कुशलं मुनयः समाहुः । स्थौल्येन भद्र इति को ऽपि तदर्थवेता वीरस्य वाचमनुसन्धृतवान् सचेताः ॥३॥

जिन भद्रवाहु को सुनिजन वीर-वचन-कुशल (श्रुत केवली) कहते थे, वे भद्रवाहु तो उत्तर-प्रान्त में दुर्भिक्ष के प्रकोप से दक्षिण-प्रान्त के कर्णाटक देश को चले गये। इधर उत्तर-प्रान्त में रह गये स्थूलभद्र सुनि ने—जो कि अपने को वीर-वाणी के अर्थ-वेता और सुचेता मानते थे—उन्होंने महावीर के प्रवचनों का संप्रह किया। ३॥

ये स्पष्टशासनविदः खलु भद्रवाहो-स्तैरस्य कर्म सतुषं गदितं तदाहो। संशोधितं न निजचेष्टितमित्यनेन तेषां समं न समभून्मिलनं निरेनः ॥४॥

जो मुनिजन भद्रवाहु श्रुतकेवली के शासन के स्पष्ट जानकार थे, उन्होंने स्थूलभद्र के उक्त सम्रह को उस समय सदोष कहा और उसे संशोधन करने के लिए निवेदन किया। किन्तु उन्होंने अपनी कृति का संशोधन नहीं किया और इसी कारण उनका परस्पर निर्देखि सम्मिलन नहीं हो सका ॥ ४ ॥

यत्सम्प्रदाय उदितो वसनप्रहेण सार्थ पुरोपवसनादिविधी रयेण । यो वीरभावमतिवर्त्य सुकोमलत्व-शिक्षां प्रदातुमधितिष्ठति सर्वकृत्वः ॥५॥

इन स्थूलभद्र के उपदेश एवं आदेश से जो सम्प्रदाय प्रकट हुआ, वह वीर-भाव (सिंह वृत्ति) को गोण करके वन-वास छोड़कर पुर-नगरादि में रहने लगा और कठिन तपश्चरण एवं नग्नता के स्थान पर वस्त्र-धारणादि सुकुमारता की शिक्षा देने के लिए वेग से सर्व और फैल गया।। ४।।

देवर्द्धराप पुनरस्य हि सम्प्रदायी
यो विक्रमस्य शरवर्षश्रतोत्तरायी ।
सोऽङ्गारूयया प्रकृतशास्त्रविधिस्तदीयाऽऽमनायं च पुष्टिमनयज्ञगतामितीयान् ॥६॥

पुनः इन्हीं स्थूलभद्र की सम्प्रदाय वाले देवर्द्धि गणी उनसे पांच सौ वर्ष पीछे हुए। उन्होंने आचाराङ्ग आदि अंगनाम से प्रसिद्ध आगमों की रचना कर स्थूलभद्र के आम्नाय की पुष्टि की, जिससे कि उनका सम्प्रदाय जगत् में इतना अधिक फेल गया॥ ६॥

काँश्रित् पटेन सहितान् समुदीक्ष्य चान्या-नाहुर्दिगम्बरतया जगतोऽपि मान्याः।

### स्वाभाविकं सहजवेषमुपाददानान् वेदेऽपि कीर्चितगुणानमनुजास्तथा तान् ॥७॥

उस समय कितने ही बीर-मतानुयायी साधुत्र्यों को श्वेत पट-सिंहत देखकर छोग उन्हें सितपट या श्वेतास्वर कहने छो और वेद में भी जिनके गुणों का गान किया गया है ऐसे जगन्मान्य, सहज (जन्म-जात) स्वाभाविक नम्न वेप के धारक अन्य साधुत्र्यों को नम्नाट या दिगस्वर कहने छगे।। ७॥

वीरस्य वर्त्मान तकैः समकारि यत्नः
स्थातुं यथावदथ कः खलु मर्त्यरत्नः।
बाल्येऽपि यौवनवयस्यपि बृद्धतायां
तुल्यत्वमेव वसुधावलये सदाऽयात्।।८॥

उन लोगों ने भगवान् महावीर के मार्ग पर यथावत् स्थिर रहने के लिए भर-पूर प्रयत्न किया, किन्तु काल-दोष से वे उस पर यथापूर्व स्थिर न रह सके। जैसे कि कोई पुरुष-रत्न (श्रेष्ट-मनुष्य) प्रयत्न करने पर भी बालपन में, यौवन वय में और बृद्धावस्था में काल के निमित्त से होने वाले परिवर्तन में तुल्यता रखने के लिए इस भूतल पर कभी भी समर्थ नहीं हो सकता है।। पा

पार्श्वस्थसङ्गमबद्येन दिगम्बरेषु श्रीथन्यमापतितमाञ्च तपःपरेषु । तस्माचकेष्वकथिकैर्न वने निवासः कार्यः कलेरिति तमां समभूदिलासः ॥ ९ ॥ शिबिलता को प्राप्त हुए समीपवर्ती साधुआं की संगति के वश से तप में तरगर दिसम्बर साधुआं में भी शीध शिबिलता आ गई। इसलिए उनमें भी कितने ही आचार्थों ने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि साधुआं को इस काल में वन में निवास नहीं करना धाहिए। सो यह कलिकाल का ही महान् विलास है, ऐसा जानना धाहिए। है।

मन्दत्वमेवमभवत् यतीश्वरेषु तद्वच्छनैश्च गृहमेथिनुमाधरेषु । यादङ् नरे जगति दारवरेऽपि तादक् भूयात् क्रमः किमिति नेति महात्मनां दक्॥१०॥

इस प्रकार जैसे बड़े मुनि-यतीश्वरों में शिथिलता आई, उसी प्रकार घीरे-धीरे गृहस्थ श्रावकों में भी शिथिलता आ गई। सो महा-पुरुषों का यह कथन सत्य ही है कि जैसी प्रशृत्ति इस जगत् में मनुष्यों की होगी, वसी ही प्रशृत्ति स्लोजनों में भी होगी॥ १०॥

श्रीभद्रबाहुपद्पश्चमिछिन्द्भाव-भाक् चन्द्रगुप्तनुपतिः स बभूव तावत्। सम्पूर्णभारतवरस्य स एक शास्ता

तद्राज्यकाल इह सम्पद एव तास्ताः ॥११॥

श्री भद्रवाहु के चरण-कमलों के भ्रमर-भाव को धारण करने बाला चन्द्रगुप्त नाम का राजा उस समय हुआ। वह सम्पूर्ण भारत-वर्ष का श्रद्धितीय शासक था। उसके राज्य-काल में यहां पर प्रजा को सुख देने वाली सभी प्रकार की सम्पत्तियां प्राप्त थीं॥ ११॥ मीर्यस्य पुत्रमथ पौत्रसुपेत्य हिन्दु-स्थानस्य संस्कृतिरभूदधुनैकविन्दुः। पश्चादनेकनरपालतया विभिन्न-विश्वासवाञ्जनगणः समभृतु खिन्नः॥१२॥

चन्द्रगुप्त मीर्य का पुत्र विन्दुसार और उसका पौत्र अशोक और तत्पश्चात् सम्प्रति आदि श्रेष्ठ राजाओं का आश्रय पाकर इस भारत देश की संस्कृति एक विन्दु वाली रही, अथात् उक्त राजाओं के समय सारे भारतवर्ष की संस्कृति और सभ्यता आहिंसा धर्म-प्रधान बनी रही; क्योंकि ये सब राजा लोग जैन धर्मानुयाथी थे। पीछे अतेक धर्मानुयाथी राजाओं के होने से यहां के मनुष्य-गण भी भिन्न-भिन्न धर्मों के विश्वास वाले हो गये।। १२।।

हिंसां स दृषयति हिन्दुरियं निरुक्तिः श्रीवीरराष्ट्रसमनुयायिषु यत्त्रयुक्तिः । युक्ताऽथ वैदिकजनेष्वपि तत्त्रयोगः केर्देहिभः पुनरमानि न योग्ययोगः ॥१३॥

'जो हिंसा को दोष-युक्त कहे' वह हिन्दू है, ऐसी हिन्दू शब्द की निरुक्ति ऋदिंसा को ही धर्म मानने वाले बीर भगवान के अनु-यायी छोगों में ही युक्त होती थी। कितने ही छोग 'हिन्दू' इस शब्द का प्रयोग वैदिक जनों में करते हैं और उसे ही युक्ति-युक्त बतलते हैं। हमारी हृष्टि से तो उनका यह कथन युक्ति-संगत नहीं है। १३॥

> अत्युद्धतत्विमह वैदिकसम्प्रदायी प्राप्तोऽभवत् कुवलये वलयेऽम्युपायी।

# तत्सिनियेवनपरः परमार्हतस्तु विष्वग्धुवोऽधिकरणं कलहैकवस्तु ॥१४॥

मीर्य-वंशी राजाक्यों के पश्चात् इस भूमण्डल पर वैदिक सम्प्र-दाबी पुनः पशु-बिल क्योर हिंसा प्रधान यहां का प्रचार कर अति इद्धतता को प्राप्त हुए। तब उनका निषेध परम आईन (अईन्त मता-नुवाबी) जैन लोग करने लगे। इस प्रकार यह सारा देश एक मात्र कलह का स्थान बन गया।। १४॥

बीरस्य विक्रमसुपेश्य तयोः पुनस्तु सम्पर्कजातमनुशासनमैक्यवस्तु । यद्वत्सुधासु निशयोर्जगतां हिताय श्रद्धाविधिः स्वयमिहाण्यनुरागकाय ॥१५॥

पुनः परम प्रतापशाली बीर विक्रमादित्य के शासन को प्राप्त कर उक्त दोनों सम्प्रदाय वाले एक ही अनुशासन में बढ़ हो मेल-मिलाप से रहने लगे। जैसे कि चूना और हल्दी परस्पर मिलकर एक रंग को धारण कर लेते हैं।। १४॥

स्नानाऽऽचमादिविधिप्रभ्रुपगम्य तेन वह्ने रुपासनमुरीकृतमाईतेन यक्षादिकम्य परिष्जनमप्यनेनः साडम्बरं च विद्वितं मधुरेमते नः ॥१६॥

इस राजा के शासन-काल में वैदिक-सम्प्रदाय-मान्य स्नान, आचमन आदि बाह्य क्रिया-काण्ड की विधि को स्वीकार करके उन परम आईत-मतानुयायी जैन लोगों ने अग्निकी उपासना को भी अङ्गीकार कर लिया, यत्तादिक त्यन्तर देवों की पूजन को भी इस निराडम्बर, मधुर दिगम्बर जैन मत में स्थान मिला और याज्ञिक बेदानुयायी जनों की अन्य भी बहुत सी बातों को जैन लोगों ने अपना लिया।। १६।।

त्यक्तं कर्तौ पशुबलेः करणं परेण निर्हिंसनैकसमये सुसमादरेण । देवानुपेक्ष्य नृवरस्तवनाय चेतः कृत्वाऽवतारविधिरुत्कलितोऽथवेतः ॥१७॥

इधर यज्ञों में पशु-बिल करने वाले वैदिक जनों ने भी अहिंसा मय जैन धर्म में अति आदर-भाव प्रकट करके यज्ञ में पशुओं की बिल करना छोड़ दिया और नाना प्रकार के देवी-देवताओं की उपेक्षा करके श्रेष्ठ मनुष्यों के स्तवन में अपना चित्त लगा कर मानव-पूजा को स्थान दिया और तभी से उन्होंने महापुरुषों के अवतार लेने की कल्पना भी की ॥ १७॥

जातीयतामनुबभूव च जैनधर्भः विश्वस्य यो निगदितः कलितुं सुशर्म । आगारवर्तिषु यतिष्वपि हन्त खेद-स्तेनाऽऽश्वभृदिह तमां गण-गच्छभेदः ॥१८॥

जैन श्रौर वैदिक जनों के इस पारस्परिक श्रादान-प्रदान का यह फल हुश्रा कि विश्व का कल्याण करने वाला यह जैन धर्म जातीयता का श्रातुभव करने लगा। श्रार्थात् वह धर्म न रहकर सम्प्रदाय रूप से परिणत हो गया श्रीर उसमें श्रानेक जानि-उपजातियों का प्रादुर्भाव हो गया। श्रात्यन्त दुःख की बात है कि इसके पश्चात गृहस्थों में श्रीर मुनियों में शीब ही गण गच्छ के भेद ने स्थान प्राप्त किया श्रीर एक केन धर्म श्रानेक गण-गच्छ के भेदों में विभक्त हो गया॥ १८॥

तस्मात्स्वपक्षपरिरक्षणवर्षनायाऽ-हङ्कारितापि जगतां हृद्येः भ्रुपायात् । अन्यत्र तेन विविकित्सन प्रत्यकारि सत्यादपेतपरता ग्रनकैरधारि ॥१९॥

जैन धर्म में गण-गच्छ के भेद होने से प्रत्येक पक्ष को अपने पक्ष के रीति-रिवाजों की रक्षा करने का भाव प्रकट हुआ, इससे छोगों के हृदय में अहङ्कार का भाव भी बदित हुआ, अर्थात् प्रत्येक पक्ष अपने ही रीति-रिवाजों को श्रेष्ठ मानने छगा और अन्य पक्ष के रीति-रिवाजों को अपने से हछका मान कर उससे ग्छानि करने छगा। इस प्रकार धीरे-धीरे छोग सत्य से दूर होते गये।। १६॥

तस्माद् दुराग्रहवतीर्पणशीलता ऽऽपि अन्योन्यतः कलहकारितया सदापि। एवं मिथो हतितया बलहानितो नः क्षेत्रे बभूव दुरितस्य न सम्भवो न ॥२०॥

इस गण-गच्छ-भेद के फल स्वरूप जैन धर्म-धारकों में दुरायह श्रीर ईच्यों ने स्थान प्राप्त किया, तथा परस्रर में कलहकारिता भी बढ़ी। इस प्रकार जेतों की पारस्रारिक लड़ाई से उनके सामाजिक बल (शक्ति) की द्वानि हुई ख्रीर हमारे इस पित्रत्र भारतवर्ष में अनेक प्रकार की बुराइयों ने जन्म लिया।। २०॥ धर्मः समस्तजनताहितकारि वस्तु

यद्वाद्यदन्वरमतीत्य सदन्तरस्तु ।

तस्मायनेक विधरूपमदायि लोकै
र्यस्मिन् विलिप्यत उपेत्य सतां मनोऽकैः ॥२१॥

जो धर्म समस्त जनता का हितकारी है और जो बाहिरी ब्राह-म्बर से रहित ब्रान्तरिक वस्तु है, ब्रार्थात् जो अपने मन को मद-मत्सरादि दुर्भावों से जितना ब्राधिक दूर रखेगा, वह धर्म के उतने ही सभीप पहुँचेगा; ऐसे पवित्र धर्म को भी छोगों ने ब्रानेक प्रकार के बाहिरी रूप प्रदान किये, जिनके चक्र में पड़कर सत्युर्गों का मन भी नाना प्रकार के विकल्पों से संछित रहने छगा।। २१॥

विम्बार्चनश्च गृहिणोऽपि निषेधयन्ति केचित्परे तु यतयेऽपि विशेषयन्ति । तस्मै सदन्दुवसनाद्यपि केत्रनाहु-र्नान्योऽभिषेवनविधावपि लब्धबाहु । ॥२२॥

कितने ही लोग गृहस्थों के लिए भी प्रतिमा-पूजन का निषेध करते है और कितने ही लोग मुनियों के लिए भी उसकी आवश्यकता बतलाते हैं। कितने ही लोग वीतराग परमात्मा की मूचि को भी बस्नाभूषणादि पहिराना आवश्यक मानते हैं, तो कितने ही लोग मूचि का अभिषेक आदि करना अनावश्यक बतला कर उनका निषेध करते हैं।। २२।।

कश्चित्त्वसिद्धमपि पत्रफलाद्यचित्तं संसिद्धमालुकमलादि पुनः सचित्तम्।

# निर्देष्टुमुश्रतमना न मनागिदानीं सङ्कोचमञ्चति किलात्ममताभिमानी ॥२३॥

उस पवित्र जैन धर्म को मानने वाळों की आज यह दशा है कि कोई तो अग्नि से सी में विना ही पत्र-फल आदि को अचित्त मानता है और कोई भरी-भांति अग्नि से पकाये गये आजु आदि को भी सचित्त मानता है। इस प्रकार लोग अपने-अपने मत के अभिमानी बनकर और अन्यथा प्रह्मण करने के लिए उद्यत चित्त होकर आज कुछ भी सङ्कोच नहीं करते हैं।। ९३।।

क्र्पादितंखननमाह च को ऽपि पापं लग्नस्य वाश्रयभुजः शमनेऽपि शापम् । इत्यादिश्रुरिजननान तदुःस्थितत्त्रा-त्रौकल्पयन्निह जनो यसुपैति तस्त्रात् ॥२४॥

कितने ही जैन लोग कूप-वावड़ी आदि के खुदवाने की पाप कहते हैं और किसी स्थान पर लगी हुई आग के बुझाने में भी पाप बतलाते हैं। इत्यादि रूप से नान। प्रकार की मन-मानी कल्पनाएं करके आज का यह मानव रुस्व का अन्यथा प्रतिपादन कर रहा है।। २४।।

भावायं — जनता को पीन का पानी सुलभ करने के लिए कुं आ-बावड़ी आदि का खुदबाना पुण्य-कार्य है। पर कितने ही जेती उसे आरम्भ-समारम्भ का कार्य बताकर पाप-कार्य बतलाते हैं। इसी प्रकार किसी स्थान पर लगी आग को उसमें घिरे हुए प्राणियों की प्रकार किसी स्थान पर लगी आग को उसमें घिरे हुए प्राणियों की रक्षार्य बुझाना पुण्य-कार्य है। परन्तु वे लोग उसमें जलकायिक तथा स्क्रार्य कहते हैं। उन लोगों को ज्ञात होना चाहिए कि जब तक श्रावक श्रारम्भ का स्यागी अष्टम प्रतिमा धारी नहीं बन जाता है, तब तक उसके लिये उक्त कार्य विधेय हैं और वह उन्हें कर सकता है। श्रान्या सभी लोकोपकारी कार्यों का करना श्रासम्भव हो जायगा। हां श्रारम्भ-त्यागी हो जाने पर गृहस्य को उनके करने का जन-श्रागम में निषेध किया गया है।

सत्त्वेषु सन्निगदतः करुणापरत्वं भूत्वानुषाय्यपि वदेत्तदिहाद्भुतत्वम् । यत्साधुतो ऽन्यपरिरक्षणमेव पापं हा हन्त किन्तु समुपैमि कलेः प्रतापम् ॥२५॥

जो धर्म प्राणिमात्र पर मेत्री ख्रीर करुणाभाव रखने का उपरेश देता है, उसी के खानुयाथी कुछ जैन छोग कहें कि साधु के सिवाय अन्य किसी भी प्राणी की रक्षा करना पाप है। सो हाय यह बहे दु:ख ख्रीर खाद्धर्य की बात है। ख्रथवा मैं तो इसे कि कि का ही प्रताप मानता हूँ कि छोग जीव-रक्षा जैसे धर्म-कार्य को भी पाप-कार्य बतलाते हुए संकोच का खानुभव नहीं करते।। २४।।

यः क्षत्रियेश्वरवरैः परिधारणीयः
सार्वस्त्रनात्रहति यश्च किलानणीयः
सैवाऽऽगतोऽस्ति वणिजामहहाय हस्ते
वैश्यत्वभेव हृदयेन सरन्त्यदस्ते ॥२६॥

जो धर्म उत्तम क्षत्रिय राजात्रों के द्वारा धारण करने योग्य था, श्रीर अपनी सर्व कल्याणकारी निर्दोग प्रवृत्ति के कारण सब का हित- कारी था, वहीं जैन धर्म आज व्यापार करने वाले उन वैश्यों के हाथ में आ गया है, जो धर्म के विषय में भी हृदय से विणक्-वृत्ति का आश्रय कर रहे हैं ॥ २६ ॥

भावार्थ - आज तक संसार में जितने भी जैन धर्म के प्रवर्तक तीर्थं कर हुए हैं, वे सब क्षित्रिय थे और क्षत्रिय उसे कहते हैं जो दूसरों की दु:ख से रक्षा करे। ऐसा क्षत्रियों के द्वारा धारण करने योग्य यह जैन धर्म उन व्यापारी वैश्य वर्ग के हाथों में आया है, जिनका कि अपनी वस्तु को खरी और दूसरों की वस्तु को खोटी बताना ही काम है। यही कारण है कि जैन-धर्म आज जहां प्राणि-मात्र का हितंषी होने के कारण लोक-धर्म या राज-धर्म होना चाहिए था, वह आज एक जाति या सम्प्रदाय वालों का धर्म माना जा रहा है, यह बड़े दु:ख की बात है।

येषां विभिन्नविपणित्वमनन्यकर्म स्वस्योपयोगपरतोद्धरणाय मर्म । नो चेत्पुनस्तु निद्धिलात्मसु तुल्यमेव धर्म जगाद न वधं जिनराजदेवः ॥२७॥

अपनी-अपनी जुरी हुकान लगाना ही जिनका एक मात्र कार्य है और अन्यों से अपना निराल।पन प्रकट कर अपनी उपयोगिता सिद्ध करना ही जिनका धर्म है, ऐसे वेश्यों के हाथों में आकर यदि यह त्रिश्व धर्म आज अनेक गण, गच्छ आदि के भेशों में विभक्त हो रहा है, तो इसमें आअर्थ ही क्या है ? श्री जिनगज देव ने तो समस्त्र तीवों में समान भाव से जीव-रक्षा को ही धर्म कहा है, जीव-धात को नहीं ॥ २७॥

## इदानीमपि वीरस्य सन्ति सत्यानुयायिनः । येषां जितेन्द्रियं जनम परेषां दुखदायि न ॥२८॥

इतना सब कुछ होने पर भी आज भी भगवान महाबीर के सच्चे अनुयायी पाये जाते हैं, जो जितेन्द्रिय हैं और जिनका जीवन दूसरों के लिए दु:खदायी नहीं है, प्रस्पुत सर्व प्रकार औरों का कल्याण करने वाला ही है। । २८।।

सुखं सन्दातुमन्येभ्यः कुर्वन्तो दुःखमात्मसात् । छायावन्तो महात्नानः पादपा इव भृतले । २९॥

जैसे भूतल पर छायावान् दृक्ष शीत-उष्णता आदि की स्वयं बाधा सहते हुए औरों को सुख प्रदान करते हैं, उसी प्रकार महापुरव भी आने वाले दुःखों को स्वयं आत्ममात् करते (मेलते) हुए औरों को सुख प्रदान करने के लिए इस भूतल पर विचरते रहते हैं।। २६॥

> मक्षिकावज्जना येषां वृत्तिः सम्प्रति जायते । जीवनोत्सर्गमप्याऽऽप्तवा परेषां विमहेतवे ॥३०॥

कुछ लोगों की प्रवृत्ति आज सक्बी के समान हो रही है, जो अपना जीवन उत्सर्ग कर दूसरों के वमन का कारण बनती है।।३०॥

भावार्थ .- जैसे मक्बी किसी के मुख में जाकर उसके खाये हुए मिष्टान्न का वमन कराती हुई स्वयं भीत को प्राप्त होती है, इसी प्रकार आज कितने ही लोग इस वृत्ति के पाये जाते हैं कि जो खपना सुकसान करके भी दूसरों को हानि पहुँचाने में संलग्न रहते हैं। ऐसे लोगों की मनोवृत्ति पर प्रत्यकार ने अपना हार्दिक दुःख प्रकट किया है। दुःखमेकस्तु सम्पर्के प्रददाति परः परम् । दुःखायापसरन् भाति को भेदोऽस्त्वसतः सतः॥३१॥

अहो देखो - एक तो सम्पर्क होने पर दूसरे को दुःख देता है और दूसरा दूर होता हुआ दुःख देता है, दुर्जन और सजन का यह क्या विरुक्षण भेद प्रतीत होता है ॥ ३१॥

भावार्थ — दुर्जन का तो समागम दुःखदायी होता है और सज्जन का वियोग दुःखदायी होता है, संसार की यह कैसी विलक्षण दशा है।

#### ग्रन्थकार का लघुना-निवेदन

मनाऽमृदुगुरङ्कोऽयं सोमत्वाद्तिवर्त्यपि । विकासयतु पूषेत्र मनोऽभ्भोजं मनस्विनाम् ॥३२॥

मेरा यह काव्य-प्रबन्ध यद्यपि मृदुता-रहित है, क्टूक्ति होने से सौम्यता का भी उल्लंघन कर रहा है, तथापि सन्ताप-जनक सूर्य के समान यह मनस्वी जनों के हृदय-कमलों को विकसित करेगा ही, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ३२॥

योऽकस्माद्भयमेत्यपुंसकतया भीमे पदार्थे सित एकस्मिन् समये परेण विजितः स्त्रीभावमागच्छिति । श्लीणं वीक्ष्य विजेतुमभ्युपगतः स्कीतो नरत्वं प्रति नित्यं यः पुरुषायतामद्रवान् वीरोऽसकौ सम्प्रति ॥३३॥

साधारण जन प्रायः भयंकर पदार्थ के अवस्मात् सम्मुख उप-स्थित होने पर नपुंसकता से भयभीत हो कायर वन जाता है, वही दूसरे समय में अन्य से पराजित होने पर उसकी नाना प्रकार की अनुनय-विनय करता हुआ की भाव को धारण करता है, कालान्तर में वही मनुष्य किसी क्षीण (दुर्बल-अशक्त) मनुष्य को देखकर उसे जीतने के लिए अपना पौरूष दिखाता हुआ हि। गोचर होता है। किन्तु जो निरन्तर ही पुरुषार्थी है, निभय है और दूसरे जीवों के संरक्षण के लिए सदा उद्यत रहता है वही पुरुष वास्तव में आज 'वीर' कहलाने के योग्य है और ऐसा वीर पुरुष ही जगत में धन्य है।। ३३॥

स्पकार इवाहं यं कृतवान वस्तु केवलम् । तत्स्वाद्त किलास्वादु वदेयुः पाठका हि तत् ॥३४॥

मैं तो सृपकार (रसोंहया) के समान केवल प्रवन्थरूप भोज्य बस्तु का निर्माता हूँ। वह वस्तु स्वादु है, श्रथवा अस्वादु है, यह तो भोजन करने वालों के समान पढ़ने वाले पाठक-गण ही अनुभव करके कहेंगे।। ३४॥

भावार्थ — मेरी यह काज्य-कृति कैसी बनी है, इसका निर्णय तो विज्ञ पाठकराण ही करेंगे। मेरा काम तो रसोइये के समान प्रबन्ध-रचना भात्र था, सो मैंने कर दिया।

कलाकन्दतया ऽऽह्णादि काव्यं सद्-विधुविम्बबत् । अदोषभावनप्यङ्गीकुर्यादेतनमहाङ्ग्रतम् ॥३५॥

नाना प्रकार की कलाओं का पुश्च होकर काव्य पूर्ण शासनूर विम्य के समान जगत् का आहादक हो और अदीप भाव को भी अङ्गीकार करे, यह सचमुच में महान् आश्चर्य की बात है।। ३४॥

भावार्थ—दोषा नाम रात्रि का है, सम्पूर्ण कलाओं का धारक चन्द्रमा भी अदोष भाव को नहीं धारण करता, अर्थात् वह भी कलंक से युक्त रहना है। फिर मेरा यह काव्य सर्व काव्य-गत कलाओं से युक्त भी हो और सर्वया निर्दोर भी हो, यह असंभव सी वात यदि हो जाय, तो वास्तव में आश्चर्यकारी ही समझना चाहिए।

अनन्यभावतस्तद्धि सङ्गिरासेव्यते न किय्। केवलं जडजैर्थत्र मौननालम्ब्यते प्रभो ॥३६॥

हे प्रभो, फिर भी क्या वह सकलंक चन्द्र-विम्ब सदा सर्व छोर से नक्षत्रों के द्वारा विरा रहकर अनन्य भाव से सेवित नहीं होता है ? अर्थात् होता ही है। हां, केवल जड़जों (कमलों) दूसरे पक्ष में जड़ बुद्धियों के द्वारा ही मौन का आलम्बन लिया जाता है॥ ३६॥

भावार्थ — चन्द्रमा कलंक-युक्त होने पर भी अपने नक्षत्र-मरहल से सदा सेवित रहता है, भले ही कमल उसे देख कर मीन रहें, अर्थीन विकसित न हों। इसी प्रकार मेरे इस सदोप प्रवन्ध को भी ज्ञानी जन तो पढ़ेंगे ही। भले ही कमलों के समान कुछ विशिष्ट व्यक्ति उसके पढ़ने में अपना आदर-भाव न दिखावें और मौन रखें।

रमयन् गमयत्वेष वाङ्मये समयं मनः। नमनागनयं द्वेष-धाम वा समयं जनः॥३७॥

(गोमूत्रिक्सिदं पद्यम्)

ज्ञानी जन श्रापना मन शुद्ध बाङ्मय में संलग्न कर समय व्यतीत करें। वे श्रापने मन को ईर्बा, देव, भय श्रीर श्रान्याय मार्ग की स्रोर किंचिन्मात्र भी न जाने देवें।। ३७॥

विशेष—इस पद्य की गोमूत्रिका रचना परिशिष्ट में देखें।

नमनोधिमि देवेश्योऽई ह्रचः सम्ब्रजतां सदा । दासतां जनमात्रस्य भवेदण्यय नो मनः ॥३८॥

( यानवन्धरूपमिद्म् )

सदा से ही सर्व साधारण जनों की दासता करने वाले हम जैसे छोगों का मन ब्याज भगवान् ख्राहन्त देव के चरण-कमलों को नम-स्कार करने के लिए प्रयत्नशील हो ब्रीर उनका गुणानुवाद करे, यह हमारे सौभाग्य की बात ही है।। ३८।।

विशेष - इस पद्य की यानवन्ध-रचना परिशिष्ट में देखें।

विनयेन मानहीनं विनष्टैनः पुनम्तु नः । सुनये नमनस्थानं ज्ञानध्यानधनं मनः ॥३९॥

( पद्मबन्धरूपिनदम् )

हमारा यह मन विनयके द्वारा अभिमान-रहित होकर पाए-रहित निर्दोष बन जाय, महा मुनियों को नमस्कार करे, एवं सहा ज्ञान और ध्यान में तन्मय रहे, ऐसी हमारी भावना है॥ ३६॥

विशेष-इस पद्य की पद्मबन्ध-रचना परिशिष्ट में देखें।

सन्तः सदा समा भान्ति मर्जू मित नुतिप्रिया । अथि त्यथि महावीर ! स्कीतां कुरु मर्जू मिथि ॥४०॥ (ताळवृन्तवन्धमिदं हुन्तम्)

हे महावीर प्रभो, आपके विषय में सन्त जन यद्यपि सदा सम-भाव रखते हैं, तथापि अति भक्ति से वे आपको नमस्कार करते हैं क्यों कि आप बीतराग होते हुए भी विश्व-भर के उपकारक हैं, निर्देष हैं और संकीर्णता से रहित हैं। हे भगवन् , आपकी कृपा से आपकी यह निर्दोषता मुक्ते भी प्राप्त हो, ऐसी मुझ पर कृपा करें ॥ ४०॥

विशेष — इस पद्य की तालवृन्त-रचना परिशिष्ट में देखें।

## मङ्गल-कामना

भूपालाः पालयन्तु प्रश्नितसकलोपद्रवां भृतधात्रीं काले काले समन्ताद्विकिरतु मधवा दृष्टिमानन्दपात्रीम् । एतद्विप्राधराणामनुभवतु पुनर्मान्तं काव्यवस्तु भव्यानां जैनमार्गप्रणिहितसनसां शास्वतं भद्रमस्तु ॥४१॥

शासक लोग प्रजा को सकल उपद्रवों से रहित करते हुए इस भूमण्डल का भली-भांति पालन करें, इन्द्रदेव समय-समय पर आनन्द-दायिनी जल-वर्षा करते रहें, विद्वानों का मन इस काव्य के पढ़ने में सदा लगा रहे और भव्य जनों का मन जन मार्ग पर अबे-सर हो, अर्थात् भव्य जन जैन धर्म धारण करें और सारे संसार का सदा कल्याण होवे।। ४१।।

जिनेन्द्रधर्मः प्रभवेत्समन्ताद्यतः स्वकर्तव्यपथानुगन्ता । भृयाज्जनः कर्मठतान्वयीति धर्मानुकूला जगतोऽस्तु नीतिः ॥४२

श्री जिनेन्द्रदेव-प्ररूपित यह जैन धर्म सर्व श्रोर प्रसार को प्राप्त हो, जिससे कि जगन्जन श्रापने कर्त्त न्य-मार्ग पर चलें, समस्त लोग कर्मठ बनें श्रोर धर्म के श्रानुकूल उनकी नीति हो, ऐसी मेरी भावना है ॥ ४२ ॥

## नीतित्रीरोदयस्येयं स्फुरद्रीतिश्च देहिने। वर्धतां क्षेममारोग्यं वात्सल्यं श्रद्धया जिने ॥४३॥

वीरोदय काव्य की यह नीति प्राणि-मात्र के कल्याण के लिए स्फुरायमान रहे. जगत् में दोम ऋौर ऋारोग्य बढ़ें, एवं जिन भगवान् में श्रद्धा के साथ प्राणिमात्र पर वात्सल्य भाव रहे ॥ ४३ ॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्श्वजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं वाणीभूषणवर्णिनं वृतवरी देवी च यं धीचयम् । तेनेदं रचितं समर्थखचितं भद्रैः पदैरश्चितं जीयाद्वीरमहोदयस्य चरितं युग्नाक्षिसगैंर्नितम् ॥२२॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भु जजी ख्रौर घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए, वाणी-भूषण, बाल-ब्रह्मचारी पं० भूगमल वर्तमान मुनि झान-सागर के द्वारा रचित भद्र पदों से संयुक्त, वीर भगवान् के इस चरित में यह बाईसवां सर्ग समाप्त हुआ।। २२।।

वीरोदय काव्य समाप्त ॥



# वीरोदयकाव्यम्

स्वोपज्ञ-टीका-सहितम्

प्रथमः सर्गः

श्रीवीरदेवमानस्य प्रमाविक्रमशास्त्रिनम्। भक्त्या तदुद्यस्येयं सया वृत्तिर्विधीयते॥१॥

श्रिय इत्यादि—जयित सर्वोत्कर्षेण वर्तते स जिनोऽर्हन् स चात्र प्रवन्धविषये श्रिये स्वस्तिलक्षणायं लक्ष्मये, श्रस्तु मङ्गलकरो भवतु । यस्ययं यदीया, सा चासौ सेवा चेति यसः । समस्ताश्च ते संश्रोतारश्च तेषां जनाय समूहाय वाऽथवा से महामिष रसने समास्वादने द्राचेव यथा गोस्तनी तथा मृद्धी मृदुप्रायाऽनुभूयते तथा हृदोऽपि हृदयस्यापि प्रसादिनी प्रसादकर्त्री भवति द्राक्षातुल्यव । किञ्चात्रास्मिन् विषये श्रमोऽपि मनागेव न भवति ततोऽसौ मेवा खलु इति प्रचलितभाषानु-करणात् ॥ १ ॥

कामारितेत्यादि— येन महोद्येन नोऽस्माकं कामितस्य वाञ्छितस्य सिद्धये सम्पादनार्थं कामारिता वाञ्छितविरोधिता समर्थिता स्वीकृतेति विरोधस्तत्परिहारस्तावत् कामस्य पञ्जवाणस्यारिता स्वीकृतेति । सेव भगवान् अभिजातः सुभगोऽपि नाभिजातः सौन्दर्यरहित इति विरोधस्तस्मान्नाभेनीम्नो महाराजस्य जातः पुत्र इति । अभिधातो नामतो वृषभो बळीवर्दः स एव समः प्रशंसनीयैग्जैंश्छागैर्मान्य इति विरोधस्ततः समाजेन जनसमृहेन माननीयः स वृषभो नाम प्रथमस्तीर्यंकरो गृह्यते । अत्र विरोधभाता स्वाकृति विरोधभाता हुए। । ९ ।।

चन्द्रप्रभित्यादि — चन्द्रप्रभमष्टमतीर्थंकरं नौमि यस्याङ्गस्य सारः कान्तिसौष्टवादिकपः स की पृथिव्यां मुद्रस्तोमं हर्षप्रकर्षमुरीचकार प्रसा-रितवान्, यतश्च प्रणश्यत्तमस्तया मोहस्याभावेनात्सीयपदं स्वस्वरूपं सम-स्य छव्ध्वाऽसौ जनः मुखं छभते। चन्द्रपचे कुमुदानां समृहः कौमुद्श्वासौ स्तोमश्च तं तथा मुखः जनो नाम चकोरपक्षी। श्लेषः ॥ ३॥

समिस्त्वस्यादि — भो मनुजाः ! पार्यवप्रभोखयोविद्याख्यतीर्थकर-स्य सिन्धये सामीप्यार्थं वो युष्माकं चित्ते बहुलाश्च ते ऊहा वितर्काञ्च तेषां भावो मुहुर्विचारः समस्तु यतः काञ्चनानिर्वचनीयां सम्प्रवृत्ति लब्ध्या प्रसत्तिं प्रसन्नतां संलभेध्वं । पार्श्वपाषाणस्य सन्निधये बहुलोह्त्वं वाऽस्तु यतः कञ्चनस्येयं काञ्चना सा चासौ सम्प्रवृत्तिश्च तां सुवर्णहपतां चृत्वा प्रसत्तिं बहुमूल्यतां संलभेध्वमिति च ॥ ४ ॥

वीर इत्यादि—हे वीर ! त्वमानन्दभुवामुत्सवस्थानानामवीरः सुगन्धिचूर्णवद् भविस । खलु गुणानां क्षमधिर्यादीनां मीरः 'मीरोऽध्यि-शेळ-नीरेषु' इति विश्वलोचनकोशः । समुद्र एव किन्तु जगतां प्राणिनां मध्ये स्रमीरः सर्वश्रेष्टः । इ एव इकः कामः खेदो वा स न विद्यते यस्य स नेकस्तस्य सम्बोधनम् । त्वमेकः केवलो मुख्यश्च भवन्ननेकान्तमतेन स्याद्वादेनानेकलोकान् पासितमां स्रातिशयेन पालयिस । शाब्दिकवि-रोधालङ्कारः ॥ ४ ॥

ज्ञानेनेत्यादि—ये पथि सन्मार्गे सन्तस्तिष्ठन्त इत्यतश्च ज्ञानेन विवेकेन हेतुनाऽऽनन्द्मुपाश्रयन्तः समसुखमनुभवन्तः सदा ब्रह्म चरन्ति श्चात्मानमेवानुशील्यन्ति, तेषां गुरूणां दिगम्बर-परमर्षीणां तथा च ज्ञानानन्दनामधारकाणां परमब्रह्मचारिणां विद्यागुरूणां सदनुष्रहः कृपा- कटाश्च एव मम कवित्वशक्तौ कविताकरणो तथैव के वेत्तीति कवित्तस्य भावः कवित्तं तस्य शक्तावारमसम्वेदनेऽपि विव्वलोपी भूयात्॥ ६॥

बोरोदयमित्यादि - यिममं वीरोदयं नाम भगवबरित्रं विद्धातुं पूर्णतया वर्णयितुं श्रीराणराजदेवो गौतमस्वाम्येव शक्तिमात्राभृत् तस्प्र- तीदानीमहं विद्धातुमिन्छुः सन् जलं गन्छतीति जलगञ्चासाविन्दुञ्च तस्य तन्त्वं जलगतचन्द्रविम्बं वहन् बालसन्त्वम् बालकवद्ज्ञानभावमेव विद्धातुमिन । अथवा पुनरलसत्वभेव स्वीकरोमि, यतः कर्तुं न शक्तो- मीति लाघवम् ॥ ७ ॥

शक्त इत्यादि—अथवा तु पुनरुपायादहमपि शक्तो भवितास्मि युक्तिबलेन समर्थयिष्यामि, यतः किल ते श्रीगुरवः सहाया भवन्तु ताव-दित्येतदेव पुष्णाति—यथा शिशुरेव शिशुको लघुतरबालकोऽपि पितुः सम्बन्धिनो विलब्धा संघृताऽङ् गुलिमूलस्य तातिः पङ्क्तियेनेत्येताहक् सन् यथेष्टदेशं वाञ्छितस्थानं यात्येवेति । हप्रान्तोऽलङ्कारः ॥ म ॥

मन इत्यादि —यत्राङ्गिनां संमारिणां मनो यस्य श्रीवीरभगवतः पदे चरणौ तयोश्चिन्तनेन स्मरणमात्रेणैवानेनः पापवर्जितं सत् किलाम- छतां स्वच्छतां समेति तत्र तदीयवृत्तस्य चरित्रस्येकमनन्यतया समर्थनं यस्यां सा मे वाक वाणीयमात्तः सुवर्णानां शोभनवर्णानां भावो ययैता- हशी किन्न समस्तु स्यादेव । यदि-पदेनैकशब्देनामल्रखं स्फिटिकखं तदा- वृत्तोनानेकानेकशब्दात्मकेन सुवर्णता किं खलु दुर्लमेति यावत् रलयोर- भेदादमरतां देवत्वमेति भन्यानां मन इति च ॥ ६॥

रज इत्यादि—झाविलं मिलिनं च रजो यथा पुष्पसमाश्रयेण किल सतां गलस्यालङ्करणाय भवति तथैवेदं मद्वचनमि किलास्तु भवत्येव, येनेदं वीरोदयस्य श्रीमद्वीरप्रभोश्चरितिनर्माणकरणस्य योऽसावुदार-विचारः स एव चिह्नं यस्येत्येताहक् समस्ति । वक्षोक्तिर्दं प्रान्त-श्चालङ्कारः ॥ १०॥ लसन्तीत्वादि — अवापि पुनर्यथाऽयो लोहघातुः रसैः पारदा-दिभिः संयोगात् सुवर्णस्त्रसुपिति तथैव निस्सारमप्यस्मद्वचनं येन वचने-नाहैतः परमेष्ठिनो वृत्तस्य चरित्रस्य विधानं निर्माणं तदापि स्वीकृतं तद्पि भवतु यस्योपयोजनाय स्वीकरणाय सन्तः परदुः खकातरा जना लसन्ति वर्तन्तेऽस्मिन्भूतले, इति शेषः ॥ ११ ॥

सतामित्यादि — सतां साऽनिर्वचनीया गुणबहणरूपा शुद्धिः सह-जेन स्वभावेनानायासेनैव भवति यतस्तेषां बुद्धिर्विचारशक्तिः परोपकारे परेषां प्राणिनामनुष्रह एव निरता तद्धीना भवति यथेषोऽस्पदादीनां हक्ष्यभुपगतस्तरूराम्नादिः स उपद्भृतः पापाणादिनोपहतोऽपि सन् तस्मायङ्गभृते प्राणिने त्रिकाळं सर्वदेव यथा स्यात्तथा रसाळं सरसं फळं अणित ददाति, न तु रुष्टो भवति ॥ १२ ॥

यत्रेत्यादि - यस्य साधोर्यु किः सदैवान्यगुणाय परगुणप्रहणाय परस्मिश्च गुणसम्पादनाय वा भवति तस्य सुक्तिर्मञ्जुवागि सुधेव रुचिरामृतधारेवोपयोगिनी, श्रयं च सुधेव चूर्णके छिकेव गुणवती यत्रा नुरागार्थं प्रीत्यर्थं शोणिमसम्पत्त्यर्थं च समवायहेतोः परस्परं सम्मेळं कर्तु मिद्मस्माकं चेतोऽन्त करणं कर्त्, तत् हारिद्रवस्वं हारि मनोहरं च तद्द्रवस्वं चाथवा हरिद्राया इदं हारिद्रं तहत्त्वं तावदुपति ॥ १३॥

सुवृत्तभावेनेत्यादि—सन्तो ये सत्पुरुषा भवन्ति ते सुवृत्तभावेन सम्वरित्रत्वेन समुक्षमन्तो हर्षयुक्तं यथा स्यात्तथा भवन्तो जनस्य सर्व-साधारणस्य गुणमेवासुभवन्ति जानन्ति, ते न तु तस्य दोषं कदाचिदपि, अन्वत्य ते मुक्ताफळत्वं मुक्तं च तदफळत्वं च तन्मुक्ताफळत्वं सफळ-त्वमित्यर्थस्तथा च मौक्तिकत्वं प्रतिपादयन्तः सन्ति मौक्तिकमपि वर्तु छं भवत् गुणं सूत्रमनुभवति तत्तरमादेव कारणादहं तत्र सत्पुरुषेषु आदिर्वित्रं विनीतभावं प्रवहामि । श्लेपोपमा ॥ १४ ॥

साधोरित्यावि—साधोः सत्पुरुषस्य विनिर्माणविधावृत्पाद्नकाले विधातुर्नामकर्मणः कराद्धस्ततो या तृत्करसम्बिधा निस्सारांश्वतिहरूयुता पतिता तथैवामी ऋन्ये उपकारिणः श्रीचन्द्नाया ये जगति दश्यन्ते चन्द्न-नदीचन्द्रप्रमुखास्ते जाता इतीवाहं मन्ये । उत्प्रेक्षालङ्कारोऽयम् ॥ १४ ॥

साम्हित्यादि—साधुः सङ्जनः स गुणस्य प्राह्कोऽतएवेष तु पुन-सस्तां तावत्, किन्तु सम तु याः का ऋषि श्राधास्तास्तास्तर्वाः, सर्वप्रिय-प्रायतया सर्वाङ्गसुन्दरत्वेनोदितस्य प्रवन्धस्य यं कञ्चिद्षि प्रमादादि-नाऽवशिष्टं दोषं तं ततः समुद्धाट्य वरंकरस्यास्माकमनुकूळमाचर-तोऽसत एव सन्तु ॥ १६ ॥

सद्द कुराणामित्यादि — नुर्मनुष्यस्य गीर्वाणी सा कामघेनुर्गीरिव सा चेह सर्ता सभ्यपुरुषाणामङ् कुराः कृपारूपार्त्तया सन्तश्च तेऽङ् कु-राश्च तृणानि तेषां समुपायने समागमे सति यथा पृष्टा भवति तथैव सा खळस्य दुष्टस्य तिळविकारस्य च शीळतेन समागमेन प्यस्विनी सरसा दुग्धदात्री भवतीत्यतेन हेनुना तस्य खळस्यैवोपयोगो महा-नस्तु ॥ १७ ॥

कर्णजपित्यादि — हे विधे, यत्किल त्वं कर्णजपं पिशुनं कृतवा-नभूः करोषि स्म तदेतद्दिष ते पटुत्वं चातुर्यं विचारकारित्वमेवास्तियतो-ऽनेन दुर्जनिनर्माणकरणेन साधोर्न्यभावः मनुष्यत्वं सफलोऽभूत् सर्व-साधारणानां हृष्टौ तस्य समादरणमभूत्, तमपेक्ष्यैव यदिह तम ऋतेऽन्य-काराभावे रवेरिष प्रभावः क तावत्स्यात् ॥ १८॥

अनेकथान्येष्वित्यादि—स एव पिश्चनो धूर्तस्य आखोर्मू पकस्य सजातिः समान एव भाति, मूपकोऽनेकेषु धान्येषु विपत्तिकारी तथाऽ-यमप्यनेकथा बहुपकारेणान्येषु जनेषु विपत्तिं करोति। मूपको निष्कपटस्य बहुमूल्यस्य वस्त्रस्यारिर्विनाशकः पिश्चनो निष्कपटस्य सरस्त्रमतुष्य- स्यारिर्भवति । सूपकिश्छद्रं बिलं निरूप्य दृष्ट्वा स्थितिमाद्धाति पिशु-नश्छिद्रं पश्यति दोषं समीक्षते तावत् ॥ १६ ॥

य इत्यादि—हे ईश ! काकारिलोकस्योल्कस्य खलस्य च परस्परं कोडसौ विशेषो भेदस्स्यादित्यहं न जाने यतोडसौ दोषायां रात्रौ दोषेपु बाडनुरक्तः तथा दिने वा काव्ये वाशब्दोडत्रेवार्थे । प्रतिभासमाने प्रकाश रूपे प्रतिभया वा समाने सम्माननीयेडसौ मालिन्यं सान्धकारतां दुष्णे-क्षतामेवाभ्येति । श्रहो श्राश्चर्याभिव्यक्तयेडत्र ॥ २० ॥

खलस्येत्यादि — खलस्य हृद् हृद्यं तन्नक्तमिव रात्रिवद्घवस्तु पाप-कारि भवति, तु पुनः सतः सभ्यस्य तदेव वासरवद् दिवसतुल्यं प्रकाश-कृत् तयोर्द्वयोर्मध्यं सायंकालमिवोपेत्य गत्वा तदेतत्काव्यं नाम वस्तु जनानामनुरञ्जनाय प्रीत्युत्पत्तये भवत्वेव ॥ २१॥

रसायनिक्त्यादि—हे बुधा भवन्तः शृण्वन्तु तावद् ये खलु वि-बुधा देवास्ते पीयूषं नामामृतमीयुर्गच्छेयुर्विबुधस्वाद् बुद्धिहीनत्वादेव यतो यस्तेवनेनाद्यापि तेऽनिमेषभावादिनमेषनामाऽऽमयात् पिचुका-ख्यात् नोऽपयान्ति न निवर्तन्ते । वयन्तु पुनः काव्यमेव रसायनं रसानां शृङ्गारादीनामयनं स्थानं वर्त्म वा तदेव रसायनं कायकल्पकारि भेषजमाश्रयामो यतो द्रुतमेव स्वयमात्मान मानवतां मा लक्ष्मी. शोभा च तथा तस्यां वा नवतां नवीनतां नयामो देहसौन्दर्यमाश्रयामस्तथा मानवतां मनुष्यभावं गच्छामः ॥ २२ ॥

सारमित्यादि — ऋहन्तु काठ्यमेव त्रिविष्टपं स्वर्गमुपैमि यत इदं सारं क्रुतीच्टं सारं सर्वोपयोगि भवत् क्रुतिभिद्धं द्धिमद्भिरिष्टमभिरूषितं पद्मे रलयोरभेदात् - ऋलंक्रुतिभिरूपमाद्यलङ्कारैः सहितं तत इच्टं च। सुराणां देवानां सार्थेन समृहेन रम्यं पद्मे सुरसो रससहितो थोऽर्थस्तेन रम्यं रमणीयं यतः विपदो विपद्मेयं लवा श्रंशास्तेषामभावो विनाशस्त- त्तया पक्षे विकृतानां पदानां ये छवास्ते विपल्छवा पदस्य पदित्यादेशात् । तेषामभावतयाऽभिगम्यमनुमननीयम् । समुद्धसन्तीनां कल्पछतानां पत्ते समुद्धसन्तो ये कल्पा विचारास्तेषां परम्परास्तासामेकस्तन्तुर्यत्र तन् । श्लेषोपमाछङ्कारः ॥ २३ ॥

हारायत इत्यादि—श्रथ किन्तु उत्तमं च तद् वृत्तं छन्द एव मुक्ता मौकिकं सा कीहशी भवित या सूत्रस्य पूर्वपरम्परागतवृद्धवचनस्य सार उपयोगिभागस्तमनुगच्छित वर्णयित सा। पक्षे सूत्रं दोरकं तस्य सारम-नुसरित सोऽधिकारो यस्यास्साऽतएवोदारा ऽसंकीर्णा ततश्च सत्युरुषै: कण्ठीकृता कण्ठस्थाने धारितोद्घोषिता च सा हारायते हारवदाचरित। समन्ताद्भद्रं कुशलं तस्मै समस्तु भवतु हारपक्षे समन्तभद्राय एतन्ना-नामाचार्यायैव समस्तु समर्पणमस्तु ॥ २४॥

किलेत्य। दि— अकलंकस्याचार्यस्यार्थमभिप्रायमभिष्टुवन्ती ना-माभिन्य अयन्ती समन्ततः सर्वत्र कौ पृथिन्यामतएव मुदं हर्षमेधयन्ती नोऽस्माकं च तिभिरमज्ञानाख्यं निरस्य दूरीकृत्य सा प्रभाचन्द्रमहाशय-स्य सुमञ्जुर्ण् दुतमा याऽसौ वाक् सा जीयात्। यद्वा वसं कृत्वा प्रभा-शन्दस्य विशेषणं कर्तन्यं चन्द्रमहाशयस्य प्रभापि अकलङ्कार्थमभिष्टुव-न्ती कुमुदानां समूहं चेधयन्ती किलास्ति। लङ्कानां न्यभिचारिणी-नामर्थो लङ्कार्थः, अकोऽयकरआसौ लङ्कार्थस्य तम्।। २४॥

नव्याकृतिरित्यादि — भो सुचित् शोभनचिद् धीर्यस्य तस्य सम्बोध्यनं त्वं शृर्णु तावत् वक्तव्यतो वचनमात्रादिष कि पुनर्यात् अलंकितिभ्य उपमाद्यलंकारेभ्यो दूरा वृत्तिश्चेष्ठा यस्य तस्य वृत्ताधिकारेष्विष चलन्दः शास्त्रेष्विष च न प्रवृत्तिर्यस्य तस्य मे मम व्याकृतिव्याकरणमि नास्ति कवित्वन्तु पुनः कुतः सम्भवतात्तत्र्वंकत्वात्तस्य । तथा च वक्तव्यतेऽलं यतः कृतिभ्यः सभ्यजनेभ्यो दूरवृत्तेः पराङ् मुखस्य वृत्ताधिव्यतोऽलं यतः कृतिभ्यः सभ्यजनेभ्यो दूरवृत्तेः पराङ् मुखस्य वृत्ताधिव

कारेष्वाचरणशास्त्रेष्विप प्रवृत्तिहीनस्य मे छतिरचेष्ठा। नव्या वृद्ध-जनासम्मता, कवित्वमात्मवित्त्वं तु पुनः कुतः सम्भवतान्नेव सम्भ-वैदिति ॥ २६ ॥

सुवर्णमृतिरित्यादि — इयं कविता भार्येव कुळवधूसदशी यत आर्या प्रशंसनीया सद्भिः सुवर्णस्य मूर्तिरिव मूर्तिः शरीरं यस्याः, पक्षे शोभनानां वर्णानां ककारादीनां मूर्तिः । ळसन् शोभनः पदयोन्यीती गमनं यस्याः पक्षे ळसतां पदानां सुप्तिङन्तानां न्यासः संकळनं यत्र सा तत्त्रया, तथा चाळंकाराणां नूपुरादीनां पक्षे रूपकादीनां सम्भार-वतीति हेतोः कारणादपीतो भूतले जनस्य चेतो हृदयमनुगृह्णाति सम्मोहयति ॥ २७॥

तम इत्यादि—कवेः कृतिरिन्दुरुचिरिव ज्योत्स्नासहशी भवति यतोऽसो तमोऽज्ञानमन्धकार च धुनाना संहरन्ती किन्न सुधाया ज्ञमृत-स्याथवा बद्धिधानं यस्याः कौमुदं यद्वा कौमुद्माद्धाना प्रसारयन्ती जना-नामाह्वादनाय सुखाय, किन्तु सैव जढजायाज्ञपुत्राय कमलाय च नाना-ज्यथाकरी स्यादेव ।। ९८ ।।

सार्द्धेत्यादि-- अथ प्रकृतिवषयं प्रतिपादियतुमाह-- अदिद्वितित्तिः त्समयात् सार्द्धं द्विवषीयुतपूर्वं अर्थतृतीयसहस्त्रवषपूर्वं समयं प्रपचे ह सुवस्तलेऽस्मिन् पृथिवी-मण्डले खलु या कापि रूपरेखाऽऽसीत् जनानां प्रवृत्तिरभूतामेवासुतो लेखान्निम्नाङ्कितादनुविन्देष्जानीयाज्जनः ॥२६॥

यज्ञाश्रं मित्यादि—रसाशिश्रयो जिल्लागृह्यो न्द्रिययो वैशंगतेरधी नैरत-एवाश्रस्तेरप्रशंसायोग्यंस्ते धूँ ते लेकि , एते हश्यमानाः पश्वश्र्लागादयो यज्ञाश्रय यज्ञे बलिदानार्थमेव वेधसा सृष्टास्तावज्ञह्यो तेषामन्यः कश्चिद्वपयोग इत्येवंरूपा भ्रष्टा या काचिद्वक्तिः । सा बहुशोप्यनेकरूपेणाभितस्तर्वज्ञेव प्राचालि प्रचारमिता तदानीम् ॥ ३० ॥ कि छाग इत्यादि - अधुनेति तत्काळीनविषयं स्वसंवेदनगोचरी-कृत्योक्तमस्ति ततस्तदानीं कि छागः कि महिषः किमश्वः कि गौरेवं नरोऽपि स्वरसेण यदच्छया शश्वद्वारं वारं वैश्वानरस्य वह रिन्यननामवाप धूर्तस्तिस्मन् हुत आसीत्। अहिंसाविधये तु पुनराप एव दत्ता जळा-अछिरेव सम्पादितः ॥ ३१॥

भूतँरित्यादि -- जनस्य सर्वसाधारणस्य सा दक् बुढिर्धू तैंवीचाछैः समाच्छादि संवरणं नीता वेदस्य चार्थस्तादक् हिंसापरक एव समवादि प्रत्युक्त इतस्ततः सर्वत्रेव पैशाच्यं परास्रक्षिपासुत्वमभूत् यतः कारणा-दियं भूः स्वयमपि रक्तमयी जाता । श्रहो इत्याख्रयें ॥ ३२ ॥

पर इत्यादि—सर्व एव लोकोऽन्यजनस्यापकारे दुःखोत्पाद्ने पर-स्वद्वीनः समभूतु पुनः परोपकारः परस्मायनुष्रहबुद्धिः खर्व उत्तरोत्तरं श्लीणतामवाप्तः वर्वो नृशांस एव जनः सम्माननीयत्वमवाप स्वागतं लेमे। इत्यतोऽधिकमहं वो युष्माकं किं पुनर्विच्म ॥ ३३ ॥

इमश्रमित्यादि - लोकोऽयं सर्वोऽपि स्वकीयां शमश्रं कूर्चतितं वलयन् समर्थयन् व्यभावि दृष्ट आसीत्, यद्यस्मात्कारणादस्येह मत्स-दृशो नास्तिकोऽण्यनन्य दृत्यनन्यतायाः स्वार्थपरताया अनिस शकटरूपे मनसि द्पोऽभिमान आविरभूत्समजनि, अपि च तत एव साधुनाया भद्रभावस्य नामलेशोऽपि नासीत् ॥ ३४॥

समक्षत इत्यादि -- अपायात् पापादिवभ्यता भयमद्धता जनेन जगतां प्राणिनामिन्वका प्रतिपालिकेयमिति तस्या देव्या आपि समक्ष-तस्तत्पुत्रकाणामजादीनां निगले किं पुनरन्यत्र, तेनासिस्थितिरङ्किताऽऽ-सीत्वङ्गप्रहारः कृत इत्यनेनेव कारणेनेयं धरा दुराशीदुर्भ-प्रायाऽभृत् ॥ ३४ ॥ परस्परेत्यादि -- तदानीं परस्परस्येतरेतरविषयको यो देपस्तन्मयी अवृत्तिरभूत् यत एकः कश्चिद्य्यन्यजीवाय समात्ता समुख्यापिता कृति- श्छुरिका येनैतावानेवासीत् यस्य कोपि कोपयुक्तं चित्तं नाभूदेतवान्नोऽपि जनो न व्यभावि, प्रत्युत शान्तं मनुष्यं जनोऽपिवत्तं द्रिद्रमक्तिव्यशीलं मन्यते स्म तदानीमिति ॥ ३६ ॥

भूय इत्यादि -- स्वपुत्रकाणामेतेषां देहिनां तत्ताहक चिह्नमुदीक्ष्य सुवो हदा भूयो वारं वारं विभिन्नं सुद्धः भूकम्पनमभूदिति ता एता दिशोऽन्धकारानुगता इव बभूवुः। किन्द्यं तन्नभो गगनमपि चाधस्ता-द्वन्तुमिवावाञ्छदितः।। ३७।।

मन इत्यादि—वक्रस्य भावो विक्रमा तस्य कल्पः समुत्पादस्तस्य हेतुः साधनमहिवत् सर्पस्येव मनो बभूव, वाणी चान्यस्य मर्म भेत्ं कृपाणीव छुरिका सहशी तीक्ष्णा जाता, कायश्चायं जनस्य जगते सम्पूर्ण-प्राणिवर्गायाकस्य दुःखस्यायः समागमो यतः स दुःखद एव।भूत्, तदानी कोऽपि जनः कस्यापि वश्य श्राह्माकारी नासीत्।। ३८।।

इतीत्यादि — इत्येवमुपर्यु क्तप्रकारेण दुरितसेवान्धकारः स एवा-रितक द्यातमा यस्यातिसम् तथा श्वतात्त्रायन्ते ते श्वत्त्राः परपरित्राणकरा श्वत्रिया न भवन्ति, तेषासोधेनाथ च नक्षत्रौधेण तारकासमूहेन संकुले व्याप्तेऽत एव निशीथ इवाघमये पापबहुले तस्मिन् समये जनानामाहा-दनाय वीर इत्याह्मयो नाम यस्य स एव वरः सर्वोत्तमः सुधास्पदश्चन्द्र-मास्तेनाजनि जन्म छव्धम् ॥ ३६ ॥

इति प्रथमः सर्गः।



# द्वितीयः सर्गः

द्वीप इत्यादि — अथ जम्बूपपदो नाम द्वीपः समस्ति, असावेवास-कावयमेव स च स्थित्याऽऽसनेन तु सर्वेषां द्वीपानां मध्ये गच्छतीति प्रशस्तिः प्रख्यातिर्थस्य स किन्तु नास्ति अन्या काचिदुपमा यस्यास्तया छक्ष्म्या स्वकीयया शोभया उपविष्टोऽत्रस्थित तु अन्ये द्वीपा धातकी-खण्डाद्यस्ते द्वीपान्तरास्तेषासुपरि प्रतिष्ठा यस्यताद्दक् भाति ॥ १॥

संविदित्यादि—सुराद्रिः सुमेरुरित्येताहक् दम्भोमिपस्तेनोदस्ता समुत्यापिता स्वहस्तस्याङ्गु लियेन सोऽयं द्वीपोऽङ्गिनं प्रतीतीव किं वक्ति कथयति—भो महाशय, यदि वृत्तं सदाचरणमेव वस्तु पाथेयं मार्गोप-योगिद्रव्यं त्वयाऽऽप्तं लव्धमस्ति तदा तु पुनरितः स्थानात् सिद्धिं मुक्तिनगरीं प्रगुणां सरलां सहजप्राप्यामेव संविद्धि जानीहि॥ २॥

अधस्थेत्यादि — अधिरतष्ठित स च यो विस्कारी प्रलम्बमानश्च योऽसौ फणीन्द्र: शोषो लोकख्यात्या स एव दण्हो यस्य सोऽसौ वृत्तत्या वर्तु लतयाऽल्एड: सन् छत्रमिवाचरित छत्रायते यश्च सुदर्शन इत्येवं प्रकार उत्तामोऽत्यन्तोन्नतो यः शैलस्तस्य दम्भो मिषो यस्मिस्तं सुवर्णस्य कुम्ममिष स्वयमेव समाप्नोति ॥ ३॥

सुवृत्तभावेनेत्य। दि — अस्य द्वीपस्य सुवृत्तभावेन वर्तु लाकारतयाः पूर्णमास्यां भवति स पोर्णमास्यो योऽसौ सुधांशुश्चन्द्रस्तेन सार्धमिहो-पमा तुल्ना कर्तुं योग्या। यतो यत्परितः परिक्रम्य वर्तमानोऽसा-वम्बुराशिर्ल्वणसमुद्रः स समुल्लसन् प्रकाशमानः कृष्टिहनवत् परिवेष-तुल्यो विलासो यस्य स तथाभूतोऽस्ति।। ४।।

तत्त्वानीत्वादि—श्रयमुपर्यु को द्वीपः सप्त क्षेत्राणि तस्वानि जैना-गमवत् विभर्ति,जैनागमे यथा सप्त तस्वानि तथैवेह सप्त चेत्राणि। तत्रापि सप्तसु पुनरसको भारतनाम वर्षस्तस्त्रेषु जीव इवाप्रवर्ती सर्वप्रयानः सदक्षिणो यमदिग्गतो बुद्धिसहितो वा व्यतश्चाप्तहर्षः प्रारब्धप्रमोद-भावः ॥ ४॥

श्रीभारतमित्यादि — श्रस्य द्वीपस्य श्रीभारतं नाम तत्प्रसिद्धं शस्तं प्रशंसायोग्यं च्रेत्रं सित्रगदामि यत्किल सुदेवानां वृषमादितीर्थं-कराणामागमः समुत्पादस्तस्य वारि जन्माभिषेकजातं ततोऽश्रवा तेषा-मेवागमः सदुपदेशस्तस्य वारितो वचनतः स्वर्गश्चापवर्गश्च द्वौ किला-दिर्येषां चक्रवर्ति-वलभद्र-नारायणत्वानामभिधानमेव शस्यं धान्यं पुरय-विशेषसुत्पाद्यद्वर्तते यन् ॥ ६ ॥

हिमालयेत्यादि—भोः पाठका एव भारतवर्ष एतस्य द्वीपानामधि-पस्य जम्बूद्वीपस्य राज्ञः क्षत्रस्येदं क्षात्रं यद्यशस्तदनुपततीति सः क्षत्रियत-प्रकाशक इत्यर्थः । धनुर्विशेष एशस्ति यतौऽसौ दिमालय एवोहासी स्फीतिधरो गुणः अत्यञ्जापरिणामी यस्य तथा वाराशिर्लवणसमुद्र एव वंशस्थितिवर्षे गुरुथानीयो यस्य स एतावान् विभाति । रूपकालङ्कारः ॥॥

श्रीत्यादि – श्रीयुक्ता सिन्धुश्च गङ्गा च तयोर्मध्येऽन्तरतस्तर्यक् स्थितेन वर्तमानेन पूर्वश्चापरश्च पूर्वापरी यावम्भोनिधी ताभ्यां संहितेन संस्पृष्टेन शेलेन वैताढचनाम्ना भिन्नेऽत्र भारतवर्षे पट्खण्डके सित पुनस्तत्रार्यशस्तरार्यखण्डनामकोऽयं ज्योतिःशास्त्रविहिते पह्नगंके स्वोच्चवर्ग इव सर्वप्रधानोऽस्ति ॥ ८ ॥

तस्मिन्नित्य।दि — तिमन्नेतिस्मिन् आर्येखरुडे विदेहदेशे इत्येव-मुचितमिभधानं नाम यस्य स स्वं स्वकीयमुत्तामत्वं प्रधानत्वं द्धान एको विषयो देशोऽस्ति, स च वपुषि शरीरे शिरःसमानः प्रतिभाति, स एवा-धुना नोऽस्माकं गिरा वाचा सिक्क्यते व्यावर्ण्यते ॥ ६॥ अत्रत्येत्वावि —तस्मिन् विदेहदेशे बामास्त्रिदिवः सुरालय एवीप-मानसुपमाविषयो येषां ते लसन्ति । पीतमालीडमम्बरं रागनं येस्तानि च तानि धामाति, अनल्पनि च पीताम्बरधामानि ते रम्या मनोहरा बामा एवं पवित्राणि पद्मानि कमलानि यत्र ता त्र्यापो जलानि वेषु तानि सरासि येषु सन्ति ते । अतेके कल्पा मेदा येषां तेऽनेककल्पा-स्तेषां दुमाणां तरूणां संविधानं सम्भावनं येषु ते तत एवादस्या दमितुं पराभवितुमयोग्या शामा । सुरालयश्च पीताम्बरस्य इन्द्रस्य धामभिस्ताबद्रम्यो भवति, पद्मा तथाऽप्सरसोऽपि स्वर्वेश्यास्तत्र मवन्ति, कल्पद्रुमा अपि सन्त्येवेति । श्लेषोपमा ॥ १०॥

शिखावलीत्यादि —शिखया खचूलिकयाऽवलीढं स्पृष्टमश्रं गननं येस्तत्त्रायाऽद्वटा अध्यस्हरूपेण स्थिता नूतनस्य तत्कालीत्पन्नस्य धान्यस्य कृटा राशयो ये बहि:स्थिता प्रामेभ्यो बाह्यसीम्नि वर्तमानास्तेऽपि पुनः प्राच्याः पूर्वदिशातः प्रतीची पश्चिमदिशां ब्रजतो निरस्तरं पर्यटतोऽ-ब्जपस्य सूर्यस्य तस्य विश्रामशैला इव भान्ति।।११।।

पृथ्वीत्यादि — प्रकुल्लन्ति विकसन्ति यानि स्थलपद्मानि तान्येव नैत्राणि तेषां प्रान्तेऽप्रभागे निरन्तरमित्रिक्लत्याऽऽत्तानां समागता-नामळीनां असराणां कुलस्य प्रसक्ति संसर्गमेवा अनीघः कञ्जलकुलं दघती स्वीकुर्वतीयमत्र प्रान्तस्य पृथ्वी हे सखे पाठक! आसीयमात्म-सम्बन्धिसौभाग्यमेवाभिव्यनक्ति प्रकाशयति।। १२॥

धान्येत्यादि — धान्यस्यली शस्यभूमिस्तस्या ये पालकासेवां या यालिकाः क्षेत्ररक्षां कर्तुं मुपिस्थतास्तासां विनोदवशाद् गायन्तीनां गीत-श्रुतेरतिशयमाधुर्याद्धे तोर्निश्चलतां श्रवणसन्निहितचित्तत्यां निष्पकस्य-भावं दथानाः स्त्रीकुर्वन्तः कुरङ्गरङ्गाः शस्यास्वादनार्थमायाता दीना मृगा श्रापि तत्राध्वनीनस्य पथिकस्य चित्ते विलेष्यशङ्कां श्रभी विलेपात् काष्ट-पाषाणादितः सम्भवा विलेष्या न तु साक्षाद्रूप इति भान्ति- मुत्पादयन्ति । संशयालङ्कारः ॥ १३ ॥

सम्पर्लखत्वेनेत्यादि — यस्मिन् देशे वृक्षाः समीचीनाः पह्नताः पत्नाणि सम्पर्लख्वास्त्या सम्पदां सम्पत्तीनां ख्वा ख्रंशास्त्रत्वेन हेतुना जनानामागतछोकानां छायादिदानेन पत्ने भोजनादिना हित्मुत्याद्वः यन्तो वीनां पक्षिणां नयं समागमनछक्षणं नीतिप्रकारं द्धानाः पत्ने विनयं नम्रत्वं स्वीकुर्वाणा एव सुष्ठु पन्याः सुपथस्तस्यकशाणा ख्रद्वितीयतया द्योतका भवन्तः सफ्छं फ्लेराम्रदिभिः सहितं फ्लेन सस्कृतेन वा सहितं बुवाणाः प्रकटयन्तो छसन्ति ॥ १४॥

निशास्वित्यादि—हे नाथ प्रभो ! इह श्रस्मिन् देशे या श्रीसरितां नदीनां तिः परम्पराऽस्ति सा निदायकाले श्रीष्मसमयेऽपि कूलमित-क्रम्यातिकूलं यथा स्यात्तथा प्रसन्नरूपा सती वहति, वर्षाकाल इवानल्य जलतयैव प्रचरित । यद्यस्मात् कारणात् निशासु रात्रिपु चन्द्रोदये सितं चन्द्रोपलभित्तिभ्यश्चन्द्रकान्तघटितप्रदेशेभ्यो निर्यतो निर्गच्छतो जलस्य प्रजवः प्रवाहो यस्याः सा ताहशी भवति ॥ १४ ॥

यदीयेत्यादि--इयं भूः स्वयमि विश्वस्य हितायोपकारायेका किलाऽ द्वितीया श्रत एव पूता पुनीता तामनन्यभूतामितरत्रासम्भविनीं यदीयां सम्पत्तिं वीक्षितुमेव विस्फालितानि समुन्मीलितानि लोचनानि यया सेव विभाति, यत उत्कुल्लानां विकसितानां नीलाम्बुरुहाणामिन्दीवरी-भिधानामनुभावः प्रभावो यस्याः सा सदैव तिष्ठति ॥ १६ ॥

विणक्षथेत्यादि — विणक्षथेषु विपणिस्थानेषु स्तूषिता उच्छिली-कृता वस्तूनां पदार्थानां विक्रयार्थं जूटाः संग्रहास्ते चाऽऽपदं प्रतिस्थानमे-बोह्रसन्तस्तिष्टन्ति, ते बहिष्कृतां निष्कासितामापदं विपत्ति हसन्तः सन्तितमां ते हरिप्रियायाः कमलायाश्च केलिकृटाः क्रीडापर्वता इव वा सन्ति ॥ १७॥ यत इत्यादि — तदेकवंशा तहे शससुद्धवा सरिक्तिनंदीनां पिक्कः सा सम्पन्नवर्म दुपत्रेरथ च केयूगादिशभूपणेक्यक्तमावक्दा, उद्यस्त् यस्तरुरिति जात्यामेकवचनं तेन तरुसमूद्देन पश्चे उद्यसद्विस्तरुणेत्वरु-द्धापि समनुगृहीनापि सती, ऋतिवृद्धं गुरुतर पश्चे स्थविरं तं जलधीश्चरं जलाशयानामधीशं ससुद्रं पद्मे मृत्येशिरोमणि याति प्राप्नोति,ततो निम्न-गात्वस्य यः प्रतिबोधो विश्वामो जनेषु जातस्त नुद्ति दूरोकरोतीत्येवं-शीला न भवति । हा-इति खेदप्रकाशकरेगो ॥ १८॥

पद इत्यादि—इदानीमस्मिन् देशे साम्प्रतमिष नाल्पमनल्पं जलं वेषु तेऽनल्पजलास्तटाकाः सरांमि सन्ति । तथा समीचीनानां फलानां पुष्पाणां च पाकः परिणामो येषु तेऽनोकहा वृक्षाः संन्ति पदे पद एव तस्माद्धे तोर्धनिनां श्रेष्टिनां सत्रस्य सदात्रतस्थानस्य प्रपायाः पानीयज्ञा-लायाश्च स्थापने विषये यानि वाञ्छितानि तानि व्यथानि भवन्ति, तत्र तेषां प्रयोजनाभावादिनि ॥ १६ ॥

विस्तारिणीत्यादि—यस्य देशस्य धेनुतितर्गोपरम्परा सा विस्ता-रिणी उत्तरोतरं विस्तरणशीला कीर्तिरिव तथा चेन्दोश्चन्द्रस्य रुचिवद-मृतस्त्रवा दुग्धदात्री यथा चन्द्रस्य दीप्तिः सुधामुत्पादयित तथा पुरयस्य परम्परेव सुदर्शना शोभनाऽऽकृतिः स्वभावादेव विश्राजते॥ २०॥

अस्मित्रित्यादि — इयद्विशाले पूर्वोक्तप्रकारवैभविनस्तारयुक्ते भुवः पृथिव्या भाले छळाट इव भासमानेऽस्मिन् देशे विदेहनाम्नि हे आले! मित्रवर! श्रीतिछकत्वं समाद्धस्वीकुर्वाणमस्ति तिछकं यथा छळाट-स्याछङ्करणं तथैव यत्पुरं विदेहदेशस्याभूषणतया प्रतीयते यच जनाः कुण्डिनमित्येतत्पदं पूर्व विद्यते यस्य तन्नाम पुरं कुण्डिनपुरमित्याहुः प्रोचुस्तदेव समङ्कितुं वणयितुं मदीयबाहुर्याति प्रवर्तते साम्प्रत-मिति शेषः ॥ २१ ॥

नाकिमित्यादि — तत्पुरमहं नाकं स्वर्ग तथैवाकेन दुःखन रहितं नाकं सम्प्रवदामि यतो यत्र वसन्तो निवसनशीला जनाः सुरक्षणाः सुराणां देवानां चण इव छण उत्सवो येषां तथा च रलयोरमेदात्सु-लक्षणा भवन्ति रामाः खियश्च सुरीत्येवंरूपां सम्बुद्धिमामन्त्रणमितास्स-म्प्राप्तास्तथा शोभना रीतिः सुरीतिः समीचीना बुद्धिः सम्बुद्धिः सुरीतौ सम्बुद्धिमिताः सरसचेष्टावत्य इत्यर्थः, राजा च सुना परमपुरुषः शीरस्य सूर्यस्य पुनीतं धाम तेज इव धाम यस्य सस्तथा सुनाशीरस्येन्द्रस्य पुनीतधासेव धाम यस्येति सुनाशीरपुनीतधामाऽस्ति ॥ २२ ॥

अहोनेत्यादि —यत्रुरमनन्तालयसङ्कुलंस त् सम्भवत् छनन्तैरन्त-वर्जितैरथं चानन्तस्य शेषनागस्यालयेः संकुलं व्याप्तं सत् न हीना छहीनाः सद्गुणसम्पन्नास्तेषां सन्तानैर्यद्वाऽहीनामिनः शेषस्तस्य सन्तानै; सर्पेः समर्थितत्वात् छथ च पुत्रागानां पुरुषश्रेष्ठानां कन्याभिः साध्वीभिस्तथा नागकन्याभिरिद्धतत्वात् नागलोकस्य समानशंसं तुल्यह्मपं विभाति शोभते ॥ २३ ॥

समस्तीत्यादि — एव भोगीन्द्राणां सुखिनां यद्वा नागानां निवास एवेस्यतो वप्रस्य प्राकारस्य छलान् तस्य कुण्डिनपुरस्य मण्डलं परितः परिक्रन्य शेष एव समास्थितः। परिखामिषेण खातिकायाश्चलेनाथ पुनरन् तत्समीपे निर्मोक एव तस्य कञ्चुकमेव बृहता विषेण जलेन सहितः समास्थित इति ज्ञायते ॥ २४॥

लक्ष्मीिषित्यादि — यस्येयं यदीया तां लक्ष्मीमनुभावयन्तो हठात्स्वी-कुर्वन्तो जनाः पुनरिहागत्य वसन्तः सन्तीति रोषात् कोपवशात् किल-तत्परित उपरुद्धयासौ वारिराशिः स्वयं समुद्र एव स्थितोऽस्ति परि-स्वायाः स्वातिकाया उपचागः प्रकारो यस्य स इत्यत इन्प्रत्ययः ॥ २४ ॥ विषयथ इत्यादि — यस्य पुरस्य विणक्पथो विषिण-प्रवेशोऽिष स इति निम्नप्रकारेण काव्यस्य तुलां समानतामुपैति, यतः श्रीमान् सम्पत्तिमान् पक्षे शृङ्कारादिरसस्य शोभावान् । असंकीणो पदानां पाद-विश्लेपाणां प्रणीतिमार्गसरणिर्यत्र, पत्ते पदानां सुप्तिस्त्वानां प्रणीतिः सुरचना । अनेकर्यानां गुडादीनां गुणः सुरीतिं सत्प्रयां पक्षेऽनेकऽयो वाच्या येषां पदानां तेऽनेकार्यास्तेषां गुणः प्रसादादिभः शोभानां गौडी-त्यादिरीतिं समाद्यत् स्वीकुर्वाणः, तथा निष्कपटानां प्रशंसनीयवहुन्यवस्त्राणामौणेताभादिप्रभवाणां प्रतीतिं समुचितनीतिं, पश्चे निष्कप्तयां कर्यवस्त्राणामौणेताभादिप्रभवाणां प्रतीतिं ससुचितनीतिं, पश्चे निष्कप्तयां कर्यवस्त्राणां स्ति।

रात्रावित्यादि —रात्रावन्यकार-बहुलायां यस्य वणिक्पथस्यात्रं गगनप्रान्तं लिहति स्वृक्षतीत्यश्च लिहो योऽसौ ज्ञालो वप्रस्तस्य शृङ्गे प्रान्त-भागे समाक्षितो लग्नः सन् भानां नक्षत्राणां गणः समृहः स चाभङ्गो यावद् रात्रिः ऋषि न श्रष्टतामेतियः सस्तुरतां भासुरस्वभावानां प्रदी-पानासुत्सवतामनुपतित स्वीकरोतीत्यनुपाती योऽसौ सम्बादो जनाना-मैं कमत्येन स्वीकारस्तमत्यवानन्दकरं प्रसन्नतोत्पादकं द्धाति ॥ २७॥

अधःकृत इत्यादि - यत्रगरं तस्य शालस्याप्रतो या खातिका तस्या अम्मसि सुविशदे जले याच्छविः स्वकीयाऽऽकृतिस्तस्या दम्भ-जातिः कपटप्रवन्धो यस्य तत् कर्ज् । नागलोकोऽधः कृतोऽस्माकसपे-श्चया नीचैः स्थितस्तिरस्कृत इति वा सन् भवन्नपि, पुन्थ्य सोऽसावही-नानामुत्तमाङ्गभृतामोकः प्राणिनां स्थानं कृतः कस्मात् कारणादस्तु यश्चा-दीनामङ्गभृतां शेषादिसर्पमुख्यानां स्थानमस्त्येवेति किलाहो एवं कृतको-पत्या तं नागलोकं जेतुमिव प्रयाति । श्लेषमिश्रितोर्छशलङ्कारः ॥रम॥

समुल्लसित्यादि-समुल्लसन्तः प्रकटतामाश्रयन्तो ये नीलमण-यस्तेषां प्रभाभिः कान्तिभिः समङ्किते व्याप्ते यस्य नगरस्य वरणे प्राकारे राहोर्भीर्भं म उत्पद्यते रिवमनसि श्रनेनैव तु हेतुना रिवरयं सूर्यः साचि सबिक्रमपरिणामं तथा स्थान्तथा कदाचिदुदीची मुन्तराद्यामथवाऽपि पुनरवाची दक्षिणदिशां अयति, रवेः सहजमेव दक्षिणायनोत्तरायणतथा गमनं भवति तदिह राहुश्चान्तिकारणकं प्रतिपद्यतेऽतो श्चान्तिहेतुको द्ये- क्षालङ्कारः । श्रथवाश्चदो वर्णनान्तरार्थः ॥ २६ ॥

यत्खातिकेत्यादि — शनैश्चरन्तो मन्दतयो गच्छन्तोऽपि च निना-दिनो गर्जनशीला एवमुदारा श्चजुद्रा ये वारिमुचो मेघास्ते यत्खातिका-वारिणि यन्नगरस्य खातिकाया निर्मले नीरे प्रतिमावतारात् स्वकीयप्रति-च्छविप्रदानाद् वारणानां जलगजानां शङ्कामनुसन्दधाना लसन्ति समुत्पादयन्तो वर्तन्ते । भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ ३० ॥

तत्रत्येत्यादि — तत्र भवतीति तत्रत्यो यो नारीणां जनः समृहस्तस्य धृतैः पुनीतैः पादेश्चरणैः कीटशैरिति चेट् रतेः कामदेविश्वया अपि मृिर्धन मस्तके लसित शोभते प्रसादोऽनुप्रहकरणं येषां तस्तादशैरसाकं वुला तुल्यता स्यादितीयं यस्मान् कारणान् किठना समस्या, यतोऽस्माकं तु स्थितिस्तावद्रतिदेवताया अपि पादयोरेव भवतीति तापादिव मनः खेदान् किल पद्मानि कमलपुष्पाणि यस्याः खातिकाया वारि जले लुठ-न्ति । 'वावारि कं पयोऽस्भोऽस्तु । इति धनश्चयोकत्या वाः शब्दोऽपि जलवाचको वर्तते यस्य सप्तम्येकवचनं वारि ॥ ३१ ॥

एतस्येत्यादि -- एतस्य नगरस्य वप्रः प्राकारः सश्काणां शिला-राणामप्रस्य प्रान्तभागस्य रत्नेभ्यः प्रभवति समुत्पद्यते या रुचिः कान्ति-स्तस्याः स्रक्परम्परा यत्र स ताद्यक् हे सुरालय देवावास, त्वभेतस्या-स्माकं जन्मदातुः सौधपदानि धनिनां स्थानानि तान्येवासृतस्थानानि पश्य । सुधाया अमृतपर्यायत्वासुधासञ्जातानि सुधोत्पादकानि वा सौधानि इति । त्वम् तु पुनः सुराया मदिराया आलयः, पुनरपि कर्ष कस्मात् कारणादस्योध्र्वं वर्तस इत्येवं प्रकारेणाजस्रं निरन्तरं यवा स्या-त्तथा प्रहस्ततीव किछ । शब्दार्थपरावृत्तिमृलकोत्प्रेक्षालङ्कारः॥ ३२॥

सन्ध्येत्यादि—समीचीनस्य धूपस्याग्नौ प्रक्षिप्तस्य यो धूमस्तस्मा-दुत्थिताः सम्पन्ना ये वारिदा मेघा यत्र तेषामातोद्यानां वादित्राणां पूजनस्तवनादौ समर्थितानां नादैः शब्दैः कृतं गर्जितं यत्र तेषां, वाद्यौ वादित्रमातोद्यो काह्छादि निरुच्यत इति कोशः। एतादशानां जिना-छयानामुपरि वर्तमाना तात्रदिति शेषांशः। श्रङ्गाप्ते शिखरप्रान्तभागे प्रोतो यो हेमाण्डकः स्वर्णकछश इत्येतत्सिम्बिधानं कथनं यस्याः सा शम्येव विद्युदित्र सम्भाति विराजते॥ ३३॥

गत्वेत्यादि — द्वारोपरि प्राङ्गणभागः प्रतोळी कथ्यते, तस्याः शि-खरामे छग्नेभ्य इन्दुकान्तेभ्यश्चन्द्रकान्तमणिभ्यो निर्यत्समुद्गच्छ्यञ्जलं तदापिपासुः पातुमिच्छुरिन्दोर्म् गस्तत्र गत्वाऽथ पुनस्तत्रेवोहिलिता-दुन्कीरितान्मुगेन्द्रात् सिंहाद् भीतो भयं प्राप्तः सन्त्रपि स श्राग्ज शीवमेव जलमपीत्वेत्यर्थः, प्रत्यपयाति प्रतिनिवृत्तो भवति। सन्देहालङ्कारः ॥३४॥

वक्तीत्यादि - उच्चलति मुहुक्तियतो भवति केतुरेव करो यस्याः सा जिनो भगवान् श्रङ्क उत्सङ्क यस्याः सा ध्वना कर्त्री, कणन्त्यो निरन्तर-ध्वनिवत्यो याः किङ्किणिकास्तासामपदेशात् मिषात्सा ध्वना तावदित्येवं वक्ति वदति-यङ्को भव्यजना धार्मिकलोका यदि भवतां सुकृतस्य पुण्या-ख्यस्य शुभक्तमणोऽर्जने सम्पादने इच्छा वर्तते तदाश्येव शीव्रतयेदा-यात, श्रव समागच्छत स्वयमेव स्वमनसा । सेत्यथवा स्वादिच्छा-या विशेषणम् । रूपक्रयुक्तापह्न त्यलङ्कारः ॥ ३४ ॥

जिनालया इयादि—तत्र नगरे रात्रौस्फटिकस्यायं स्काटिकश्चासौ सौधदेशस्त्रस्मिन्नशेषे सम्पूर्णेऽपि नैकस्मिन्नेव प्रदेशे ताराणामवतारः प्रस्कुरणं तस्य छलतो मिषान् सुपर्वभिदेवैः पुष्पगणस्योचितः सम्पा- दित उपहार: सन्तर्पणं यत्र यस्मिलगरे ते तथाविधा इव मान्ति शोभन्ते जिनालया: ॥ ३६ ॥

तदीनेत्य। दि—यत्र नगरे जना नदीनभावेनौदार्येण हेतुना लस-नित शोभन्ते सर्वेऽप्युदारचरिताः सन्ति । वनिताः खियो वा पुना रोचि-व्यं सौन्द्यं श्रयन्ति । एवं द्वयेषामुभयेषां गुणतो विशालः कालः स मुद्रस्तरङ्गत्वं मोद्रपरिणामवत्वमुपति । तथा सर्वे जना नदीनस्य भावेन समुद्रभावेन शोभन्ते, खियश्च वार इव रोचितत्वं जलतुल्यनां नैर्मल्यं श्रयन्ति, कालश्च तरङ्गभावं विशालोऽपि याति शीघ्रं प्रयाति । श्लेषा-लङ्कारः ।। २७ ॥

नासावित्यादि—यत्र नगरेऽसौ नरो मनुष्यो नास्ति यो भोगी न भवति, भोगोऽपीन्द्रियसुखसमागमोऽपि नासौ यो वृषप्रयोगी न भवित, किन्तु धर्मानुकूळमेव सुखानुभवनमस्ति । वृषो धर्माचारोपि स ताहशो नास्ति य किळासख्यसमर्थितः स्थात् सख्येन परस्परप्रेरणा संयुक्तो न भवेत् । सख्यं मित्रत्वमपि तत्ताहङ् नात्र सम्भाव्यते यस्कदापि नश्यात् नष्टं भूयात् किन्त्वामरणस्थायि मित्रत्वं भवति । अर्थात् परस्पराविरोधेन त्रिवर्गसेवनं कुर्वन्ति तत्रत्या इति । समन्वयाळङ्कारः ॥ ३८ ॥

निरौष्ठ्ये त्यादि — यत्रापवाद्वत्ता पकारोच्चारणवत्वं न भवती-त्यपवाद्वत्ता । सा निरौष्ठ्यकाव्येष्वेव, न पुनः किसम्त्रपि जने अप-वादवत्ता निन्दायुक्तत्वम् । श्रथं च हेतुवादे न्यायशास्त्र एव परमस्य निर्दोषस्योहस्य तर्कस्य सत्ता परन्तु, न किचदिप जने परिसम्पदार्थे मोहसत्ता समत्वपरिणामः । श्रपाङ्गनामश्रवणं तु कटाक्षे नेत्रवीक्षणं एव स्त्रियाः किन्तु न कोऽपि किलापाङ्गो विकलाङ्गः, लिदाधिकारित्यं विवरयुक्तत्वं गवाक्षे जालक एव, किन्तु न कोऽपि जनो दोषान्वेषी। परिसंख्यालङ्कारः ॥ ३६ ॥ विरोधितेति—यत्र पश्चरे पश्चिनिवास एव वेः पश्चिणो रोधिता अवरोधः, नान्यत्र विरोधो वैरभावो भाति । सरस्तटाकं गच्छिनीत सरोगस्तस्य भावः सरोगता तां मराछतातिई सपिष्ठ कतरेवैति प्रान्नोति, न कोऽपि जनः सरोगः रोगवानस्ति । स्नीजनस्य मध्यदेशे कटि-प्रदेशे एव दरिद्रता स्वलपपिरमाणता, किन्तु न कोऽपि जनो दरिद्रो धनहीनो भिक्षावृत्तिमाच् वा । एतस्य स्नीसमाजस्य केशवेश एव मार्छिन्यं श्यामछत्वं न तु कस्यापि चरित्रे मार्छिन्यं हीत्विमिति ॥ ४०॥

स्नेहस्थितिरित्यादि - यत्र जनेषु स्नेहस्थितिर्दीपकवत्, यथा स्नेहेन किल तैलेन विना दीपकस्य जीवनं नास्ति, तथा मनुष्या अपि, परस्परस्य प्रेम्णेय जीवन्ति । च पुनस्तेषु नदीनता वारिधिवन्, यथा ससुद्रो नदीनामिनः स्वामी तथा लोकेष्वपि नदीनता याचकवृत्यभावो वर्तते । येषां चापगुणप्रणीतिर्यु द्वस्थल एव रणाङ्गणे धनुषः प्रत्यद्वाया प्रणीतिं प्रणयं कुर्वन्ति, किन्त्वन्यत्र जातुचिद्पि कदाचिद्पि चाप-गुणस्य प्रणीतिर्दु गुणस्य प्रणीतिर्नास्ति । किलेत्येवं प्रकारा परि-स्थितिः ॥ ४१ ॥

सौन्दर्यकित्यादि — एतस्य नगरस्य सौन्दर्य दृष्टुं तत्रश्च पुनः स्वरूत्पन्नायाः स्वर्गसम्भवाया रुचः शोभाया स्मयं मत्सदशी शोभा नर्रकोके नास्तीत्येताद्यगर्वमपकष्टुं दूरीकर्तुं निशासु सम्पूर्णस्विप न केवल्लमेकस्थामेव देवतानां द्रग्दृष्टिविकासिनो नक्षत्र गणस्यापदेशान्मि- षान्निर्निमेषा नेत्रस्पन्दरहिता सती सम्पत्ततीति वाक्यशेषः ॥ ४२॥

प्रासादेत्यादि—प्रासादस्य राजसदनस्य शृङ्गाप्रे अट्टालिकोपरि भागे निवासिनीनां समुपवर्तमानां जनीनां स्त्रीणां मुखेन्द्रमालोक्य दृष्ट्वा पुनरेष विधुअन्द्रमा थोऽसौ संझन्धकलङ्कतातिः सहजकलङ्कतेस्वया सहितो वर्तते यतस्ततो ह्रियेव लज्जयेव किल ततोऽयं शृङ्गाभे नम्नी- भवन् प्रयाति गच्छति । तत्रत्याः स्त्रियः प्रसन्नमुख्यः प्रासाद्श्वातीवो-न्नत इति । उद्येक्षाळङ्कारः ॥ ४३ ॥

पदार्थत्यादि—यस्मिन्नरारे वेश्या नाम स्वैरिणी सापि कवीश्वराणां सुकवीनां भाषेव, यतः परस्मे परार्थं या निष्टा स्थितिस्तां भावयन्ती स्वी-कुर्वन्ती पक्षे परेषामुल्कृष्टानामन्येषामर्थीनां निष्टां भावयन्ती नानार्थ-वतीत्यर्थः । कामप्यनिर्वचनीयां रसस्य शृङ्काराख्यस्य पक्षे नवानामिष् रसाणां स्थिति नाटयन्ती प्रकटयन्ती, कोषस्यैका प्रसिद्धा वाञ्छा घना-र्जनाभिलाषा ताम्, पक्षे शब्दसंप्रहस्येच्छामनुसन्दधानाऽन्वेषयन्ती । श्लेषोपमालङ्कारः ॥ ४४ ॥

सौधाग्रेत्यादि — इहास्मिन्नगरे ताभिः प्रसिद्धाभिः सौधाप्रे छन्ना-नां बहूनामनल्पानां नीलमणीनां प्रभाभिः कान्तिभिः दोषायितत्वं रात्रिरूपत्वं सततमेव, ततः खलु वापीतटे वर्तमाना सा वराकी चक्र-वाकी कान्तस्य चक्रवाकस्य प्रसङ्गेन रहिता सती ताम्यति संत्रस्ता भवति ॥ ४४ ॥

उत्फुल्लेत्यादि -- उत्फुल्लानि विकसितानि उत्पलानि नीलकमलानीव चर्चू वि यासां ता उत्फुल्लोत्पलचल्लपतासां सुलोचनानामानतश्रीर्मु खशोभा तया बलाद्वठादाक्रष्टाऽपहृता तत एवायं नानानिर्मलरत्नानां स्फटिकोपलानां राजिभिः परम्पराभिजीटलस्य व्याप्तस्य प्रासादस्य राजसद्नस्य भिन्तौ यस्य विभ्वावतारस्छविनिपातस्तच्छलाकाराबद्धा तनुः शरीरं यस्य सः काराबद्धतनुः सन् पुनरयं चन्द्रप्रहस्तस्यैव प्रासादस्य चन्द्रारमभ्यः पततो निर्मच्छतः पयसो जलस्य भरः
प्रवाहस्तन्मिषाद्रोदिति विलपति ॥४६॥

एतस्येत्यादि—श्राखिलेषु पत्तनेषु नगरेषु यत्साम्राज्यमाधिपत्यं तस्य या सम्पत् समृद्धिस्तस्याः पत्युः स्वामिन एतस्य कुरिडनपुरस्य सततं सर्वदेव रात्री यहोपुरस्य पुरद्वारस्य मध्ये उपिर केन्द्रे वर्तते स चासी सुळसन् शोभमानो योऽसी चन्द्रः सगोपुरमध्यवर्तिसुलस्चन्द्रः, स किरीटायते शिरोभूषणमिवाचरित । नो चेत् त्रपरया पुनः सन्मणि-भिर्हीरकादिरत्नैर्वेद्धा निर्मिता या भूमिरङ्गणं तस्या विसरे प्रसारे योऽसी ताराणामवतारः प्रतिच्छविस्तच्छलात् येहाश्रादाकाशादापित-ता साबुङ्ग्वला स्वच्छा सुमनसां कुसुमानां वृष्टिः सती सम्भवन्ती सा कुत कारणात् । तस्मादिदं नगरं सकलनगराणां सम्राहेवेति भावः। सहेतुकोस्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ४७ ॥

काठिन्यभित्यादि — काठिन्यं कठोरत्वं किलावलानां कुचमण्डले स्तनप्रदेशे एव, नाचान्यत्र काठिन्यं गाढमुष्टित्वं जनेषु । अय तथैव दोषाकरत्वं चन्द्रभावस्तासां सुमुख एव परं केवलं वर्तते, नान्यत्र मनुष्यादिषु दोषयुक्तत्वमस्ति । वक्रत्वं तासां सृदुषु सुकोमलेषु कुन्तलेषु केरोषु वर्तते तस्य सासुद्रिकापेक्षया सुलक्षणत्वान् । न किन्तु मनोवाक्कायेषु वक्रत्वं कुटिलत्वम् बालानां नवयौवनयुक्तानां नारीणामवल्यतेषु मध्यदेशेक्षेत्रारं सहजभावेन क्षत्राता प्रतिभाति, नान्यः कोऽपि दुर्बलः । तासासुर्वोर्जानुयुगल एव विलोमता लोमाभावो नान्यत्र कुत्रापि वैपरीत्यम् । तासां निगले कण्ठदेशे एव शङ्कत्वं शङ्काकार्यास्त्व न चान्यत्र कुत्रापि मूर्खत्वम् । अधरता दन्तच्लद् श्रोष्ठ एव, नान्यत्र अधरता नीचतास्ति । दशोशचचुषोरेव केवलं चपलता क्षणस्थानान्यत्र अधरता नीचतास्ति । दशोशचचुषोरेव केवलं चपलता क्षणस्थानान्यत्र व्यवस्थान कापि, तेषामुक्तधर्माणां दलं लेशोऽप्यन्यत्र नेति परिसंख्यालङ्कारः ॥ ४५ ॥

वामाना मित्यादि—वामानां युवतीनां शोभने विलत्रये उद्रस्थ -रेखात्रये विषमताऽसमसंख्यात्वमस्ति, न च लोकेषु मिथो वैषम्यमसहन-शीलत्वम्, तासामङ्गौ चरण एव शैथिल्यं मन्द्गादमित्वं, न तु जनानां चरित्रे, उताथ पुन: सुदृशां शोभने दृशौ चलुषी यासां तासां स्त्रीणां नितम्बवलये किटपृष्ठभाग एवोद्धत्यं समुच्छायत्वं वर्तते, न तु जनेषु अविनीतत्वम् । नाभ्यएडके तुएडीप्रदेशे किल नीचता निम्तत्वं, न तु जनेषु नीचेर्गामित्वं वर्तते । निपातो व्याकरणविहितनाम शब्देष्येव भवित, न तु जनसमुदाये निपात आचरण-भ्रंशता, यामिनां संयम्शालिनामक्षेष्विनिद्रयेष्वेव निप्रहो दमनं नान्यत्र कोऽपि कस्याऽपि निप्रहे करोति प्रत्युतानुमहमेव कर्तु प्रवर्तते । चिन्ता ध्यानं योगिनां कुलेष्वेव, आत्मध्यायिनां सम्प्रदायेष्वेव, नान्यत्र कापि भोगोपभोगविषयिणी चिन्ता, सर्वसम्पन्नत्वात् । सम्पीडनमपि पौड्निचये इक्षुसमूह एव भवित, न कोऽपि कस्यापि पीडामुत्पाद्यति दुःखं दातुं प्रवर्तते । अहहेति सहपीश्चर्ये ॥ ४६ ॥

अभ्रमित्यादि—अश्चं लेढि गगनं चुम्बत्यमभागो यस्या एताह्शी या शिखराणामाविलः परम्परा तया सङ्घुलं व्याप्तं यस्य नगरस्य वरणं प्राकारं मध्याह्मकाले द्विपहरसमये समद्भन् प्राप्तुवन् अयं सहस्र-रश्मिः सूर्यो योऽस्मिन् भुवने लोके प्रोत्तप्तस्य वह्निनतापितस्य काञ्चनस्य रुचिरिव रुचिर्यस्य स इह कल्याणकुम्भ इव स्वर्णकलशबद् भाति ॥ ४० ॥

इति बितीयः सर्गः।



## तृतीयः सर्गः

तिःशेषेत्यादि — निशेषाणामित्वलानां नम्राणां नमः कुर्वतामवति-पालानां राज्ञां या मौलिमालाः शिरोभूषणस्थाः पुष्पसन्ततयस्तामां रजोभिः पिश्वरिता 'यूसरीक्रताऽङ प्रश्वोद्यरणयोः पौलिः प्रान्तभागो यस्य सोऽस्य नगरस्य कुरिडनपुरस्य शास्ता प्रतिपालको वभूव, यस्य तास्ताः प्रसिद्धाः कीर्तीः यशांसि एवं च श्रियोः गुण-सम्पत्तीश्च वदामि कथयामि तावत् ।। १ ।।

सौवर्ण्यमित्यादि—ऋस्य नृपस्य शोभनो वर्णो रूपं यस्य स सुवर्ण-स्तस्य भावः सौवर्ण्यं तद्थवा काञ्चनत्वमेवं च धर्यं धीरभावं दृदत्वं ऋष्ठत्वं बोद्वीक्ष्य दृष्ट्वा मेरुः सुमेरुदूरंगतो नाहमीहक धर्यवान् सुवर्णी चेति छज्जया किछ वा। पुनर्वाधिः समुद्रोऽपि एतस्य मुक्तामय-त्वान्—मुक्तो निवृत्तिमितो नाशमवाप्त आमयो रोगो यस्मात्स मुक्ता-मयस्तस्वान् अथवा मौक्तिकमयत्वान् गभीरभावाद् गृहचित्तत्वादत-छस्पर्शत्वाद्वा हेतोश्च सदा ग्छपितो द्रवत्वमित एव तिष्ठति। ऋहो— इत्यारचर्ये।। २।।

रवेरित्यादि — एकेनेव करेण हस्तेन ठोकस्याशानामभिलापाणां सहस्रां दशशतसंख्यात्वं समासात्सक्षेपात् अन्यथा त्वतोऽप्यधिकमिति भावः । अथवा समेकीभावे समस्यत इति समासस्तत्कालस्तस्माद् युग-पदिति, आपूर्यतस्तृतिमानयतोऽस्य नृपस्य समक्षमग्रतस्तावत्, च पुनः सहस्राः करेः स्वकीयैः किरणेर्दशानामाशानां दिशां परिपूरकस्य सप्रकाशकस्य अस्य रवेः सूर्यस्य महिमा महत्त्वं विभिवास्ति ? न किमपि किन्त्वतिशयेनाल्पकत्वमेवास्ति । श्लेषगभी वक्रोक्त्यलङ्कारः ॥ ३ ॥

भूमावित्यादि – वीतो विनाशमितः कलङ्कस्य दूषणस्य लेशो यस्मात्स दोषवर्जितः । भव्यानां सभ्यजनानामेवाव्जानां कमलानां वृन्दस्य सम्प्रदायस्य पुनः मुदे प्रसत्त्ये जातोऽयः च लसन्तीभिः सत्ततं वर्तमानाभिः कलाभिः स्कृतिप्रसृतिभिराहयः सम्पन्नः, एताहशो राजा भूपश्चन्द्रश्च द्वितीयोऽपि किलाद्वितीयोऽपूर्वक्षपो जात इतीव विचार्य चन्द्रोऽप्ययं भयादयो भयभीतो नाहं निष्कलङ्को न च कमलप्रियो नाष्यक्षयकलावान् एवं त्रस्तोऽय च भया कान्त्याऽऽदृयः संयुक्तो जातः खलु । एकं विशिष्टगुणं दृष्ट्वाऽपरोऽपिगुणप्रकर्षमात्मनि समादातुं यत्तत एवति नासौ चन्द्रः सिद्धार्थसम् इत्यर्थः । अतिदेशालङ्कारः । 'अतिदेशः सजातीयपदार्थभ्यो विशिष्टता' इति सुक्तेः । भूमावहो धरण्यामपीत्याअर्थम् ॥ ४ ॥

योग इत्यादि — विधेर्बह्मणो वेदनया ज्ञानेन योगः सम्बन्धः परावृत्य पीडयेति यावत्। स चापराजितेशोऽपराजितायाःपार्वत्याः स्वामी महादेवः शूली त्रिशूलनामायुष्टधारकः शूलरोगवान्वा । साधवः श्रीकृष्णः पुनर्गदान्वितो रोगयुक्तः। गदो रोगो नाम, गदा चायुधविशेष-स्तदन्वितः। इत्यमस्य निरामयस्य रोगरहितशरीरस्य नृपस्य समः समानः क ? किलामीषु न कोऽपीत्यर्थः॥ ॥॥

यदित्यादि — यत् किल यस्मात्कारणाञ्जनः साधारणो मनुष्यवर्गः कृष्णं वर्तमं मार्गो नीतिलक्षणोऽथ च गगनप्रदेशो यस्मात् स तस्य भाव-स्तर्वमनीतिगामित्वं धूमवत्वमिष चर्ते विनाऽमुष्य राज्ञोऽत्र प्रताप एव बह्विः श्राप्तः शत्रुसंहारकत्वात् तं सदाभ्यवाप, पुनश्च लोकस्यक स्यापि जनस्य वितर्कस्य प्रश्नामिधस्य चिन्तायाश्च सत्त्वं नो बभूव, ततोऽ मुष्यानुमानमेवानुमात्वं प्रत्यिप चाद्गुनत्वं श्रपूर्वत्वं पश्याम्यहमिति। यस्प्रतापतो न कोण्यनीतिकर्ताऽभूदित्यर्थः । मां लक्ष्मीमनुवर्तमानत्व-मनुमात्वमिति चोक्तिलेशः ॥ ६ ॥

मृत्त्विमित्वादि—पूज्यपादो जैनेन्द्रव्याकरणे संज्ञासु मनुष्यादिषु शब्देयु मृत्त्वं मृद्भिधेयत्त्वमधुमृदिति जगाद सूक्तवान् । किन्तु नृपोऽ- सकी राजा धातुषु सुवर्णादिषु परस्य लोकस्योत्तरजन्मनो हेतोः कारणात् किं वा परेषां लोकानां हेतोरुद्धारकारणाद् ममत्वहीनो भवन् न तत्र रूप्यकादिषु ममत्वं कृतवान् । मृदो मृत्तिकाया भावं मृत्वं स कथितवान् यत्र पूज्यपादोऽपि मुनिर्धातुषु भूवादिषु मृत्वं न कथितवान् एवं तदेतदस्योज्ज्वला कीर्तिरेव केतुः पताका यस्य तस्य राज्ञोऽस्ति धाम तेज एव यावत् ॥ ७॥

सा चेत्यादि—हे सखिराज, मित्रशिरोमणे, पश्य विचारय तावत्। यत्तिस्त नृपनायकस्य सिद्धार्थस्य सा विद्या या लोकोत्तरत्वमसाधारण-भाविस्तरजनेषु यथा न स्थान् तथात्वमाप समुपलेभे। यतः स मार्गणानां मङ्गतानां बाणानां चौद्यः समूहो यस्य सविधं समीपभावमाप, गुणस्तु यस्य यशोनामा दिगन्तगामी बभूव, दातित्वात्। इतरस्य जनसाधारणस्य धनुर्धरस्य बाणसमृहो दृरं याति, गुणः प्रत्यञ्चाभिधः समाकृष्टो भवतीति विचित्रवस्तु समाश्चर्यस्थानमेतत्। यस्माद् ईह्शी चापविद्या कापि न दृष्टा, यादृशी सिद्धार्थस्यामूदिति॥ ॥॥

त्रिवर्गेत्यादि—प्रतिपतेर्ग्यु त्पत्तेः सारः सत्त्वभागो यत्र सोऽसौ राजा त्रयाणां वर्गाणां धर्मार्थकामाख्यानां भावात् परिणामात् स्वयमे-वानायासेनेत्र चतुर्णां वर्णानां ब्राह्मणक्षत्रियवेश्यशूद्रनाम्नां विधि विधानं चकार कृतवान् । ततोऽमुख्य भवे जन्मिन, अपवर्गस्य स्थितये मोक्षपुरुषार्थसम्पत्त्येऽनिभज्ञत्वभज्ञत्वं वेद, अद इदं ज्ञातवान् स ता-दशो जनो नास्ति त्रिवर्गसम्पत्तेः अपवर्गसाधकत्वान् । तथा च त्रिवर्गाणां क-च-ट-वर्गाणां भावात्सद्भावाद् ज्ञानादनन्तरं यः स्वयमेव चतुर्णां वर्णानां त-थ-द-धानां विधि चकार । अत्यव जनोऽमुख्यापवर्गास्थित-ये पवर्गस्योपपत्यभावार्थमद इदं नकारस्यानभिज्ञत्वं वेद, नकाराध्ययनात्पूर्वं पवर्गाध्ययनं कृतः स्यादित्यर्थः । श्लेषपूर्णा निन्दार्था स्वतिः ॥ ६ ॥

भुकद्भत इत्यादि — अमुष्य राज्ञो भुजं कुटिलं गच्छतीति भुजङ्गस्ततोभुजङ्गतोऽसंः खङ्गादेव सर्पात् मन्त्रिणः सचिवा अथ च गारुहितोऽपि त्रातुं रक्षितुं क्षमाः समर्था न सवन्ति। यदि कदाचिन् अवसरे
स राज्ञोऽसिः कोषी कोषयुक्तो भवेच्चेत् इत्येवं विचार्यवारयः शत्रवः
तस्येव भूषस्याङ्ज्ञचोश्चरणयोर्ये नखा नखरा एव चन्द्रा दीप्रिमस्यात् तेषां
कान्ति उर्वोत्सनामनुयान्ति स्वीकुर्वन्ति । श्लेषयुक्तो रूपकालङ्कारः॥१०॥

है तातेति समुद्रं प्रति है तात पृज्यवर, तव तनुजा छक्ष्मीयी सा जानुर्जङ्का तदुचितो छम्बो बाहुस्तत्प्रापको भुजो यस्य तस्य सिद्धार्थ-नामनृपस्याङ्कः शरीरं सभास्विप किमुतान्यत्रेत्यि शब्दार्थः। न विमु-क्के स्यजेदीहशी छज्जारहिता जातेत्यं गदिनुं वक्तुं तस्य राज्ञः कीर्तिः समुद्रस्यान्तं समीपमवाप । ऋहो-इत्याश्चर्यं ॥ ११ ॥

आकण्यंत्यादि—चेद्यदि भूपालस्यास्य सिद्धार्थस्य यदाःप्रशस्ति विस्दावर्लि चारणादिगीतामाकर्ण्यं श्रुत्वाऽऽरचर्यचिकतः सन् शिरो-युनेत् युनुयात् कम्पं प्राप्नुयात्तदा श्रुवोऽपि स्थितिरेवं कथमेवं स्यान्नेव सम्भवितुं न शक्नुयादित्यनुमानजातात्परिज्ञानात् घाता पूर्वमेवा-द्विपतेः शेषस्य कर्णो न चकार । सर्पजातेः श्रवणशक्तिसद्भावेऽपि कर्णयो-राकाराभावमाश्रित्येत्थसुत्येक्षितमस्ति ॥ १२ ॥

विभूतिमस्विमस्वादि—विभूतिमस्वं सम्पत्तियुक्तस्वमत एव महेरवरस्वं प्रभुत्वञ्च दथता सृष्टेः प्रजारूपायाः समुन्नतस्वं हर्षपूर्वकं नम्रभावं च व्रजता स्वीकुर्वताष्यनेन जननायकेन राज्ञा कुतोऽपि कवि-दपि प्रजावर्गे हर्ण्येवेपन्यं नेतं वैपरीस्यं न प्राप्तं कस्मेचिदपि विराधकत्वं नाङ्गीकृतिमिति । छोकाभिमतो सहेश्वरस्तु विभूतिमान् स्वाङ्गे भस्म-युक्तोऽपि भवन् त्रिछोचनस्वाद् हर्ष्टिवेपन्यमेति सृष्टेश्च संहारकरोऽपि भवतीति । अतिदेशालङ्कारः ॥ १३ ॥ एकेत्यादि—श्रस्य राज्ञ एका प्रसिद्ध। चॅकसंख्याका च सती विद्या अवसोरस्माद्दशां कर्णयोद्धयोस्तस्यं वस्तुस्वरूपं सम्प्राप्य विद्वयां अव्वाऽस्माकमपि कर्णो वस्तुतस्यं छमेत इति । सम्प्राप्याय च तस्यं नाम सप्तसंख्याकत्वमवाप्य सप्तद्वयं चतुर्दशत्वं लेभे समवापेति युक्तं. किन्तु तस्यकापि शक्तिनीतेशचतुष्वस्य सामदामदण्डभेदिभिन्नस्य सारमुपागता सम्प्राप्ता सती चवतां नित्यनुतनतां बभार। श्रथ च नव संख्याकत्वमवापेत्यहो आश्चर्यमेव । यत एकस्य चतुर्धिमिलित्वा पञ्चत्वमेव स्यादिति । किञ्चेकापि विद्या कर्णद्वयं प्राप्य त्रित्वमेवोरीकियतां, न तु चतुर्दशत्वं चतुःप्रकारत्वमित्यहो विरोधाभासः ॥ १४॥

छायेत्यादि—हे सुमन्त्रिन् भित्रवरः, श्रुगु तावत् इति योज्यम्। तस्य नृपस्य प्रियं करोतीति प्रियकारिणी इत्येवंशीला स्त्री वभूव, या नाम्तापि प्रियकारिणी आसीत्। या च सदा राज्ञोऽनुगन्त्री लन्दोऽनुगामिनी सूर्यस्य छ।येव, यद्वा विधेविधातुमायेव प्रपक्षरचनेव। यस्या राज्ञ्याः प्रणयस्य प्रेम्णः प्रणीतिस्तावद्रीतिः पुनीता निर्देषा समभूदिति।। १४।।

दयेत्य दि—श्रमो प्रियकारिणी नाम्नी राज्ञी तस्य राज्ञः पदयो-श्चरणयोरधीना वज्ञवर्तिनी समधी चार्थिक्रयाकारिणी सेवा वैय्यावृत्य-क्रिया यस्यस्याः सा महाननुभावः प्रभावो यस्याः सा, धर्मस्य समीचीना वुष्ठानस्य दया जीवरक्षावृत्तिरिव, तथा तपस इच्छातिरोधलक्षणस्य श्लान्तिः सहिष्युतेव, पुरुषस्य शुभकमणः कल्याणानामुत्सवानां परम्परा पद्धतिरिव सदेवाभूजजाता ॥ १६ ॥

हरेरित्यादि — हरे: कृष्णस्य प्रिया लक्ष्मीः सा चपलस्वभावाऽ नवस्थानशीला क्षणस्थितिमती सा, वाऽथवा मृहस्य महादेवस्य प्रिया पार्वती सा सततमेत्रालिङ्गनशील।ऽतो निर्लज्जतयाऽघं पापं कष्टं वा द्दातीत्यघदा, स्त्रिया छज्जैव भूषणिमत्युक्तेः। रतिः कामप्रिया सा पुनरदृश्या द्रष्टुमयोग्या मूर्त्तिरहितत्वात् विरूपकत्वाद्वेति अतः हे शस्य पाठकमहाशय, पश्यात्र छोके शीलभुवः सहजतया निर्दोषस्यभावाया। स्तस्याः प्रियकारिएयाः समा समानकक्षा कथमस्तु तासु काचिद्-पीति ॥ १७ ॥

वाणीत्यादि—या राज्ञी परमस्य सर्वोत्कृष्टस्यार्थस्य मुक्तिमार्ग-ळक्षणस्य दात्री वाणीव जिनवागिव। यद्वा परमस्याविसम्वादरूप-स्यार्थस्य पदार्थज्ञानस्य दात्री वाणी भवति, तथा चानन्दस्याऽऽह्वादस्य विधायाः प्रकारस्य विधात्री विधि-कर्त्री कलेव चन्द्रमसः, वितर्कणा-वच्च परमोहपात्री, यथा वितर्कणा परमस्य निर्दोषस्योहस्य व्याप्ति-ज्ञानस्य पात्री,तथैव राज्ञी परस्योत्कृष्टस्य मोहस्य प्रेमणः पात्री, सत्कौतुक-पूर्णगात्री मालेव यथा सद्धिः प्रफुल्लैः कौतुकैः कुसुमः पूर्णगात्रं मालायास्तथा सना समीचीनेन कौतुकेन विनोदेन पूर्णगात्रं यस्या एताहशी राज्ञी। मालोपमालङ्कारः॥ १८॥

लतेत्यादि—या राज्ञी लतेव सम्पल्लवभावभुक्ता लता यथा समीचीनानां पह्नवानां कोमल-पत्राणां भावेन भुक्ता भवति, त्या राज्ञी सम्पदः श्रियो लवानां भावेन भुक्ता । श्रयवा तु समीचीनानां पदानां लवाः ककाराद्यस्तेषां भावेन भुक्ता मृदुभाषिणीत्यर्थः । दीपस्य दशावर्तिरिव विकासेन (प्रकाशेन, प्रसन्नभावेन च) युक्ता । तित्यं सततमेव सत्तेव समवादम्का सामान्यशक्तिर्यथा समवादेन सत्सदिवि प्रकारेणान्वयवचनेन स्का भवति तथेव राज्ञी समवादम्कवती, न हि कुत्रचिद्यि वैपम्यं वैरभावमनुक्रज्ञीत्यर्थः । यतो यस्यां मृदुता कोमलवं मधुरत्वक्ष द्राक्षायामिवोपयुक्ताऽऽसीदभून् ॥ १६ ॥

इत इयादि—हे अन्ब, मातः अहमितः प्रभृति, अद्यारभ्यामुख्य तवाननस्य मुखस्य सुपमां शोभां न स्पर्धयिष्येऽनुकर्तुं न प्रयतिष्ये इत्येवं सफ्टीकरणार्थिमिव सुधांशुश्चन्द्रमाः स्वस्य कुलेन नक्षत्रमग्डलेन युक्तः सन् यस्या लोकोत्तर-सौन्दर्ययुक्तायाः पादाप्रं चरणप्रान्तभाग-भितः प्राप्तः स्यादिति सम्भावनायासुपात्तः । अथश्वदः क्रमेणावयववर्ण-नार्थमिति ॥ २०॥

दण्डाकृतिमित्यादि — या राज्ञी स्विनतम्बद्देशे किटवृष्टिमाने
पृथुरूपस्य महतरचकस्य कलशकरणस्य मानादनुमानाञ्ज्ञानाद्यारमनायासेनेव कुचयोस्तनयोद्देथोः कुम्भोपमत्वं कलशतुल्यत्वं दधाना स्वीकुर्वाणा सती तथेव लोमलतासु रोमावलीप्रदेशेषु द्रग्डस्याकृति द्धाना
पुनः स्वयमेवात्मनेव कुलालस्य कुम्भकारस्य सत्त्वं स्वरूपं किञ्च कुलेऽ
लसत्वं प्रमादित्वं स्वयमुज्जहार स्वीकृतवती मत्सदशोऽनुत्साही कोऽपि
नास्तीति किलानुवभूव। श्रथवा कुरिति पृथ्वी श्राधारे श्राधेयारोपरोम च प्रजातिस्तस्या लालसा प्रभ यत्र तत्त्वम् ॥ २१॥

मेरोरित्यादि — याऽसौ राज्ञी मेरोः नाम्नः पर्वतादौद्धत्यमुत्रतत्व-माक्ट्य निजे नितम्बे तदिताऽऽरोपितवती । अथवा पुनरव्जात् कम-छादाक्टव्याऽऽस्यविम्वे मुखमण्डले, उत च पुनरव्धेः समुद्रादुद्धृत्य गाम्भीर्यमगाधभावं नाभिकारामथो तथैव धराया सूमेर्विशाल्खं विस्तारं श्रोणौ कटिपुरोभागे समारोपितवतीति किल । अतिश्योक्तय-लङ्कारः ॥ २२ ॥

चाज्चल्यमित्यादि — या खलु चाज्चल्यं चक्रलभावमङ्गोश्चलु-षोरनुमन्यमाना स्वीकुर्वाणा, दोषाणामाकरत्वं दोषमूलत्वमथ च दोषां रात्रिकरोतीति दोषाकरश्चन्द्रमास्तत्त्वं मुखे द्धाना समारोपितवती। प्रकर्षण बालभावं मुख्यत्वं प्रबालभावं तथैवं मृदुपल्लवत्वं करयोर्हस्तयो-मध्ये जगाद् कथितवती। यस्या महिष्या उदरेऽपवादो निन्दापरि-णामोऽथवा नास्तीति बादो लोकोक्तिर्वभूव। निन्दायां स्तव एवा-लङ्कारः ॥ २३॥ महोपतेरित्वादि—महीपतेः सिद्धार्थनराधिपस्य धार्मिन गृहे सा महिषी निजस्येङ्गितेन बारीरचेष्ट्या यतः कारणात् सुरीभ्योः देवीभ्योः पीतेः सम्पतिकरी बाधा-सम्पादिका अभूत्, देवीभ्योऽप्यधिकसुन्दरी बभूवेत्यर्थः ! तथैव हितेन राज्ञोऽप्यन्यस्य लोकस्यापि हितेन शुभिचन्त-नेन शोभनाया रीतेः सम्पत्तिकरी समभूत् । पुनहें भित्र, असकौ राज्ञी स्वकटिपरेशेन पवित्रा पर्वे वल्लं त्रायतेस्वीकरोति सा शकायुध-बदल्पमध्यप्रदेशवती । हृदा हृद्येनापि पवित्रा पुनीता अतीव निर्मलमानसा घरायां भूमो न तु स्वर्गे अपिश्व्दोऽत्रेवार्थकः । किल्ल निजेङ्गितेन राज्ञी सानुरियोन्नतिशीलाऽभूदित्यप्युक्तिलेशः ॥ २४ ॥

मृगोद्दश इत्यादि—मृगी हरिणी तस्या दश।विव दशौ नेत्रे यस्या-स्तया मृगीदशो महिष्या या स्वयं सहजा चापळता चपळ एव चापळ-स्तस्य भावश्चापळता हावभावादिचेष्टा या खलु रम्या रमणीया खतः सेव स्मरेण कामदेवेन चापळताऽऽपि धनुर्यष्टित्वेन ब्रङ्गीकृताऽ भूत्। अय च मनोजः कामदेव एव हारो हदयाळङ्कारो यस्याः साऽसौ राज्ञी निजेक्षणेन स्वकीयेनावळोकनेन कटाक्ष्रूपेण क्षणोन तत्काळमेवा-ङ्ममृतः शरीरधारिणो मनो हदयं जहारापहृतवतीति । यमकोऽ ळङ्कारः ॥ २४॥

अस्या इत्यादि - मृणालकं कमलनालमहमस्या महिष्या भुजस्य बाहुदरण्डस्य स्पद्धं ने तुलनाकरणे गर्छं ने तृष्णापरिणामो यस्य तस्त्राकृतो-ऽपराधो दोषो येन तमेनमिदानीं तस्त्राहरतुतः । अन्तर्राभव्याप्याभ्य-न्तो न पुनर्वहिः । उच्छिल्लो गुणानां धर्यादीनां तन्तृनां च प्रपल्लो यत्र तं स्कृटितहृदयमित्यर्थः । नीरे जले समागच्छित स्मेति नीरसमागतं तमेव नीरसं रसरहितजीवनमत एवाऽऽगतं विनष्टप्रायस्त्र समुपेमि जानामि । पराभूतश्च जनो जले बुह्त्वा विनश्यतीति रीतिः ॥ २६॥ या पित्रणीत्वादि—याऽसौ भूपतेः सिद्धार्थस्य मानसं नाम चित्तं तदेव मानसनामसरस्तस्य पिक्षणी तदादिरणी पतिःत्रणी च या किल जगदिदं चराचरं तदेवेकं दृश्यमवलोकनस्थानं तिस्मन् राजहंसी राज्ञः प्रिया क्षीरनीरिववेचिती पिक्षस्त्री चेत्येविषद्यानुमानिता, या खलु वि-नयेन नम्रभावेन, अथ च वीनां पिक्षणां नयेनाऽऽचारेण युक्ता, यतः खलु स्वचेष्टितेनेव मुक्ता परित्यक्ता, अफला फलरिहता स्थितिश्चेष्टा यया सा मुक्ताफलस्थितिस्तथा मुक्ताफलेमोंक्तिकरेव स्थितिः जीविका जीवनवृक्तिर्यस्या. सापि ॥ २७॥

प्रवास्त्रतेत्यादि — ऋस्या महिष्या मूर्धिन मस्तके प्रकष्टा वालाः केशा यत्र स प्रवालस्तस्य भावः प्रवालता सघनकेशस्वमिति। अधरे ओष्ट्रेरोऽपि प्रवालो विद्रमस्तस्य भावः प्रवालताऽभूद्, ऋरणवर्णस्वात्, तथ्येव करे हस्ते च प्रवालता सद्योजानपह्नवस्यं कोमलतयेति। यस्या मुखंऽव्जता चन्द्रमस्त्वमाह्वादकारित्वात्, चर्गो पदप्रदेशेऽप्यव्जता कमलरूपत्वमाकारेण कोमलत्वेन च, तथा गले कग्ठेऽप्यव्जता शङ्क-रूपत्वमाभूदिति यस्या जान्वोर्जघयोर्युगे द्वये सुवृत्तता समुचितवतु ला-कारत्वम्, तथा चरित्रेऽपि सुवृत्तता नियमितेङ्गितत्वात् । कुचयोः स्तनयोः रसालताऽप्रमुक्तल्यताऽभूद्वं कटित्रेऽधोवस्त्रेऽपि रसालता—रसां कार्ख्वो लाति स्वीकरोति रसालस्तस्य भावो रसालताऽभूत्॥ वि

पूर्वमित्यादि - एषोऽर्थाल्लोकमान्यो विधिर्विधाता पूर्वे प्रथमत-स्तावदभ्यासार्थे विधु नाम चन्द्रमसं विनिर्माय रचित्वा परचाद् च्युत्पत्त्यनन्तरं विशेषयत्नात्सावधानो भवन् तस्या मुखं कुर्वन् सन् एव-मेतादृशं सर्वोङ्गसुन्दरं सम्पाद्यन् स तस्यैतद्वृतान्तस्योल्लेखकरीं तो चिह्नाभिधां लेखो तत्र चन्द्रमसि चकार कृतवानित्युदारो महामनाः संज्ञायते । लोकेऽपि शिल्पिप्रभृति उत्तरां कृतिं कुर्वन् पूर्वो कृतिं लेखा-भिश्चिह्नयति ॥ २६ ॥ अबोतीत्यावि — अबीतिरध्ययनं, बोधो ज्ञानम् आचरणं तदनु-कुछा प्रवृत्तिः प्रचारोऽन्यपाणिभ्यः सम्प्रदानमेत्रचतुर्भिरुदारः सर्व-सम्मतः प्रकारेरस्या राज्ञ्या विद्या चतुर्दश्यवं चतन्त्रो दशा अवस्या यस्याः तस्या भावश्चतुर्दशस्य तद्गमिता नीता, अतः कारणात्मकळा चा पुनः कछा, कळा तु षोढशो भाग इति स्वभावादेव चतुःपष्टिर्जाताः। अय च तस्या विद्या निरन्तरमधीत्यादिभिः प्रकारश्चतुर्दशप्रकारस्यं प्रापिताः, कळाश्च स्कृत्योदिक्षपाश्चतुःपष्टिसंख्याप्रमिताः स्त्रीनमाजयोग्यास्ताः परिपूर्णाः सञ्जाताः। पूर्णविदुषी सा सम्बभूवेति यावत् ॥ ३०॥

या सामेत्यादि – या राज्ञी सामरूपस्य शान्तभावस्य स्थिति-मात्मना मनसाऽऽह, सततमेत्र शान्तचित्ताऽऽसीत्, या स्वीयाधरे श्रीष्ठ-देशे विद्रुमनां प्रवालसंकाशनामुवाह श्ररुणाधराऽभूदिति यस्या-स्तनौ शरीरे तु पुनरुपमामनुवर्तमानत्वमनूपमत्वं, तस्योपमानत्वस्य सत्त्वं न पुनरुपमेयत्वस्य । तच्छरीरादधिकं सुन्दर किञ्चिद्दिप नास्ति यस्योपमा दीयताम् इति । धारणा स्मरणशक्तिरिष सा प्रसिद्धा तस्या या खलु महत्त्वमुत्तरोत्तरवर्धमानत्वमन्यभवत् स्वीचकारेति । यस्या श्रात्मनि मरुनाम देशस्योपस्थितिर्यत्र विद्रुमता द्रुमविद्दीनता भवित, श्रनुपो नाम जलबहुलो देशस्तद्वत्त्वं शरीरे साधारणाय देशायानधिक-जलगुल्मादिरूपाय तु यत्र महत्त्वमिति समासोक्तिः, त्रिप्रकारस्य देशस्य स्वामिनी सेत्यर्थः ॥ ६४ ॥

अक्ष्णोरित्यादि — या युवितर्नवयौवनवती, अक्ष्णोदींर्घसन्दर्शितां विचारशीलतां द्वती स्वीकुर्वती साजनतां सदोषभावमवापेति विरोधः, किन्तु साऽक्ष्णोर्नेत्रयोद् रद्शित्वं द्वत्यपि साजनत्वं सकजलत्वमवापेति परिहारः। या चोवोविंद्योमतां वैपरीत्यमाप्यापि सुवृत्तस्थिते सदाचारभावमवापेति विरोधः, तत्र पुनरपि सा ववोंर्बधयोविंद्योनमतां लोमाभावं द्वत्यपि वर्तुं लभावं लोभ इति परिहारः। या आत्मनः

कुचयोः काठिन्यं कठोरत्व दधती समुज्ञति सहर्पनम्रत्वं सम्भावयन्ती वसी ग्रुगुभ इति विरोधः । कुचकाठिन्येऽपि समुज्ञति समुच्ड्रायत्वं सम्भावयन्ती स्त्रीकुर्वागोति परिहारः । या कचानां केशानां सप्रहे श्लक्ष्णत्वं नम्रत्वं दधत्यपि समुद्रितं साकं वक्रत्वं सम्भावयन्ती बभाविति विरोधः, तत्र कचसंब्रहे मार्द्वं कुटिल्लब्ध सार्धं विश्राणा वभाविति परिहारः । विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ३२ ॥

अपोत्यादि —या राज्ञी जिनप्रस्थाईतो गिरा वाणीव समस्तानां प्राणिनामेकाऽद्वितीया बन्धुः पाळनकरी आसीद्भवत्। शश्यरस्य बन्द्रमसः सुषमा ज्योत्स्ना यथा तथेवाऽऽह्वादस्य प्रसन्नतायाः सन्दोहः किळाविच्छिन्नप्रवाहस्तस्य सिन्धुर्नदी बभूव। नदीव यथा नदी तथैव सानुकूळा कूळानुसारिणी नदी, राज्ञी चानुकूळचेष्टावती। सरसा शङ्कारससहिता सज्ञळा च सकळा चेष्टा यस्याः सा, पटपदीव अमरीव नरपतेः पदावेव चरणावेव पद्मे । ते प्रेक्षत इत्येवंशीळा नृपचरणकमळन्सेविकाऽभूदिति ॥ ३३ ॥

रितिरवेत्यादि—तस्य विभूतिमतः सम्पत्तिशालिनः भस्मयुक्तस्य चेशस्य राज्ञो महेश्त्ररस्येव सा राज्ञी भूमावस्यां पृथिव्यां गुणतोऽपरा-जिता पार्वतीव कथापि परया श्चिया न जिता सर्वोत्कृष्टा सती तस्य नृपस्य जनुषः जन्मनः आशिकेव शुभाशंसेव सन्धात्री पुष्पधनुषः समरस्य रितिरिव प्रियाऽभूत्येमपात्री सञ्जाता ॥ ३४ ॥

असुमाहेत्यादि — सा राज्ञी सुरीतिः सुसंज्ञा, स्वसंखि पति, इति जैनेन्द्रव्याकरणोक्ता सैव वस्तु प्रयोजनभूतत्वात्तस्य स्थितिः प्रति-पाछियत्री सा पुनः समवायाय सम्यग्ज्ञानात्र पतिमित्येनं शब्दं तावदसुं सुसंज्ञातो बहिभू तमाहोक्तवती, तथैव शोभना रीतिः प्रथा सैव वस्तु तस्य स्थितिनिद्रोषकार्यकर्त्रीत्यर्थः । सा पति भर्तारमसुमाह प्राणक्ष्यं निजगाद । समर्थं कं जलं घरतीति समर्थंकन्धरः पुनरत्यजहो ह-लयोर-मेदाजलरहित इति समतामि ममतां शान्तिमि मोहपरिणाममुदाहर-दिति विरोधः, ततः समर्थो विजयकरौ कन्धरौ बाहुमूलभागौ यस्य स भूपोऽजहो मूर्वत्वरहितः स राजा मम कवेमेनां विणतप्रकारां तां राज्ञी, मुदाहरन्, मया विणितस्वभावां तां राज्ञीं स्वीचकारेत्यर्थः ॥ ३४ ॥

तरप इत्यादि — तरपो राजा वृषभावं वळीवर्दतामाप्तवान्। एत-कस्य पुनिरयं महिषी र काक्षिकाऽभूत्, अनयोद्वयोः क्रिया चेष्टा सा अवि-कारिणी अवेर्मेषस्य उत्पादिका, सा च चु मदां देवानां प्रिया स्त्री सम-भूत् इति सर्वं विरुद्धम्। अतो नृपो वृषभावं धर्मस्वरूपमाप्तवान् जाना-ति स्म। एतकस्य पुनिरयं महिषी पट्टराज्ञी वा धर्ममाप्तवतीत्यनयोविं-काररहिता चेष्टा सुराणामिष मध्ये प्रिया प्रीतिसम्पादिका समभूदिति। अहो इत्याख्चर्यनिवेदने ॥ ३६ ॥

स्फुटिनित्यादि—तयोर्नु पमिहिष्योः सर्वोऽपि समयः स प्रसिद्धो निज्ञा-वासरयोर्मध्य इतरेतरमानुकूल्यतः परस्परानुकूलाचरणतस्त्रया स्पष्टं स्कुटमेव किल ऋतूनामिदमार्तवं यस्मिन्विधानं यथतु स्वस्माधनं ततः स्वतोऽनायासेनैव स्वमूल्यतः सदुपयोगेन समगच्छ-निज्ञामा ॥ ३७॥

इति तृतीयः सर्गः।



## चतुर्थः सर्गः

अह्या इत्यादि - अस्माकमानन्दगिराणां प्रसन्नतासम्पादिकानां वाणोनामुपद्दारः पारितोषिकक्षपो वीरो वर्द्धमानो भगवान् भवितु-मर्दः । स कदाचिदेकदाऽस्थाः श्रीसिद्धार्थस्य महिष्या उद्दे आरात्सं-योगवशात्, शुक्ते रारात्कुवलस्य भौक्तिकस्य प्रकार इव मौक्तिक-विशेष इव उद्दे स्वयमनन्यप्रेरणयैवावभार धृतवान् गर्भकल्याणं नाम । आतोऽन्यं गर्भ न धरिष्यतीति यावत् ॥ १ ॥

वोरस्येति—मासेष्वापाढमासः । पक्षयोद्वयोर्यः सारः ग्रुचि-विश्रुद्धनामा सः । तिथिश्च सम्बन्धवशेन यस्या गर्भो जातः सा पष्टीति नाम्नी । ऋतुस्तु पुनः समारब्धा पुनीता वृष्टिर्यास्मन् स वर्षारम्भ-समय इत्यर्थः । एष वीरस्य गर्भेऽभिगमस्य गर्भावतारस्य प्रकारो विधिः कालनिर्देशः ॥ २ ॥

धरेत्यादि — गर्भमुपेयुषः समायातवतः प्रभोर्भगवतिश्वज्ञान-धारिणः कारणात्तु पुनः प्रजेव प्रजावद् इयं धरा भूमिरप्युल्लासेन हर्षेण सहितस्य विचारस्य वस्तु बभूव जाता। यतस्तदानीं रोमाञ्चन-रङ्करिताऽङ्कुरभाविमतेवेत्यन्तिहितोपमा। सन्तापं शोकपरिणाममुष्ण-भावख्रोज्झित्य त्यक्त्वाऽऽर्द्रभावं कोमलहृद्यत्वं सजलत्वद्य गता प्राप्तिति।। ३॥

नानेत्यादि — प्रसङ्गवशास्त्रविस्तस्य वर्षाकालस्येव वर्णनं करोति । एष वर्षाभिधानः किल कालो रसायनाधीश्वर वेदा इव भाति । तथादि-रसस्य जलस्यायनं प्रवर्तनं, पश्चे रसस्य पारदाख्य-धातोरयनं उपयोगकरणं तस्याधीश्वरोऽधिकारी । नानाऽनेकप्रकारा-णामौपधीनां कर्णटालिकादीनां पन्नेऽमरसुन्दर्यादिप्रयोगह्रपाणां स्कृति

धरतीति सः। प्रशस्या प्रशंसायोग्या वृत्तिः, पत्ते प्रकृष्टानां शस्यानां मुद्रधान्यादीनां वृत्तिः समुत्पत्तिर्यत्र सः इदं जगत्तप्तमुष्णमायुक्तं ज्वरयुक्तं चावेत्य तस्य की पृथिन्यां र-छयोरभेदान् शर जलं, शरं वनं कुशं नीरं तोयं जीवनसन्त्रियमिति घनश्वयः। पत्ते कीशलं कुशलक्षावं प्रवर्तयम् कुर्वन्सिन्नत्येवं रूपेणोदार उपकारकरः॥ ४॥

वसन्तेत्यावि — वसन्त एव कुसुमप्रायर्तु रेव सम्राट श्रीमत्वा-तस्य विरहो राहित्यं तस्मात् । अपगता ऋतुः कान्तिर्यस्यास्ताम् तथा चापकृष्टो वस्तुनां बळवीर्यापहारको बीष्माख्यतु र्यस्यां तामेतां मही पृथ्वीमेव स्त्रीमिति यावत् । उपकर्तु मिव स्वास्थ्यमानेतुमिव दिशा एव वयस्याः सख्यस्ताभिर्यनानां मेघानामपर्वेशो मिपस्तस्मात् । नीला-ब्जानामुत्पळानां वळानि पत्राणि भृतानि समारोपितानि, अरोपात् सर्वत एव ॥ ४ ॥

वृद्धिरित्यादि — अयं वर्षावसारः किन् केलिकाल इवातु प्रतिभातु, यतोऽत्र जहानां ह-ल्योरभेदान् जलानां पन्ने मूर्बाणां दृद्धिः। मिलिनेः श्यामवर्णवर्धने मेथिः पन्ने वहुभिः पापिभिरुत्रतिलेक्या सम्प्राप्ता। जनो सनुष्यवर्गस्तु पुनस्त्यक्तपथोऽत्र अष्टपथो जातः, जल्ख्वत्वा नियतं मार्गं त्यवस्त्वाऽन्यमार्गगाभी वर्षायां कली च सन्मार्गाच्चुतो भूत्वा पापपथरत इति यत्र च देशं देशं प्रति प्रतिदेशं सर्वत्रैव द्विरेक्षाणां अमराणां पन्ने पिश्चनानां सघः प्रतिभात्येवंप्रकारेण साम्यमितः।। ६।।

मित्रस्येत्यादि – निर्जलमेघेराच्छादितं दिनं दुर्दिनिमित्याच्यायेते तच्च दुर्दैवतां दुर्भाग्यस्य समानतामगात्, यत्र मित्रस्य सूर्यस्य पर्च सहचरस्य वेक्षणं दर्शनं समागमनं च, दुःसाध्यमसुलभम्, तु पुनः यूनां नरुणानामप्युद्योगा व्यापारा यत्र विलय नाशमेव अजन्तु सर्शकभावा- रकार्यं कर्तुं नोत्सहन्ते जना इति। जीवनं जलमायुरव यदुपाशं सङ्घर्धं तद् व्यर्थं भवति।। ७।।

लोक इतयदि — अस्मिन्नृती, अयं लोकः समस्तमि जगत् तथा च जनसमृहो जडाशयत्वं जलस्याशयः स्थानं तथेव जडो मन्दरव-मित आशयश्चित्तपरिणामो यस्येति सः। तत्त्रभाष्नोति घनानां मेघानां मेचकेनान्धकारेणाथवा घनेन निविडेन मेचकेन पापपरिणामेन सतां नक्षत्राणां वर्स्म गगनं तथेव सत्समीचीनं वर्स्म पुर्यं तल्लुप्तं भवति। यत्राराश्चिरन्तरं प्लबङ्गा दर्दुरा यद्वा चळ्ळचित्ताः प्लबं चापल्यं गच्छन्तीत्येवं शीला जना एव वक्तारो ध्वनिकराः पाठकाश्च भवन्तीति। अन्यपुष्टः कोकिलोऽथवान्येन पोषणमिन्छिति स मौनी वास्विरहितः सचिन्तरच भवति, न कोऽपि परोपकारी सम्भवतीति यतः। अनेन कारसोन वर्षाकालः स्वयमेव सहजभावेन कलितुल्य इति॥ म॥

रसंरित्यादि —यद्वा वर्षाकाली नृत्यालय इव भवति, यत्र मृदङ्गस्य वादित्रविशेषस्य निस्वानं शब्दं जयित तेन मुद्रिस्य मेघस्य स्वनेन ध्वनिना सूरकण्ठितः सभीचीनामुत्कण्ठां सम्प्रानोऽयं कलापी मयूगो यो मृदु मञ्जु च लपतीति स मधुरमानन्दकरञ्जालपित स श्वरोत तत्कालमेव रसेर्जलैः शृङ्गारादिरसंश्च जगदिदं प्लाविवितं जलसयं कर्तुं नृत्यं तनोति ॥ ६ ॥

पयोधरेत्यादि — अथवाऽसौ पाइट् वर्षाकालो नारीव भाति। यस्याः पयोधराणां मेघानां पत्ते स्तनयोक्तानता समुझतिस्तया इत्या वागार्जनं पत्ते वाणी सा जनानां मुद्दे प्रीतये भवति या च भृशं पुनः पुनः दीपितः कामदेवो यथा सा, नील स्थामलमम्बरं गगनं वस्त्रं वा यस्याः सा रसौधस्य जलप्रवाहस्य शृङ्खारानन्दसन्दोहस्य च दात्री वितीर्णकर्त्रौ सा रसौधस्य जलप्रवाहस्य शृङ्खारानन्दसन्दोहस्य च दात्री वितीर्णकर्त्रौ सुमनोभिः कुमुमरिभरामा मनोहरा, अथवा सुमनसे प्रसन्नवेतसेऽ-प्यभिरामा ॥ १० ॥ वसुन्धराया इत्यादि — अद्यास्मिनसमये वसुन्धराया भूमेस्तनः याम् बृक्षान् विषय नाशियत्वा प्रीष्मे वृक्षा विरोपा भवन्तीति तं खरकालं प्रीष्मतुं आरादिचरान्नियन्ति प्रलायमानमभी द्राक् शीव-मेवान्तराद्रीः सजला मनसि दयालवश्चाम्बुसुचो मेघा परिणामे फल-स्वरूपेण वार्जलमश्रुस्थानं येषां यथा स्यात्तया शम्पा विद्युत एव दीपास्तैः साधनभूतैर्विलोकयन्ति ॥ ११ ॥

वृद्धस्येत्यादि—आशु शीधं निष्कारणमेव वृद्धस्य वृद्धि गतस्य जराजीर्णस्य च वराकस्य सिन्धोः समुद्रस्य रसं जलं सुवर्णा-दिकच्च हत्वाऽपहत्य तु पुनस्ततः शापाद् दुराशिषः कारणादिवास्ये स्वीयमुखप्रदेशेऽलिक्चि अमर-सङ्काशस्य भृत्वा श्यामलिमानमधि-ऋत्य, अथ पुनरेतस्य आगसो दृष्णस्य हृतिः परिहारस्तस्या नीतेः सस्त्रात्मद्भावात् असौ तहित्वान् जलधरस्तमशेषं सम्पूर्णमपि अणित परित्यजति न मनागप्यात्मसात्करोति ॥ १२ ॥

इलोक मित्यादि—हे विचारिन् पाठक, शृगु तावन् इत्य-ध्याहारः । विशारदा विदुषी शरदागमरहिता चैयं वर्षा लोकानामुप-कृतौ विश्वस्थापकारः स्थादिति विचारमधिकृत्येत्यर्थः । तु पुनः रलोक-मनुष्टुण्छन्दो विधातुं कर्तु मथ च यशो लच्छुं तस्यव साधनभूतानि पत्राणि पल्लवरूपाणि कर्गलानि कलमं धान्यविशेषं लेखनीं च लातुं संगृहीतुं यावदभ्यारभते तावद्यं भूयः पुनः पुनर्भवन् वार्दलो मेघो मषीपात्रं वा स आशुकारी आशुं नानाविधमन्नं करोति स सफलता-कारको वाऽस्ति । समासोक्तिः ॥ १३ ॥

एकाकिनीनामित्यादि — असी नीरदो मेघो रदरहितो वृद्धश्च सोऽधुना किलैकाकिनीनां स्वामिविहीनानां वधूनां मांसाति यानि किल स्वभावत एव सृदूनि कोमलानि भवन्ति तानि आस्वाद्य भक्ष्यित्वा हे आत्मसाक्षिन् विवेकिन् शृसु स एव करकानां जलोपलानां प्रकाशात् समुद्भावनान् तासामस्थीनि एव काठिन्याद्धे तोर्निष्ठीवित श्रृकरोति । किमिति संप्रश्नविचारे ॥ १४ ॥

नितस्बिनीनामित्यादि — कुशेशयानि कमलानीदानी नित-स्विनीनां युवतीनां मृदुभिः सुकोमलैः पादैरेव पद्मेस्तैः प्रतारितानि न यूयमस्माकं तुल्यतां कर्तुं मह्थेति तिरस्कृतानि, ततो ह्विया लज्ज्ज्येव किल स्वीयस्य शरीरस्य हत्ये विनाशार्थं विषप्रायस्य जलवेगस्यैव गरल-रूपस्य रयास्प्रसङ्गाद्धे तोरियं क्रिया तेषां प्रतिभाति ताबद्वर्षायां कम-लानां विनाशो भवतीति समाशित्योक्तिरियम् ॥ १५ ॥

समुच्छलदित्य।दि—इदानी वर्षतीं समुच्छलित सम्मिश्रणता-मनुभवित्त शीतलाः शीकरा जलांशा अङ्को मध्ये यस्य तस्मिन्, नाहशि वायौ वहित सित, महीमहाङ्को सुविस्तृते भूतले किलैप प्रसिद्धीऽनङ्गः कामः सभियेव भयमवाष्येव खलु उत्तापेन शोकवशेन तप्तमुण्णतां नीतं विधवानां पितहीनानां नारीणामन्तरङ्गो भूयः पुनः पुनर्यथा स्यातथा प्रविज्ञाति ॥ १६॥

वृथेत्यादि - इदानों भेका दर्दुरा वृथेव कुकवीनां प्रयातं चेष्टितं स्थयन्तः स्वीकुर्वन्तः किलेकािकतया स्वयमेवान्यप्रेरणं विनेव लपन्तः सब्दं कुर्वन्तः पङ्कोन कर्दमेन पापेन वा प्लुताः संयुक्ताः सन्तः, यहा पङ्को प्लुतास्तन्मया भवन्त उदात्तं कं महद्यि जलं कलयन्ति दृषयन्ति यहाऽऽनन्दमनुकुर्वन्ति, किन्तु महतामुदारचरितानामन्तश्चित्तं नित्य-मेव तुद्नित दुःखितं कुर्वन्ति । उत भङ्गयन्तरवर्णने ।। १७ ॥

चित्ते शय इत्यादि — चित्ते शेते समुत्पश्चते स चित्ते शयः कामः सोऽयं सर्वमान्यः संस्तु पुनर्जयताद् विजयी भूयादिति किल हृष्टाः श्लाघापरायणत्वेन फुल्लतामिताः श्रीमन्तः कुटजा नाम वृक्षाले सुमेषु पुष्पेषु तिष्ठन्तीति सुमस्था वारो जलस्य बिन्दबोंऽशास्त्रेषां दलानि समृहा-स्तेषामपदेशो मिषः सम्भवति यत्र तं तादृक्षं सुक्तामयं मौक्तिकलक्षण-सुपहारत्नेशं पारितोषकांशं अयन्तु येऽषुना वर्षाकाले अयन्ति ॥ १८ ॥

कीहिगित्यादि — हे अंशिकन् , विचारकारिन् पश्य, तावद्नेन तु पुनराशुगेन वायुना कीहरदारुणमितिभयावहं चित्रं चरितम्। चातकस्य चब्चुमूले चिराहीर्घकालादिष पतद्यद्वारि जलं तद्य्यत्र तुले प्रसङ्गे निवारितं दूरोत्सारितमास्ते। अर्थोद्दीनजनस्य हस्ते कदाचिद् यसमायाति तदिष दुर्देवेन त्रिनश्यतीति। अस्योक्तिनामालङ्कारः॥१६॥

घनिरत्यादि — उडुवर्गी नक्षत्राणां समूहः स इह वर्षाकाले घनै-मेंचेरेव घनैळींहकुट्टनायुधेः पराभूतो भवन् छघुत्वं हस्वाकारतामासाय सम्प्राप्य विचित्रः पूर्वस्मादाकारादन्यरूप एव सर्गो निर्माणो यस्य सोऽस्मिन् घराङ्के भूतले खमाकाशं द्योतयित स खद्योत इत्येवं तुल्या समानरूपाऽर्थस्य यृत्तिर्यत्र स प्रथितः प्रसिद्धिमवाप्तः सन् तन्नाम्ना चरित तावदित्यहं शङ्के मन्ये ॥ २०॥

गतागर्तरिस्यादि --इदानी वर्षाकाले योषा नाम स्त्रीजातिः सा दोलासम्बन्धिनी या केलिः क्रीडा तस्यां दौलिककेलिकायां स्वार्थे कवि-धानात् । क्रीडरयां तस्यां मुहुर्मु हुः पौनःपुन्येन सम्प्राप्तः परिश्रमोऽ भ्यासो यस्यां तस्यां समीचीनस्तीवस्त्रप्तिभावो यस्याः सा सुतोषा सनी पुनरच संलग्ना तपु प्रसिद्धे पु पुरुषायितेषु पुरुषवच्चे द्वितेषु निषुणस्य भावो नेपुण्यं कुशलस्वसुपति ॥ २१॥

मुखिथव इत्यादि – शोभनौ बाहू यस्याः सा सुबाहुदोलिनी दोलाकेलिभोक्त्री मुखिथयः स्तेथिनं चौर्यकरम्, इन्दोरिदमन्दवं विन्यं चन्द्रमण्डलं विन्यशब्दस्य पुंनपुसकत्वादिह पुंछिङ्गो प्राह्यः। प्रहर्षु समुद् यथा स्यात्तथा एति उपरि गच्छति, किन्तु तत्रापि व्योन्ति मुनयो महर्षयो राहुं नाम प्रहं समाहुः कथयन्ति, योऽस्मन्मुखं चन्द्रमिति मत्त्रा कवळिषण्यतीति सञ्जातस्मरणा जयादेवापैति नीर्वशयातीति पुनः पुनः करोति ॥ २२ ॥

प्रौढिमित्यादि -- प्रौढिं गतानां वर्द्धभानजळत्वेनोद्धतानां वहूनां वाहिनीनां नदीनां विश्वमेण श्रमणेन संयुतानां मुहुर्वारंवारं सम्पर्कमासाद्याश्चना वर्षाकाले तेन रयेन समागमेनासौ वराको जळिष्रिष बृद्धो जातः साधिकजळत्विमित इति सम्भाव्यते। बहूना विळासवतीनां युवतीनां सदुः सम्पर्कमासाद्य वृद्धो जनो जडबुद्धिश्च भवतीति समासोक्तिः।। २३॥

रसमित्यादि — कश्चिद्पि जनो मद्यं पीत्श अममावमुपेत्य यहा तद्वा प्रलपति निर्गल्दवेन, तथा च मुखे फेनपुञ्जवानिप भवति तथैव हे सखे, मित्रवर पाठक, रसं जलं रसित्वा संगृद्य अमैर्विश्रमेरिति अमतो वसित्वा अमपूर्णी भूत्वा तथा चोद्धततां किशत्वा सम्प्राप्या-पजलपतो व्यर्थ प्रलपतः शब्दं कुर्वतोऽस्य समुद्रस्याधुना परञ्जानां फेनानां पुञ्जस्योद्गतिः प्रादुर्भावस्तया पूर्णं व्याप्रमास्यं मुखमस्तीति पश्य। समासोक्तिः ॥ २४॥

अनारतेत्यादि—तथा चानारतं निरन्तरमाकान्ता सर्वतो व्याप्ता ये घना मेघास्तेषामन्धकारे सित भूजलेऽस्मिन्निशावासस्यो राति-दिव-सयोगि भेदं भर्तु श्चकवाकस्य युति संयोगं पुनस्युति वियोगमि च सम्प्राप्य वराकी चक्रवाकी केवलमेव हि तनोति विस्तारगति नत्सं-योगवियोगवशेनेव जना दिनराष्ट्रयोभेदं कुर्वन्तीति। रे सम्बेदसम्बो-धने ॥ २४॥

नवाङ्करेरित्यादि—भो सुरेह, यदा धरा तु नवेरङ्कुरेरह्कुरिता

ज्याप्ताऽभूत्। ज्योग्नो गगनस्यापि शोभना कन्दा मेघा यस्मिस्तस्वम-जातु बहुछतयाऽभूत्। इह भूतलेऽस्मिन्समये यस्किञ्चिदासीज्ञातं तन्मया निरुच्यते कथ्यते त्वं श्रृगु तावदिति प्रजावर्गस्य तु का वार्ता, भूरपि किछ।ङ्कुरिता रोमाञ्चिता ज्योग्नोऽपि सहर्षत्वमभूशृदेति भावः॥ २६॥

स्वर्गादित्यादि—या रमा लक्ष्मीरिव सा पूर्वोक्ता राज्ञी किल-कदा पश्चिमायां निश्चि राज्ञेरितमप्रहरे सुखनोपसुप्ता सहजनिद्रावती सतीत्यर्थः । श्रीयुक्तां शुभसूचिकां षोढशस्वप्रानां तति परम्परां स्वर्गा-दिन्द्रादिनिवासस्थानादिह भूतले आयातवतः समागच्छतो जिनस्य धर्मतीर्थप्रवर्तकस्य सोपानानां पदिकानां सम्पत्तिमभ्युत्पत्तिमिवाध्य-परयहदर्शः ॥ २०॥

तत्कालिमत्यादि — च पुनः स्वप्नदर्शनानन्तरं सुनष्टा सहजेनाप्यपगता निद्रा ययोस्ते तथाभूते नयने यस्याः सा वरतनुरुत्तमाङ्गी राज्ञी
पुनरिंप नियोगमात्रमेतदस्माकमवश्यं कर्तव्यमिति किलाभितः सर्वाशेन कल्याणमयानि मङ्गलस् चकानि वाक्यानि येषु तैः स्तवेर्गु णाख्यानहेंनुभिर्मागधेश्चारणवन्दिजनः कर्नु स्थानेर्देवीभिश्च परिचारिकास्थानीयाभिः श्रीप्रभृतिभिः सम्बोधिता सतीष्टो यः कोऽप्याचारः पञ्चपरमेछिस्मरणात्मकस्तत्पुरस्सरं यथा स्यात्तथा तल्पं श्रव्यां विहाय त्यक्त्वा
प्रातःकर्म शरीरशोधनस्नानादि विधाय च द्रव्याणां जलादीनामष्टकेनाहतां पृज्यानामर्चनं पृजनं च तत्प्रसिद्धमागमोक्तरीत्या कृतवती ॥२६॥

तावदित्यादि — तावत्तु पुनरहृत्यूजनानन्तरं सत्तमैः प्रशस्तैर्वि-भूषणेन् पुरादिभिभू वितमलङ्कृतमङ्गः यस्याः सा, नतानि नम्नता-मितानि — श्रङ्गानि यस्याः सा। परमा पूता पावनी देवताभिरिष सेव-नीया तनुर्यस्याः सा। महती सहाशयमधिकुर्वती सा देवी प्रियकारिणी आलीनां सहचरीणां कुलेन समृहेन कलिता परिपृरिता सती किमिद् मम मनसि सञ्जातमिति ज्ञातुं कामयते तत्त्रया गुभायां सभायां स्थितमिति तं पृथ्वीपतिं सिद्धार्थनामानं निजस्वामिनं प्रतस्थे सञ्जगाम ॥ २६॥

नयनेत्यादि—नयने एवाम्बुजे कमले तयोः सम्प्रसादिनी यद्वी-श्लगोनेव ते प्रसन्ने भवत इति तमसः शोकसन्तापस्यान्धकारस्य चादिनी हर्स्त्री दिनपस्य सूर्यस्य रुचि छिविमिव तां राज्ञीं समुदीक्ष्य हृष्ट्राष्ट्र पुनः स राजापि तां निजस्यासनस्यार्द्धके भागे किलानके दोषवर्जिते वेशयति स्मोपावेशयदिति ॥ ३०॥

विश्वदेखादि—विशदानां स्वच्छानामंशूनां किरणानां समृहाना-श्रिताश्च ते मणयश्च तेषां मरखलेन समुदायेन मरिखते संयुक्ते विशाले विस्तारयुक्ते सुन्दराकारे शोभने समुन्नते महाविमले निर्मळतान्वितेऽत एवावनौ भूमौ ळिळिते हरिपीठे सिंहामने पर्वत इत्यनेन केळासपर्वत इव प्रागोश्वरस्य पार्श्व संगच्छते स्मेति पार्श्वसंगताऽमौ सती मिंहणी पट्टराज्ञी, पशुपतेर्महादेवस्य पार्श्वगता पार्वतीव तदा वभौ शुशुमे। अपि च पादपूतीं ।। ३१-३२।।

उद्योतयतीत्यादि - उदितानामुदयमितानां दन्तानां विशुद्धे ति-दिषि रोचिरशैदीिप्तलेशैन् पस्य स्वामिनः कलयोर्मनोहरयोः कुरुहलयोः कणीमूषणयोः कल्पस्य संस्थानस्य शोचिः कान्तिमुद्योतयन्ती वर्धयन्ती सती सा चन्द्रवदना राज्ञी समयानुसारं यथा स्यात्तथाऽत्रसरमवेत्ये-सती सा चन्द्रवदना राज्ञी समयानुसारं यथा स्यात्त्रधाऽत्रसरमवेत्ये-सती सा चन्द्रवदना राज्ञी समयानुसारं यथा स्यात्वयाऽत्रसरमवेत्ये-स्यात्वर्षा । तस्य नरपतेः कर्णयोर्मध्ये इति निम्नाङ्कितं वच एवास्त्रते प्रसिक्ति-रव्यात्वर्षा । तस्य नरपतेः कर्णयोर्मध्ये इति निम्नाङ्कितं वच एवास्त्रक्षेप हेतुत्वान्, यच्चोदारमसंकीर्णं स्यष्टतयेत्यर्थः । तद्यपि पुनश्चिक्षेप पूरितत्रती ॥ ३३ ॥ श्रीत्यादित्रयम् — हे प्राणेश्वर, संश्रुगु, या भगवच्चरणपयोज-भ्रमरी या चीत किल श्रीजिनपद-प्रसादादवनी सदा कल्याणमागिनी तया मया निशावसाने विशदाङ्का स्पष्टरूपा स्वप्नानां पोडशी तितः सह-साऽनायासेनेव दृष्टा तस्या यत्किञ्चिद्पि शुभमशुभं वा फल शुभाशुभ-फलं तद् हे सब्ज्ञानैकविलोचन, श्रीमता भवता वक्तव्यमस्ति यतः खलु ज्ञानिनां निसगीरेव किञ्चिद्ष्यगोचरं न भवति ॥ ३४-३६ ॥

पृथ्वीनाथ इत्यादि - पृथ्वीनाथः सिद्धार्थः स प्रथितः ख्यातस्वरूपः सुपृथुविंशालः प्रोथो नितम्बदेशो यस्यास्तया 'प्रोथः पान्थेऽश्वयोणाया-सस्त्री ना किट-गर्भयोः' इति विश्वलोचनः । सिद्ध्या प्रोक्तामुक्ता पृथु-सितिवस्तृतं कथनं यस्यां तां तीर्थरूपामानन्ददायिनी तथ्यां सारभृतां वाणीं श्रुत्वा ततो हर्षणे रोमाञ्चिर्मन्थरमङ्गं यस्य सः । श्रथ च पुनः सोऽविकल्या गिरा प्रस्पष्टरूपया वाचा स्वकीयया तामित्थं निम्तप्रकारेण तःवत् सत् प्रशंसायोग्यो मङ्गलह्पश्चार्थोऽभिषेयो यस्यास्तां ता-हशीं प्रथयतितरां स्म दर्शयामासिति । कीहशो राजा, कुल्ते विकासं प्राप्ते ये पाथोजे कमले; त इव नेत्रे यस्य स प्रसन्नतावारक इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

त्वं तावदित्यादि — हे तन्दरि, तनु स्वल्पमुद्रं यस्याः सा तत्स-म्बुद्धिः । त्वं तावच्छयने सुत्वशयानापि पुनरत्येभ्योऽसाधारणामनत्यां स्वप्राविष्ठमीक्षितवती दद्शिथेति हेतोस्त्वं धन्या पुर्यशास्त्रिनी भासि राजसे । भो प्रसन्नवदनेः, हे कल्याणिनि यथास्याः स्वप्नततेर्मञ्जुतमं जनमनोरञ्जकं फलितमिहलोके स्यात्त्रथा ममास्यात्मुखाच्छुगु ॥३५॥

अकल द्धे त्यादि— हे सुभगे शोभने त्वं भीमांसिताख्याऽऽप्तमीमां-सेव वा विभासि राजसे यतस्वं किलाकलङ्का निर्दोषा अलङ्कारा नूपुरादयो यस्याः सा, पत्तेऽकलङ्के न नामाचार्यण कृतोऽलङ्कारो नाम व्याख्यानं यस्याः सा। अनवद्यं निर्दोषं देवस्य नाम तीथकर्षु रागमोऽ- वतारस्तस्यार्थं तमेव वार्थं प्रयोजनं, पक्षे देवागमस्य नाम श्रीसमन्त-भद्राचार्यक्रतस्तोत्रस्यार्थं वाच्यं गमयन्ती प्रकटियत्रीत्यर्थः। सतां बृढानां नय श्राम्नायस्तस्मात्। पक्षे समीचीनो यो नयो न्यायनामा ततो हेतोः। श्लेषोपमा॥ ३६॥

लोकेत्यादि — उत्फुल्ले निलने कमले इव नयने यस्यास्तस्याः सम्बोधनम् । इदं तवेङ्गितं चेष्टितं हीति निश्चयेनाद्य तवोद्दे लोक-त्रयस्य त्रिभुवनस्य कोऽद्विनीयस्तिलकः ललाटभूषणिमव यो बालकः सोऽवतरितः समायात इत्येवं प्रकारेण सन्तनोति स्पष्टयित । क्रम- शस्तदेव वर्णयितुसारभते ॥ ४० ।:

दानिवत्यादि — प्रथममेरावतह स्तिस्वप्नं स्पष्टयति — स किल निश्चयेन द्वौ रदौ दन्तौ यस्य स द्विरद इव हस्तिसमानो भवन्नवतरे-दवतारमाष्नुयात्। यतः सोऽखिलासु दिख् मेदिनीचक्रे पृथ्वीमरहले सुहुरिष वारं वारं दानं सुक्रान् मदिमाव त्यागं कुर्वन् सन् पुनः समुन्नत खात्मा चेतनं शरीरं वा यस्य सः। विमलो मलेन पापेन रहितः शुक्त-वर्णश्च सुदितो मोदिमितः प्राप्त ईट्य ऐरावत इव सम्भवेदिति॥ ४१॥

मूळेत्यादि—मूळगुणा महाव्रतादयः, आदिशब्देनोत्तरगुणास्त-पश्चरणादयस्तत्समन्वितेन रत्नत्रयेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकेन पूर्ण भूतं धर्मनामशकटं च पुन मुक्तिरेव पुरी चिरनिवासयोग्यत्वा-त्तासुपनेतुं प्रापयितुं वृषभस्य बळीवर्दप्रधानस्य गुणं स्वभावमञ्चन् अनुसरन् तस्य धुरन्धरो भवेदिति ॥ ४२ ॥

दुरिशानिवेशेत्यादि — दुरिशानिवेशो विरुद्धाभिशायो वस्तुस्वरूपा-दन्यप्रकारः स एव मदस्तं उन्मद्यितुं समर्थत्वानोतोद्धुरा उत्थापितम-स्तका उद्धता वा कुवादिनः कुरिसतं वदन्तीति ये तेषामेव दन्तिनां हस्तिनां तुल्यधर्मत्वानोषां च मद्मुद्धेन्तुंपरिहर्तुं मयं बालकः खतु निश्चयेन दक्षः समर्थो भवेददीनः कानरतारहित इत्थं केसरी सिंहडव भूयादिति । अदयं यथा स्याक्तथेति निर्दयत्वेन कदाचिद्वयस्मिन् विषये दयां न कुर्यादिति ॥ ४३ ॥

कत्याणेत्य।दि—कमलाया लक्ष्म्या आत्मनो यथाऽभिषवो गर्जः कियते तथास्य कल्याणाभिषवः स्नानोत्सवः सुमेरोः पर्वतस्य शीर्षे मस्तके पार्ण्डुकशिलोपरि नाकपतिभिरिन्द्रेररं शीत्रं जन्मसमय एव विमलो निर्मलतासम्पादकः स्याद्भ्यात्। सोऽपीद्दशो वरः सर्वश्रेष्टो बालकः स्यादिति ॥ ४४ ॥

सुयश इत्यादि — अयं चोित्यस्तुर्बीलकः सुयश एव सुरिभिर्गन्य-स्तस्य समुच्चयेन समूहेन विजृम्भितं व्याप्तं च तदशेषं सम्पूर्णमिति विष्टपं जगद्ये न सोऽत एव च भव्या धर्मात्मानस्त एव अमरास्तिरिह लोक योऽसाविभिमतः स्वीकृत इतः कारणान् पुनर्माल्ययोमीले एव माल्ये तयोद्धिक इव युगलवद्भवेन् ॥ ४४ ॥

निजेत्यादि —यश्च बालको विधुरिव चन्द्रमा इव कलाधरत्वात् कलानां स्वश्नरीरस्य षोढशांशानां क्रमशो धारकश्चन्द्रो भवित,बालकश्च पुनः सर्वासां विद्याकलानां धारक इत्यतः । निजानां शुचीनां पावना-नामुङ्बलानां च गवां सूमीनां वाचां च प्रतिभयः पिकक्तभ्योऽपादान-रूपाभ्यः समुत्पन्नस्य वृषो धर्म प्रवामृतं तस्योरुधार्या किलाविकलस्व-रूपया सिद्धन् को पृथिन्यां मुदं हर्षं चन्द्रपक्षे कुमुदानां समृदं विवर्धयेदिति ॥ ४६ ॥

विकचितेत्यादि—रिवद्शेनाट् यश्च बालको रिवरिव विकचितानि प्रसन्नभावं नीतानि भव्यात्मान एव पयोजानि कमलानि येन स । स्रज्ञानमेवान्धकारो स्त्रामकत्वान् तस्य सन्दोहः संस्काररूपो निष्टः प्रणाज्ञं गतोऽज्ञानान्धकारो येन सः । स्वस्य महसा तेजसाऽभिकलितो ज्यामो लोकः समस्तमि जगद् येन सः । केवलनाम्नो ज्ञानस्यालोकः प्रकाशोऽय च केवलोऽन्यनिग्पेक्ष खालोको यत्र स सम्भवेदिति । रूपकालङ्कारः ॥ ४७ ॥

कलशेत्यादि — यश्च कलश्योर्भङ्गलकुम्भयोद्धिक इव विमलो मलवर्जित इह च भव्यजीवानां मङ्गलं पापनाशनं करोति सः। तृष्णया पिपासया विषयानामाशया चातुराय दुःखितायामृतस्य जलस्य भरणा-भावस्य च सिद्धिं निष्पत्तिं संसारेऽस्मिन् स्वार्थपूर्णेऽपि अणित ददाति ॥ ४५॥

केलिकलामित्यादि— स वालको महीतले पृथिन्यां मुद्तितातमा मुद्दितः प्रसन्न आत्मा यस्य सः, मीनद्विकवन्मत्स्ययुगलमिव केलीनां कीडानां कला तामाकलयन् अनुभवन् सकललोकं समस्तजीवलोक-मतुल्लतयाऽनुपमतया मुद्दितं प्रसन्नं कुर्यात् ॥ ४६ ॥

अष्टाधिकिनित्यादि — यथा त्वया स्वप्ने कमलानां पङ्कजानाम-ष्टाधिकसहस्रं द्धानो हृदस्तडागो हृष्टः, तथैवायं बालकः स्वशरीरे सुलक्षणानां शुभचिन्हानामण्टाधिकं सहस्रं धारियष्यति, किञ्च भविनां संसारिजीवानां सततं क्रमनाशकः क्रमं परिश्रान्ति नाशयित तच्छीलो भविष्यति ॥ ४०॥

जलनिधिरित्यादि — यथा स्वप्ते जलनिधिर्देष्टः, तथैवायं बालकः समुद्र इव गम्भीरः, पालिता स्थितिर्येन स मर्थादापालकः, लब्धीनां नवनिधीनां धारकः भविष्यति । बाऽथवा केवलजानां, केवल-ज्ञानोत्पत्त्या सह जातानां नवलब्धीनां धारकः प्रभवेत् ॥ ४१ ॥

सुपदिमत्यादि—सः शिशुः इहारिमंत्लोके सततं सद। समुन्नते-कत्कर्षस्य पदं स्थानं स्थान्, तथा ज्ञित्रराज्यपदानुरागः शिवस्य मोक्षस्य राज्यपदं प्रभुत्वस्थानं तस्मिन्ननुरागो यस्य मोक्षराज्यप्रीतिमान् स्यात्। किञ्च स्वप्ने सिंहासनदर्शनेन, चामीकरस्येव चार्वी रुचिः कान्तिर्यस्य तथाभूतः, वरिष्ठः श्रेष्ठश्च स्यादिति ॥ ४२ ॥

सुरसार्थेरित्यादि—असौ बालकः सुरसार्थैः सुराणां द्विवानां सार्थाः समूदास्तैः सम्यक् सेन्यत इति संसेन्य सेवाईः स्थान् । संस्-तेरतीतं मनो यस्य तस्मै जगद्विरक्तिचाय पुरुषाय, अभीष्टः प्रदेश- स्तस्य संलिधिस्तस्याः समीदितमुक्तिप्राप्तेः हेतुः विमानेन तुल्यं विमान-वत् विमानसहशः पूतः, पवित्रः स्यादित्यर्थः ॥ ४३॥

सततिमत्यादि—श्रसौ महीमण्डले पृथ्वीछोके, सततमनारतं सुगीतं तीर्थं यशो यस्य सः महाँश्वासौ विमलः परमपवित्रः, पुनः धवलेन यशसा कीर्त्याः नागानां मन्दिरं पाताललोकस्तद्वत् पुनः सुष्ठु विश्रुतः प्रसिद्धः स्यादिति ॥ ४४॥

सुगुणैरित्वादि—सुगुणैः शोभनगुणैरमलैर्निर्मलैर्दया-दाक्षिएया-दिभिः सकलानां लोकानां जनानां अनन्तैः असीमैर्मनसोऽनुकूलै-गुणिः, रत्नैः रत्नसमूह इवाभिभायाच्छोमेत ॥ ४४ ॥

अपीत्यादि—अपि पुनरन्ते यथा विशदो निर्धुमो वहिसमृहो दारुणा काष्ठेनोदितानां सम्पन्नानां तथैव दारुणं भयंकरमुदितमुद्य-भावो येषां तेषां चिरजातानामनादिपरम्परया प्राप्तानां कर्मणां ज्ञाना-वरणादीनां निवहं समूहं स बालको भस्मीभावं नयेदिति ॥ १६॥

उक्तार्थमेव पुनरूपसंहरति—

समुन्नतात्मेत्यादि हे देवि, असौ तव पुत्रो गजानां राजा गज-राजस्तद्वत् समुन्नत उत्हाब्ट आत्मा यस्य स एवंभूतः स्यात्। अवनौ पृथिव्यां घुरन्थर इव वृषम इव धवलो निर्मलो धर्मधुराधारकश्व

भवेत ! सिंहेन तुल्यं सिंहवद् ज्याञ्चवत् स्वतन्त्रा वृत्तिज्यंवहारो यस्य तथामृतः प्रतिभातु शोभताम् । रमावल्लक्ष्मीवन् शाश्वदस्त्रित उत्सवो यस्य तथाभूतः स्थात्। हे देवि, जव अवे संसारे तव सुतः हि-दामवत्, द्वे दामनी तद्स्यास्तीति द्विमाल्यवत् सुमनःस्थलं सुमनसां प्राणां सज्जनानाञ्च स्थानं स्यान् । शशिना तुल्यं शशिवचचन्द्रवन्नी-Sस्माकं प्रसादभूमिः प्रसन्नतास्पदं स्यात्। यो बालको दिनेशेन तुल्यं सर्येत्रत् पथां मार्गाणां दर्शकः स्यात्, द्वयोः कुम्भयोः समाहारो दिकु-म्भं तद्भत् मङ्गलकृत् कल्याणकारी स्थात्। हे देवि, तव बालकः झष्यो-यू मां मीनमिश्रुन सस्मितिर्यस्य सः, विनोदेन पूर्णः सततमनोर अकः स्यात, परोधेः समुद्रस्य समः परिपालिता स्थितिर्येन स मर्योदापालकः स्यात् । क्छमच्छिरे परिश्रान्तिनाशाय देहभूतां प्राणिनां तटाकवत सरोवरतुल्यः स्यात् । गौरवं करोतीति गौरवकारिणी या संवित् तस्यै गौरवशालिज्ञानाय सुष्ठु पीठं सुपीठं तद्वत् सुन्दरसिंहासनिमव स्यात । यो बालकः, विमाननेन मुल्यं विमानवद्, देवयानमिव, सुरसर्थिन संस्तूयते इति सुरसार्थसंस्तवो देवसमृहस्तुतः स्यात्। यो नागानां लोकस्तद्वत् पाताललोक इव सुगीतं तीर्थं यशो यस्य वर्णितकीर्तिः स्यात् । सुवि पृथिच्यां रत्नराशिवत् रत्नसमृह इव गुणैर्द्यादाक्षिण्या-दिभिरुपेतो युक्त स्यात् । विह्नना तुल्यं विह्नवद्गिनवत् पुनीततां पवि-त्रतामभ्युपयातु प्राप्नोतु । हे देवि महाराज्ञि, इति किलोपर्य क्तप्रकारेण तव गर्भे आगतः पुत्रः निश्चयेन निस्सन्देहमित्येवं प्रकारेण भूत्रया-विपः त्रेलोक्यस्वामी भवितुमईः, तीर्थस्य नायकः, एताहक् पुत्रः इच्टो-Sस्माकं इच्छाविषयोऽस्ति । यत इह भूतले सतां सञ्जनानां स्वप्नवृत् कचित्काप्यफलं निष्फलं न जायते । वै-इति निश्चये ॥ १७-६१ ॥

वाणीमित्यादि — इत्थमुक्तप्रकारेणामोघा सत्यार्थहण व सा मङ्गलमयी पापापेता चेति तामेवं मिष्टां अवणिषयामि वाणी श्वामिनो निजनायकस्य महीपतेस्तस्य मितमतेविंशिष्टवुद्धिशालिनः श्रीमुखा- न्निःसृतामाकर्ण् श्रुत्वा सा वामोर्स्वामं मनोहरे-उरू जङ् वे यस्याः सा उत्सङ्गे श्रङ्के प्राप्तः सुतो यया सेव, करटकेः रोमार्ख्वेर्यु का तनु-र्यस्या सा हर्पाश्रूणां प्रमोदजलानां संवाहिनी नदी जाता वभूव। यद्याः स्मात्कारणान् सुतमात्र एव साधारणोऽपि पुत्रः सुतः सुखदो भवित्त स एव तीर्थेश्वरः सर्वजनसम्मान्यः स्याच्चेतदा कि पुनर्वाच्य-मिति। ६२।

तिहत्यादि -- तत्तस्मात्कारणात् सुराश्च सुरेशाश्च कीदशास्ते सन् समीचीनो धर्मस्य कर्तव्यनिर्वर्दणक्ष्पो लेशो मनिस संस्कारो येणं ते। इह कुण्डननास्नि नगरे प्राप्य समागम्य सदुदयेन ग्रुभकर्मणा किलतं समनुभावितमङ्गं शरीरं यस्यास्तां तत एव वराङ्गीं सुन्दरावयवाम् वरस्य देवोपनीतस्य पटहस्य रणः शब्द आद्यः पूर्वसम्भवो यत्र तैः झल्लरीमर्दलवेगुप्रभृतिशब्दः किञ्चानिर्वचनीयप्रभावः श्रेष्ठ-श्च तैः पाद्यं श्चरणयोर्र्पणीयजलेरिय नवं नवीनमपूर्वदृष्टं नवस्तवन-मिति कुत्वा तत्पूर्वकं तां सुहुश्च नुत्वा नमस्कृत्य ते पुनरिष्टं स्थानं जग्मः ॥ ६३ ॥

इति चतुर्थः सर्गः।



## पञ्चमः सर्गः।

अथाभवदिति—अथ इति शुभसम्बादे, व्योग्ति श्राकाशे सूर्य-मित्रोते इति सूर्यातिशायी महाप्रकाशः महाश्रासौ प्रकाशः महाप्रकाशः समुद्योतः तदा तस्मिन् काले सहसा श्रकस्मादेव जनानां दशैकानां हृदि हृदये किमेतत् इत्यं एवं प्रकारेण काकुभावं वितर्के कुर्वन् समु-त्पादयन् सन् प्रचलत्प्रभावः प्रचलति प्रसरित प्रभावो यस्य स उत्तरो-त्तरवर्ष्ट नशीलः इत्यर्थः स प्रसिद्धः श्रभवत् ॥ १॥

क्षणोत्तरमित्यादि — स प्रसिद्धः श्रीदेवतानां श्रीहीप्रभृतीनां निवहः समूहः श्रणोत्तरं श्रणानन्तरं सिन्निधिं सभीपमाजगाम । तदा स नरेशः सिद्धार्थं आदरे सम्माने उद्यतस्तत्परः सन्, तासां देवताना-मातिथ्यविधौ अतिथिसित्कारे अर्ध्वीवभूव, न अर्ध्वोऽनूर्धः, अनूर्धं अर्ध्वीवभूवे त्युर्ध्वीवभूव, अर्ध्वमुखः सन् उत्तिष्ठतिसम ॥ २॥

हेतुरित्यादि—नराणाभीशो नरेश इति वाक्यं प्रयुक्तवान् उवाच। तदेवाह्-हे सुरश्रियो देवलक्ष्म्यः, तत्र भवतीनां नरद्वारि मानवगृहे समागमाय-आगमनाय को हेतुः किलेति सन्देहे। इतिकाय एवंहप-स्तर्क ऊहो मम चित्तं हृदयं दुनोति पीडयति॥ ३॥

गुरोरित्यादि—हे विभो, हे राजन, गुरूणां श्रीमदर्हतां गुरी-जैनकस्य भवतः श्रीमतो निरीक्षा निरीक्षणं दर्शनिमत्यर्थः। अस्माकं भाग्यविधेदैंवविधानस्य परीक्षास्तीति शेषः। श्रीमदर्शनजन्यपुर्या-जैनमेवास्माकमागमनहेतुरित्यर्थः। तद्र्थमेव भवदर्शनार्थमेवेयमस्माक-मागमनरूपा दीक्षा वर्तते। श्रान्या काचिद् भिक्षा न प्रतिभाति, न रोचते।। ४।। अन्तःपुर इत्यादि—तीर्थकृतो भगवतोऽवतारः त्रान्तःपुरे श्रीमद्रा-ज्ञीप्रासादे स्यत्, त्रातस्तरम् भगवतः सेवा परिचर्येव सुरीपु देवाङ्ग-नासु शोभनः सारस्तरवार्थो विद्यते । शक्तस्येन्द्रस्याज्ञया निर्देशेन तवाज्ञा तां भवदनुज्ञां छव्धुमिच्छुर्छिप्सुरयं सुरीगणो देवछक्ष्मीसमूहो भाग्याद्वेवात् सफ्छोऽपि स्यात् कृतार्थोऽपि स्यादिति । सम्भावनार्था छिङ् ॥ ४॥

इत्थिमत्यादि — अथेत्थमनेन प्रकारेण स सुरीगणः कञ्चुिकना सनाथः युक्तो भवन् मातुर्जनन्या निकटं समीपं समेत्य प्राप्य, प्रणम्य वन्दित्वा तस्याः पदौ तयोस्तच्चरणयोः सपर्यायां परः पूजातत्परो दमू-वेति नृषु वर्षाः नृवर्श महापुरुषा जगुरवदन् ॥ ६ ॥

न जात्वित्यादि—देव्यो राज्ञीं प्रति कथयन्ति, हे राज्ञि, वयं जातु कदापि मनागपि ते दुःखदं कष्टप्रदं कार्यं नाचरामो न कुर्मः सदा तव सुखस्यैव स्मरामः, तव द्यानन्दाय एव वयं चिन्तयामः, ते तवानु-ग्रहं कृपामेव शुल्कं यामो जानीमः । स्विदङ्गतस्त्वत्संकेततोऽन्यत्र वदामो न कथयामः ॥ ७॥

दत्त्वेत्यादि--ता देव्यस्तस्यै राज्ञ्यै निजीयमात्मीयं हृद्यं चित्त-मभिप्रायं वा दत्त्वा किञ्च शस्यैः श्रेष्ठेः कार्येस्तस्या हृदि हृद्ये पदं स्थानं छब्ध्वा सुधन्याः कृतकृत्या देव्यो विनत्युपङ्गैः प्रणतिपुरस्सर्रर्वचनै-र्जनन्या मातुः सेवासु परिचर्यासु विवसुः शुशुभिरे ॥ ८॥

प्रग इत्यादि — काचिह वी प्रगे प्रभाते राज्ये आदरेण दर्पणं मुक् रयेण वेगेन मञ्जुदशो मनोज्ञनेत्राया मुखं द्रष्टु द्दौ। काचित् रदेषु दन्तेषु कर्तु विधातु सृदु मञ्जनं द्दौ, तथा काचित्वक्त्रं मुखं क्षाल-यितु धावितु जलं पानीय द्दौ।। १।। तनुमित्यादि—पराऽपरा जनन्यास्तनुं देहमुद्दर्तयितुमभ्यङ्गार्थं गता, कथाचित् राज्ञ्या आभिषेकाय कक्छिमिर्जलसमूह आपि आनीतः। अत्र जननीशरीरे जडप्रसङ्गो मूर्खसंगो ड-ल्योरभेदाज्जलप्रसङ्गो वा कृतः समस्तु तिष्ठतु, इति तर्कवस्तु चित्ते कृत्वा। पुन कथाचिद्दे व्याः प्रशस्या आतिश्रेष्ठा गात्रतिरङ्गसमृहः प्रोव्छनकेन वस्त्रेण सन्मार्जितः शोधितः । अन्या देवी तस्यौ राज्ञ्यौ, अथानन्तरं सुशातं निर्मलं दुकूलं पृट्वस्त्रं समदाद् द्दौ, आतोऽस्या गुणवत्सु पुरुषेषु पटेषु वा समादर आसीदिति शेषः ॥ १०-११॥

बबन्धेस्यादि -- काचिद्दे वी तस्या जनन्या निसर्गतः स्वभावतो विक्रमभावदृश्याम् कुटिलभावदृश्गनीयाम् कवरीं केशवन्धं ववन्ध, वेणीगुम्फनं चकारेत्यर्थः । तथा वदान्या चतुरा श्रान्या देवी तस्याश्चळ्ळ योर्ट शोर्नेत्रयोर जनं चकार कज्जलं चिक्षेप । कीदृशमितिशतं श्रितिकृष्णम् । कृष्णा जनेन चज्जुषोः शोभातिशयदृश्गनादिति भावः ॥ १२ ॥

श्रुतीत्यादि—तस्याः श्रुती कर्णो सुशास्त्रश्रवणात् शोभनागमश्रव-णात् पुनीते पूते, अतएव कयाचिद्दे व्या पयोजपूजां कमलार्चनां नीते। तस्याः कर्णो कमलाभ्यामलङ्कृतावित्यर्थः । काचिद्दे वी. सर्वेष्वङ्गे पु विशिष्टतां लातीति तस्मिन् विशिष्टताले परमशोभने भाले ललाटे तिलकं विशेषक च चकार ॥ १३॥

अलञ्चकारेत्यादि—जन्यसुरी काचिदपरा देवी न्पुरयोर्द्वयेन न्पुरयुगलेन रथेण वेगेन तस्याश्चरणो भूषयाञ्चकार। इह तस्याः कुचयोररं शीघं संछादयन्ती आवियमाणा करेठे मृदुकोमलपुष्प-हारं पुष्पमाळां चिक्षेप न्यवात्॥ १४॥ काचिति—काचिद्देवी, इहास्या जनन्या भुजे बाही बाहुबन्धं केयूरमदात्, बबन्धेत्यर्थः । पराऽपरा करे तस्या हस्ते कहुणं बल्य-माबबन्ध श्रवध्नात् । तानि प्रसिद्धानि वीरमातुस्तीर्थकरजनन्या बल्य-यानि कङ्कुणाभूषणानि, माणिक्यमुक्तादिर्विनिमितानि हीरकपद्मरा-गादिमणिभिविरचितान्यासन्तिति भावः ॥ १४ ॥

तत्रेत्यादि—तत्रार्हतस्तीर्थकरस्य, अर्चासमये पूजाकाले तदा अर्चनाय पूजनाय योग्यान्युचितानि वस्त्नि प्रदाय दस्या, उत्साहयुता सोत्करठाः देव्यः सुदेव्यः श्रेष्ठदेवाङ्गनास्तास्तया जनन्या समं सार्धं जगत एकः सेव्य इति जगदेकसेव्यस्तं जगदेकनाथं प्रभुमाभेजुः सेवितवत्यः ॥ १६ ॥

एकेत्यादि— तदेका देवी मृदङ्गं सर्वलवाद्यं प्रद्धार भृतवती, अन्या वीणां सहतीं दधार, प्रवीणा चतुराऽन्या सुमश्जीरं वाद्यविशेषं दधार । जिनप्रभोरहेतो भक्तिरसेन युक्ता काचिन्मातुः स्वरे गातुं प्रयुक्ता प्रयुक्ता अभूत्, गानं कर्तुं लग्ना गातुमारेसे ॥ १७ ॥

चकारेत्यादि — काचिद युवितदेंवी, स्वकीयसंसत्सु निजसभासु इत्तैकभाष्यम् , विहित्तैकविस्तारं, जगद्विजेतुः संसारजयशीलस्यार्हतो दास्यं कैंड्कर्यं द्धद्धारयत् आशु शीधं पापस्य हास्यं तिरस्कारं कुर्वाणं विद्धानं सुलास्यं मनोहरनृत्यं चकार ॥ १८ ॥

अर्चावसान इत्यादि — उत अथ अर्चायाः पूजाया अवसाने अन्ते गुणक्षयोशचर्चाद्वाराह्तो गुणक्ष्पवर्णनकरण्न विनष्टवर्चाः मतिः समस्तु सामस्त्येन नष्टपापमला मतिरस्तु मातुरिति इङ्गितं चेष्टा-मेत्य झात्वा जातु कदाचिदिह नृत्यविषये जोषमपि मौनमपि ययुः प्राप्ताः, तृष्णीस्भावेन स्थिता इत्यर्थः ॥ १६ ॥ सदुक्तय इत्यादि — रदालिरशिमच्छलदीपवंशा, दन्तपङ्क्तित्या-जेन दीपसमूहतुल्या, या च अलसङ्गा न, आलस्यङ्गानरिहता सा श्रीमातुर्जनन्या रसङ्गा जिह्ना सदुक्तये, सती चासावुक्तित्वस्य, अयनं अवकाशं मार्गं वा दातुमिव एवं प्रकाराऽभूत्। वक्ष्यमाणप्रकारेण प्रोवानेत्यर्थः॥ २०॥

यथेच्छिमित्यादि—भो सुदेव्यः हे देवलक्ष्म्यः, यथेच्छिमच्छातु-रूपमाष्ट्रच्छत प्रश्नसमाधानं कुरुत, युष्माभिरेव प्रशुर्जिनः सेव्यः स्वनीयोऽस्ति । ऋहमपि प्रभोरहेत एवोपासिकाऽस्मीति होषः । अतः श्रङ्काप्रश्न-समाधानरूपया नावा सङ्कोचो वार्षिरिवेति सङ्कोचवार्षि-रूडजासागरः प्रतरेत तरीतुं शक्तुयादित्यर्थः ॥ २१ ॥

न चातकीना मित्यादि – यदि पयोदमाला मेघपिङ्करचातकीनां चातककीणां पिपासां जलपानतृष्णां न प्रहरेत् न नाजयेत्ति जन्मना सा किमु ? तस्या जन्मना कोऽर्थः ? न कोऽपीत्यर्थः। तथैवाहमपि युष्माकमाशक्कितं संशयमुद्धरेयम्, अपहरेयम्। किञ्च तकें सदसदृहे रूचिमिच्छां किं कथं न समुद्धरेयं धारयेयमवश्यमेव धारयेय-मित्याशयः॥ २२॥

नैसर्गिकेत्यादि — वितर्के, ऊहापोहे मेऽभिरुचिः कामना नैसर्गिकी स्वाभाविकी अस्ति। यथेह कर्के शुक्ताश्वे दर्पेणे वास्त्राभाविकी अच्छता स्वच्छता भवति। अद्य विश्वम्भरस्य जगत्पालकस्य प्रभोः सती शोभना कृपा द्या, सुधेवामृतिमव मे साहाय्यकरीं साहाय्यदान-शीला विभातु राजताम्। अत्र दृष्टान्तः, उपमा चालङ्कारः॥ २३॥

इत्येविमत्यादि — ऋषि बुद्धिधार हे बुद्धिमन् मातुरित्येवं पूर्वोक्तप्रकारेण, श्राश्वासनतः साहाय्यदानवचनतः सुरीणा देवीनां सङ्कोचतिर्छञ्जाभावविस्तरः सुरीणा विनष्टा बभूव। यथा प्रभातो- दयतः उषःकालागमात् , अन्धकारसत्ता तमःस्थितिर्विनश्येत्रश्यति तथेवेति भावः । अत्रापि दृष्टान्तोऽलङ्कारः ॥ २४ ॥

शिर इत्यादि — तद्देव तस्मिन्नेव काले तासां देवीनां भक्तिरेव तुला तत्र स्थितं शिरो मस्तकं गुरुत्वादादरगौरवात्रति नम्रत्यमाप । सा कुङ् मलकोमला कलिकामृद्धी करद्वयी हस्तयुगलं समुच्चचाल, नत्यर्थ-मूर्ध्वमगमन् । नमस्कारार्थं पाणियुगलं शिरसा संयोजयामासुरित्यर्थः। चेति समुच्चये। एषा युक्तियोजनोचितेव। स्रत्र रूपकोऽलङ्कारः।।२४॥

मातुरित्यादि —भो जिनराज, भो देव, कुमारिकाणां सरोज इव शस्तौ कमलसुन्दरौ हस्तौ करौ चन्द्रमिवेन्द्रुमिव मातुर्जनन्या सुखमा-ननमेत्य प्राप्येव तु सङ्कोचं कुङ्मलीभावमाप्तौ, यदेतद् युक्तभेव विभाति। यतो हि चन्द्रोदये कमलानि सङ्कुचन्त्येव नियमात्। अत्र उपमालङ्कारः॥ २६॥

ललाटिमत्यादि — तासां देवीनां छलाटमिलकिमिन्दोरुचित-मिन्दूचितं चन्द्रतुल्यमेव, तथापि तन्मातुर्जनन्याः पादावन्ज इव पादान्जे तयोश्चरणकमलयोरवाप प्राप्तम्। श्रयं भावः – लोके चन्द्रः कदाचिद्पि कमलं नाप्नोति, परं तासां भालचन्द्रो मातुश्चरणकमलयोः प्राप्त इत्याश्चर्यम्। सा पूर्वोक्ताशाऽभूतपूर्वो श्रद्ध तत्यवलोकनायाधुना तासां सकौतुका वाग्वाणी उदियाय प्रकटीबभूव, वक्ष्यमाणप्रकारेगोति श्रेषः। श्रत्र उगमा-उत्प्रेक्षा चालङ्कारः॥ २७॥

दुख:मित्यादि — तदेवाह – हे मातः, जनो लोको दुःखं कध्यं कुतः कस्माद्भ्येति प्राप्नोतीति प्रश्नः । पापादिति मातुरुत्तरम् । पाप कल्मषे घीबुँद्धिः कुत इति प्रश्नः । ऋविवेकस्य तापः प्रतापस्तस्मादित्यु-त्तरम् । सोऽविवेकोऽज्ञानं कुत इति प्रश्नः । मोहस्याज्ञानस्य आपः उद्यस्तस्मादित्युत्तरम् । जगतां लोकानां मोहश्चतिर्मोहहातिः किं दुरापा दुष्प्रापेति प्रश्नः ।। २८ ।। स्यात्सेत्यावि = इह संसारे सा मोहश्चित्रपरागस्य विरक्तस्य पुरुषस्य हृदि चिते विशुद्धश्चा चित्तङ्गुद्धश्चा स्यादित्युत्तरम् । अपरागो रागाभावः कृत इति प्रश्तः । परमात्मिन वृद्धिः परमात्मवृद्धिः, तथा रागाभाव इत्युत्तरम् । इति परमात्मनीना परमात्मविषयिणी वृद्धिः कृतोऽस्त्वित प्रश्तः । उपायात्परमात्मभक्ति-तपः-संयमादिसाधना-स्मृतरामत्यन्तमहीना श्रेष्टा परमात्मवृद्धिभवतीत्युत्तरम् ॥ २६ ॥

राग इत्यादि — रागः कियान् किंपरिमाणोऽस्तीति प्रश्तः। स देहस्य सेवा यस्मिन्नित देहसेवः शरीरपोषणरूप इत्युत्तरम्। देहः कीटगिति प्रश्तः। एष देहः शठो धूर्तो जहो वेत्युत्तरम्। शठः कथमिति प्रश्तः। अयं देहः पुष्टिं पोषणमितः प्राप्तोऽपि नश्यति विपद्यतेऽतः शठ इत्युत्तरम् । किन्तु, अयं सांसारिको जनस्तदीयवश्यस्तस्य देहस्य व वशीभूतः॥ ३०॥

कृतोऽस्येत्यादि — श्रयं जनोऽस्य देहस्य वश्योऽधीनः कृतः कस्मा-रकारणाद्स्तीति प्रश्नः । यतो हि जनस्य तत्त्वबुद्धिहेंयोपादेयज्ञानं नास्त्यतोऽयं देहवश्यो भवतीत्युत्तरम् । पुनस्तबीस्तत्तत्त्वबुद्धिः कृतः स्यात् कस्माद्भवेदिति प्रश्नः । यदि जनस्य चित्तशुद्धिः स्यातिहं तत्त्वबुद्धिः स्यादित्युत्तरवाक्यम् । शुद्धे द्वीः द्वारं किमिति प्रश्नः । जिनस्य वाखाणी तस्याः प्रयोगस्तदनुकूळाचरणमेव चित्तशुद्धे मीर्ग इत्युत्तरम् । यथा रोगोऽगदेन तदौषधेनव निरेति दूरीभवित तथैवेति दिक् । श्रत्र रूपका-ळङ्कारः ॥ ३१ ॥

मान्यितियादि – अर्हतो वचनमहृद्धचनं जितवाक्यं मान्यं कृतः समस्तु भवत्विति प्रश्नः । यतो यस्मान् कारणात्तः अर्हद्भवनं सत्यं यतः कारणात् तत्र वस्तु तत्त्वस्यैव कथनं भवेदित्युत्तरम् । तस्मिन्नहृद्धच्यतः कारणात् तत्र वस्तु तत्त्वस्यैव कथनं भवेदित्युत्तरम् । तस्मिन्नहृद्धच्यतः कारणात् तत्र वस्तु तत्त्वस्यैव कथनं भवेदित्युत्तरम् । तस्मिन्नहृद्धच्यतः कारणात् तत्र वस्त्र वस्तर वस्त्र वस्त वस्त्र वस्त वस्त्र वस्त वस्त्र वस्त वस्त्र वस्त्र वस्त्र वस्त्र वस्त वस्त्र वस्त्र वस्त

किमित्यादि—तत्रार्हद्भचने, न विरोधोऽविरोधस्तस्यः भावः कि कथं जीयाद्विद्ये तेति प्रश्तः । यतो हि तत्र विज्ञानतः सन्तुलितः प्रभावः कैवल्यविशिष्टज्ञानेन यथोचितप्रभावोऽतोऽविरोध इत्युक्तरम् । अहो देव्यः, इह लोके या प्रणीतिव्ययवहारो गतानुगत्यवान्योन्यानुकरणेनेव भवति सा प्रणीतिः कल्याणकरी मङ्गलकरी न जायते ॥ ३३ ॥

एविमत्यादि — एविमत्यं रुचिवेदने इच्छाज्ञाने विज्ञाश्चतुरास्ता-देव्य एतां मातरं सुविश्रान्ति विराममभीप्सुं छव्धुमिच्छुं विज्ञाय विज्ञश्रमुः प्रश्नाद्विरता जाताः । हि यतोऽत्र छोकेऽगदोऽपि मितः परिमित एव सेव्यः साम्प्रतमुचितं भवतीति शेषः । अर्थान्तरन्यासः अरुङ्कारः ॥ ३४ ॥

अवेत्येत्य।दि—एका देवी विवेकाद् भुक्ते भीजनस्य समयमवेत्य ज्ञात्वा, मातुरमे नानामृदुव्य जनपूर्ण विविधमिष्टाहारसहितममत्रं पात्रं प्रद्धार भृतवती। एवं निजं कौशलं चातुर्थं प्रकटीचकार। इत्येक्षालङ्कारः ॥ ३४॥

मातित—माता तदीयं भोजनसम्बन्धि रसं समास्वाद्यानुभूय यावरसुत्तितिं समगाज्जगाम तावदन्या देवी मृदीयः कोमलं ताम्बूलं प्रददौ । यत्प्रकृतानुरक्ति प्रकृत्यनुकूलं वस्तु तत् प्रसक्तिप्रदं प्रसाद-दायकं भवति ॥ ३६ ॥

यदेत्यादि—भोजनान्ते यदाम्बा, उपसान्द्रे गृहोद्याने प्रविहर्तु-मारेभे तदा काचिद्देवी सुकरावलम्बा तया सार्धमनुजगाम। सुगात्री मनोज्ञदेहा माता विनोदवार्ताम् अनुसंविधात्री कुर्वती तया समं शनकैरगात्॥ ३७॥

चकारेत्वादि —काचिद्दे वी तस्याः शयनाय श्रभितः पुष्पैः प्रशस्यां मनोहरां शय्यां चकार । श्रन्या पदयोः संवाहने निपीडने लग्ना बभूव, यतो निद्राभग्ना नास्तु ॥ ३८ ॥ एकान्वितेत्यादि — एका देवी बीजनं कर्तुं मेव व्यजनेन मात्रे वायुप्रदानमेत्र कर्तुं मन्विता प्रयुक्ता बभूव, अपरा देवा विकीर्णान् विपर्यस्तान् केशान् कचान् प्रधतुं संयन्तुमन्त्रितेत्यस्याहारः। एवं प्रत्येककार्ये निष्प्रयासात्परिश्रमं विनेवासां देवीनामपूर्वमङ्गुतं चातुर्यं पदुत्वं बभूव खलु॥ ३६॥

श्रियमित्यादि— अम्बा जननी स्वकं स्वकीये मुखं वदने श्रियं शोभां समाद्धाना सम्यग्धारयन्ती,नेत्रयोश्चलुषोहिँयं त्रपां समाद्धाना, स्वके आत्मिनि पृतिं धेर्यं समाद्धाना, उरोजराजयो: कुचयुगले कीर्ति-मौन्तत्यं समाद्धाना, विधाने कार्यसम्पादने बुद्धि थियं समाद्धाना, वृषक्रमे धर्मा वर्षो रमां छक्ष्मीं समाद्धाना सती गृहाश्रमे विवमी विशेषत: शुशुभे ।। ४० ॥

सुपल्लवेत्यादि — यथा छताः सुपल्छवाख्यानतया सुन्दर्शकस-छयशोभया सदैवानुभावयन्त्यो वसन्तभावनामनुभावयन्ति, अत एव कौतुकसन्विधाना मनोविनोदमाचरन्त्यो भवन्ति, तथैव ता देव्यो जननीसुदे भावचित्तविनोदायसुपल्छवाख्यानतया कोमछपद्कथावर्ण-नेन जननीसुखमनुभावयन्त्यो निदानाद्विविधकारणान्मधुरां मञ्जु-स्वभावां तां जननीमन्त्रगुरनुगता अभूवन्। दृष्टान्तोऽछङ्कारः ॥४१॥

मातुरित्यादि — ता देव्यो मातुर्जनन्या मनोरथमनुप्रविधान-दक्षा इच्छानुकूळकार्याचरणनिपुणाः, अध्युपासनसमर्थनकारिपक्षाः सेवासमर्थनकरणचतुरा आसन् । अतः सा माता तदत्र तासां देवीनां कोशळं नेपुरयमवेत्य झात्वा निज गर्भक्षण प्रस्तिकाळं मुदा हर्षेणातीत-वती व्यतीयाय ॥ ४२ ॥

इति पञ्चमः सर्गः।

#### षष्ठः सर्गः

गर्भस्येत्यादि — भो भो जना लोकाः ! देव-देवः, देवानामिष पूज्यः स श्रीवर्धमानो महाबीरतीर्थकरो सुवि पृथिव्यां वो युष्माकं सुदे हर्षायः अस्तुतमामितशयेन भवतु, यस्य गर्भस्य परमासम्यस्त एव परमासेभ्य प्रागेव कुवेरो धनेशो रत्नानं पद्मरागादीनि ववर्ष, रत्नानां वृष्टिं चकारेत्यर्थः ॥ १॥

समुल्लसिंदियादि — प्रयत्नीयितः प्रयत्नशीलो मर्त्यराट् तस्य पत्नी सा पूर्णमुद्दरं यस्याः सा पूर्णोदरिणी वर्षेव रराज शुशुमे । कथ-म्भूता-समुल्लसत्पीनपयोधरा, समुल्लसन्तौ पीनौ पयोधरौ कुचौ यस्याः सा, पत्ने समुदितस्थूलमेघा, पुनः कथम्भूता-मन्दन्त्वं शिथिलव-मञ्चन्तौ पदावेव पङ्कृजे यस्याः सा, पक्षे मन्दत्वमञ्चन्ति पदानि येषां तथा भूतानि पङ्कजानि यस्यां सा, एवम्भूता वर्षेव रराज ॥ २॥

गर्भार्कस्येवेत्यादि—एषा राज्ञी इहावसरे गुणानां सम्पदा सौन्दर्य-शीलादिगुणसम्पत्त्योपगुप्ता समावृता सती स्वल्पेरहोभिः कृतिपय-दिवसैर्गभेंऽर्भको गर्भार्भकस्तस्य यशःप्रसारैः कीर्तिकलापैरिवाऽऽकल्पितं निर्मितं वनसारसारैः कपूरतत्त्वराकल्पितं देहं शरीरं समुवाह, गर्भ-प्रभावेण तस्याः शरीरे शौक्ल्यमजनीत्यर्थः ॥ ३ ॥

नीलाम्बुजेत्यादि — तस्या महिष्या नेत्रयुगं नेत्रयोर्द्वयं कर्त्व, पुरा मया नीलाम्बुजानि नीलकमलानि जितानि, अद्य पुनः सितो-त्यलानि पुरहरीकाणि जयामि, इतीव किल, कापर्वको योऽसावुदारोऽ-सङ्कीणों गुणस्य प्रकारो भेदः शुक्तवर्णस्तं बभार दधार ॥ ४ ॥

सतेत्यादि— सप्तां सञ्जनानामर्हता पृज्येन सार्घ यकिल विधेर्विधानं निवसनं सहवासमभ्येत्य नाभिजातस्य तुर्डीनाम्नोऽव यवस्य या प्रकृतिगभीरता तस्यास्तु मानमभूत् गाम्भीर्यं त्यक्त्वोच्ड्रयत्व-मन्वभूदित्यर्थः। तत्तु युक्तमेव यत्त् किल नाभिजाता अकुलीना प्रकृति-र्यस्य तस्य नीचजातेः कुतोऽपि महता संयोगेऽभिमानो भवत्येव। तथापि महताईता समागमेऽपि पुना राज्ञश्चन्द्रमसः कुलमन्वयस्तदुचितेन राजवंशयोग्येन वा सृगीदशस्तस्या महिष्या सुखेन तत्रापि नितरेव प्राप्तेत्यहो महदाश्चर्यम्। राजकुलोचितः क्षत्रियो महत्त्वेऽपि नमत्ये-वेत्यर्थः ॥ ४॥

गाम्भीर्यमित्यादि — अथेत्युक्तिविशेषे । अहो इत्याश्चर्ये। मञ्जू मनोहरे दशौ चलुषी यस्यास्तस्या देव्या नाभिः, अन्तर्गर्भे तिष्ठतीत्यन्तः-स्यः स चासौ शिशुस्तस्मिन् । त्रयाणां लोकानां समाहारिस्नलोकी तस्या अप्यचिन्त्यप्रभावं स्मर्तु मपार्यमाणमहत्त्वं सहजमनायाससम्भवं गाम्भीर्यं विलोक्य हियेव लज्जयेव किल स्वगभीरभावं आत्मीय-गम्भीरतां जहाँ सुमोच ॥ ६॥

यथेत्यादि — तस्या इदं तदीयं यदुदरं तस्य वृद्धिरुच्ड्रायस्तस्य वीक्षाऽवलोकनवृत्तिर्यथा यथाऽभूत् तथा तथा वक्षोजयोः कुच्योः स्थामख्य तन्मुखं तस्य दीक्षोपलिब्धरभूत् तदिदमुचितमेव, यतो मध्य-स्थाऽनुत्सेकरूपा केन्द्रधरणस्वरूपा वा वृत्तिर्यस्य तस्यापि, किंपुनरितरस्ये-स्यपि शब्दार्थः । उन्नतत्वं महत्त्वं मोदुमङ्गीकर्तुं किठेनेषु कठोरेषु सत्त्वं सामर्थ्यं कुतोऽस्तु १ कुचौ च तस्याः कठिनौ तस्मात्त्रथात्वं स्यादेव । अर्थान्तरन्यासः ॥ ७ ॥

तस्या इत्यादि — तस्या महाराज्या उदरप्रदेशो योऽत्यन्तं कृश इति कृशीयान् पुनरिष स बलिन्नयोच्छेदी त्रिबलीनां विध्वंसकोजातः। दुबल एकस्यापि बलवतो विजेता न भवेत्, कि पुनर्बलिन्नयस्येत्येताव-त्तया खलु तस्य भूपस्य सिद्धार्थस्य मुद्दे बभूव प्रसन्नतां चकार। किन्त्वे-ताद्दग् उदरे प्रभावः स सर्वोऽिष किलान्तर्भु वः प्रचलन्तया तिष्ठतः विवेकस्य विचारस्य नौरिव भवतः श्रीतीर्थकृत एव ॥ ६॥ लोकेत्वादि— स भगवान् महावीरः, लोकत्रयमुद्योतयित प्रकाश्यतीति लोकत्रयोद्योति तत एव पित्रत्रं यद्वित्तीनां ज्ञानानां मित्रश्रुताः विधनाम्नां त्रयं तेन हेतुना गर्भेऽपि किलोपपत्या सहितः सोपपित्तर्माः हात्स्यवानेवाऽऽसीदिति । द्यत एव स चनानां मेघानां मध्ये त्राच्छत्रः समावृतो यः पयोजानां कमलानां बन्धुः सूर्यः स इव स्वोचितस्यधामनस्तेजसः सिन्धुः समुद्रोऽर्थास्विनरायभौ शुशुभे ॥ ६ ॥

पयोधरेत्वादि—इह भुनि संसारे बन्धूनां धात्री भूरिवाधार-भूताऽत एवोत्तमस्य पुरुषस्य पात्री तस्यास्त्रिशलाया यथा पयोधरयोः स्तनयोरुल्लासः समुन्नतिभाव आविरास सम्बभूत, तथा मुख्येवेन्दु-रचन्द्रः स च पुनीताया निर्दोषाया भासो दीष्तेः स्थानमधिकरणं वभूवे-रयेतद्विचित्रमभूतपूर्वम्, यतोऽत्र पयोधराणां मेघानामुल्लासे चन्द्रमसो दीनिप्रहाणिरेव सम्भवतीति। विरोधाभासः। १०॥

कवित्ववृत्त्येत्यादि - कवित्वस्य वृत्तिः कवित्ववृत्तिस्तया कविव्य-वहारेण उदितः । वस्तुतस्तु जिनराजमातुर्र्ह् ज्जनन्या जातु कदाचिद्पि कोऽपि विकारः देहविपरिणामो नासीन्न वभूव । तत्रार्थान्तरेण हेतुमाह-मस्तः पवनस्यदीपिकायामधिकारो निर्वापणादिः स्यात्, किन्तु तथा विद्युतस्तिहितोऽतिचारः क ? अर्थात्यवनो दीपिकां निर्वापियतुं समर्थः, किन्तु विद्युन्निर्वापणो तस्य शक्तिनीस्तीति भावः ॥ ११ ॥

विजूम्भत इत्यादि -- इदानीं वसन्तकाले श्रीयुक्तो नमुचिः काम-देवः प्रचरदः सन्ननिवार्यतया विजूम्भतेऽथवा नमुचिनामा देखो विजयते । अंशुः सूर्यः कुबेरदिश्युक्तरस्यामवाप्तदरहः संल्लब्धमार्गसर-णिरथवा समवाप्तापराधः । अदितिः पुनः पृथ्वी देवमाता च लोकोकौ सा समन्तात् सर्वत एवमधुना पुष्पपरागेण मधुनाम देखेन च विद्धं व्याप्तं धाम स्थानं यस्या सा समस्तीति किलायं कालः सुर्भिगीहङ् नाम यस्य स वसन्तर्तु रेव सुरेभ्यो भीतिर्यत्र स सुरभीतिः किलेत्येवं-नामा सञ्जायत इति । समासोक्तिः ॥ १२ ॥

परागित्यादि — अनङ्गस्य कामस्यैकोऽनन्यः सखा दितकर्ता मधु-र्नाम वसन्तर्जुः स च मानी सम्मानयोग्यो भवन् यो धनी भता वन्य एव जन्यः स्त्रियस्तासां मुखानि, अवलोकतस्यानानि प्रसिद्धानि। पराग एव नीरं तेनोद्धरितः परिपूर्णः प्रस्नैरेव शङ्कौर्जलोक्षणयन्त्र-हेनुभूतैर्मरुद्धायुरेव करस्तेन प्रयोगेणोक्षति सन्तर्पयत्यभिषिञ्चतीत्यर्थः। अनुप्रासपूर्वको रूपकालङ्कारः। नाम वाक्यालङ्कारे॥ १३॥

वन्येत्यादि —इदानीं वन्या वनस्थल्या सार्धं मधोर्वसन्तस्य पाणिवृतिः पाणिप्रहणं विवाहः सम्भवति तत्तरमादेव कारणात् पुंस्कोकिलैः कीहरोविषु पक्षिषु प्रवरेमु रूपेः मिष्टसम्भाषणत्वात्तरेव विप्रवर्रक्रीहरोविषु पक्षिषु प्रवरेमु रूपेः मिष्टसम्भाषणत्वात्तरेव विप्रवर्रक्रीह्मणोत्तमः पुनरिदानीं यदुक्तं तत्स्क् पाणिप्रहणकारिकाणामृचां
पठनमतः सूक्तं सुष्ट्रक्तमस्ति । स्मरः काम एवाश्चीणो हविर्धु गिनः
सततं सन्तापकत्वादेव साक्षी प्रमाणभूतोऽत्र कार्ये । अलीनां अमराणां
निनादस्य गुः अनस्य देशो लेशः स एव भेरीनिवेशो मङ्गलवाद्यविशेषः
सम्भावनीयस्तावत् ॥ १४ ॥

प्रत्येतीत्यादि — सर्वसाधारणः पथिकादिरयं वृक्षोऽशोकः शोकं न ददाति किलेत्यभिधया नाम्ना प्रत्येति विश्वासं करोति । अय पुनरा-रक्तानि लोहितानि फुल्लानि प्रसूनान्येवाक्षीणि यस्य तत्त्रयेक्षितो रोपारुणविस्पालितलोचनं रवलोकितः सन् स एव जनः खलु दराणां पत्राणामेको घाता संधारकोऽथवा दरस्य भयस्यैकोऽनन्यो धाता सन्धा-दक इत्यनुमन्यमानोऽनुमानविषयं कुर्वाणस्तस्य कुज्ञातितां कोभू मे-जीतिः सम्भूतिर्यस्य तत्तां किलाकुलीनतां किमृत न पश्यित पश्यत्ये-वेति । अन्योक्तिरलङ्कारः ॥ १४ ॥ पृदाकुदर्पत्यादि— ग्रुरतं सूर्यः पौष्प्ये समये पुष्पप्रसवकाले वसन्तर्ती कुवेरकाष्ट्राया उत्तरदिशाया आश्रयणे प्रयत्नं विद्धाति, उत्तरायणो भवतीति, इत इति चेत् पृदाकव सर्पास्तेषां द्वेण विदेणा- क्वितो योऽसी चन्दनो नाम बृक्षस्तेनारकतरभिष्णुदेवे विद्यापिक सम्भवे: समीरवीयुभिस्तत्कालस्वातस्तः प्रसिद्धे भीतिमाग् भय- संत्रस्त इव यतः ॥ १६॥

जनीत्यादि—जनीसमाजस्य स्त्रीवर्गस्याद्रणं स्वीकारस्तस्य प्रणेतुः समादेशकर्तुः स्मर एव विश्वस्य जेताऽधीनकर्ता तस्यासौ वसन्तः सहायः सहयोगकारी। वनीविद्दार इत्यनेनोयानगमनं गृह्यते तस्योद्धरणे प्रकटीकरणे एक एव हेतुस्यं तु पुनर्वियोगिवर्गायेकाकिजनाय धूमकेतु-रिप्तरिव सन्तापकः॥ १७॥

माकन्देत्यादि — माकन्दानां रसालवृक्षाणां वृत्दस्य प्रसवं कारक-मिसस्रतीति तस्वाम्नपुष्पास्त्रादकस्य पिकस्य कोकिलस्य मोदाभ्युद्वं प्रकर्तुं प्रसन्नतां वर्धयितुं तथैव स्मरभूमिभर्तुः कामदेवस्य नरपतेः सखाऽसौ कुसुमोत्सवर्तुं यस्मिन् पुष्पाणासुत्सवो भवति स एव ऋतुः सुखाय विषयभोगाय निभालनीयः ॥ १८ ॥

यत इत्यादि —यतः कारणाद् अभ्युपात्ता नवपुष्पाणां तातिः समूहो येनेवंभूतः कन्दर्पं एव भूषो राजा विजयाय दिग्विजयं कर्तुं यति गच्छति । पिकद्विजातिः कोकिलपक्षी कृद्दिति यच्छव्दं करोति स एव शब्दः शङ्कथ्वनिरिवाविभाति शोभते ।। १६ ॥

नवप्रसङ्गः इत्यादि—यथा कामी जनः परिहृष्टचेताः प्रसन्नचित्तः सन् नवप्रसङ्गे प्रथमसमागमे नवां नवपरिणीतां वधू जनीं मुहुर्मु हुरचु-स्वति तथैव चक्करीको श्रमरः कोर्भू स्या माकन्द्जानामाम्रवृक्षोद्भवी मखरीं मुहुर्मु हुरचु-स्वति ॥ २०॥

आम्भस्येत्यादि — किलकाया अन्तो मध्येऽलिश्रेमरो गुजिति यस्य तस्य गुजित्क लिकान्तराले, आस्रस्य विशेष्यस्य सहकारस्य, एत-त्किलालीकं व्यर्थं न भवति, कुतो यतो हशोर्नेत्रयोर्वर्त्म मार्गस्तस्मिन् कर्मक्षण एव नयनगोचरतां प्राप्तावेव पान्याङ्गिने पान्याय परासुत्वं प्राणरहितत्वं करोतीति तस्य तावदिति वयं वदामः॥ २१॥

सुमोद्गम इत्यादि—स्मरस्य कामस्य वाणानां वेशः स्वरूपं पञ्च-विध इत्याह—प्रथमस्तु सुमोद्गमः पुष्पोत्पत्तिः, द्वितीयस्तावद् यृङ्गाना-सुर्वी गीतिभ्रं मरतुमुल्यु अतं, तृतीयः अन्तकस्यायमन्तकीयो यम-सम्बन्धी, विरहिणामन्तकारित्वात् मरुत्मलयानिलः, चतुर्थो जनीनां स्वनीतिर्वेषभूषा, शेषः पञ्चम एष पिकस्वनः कोकिल्काव्द इति ॥ २२ ॥

अनन्ततामित्यादि -- साम्प्रतिमदानीं स्मरस्यायुधैः पुष्पैरनन्तता-मसंख्यत्वमचाप्तवद्भिरुपयुः जानेरतएव स्फुरिद्धिर्विकसद्भिर्विमुक्तया परि-त्यक्तया पद्धऽसंख्याकतया झृत्युना वेति पद्धतया, इतः समारभ्य कः समलङ्क्रयेत वियोगिनां विरिद्दणां वर्गात्समूहादपरो न कोऽपि, किन्तु स्त्रीविरिद्धतजन एव म्रियेतेति ॥ २३ ॥

समन्तत इत्यादि — हे समक्ष, सम्मुखे वर्तमानमहाशय, सदा सर्वदेव पिकस्य कोकिळस्योद्यभ्रत्मभ्रताकारकं विधानं यत्र तिमन् माधान्माध्मासाद्विनिवर्तमाने फाल्गुनमासतः प्रारच्धेऽस्मिन्तृतौ पुनी-तस्य पावनरूपस्य माकन्दस्यामृहक्षस्य विधानं करोतीति विधाय-वस्तुः ताहक सुमनस्त्वं फुल्ळपरिणामः समन्तत एवास्तु । तथा माया वस्तुः ताहक सुमनस्त्वं फुल्ळपरिणामः समन्तत एवास्तु । तथा माया ळक्ष्म्याः कन्दस्य परिणामस्य विधायि सुमनस्त्वं देवत्वमस्तु यतो हे सम-ळक्ष्म्याः कन्दस्य परिणामस्य विधायि सुमनस्त्वं देवत्वमस्तु यतो हे सम-छक्ष्मः समाना क्षमा यस्य ताहक् मित्र, अधात्मापाह् रवर्तिनि सदा क्षमः समाना क्षमा यस्य ताहक् मित्र, अधात्मापाइ रविति ॥ २४ ॥ कस्य सुखस्योदयमृहिधानं यत्र तस्मिन् सुखाधार इति ॥ २४ ॥

ऋतुश्रिय इत्यादि — श्रत्र वसन्तेऽदो वत्यौष्पं रजः पुष्पपरागः श्रमल्पं प्रचुरं प्रसर्गत तस्कीदृशं प्रतीयत इत्याद् — तद्रज ऋतुश्रियो वसन्तळक्ष्याः श्रीकरणं शोभाधायकं चूर्णमिव, तृर्णं तस्काळं वियोगिनां विरिद्देणां भस्मवत्, श्रीमीनकेतोः कामस्य ध्वजवस्त्रकल्पं पनाकापट-सदृशं प्रतीयत इति शेषः ॥ २४ ॥

श्रेणीत्वादि—अस्मिन्नृतौ समन्तात्परितो याऽलीनां द्विरेकाणां श्रेणी पिक किर्विलसित सा पान्थोपरोधाय प्रोपितजनगमनवारणाया-दीना पुष्टा कशेव वित्रिकेव प्रतीयत इति शेषः। असौ वसन्तिश्रियो रम्या मनोज्ञा वेणीव संयतकेशपाश इव, कामो गजेन्द्र इवेति काम-गजेन्द्रः, कामगजेन्द्रं गच्छिति बन्धनार्थं प्राप्नोतीति कामगजेन्द्रगम्या श्रङ्कलेव प्रतीयते॥ २६॥

प्रत्येतीति—लोको विटं कामिनं पाति रक्षतीति विटपोऽयं च विटपो वृक्ष इत्युक्तः साराल्लेशात्कारणात्तावत्प्रत्येति विश्वासं करोति। अय च पुनरङ्गारतुल्यानां प्रसवानां पुष्पाणासुपहाराद्धेतोः पलमश्ना-ति मांसं खादतीति पलाशोऽयमिति नाम्नः स्मरणाद्यमेव लोको भयभीतः सन् स्वां स्वकीयां महिलां स्त्रियं सहायं सहकारितया समी-हतेऽभिवाञ्लित रन्तुकामो भवतीत्यर्थः ॥ २७॥

मदनेत्यादि -- एष वसन्ताख्यः क्षणः समयः सुरतवार इव स्ती-पुरुषसङ्गम इव समङ्कुतः सन्नाविरभू ज्ञातः । यतो मदनस्य सहकार-तरोः पक्षे कामस्य सर्मणां विकासः समन्त्रितः कौरकहाँ वादिभि-वा युक्तः । कुहुरितं कोकिळरवः सङ्गमध्वनिर्वा तस्यायोऽभिवृद्धि-स्तयुक्ततया कारणेन सविटपः पळाशादितस्सहितः कामिजनसहि-तश्च कौतुकळक्षणः पुष्पपरम्पराचिह्नितो विनोद्याँ श्चेति किळात्र तस्मात् ॥ २५ ॥ कलकृतामित्यादि — अत्र वसन्ते कलकृतां मधुरं गायन्तीनां मृगस्य दशाविव दशौ यासां तासां हरिणाक्षीणां कामिनीनामित्येव अङ्कृतानि नृपुराणि यस्मिन् यथा स्यात्तथा नृपुरझङ्कारं कणितिकिङ्किणि-कङ्कृतकङ्कृणे शब्दायमानजुद्रधरिटकाकंकृतवलयम् अत्येत्यभ्याहारः। इतः सूर्यस्तासां मुखपद्मदिदक्षया मुखकमलद्रष्टुकामनया रथं स्यन्दनं मन्यरं मन्दरामिनं कृतवान् किल।। २६॥

निवत्यादि — त्रास्मन् वसन्ते रसालदल त्राम्रपल्लवेऽलिपिका-विल भ्रमरकोकिलपंक्तिं विवलितां परितः सङ्गतां, कथम्भूतां लिलतां मनोहरामिमामहं मदनस्य कामस्य सुमाशये पुष्पराशौ भुवि पृथिव्यां वशीकरणोचितमन्त्रकस्थितिं कामिजनवशीकरणमन्त्राक्षरतुल्यामित्यये प्रत्येमि जानामीत्यर्थः । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ २०॥

नहीत्यादि — श्रत्र मधौ पलाशतरोः किंशुकवृक्षस्य मुकुलोद्गतिः कुट्मलोत्पत्तिनीहि, तर्हि किमित्याह-किन्तु सती समयोचिता पतिव्रता-इन्ता यौवनकालोचिता सुरिभणा नायकेन कलिता रचिता श्रिप श्रितिलोहिता रक्ता नखरक्षतसन्तिर्तिनीखाधातव्रणपिक् कर्लसित शो-भते। अपहुत्यलङ्कारः ॥ ३१ ॥

अयोत्यादि — अयि छवङ्गि, भवत्यप्यद्य शिशिर इव शैशवे बाल्ये विकछिते व्यतीते सति भ्रमरसङ्गवशाद् द्विरेफसर्शाछिङ्गनादि-वशाद् अतिशयोन्नतिमन्तः स्तवका गुच्छा एव स्तना यस्याः सैवस्भूता सती मदनस्तवे कामस्तुतौ राजते वर्तते इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

रविरित्यादि -- यद्यं रविरुत्तरां दिशं गन्तुसुद्यतोऽभवत् तदासौ दक्षिणा दिगपि विप्रियिनःश्वसनं प्रियविरहानःश्वासन्तरूपं गन्धवहं मळ्यानिळ ननु वहतितरास् अतिशयेन वहतीत्यर्थः ॥ ३३॥ मुकुळेत्यादि—स्थळपयोजवनेऽिकनी कमिळिनी मुकुळपाणिपुटेन कोरकरूपहस्तसम्पुटेन रुचाम्बुजिबद्दशां स्वकान्तिपराजितकमळ-नेत्राणां युवतीनां दृशि नेत्रे, नेत्रेष्वित्यर्थः । रजः परागं ददाति क्षिपती-त्यर्थः स्मरधूर्तराट् शठशिरोमणिः कामरूपः शठराजो रसाकौतुकात् तद्-हृदयधनं तासामम्बुजिबद्दशां कमळनयनानां हृदयरूपिवत्तं हरति ॥ ३४ ॥

अमिसरन्तीत्यादि — अत्र कुसुमक्ष्णे वसन्ते सरसभावं विभन्तीति तेषां सरसभावभृतां रसिकभावधारिणां कोकिलपित्सतां पिकानां मधुरारवैः कलकूजितैः समुचिताः शब्दायमानाः सहकारगणा आप्रवृक्षसमृहा रुचिरतां मनोज्ञतामभिसरन्ति प्राप्तुवन्ति ॥ ३४ ॥

विरहिणीत्यादि — अयं वसन्तर्तु विरहिणीनां परितापं सन्तापं करोतीति तथाभूतः सन् यदिहापरिहारसृद्गिवार्यं पापमकरोत्, एप-को वसन्तो छगदछिच्यपदेशतया संछम्नभ्रमर-च्याजतया यद्घं दधत् धारयन् सम्प्रति तत्परिणामेन विषद्यते नश्यतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

ऋदिमित्यादि — सेपा वनी वारजनी वेश्येवान्वहं प्रतिदिनं श्रीभुवं सम्पत्तिभूमिकामृद्धिं परिवृद्धिं गच्छित । स्तेयकृता चौरेण तुल्यो भवन् रागदः कामः खरैस्तीक्ष्णैः झरैः पान्यानं प्रतर्जत भीषयित रसराजः शृङ्काररसः सोऽस्मिन् संसारे नित्यं निरन्तरमितियसात् प्रतिष्ठापनमेति, श्रतिथिरिवादतो भवित । सकछोऽपि नोऽस्माकं बन्धुर्मित्रवर्गः स ऋतुकौतुकीव ऋतुः झारीरिकझोभा तस्यां कौतुकीव नर्मश्रीविनोदवझंगतः सन्मुदं याति हर्षितो भवित । षडरचक्रवन्धः ऋतुसम्बद्ननामा ॥ ३७ ॥

चैत्रेत्यादि--सा भूपतिजाया प्रियकारिणी चैत्रशुक्तपक्षस्य त्रिज-यायां त्रयोदश्यां तिथी, उत्तमोच्चसकलप्रहनिष्ठे श्रेष्ठोच्चस्यानस्थित- प्रहे मौहूर्तिकोपदिष्टे ज्योतिर्विदादिष्टे समये सुतं पुत्रमसूत सुपुते ॥ ३८ ॥

रिवणेत्यादि — तदा सा राज्ञी सता श्रेष्ठेन तेन सुतेन, रिवणा सूर्येण, इन्द्रशासिका ककुविव पूर्णिदिगिव, स्फुटपाथोजकुलेन प्रफुल्ल-कमलसमूहेन वापिकेव, नवपल्लवतो नूतनिकसलयैर्लता यथा वहीव शुभेन मनोहरेण पुत्रेणाऽऽशु शुशुभे अशोभत ॥ ३६॥

सदनेकेत्यादि — असो महीसुजो जनी राज्ञी प्रियकारिणी रजनी रात्रिरिवासी त्त्वानी मिति यावद्यतो छसत्तमाति ज्ञयप्रशंसनीया स्थितिर्थस्याः सा पद्मे लसित स्फूर्तिमेति तमोऽन्धकारो यस्यामेताद्यो स्थितिर्थस्याः । रुजः प्रतिकारिणी पुत्रजननेऽपि यस्यै किञ्चिद्पि कष्टं नासीत्
पद्मे रुजो व्यापाराद्यायासस्यापछापिकाऽय च पुनः सन्ति प्रशंसायोग्यानि अनेकान्यष्टोत्तरसहस्रं संख्याकानि छक्षणानि शुभसूचकचिन्हानि तेषामन्त्रितः स्थितिर्यत्र तादशेन तनयेन पद्मे सतां नक्षत्राणामनेकेषां सुराणां च क्षणस्योत्सवस्यान्वितिर्यत्र तेन तनयेन शिशना
चन्द्रमसा रात्रौ पिशाचादीनां सञ्जारो भवतीति ॥ ४०॥

सौरभेत्यादि — तस्य वालकस्य वपुष्यङ्गे पद्मस्येव सौरभाव-गतिः सुगन्धानुभवोऽभूत्। याऽसौ समस्तलोकानां नेत्रालिप्रतिक-र्षिका चजुर्भं मराकर्षिकाऽभूत् ॥ ४१॥

शुक्ते रित्यादि -- शुक्ते मीं क्तिकवत्तस्या देव्या उद्भवतो जाय-मानस्य निर्मेळस्य सद्भिरादरणीयस्य वपुष्मतो बालकस्य पवित्रता शुद्धताऽऽसीत् ॥ ४२ ॥

इति षष्ठः सर्गः।



## रलोकानुक्रमणिका

श्लोक चरण	ā8	ऋोक चरण	āB
[अ]		अनन्यभावतस्तद्धिः	388
अकलङ्कालङ्कारा	68	अनलपपीतास्बरधामरस्याः	20
श्रक्ष्णोः साञ्जनतामवाप	४३	अनादितो भाति तयोहिं योगः	२१६
अगादिप पितुः पार्श्वे	9 R.K	अनारताकान्तधनान्धकारे	ĘĘ
अधस्थविस्कारिकणीन्द्रदएड-	2=	अनित्यतेवास्ति न वस्तुभूता	939
अचित्पुनः पञ्चविधत्वमेति	३०८	अनेकधान्येषु विपत्तिकारी	5
अजाय सम्माति द्धत्कुपाणं	२४३	<b>अनेकशक्तवासमकवस्तुतत्त्वं</b>	388
अजेन माता परितुष्यतीति	१३८	अन्येः समं सम्भवतोऽप्यमुद्य	व ३०१
अज्ञोऽपि विज्ञो नृपति:क दूतः	: २४२	अन्तःपुरे तीर्थकृतोऽवतारः	50
अत एव कियत्याः स	270	अन्तर्नीत्याखिलं विश्वं	२३६
अतिवृद्धतयेव सन्निधि	११६	अन्तस्तले स्वामनुभावयन्तः	283
श्रतीत्य वाऽलस्यभावं	१२७	अन्येऽग्रिभूतिप्रमुखाश्च तस्य	१ २।२
अत्युद्धतत्विमह वैदिकसम्प्र	३३८	श्चन्येऽपि बहवो जाताः	838
अथ जन्मनि सन्मनीषिणः	880	अपारसंसारमहाम्बुगशेः	१७७
अय प्रभोरित्यभवन्मनोधनं	235	अवाहरत् प्राभवभृच्छरीर-	989
अथानेके प्रसङ्गास्ते	१६३	ऋषि दारुणोदितानां	uş.
श्रथाभव यज्ञ विधान मेते	292	अपि सृद्भाव।धिष्ठशरीरः	338
श्रयाभवद् व्योम्नि महाप्रका		श्रभिद्रवच्चन्द्रसचिताङ्ग	१५३
अधः कृतः सन्नपि नागलोक		अभिवाञ्छिस चेदासम्	१७७
अधिकर्तुं मिदं देही	843	अभिसरन्तितरां कुसुमक्षणे	Sox
अधितिबीयाचरणप्रचारैः	42	अभूकचतुर्थः परमार्य आर्य-	280
		अभूत्युनः सन्मतिसम्प्रदाये	359
श्चनस्यजन्यां रुचिमाप चन्द्रः		अभूर्युनः स्वाधिस्य । बिसंकु	छं ३७
अनन्ततां साम्प्रतमाप्तवद्भिः	808	MM INCIMICAL INCIDENT	

(858)

1 91	* )
अयि जिनपगिरेवाऽऽसीत् ४३	
अयि मञ्जुलहर्युपाश्चितं ११७	् [आ]
अयि छवङ्गि भवत्यपि राजते १०४	अक्ति अ
अरविन्दिधया दधद्रविं ११२	आखुः प्रवृत्ती न कदापि तुल्यः २६२ आस्मन् वसेस्त्वं विकार
अर्चावसाने गुणरूपचर्चा =४	आत्मन् वसेस्वं विसतुं २४१
अर्थान्मनस्कारमये प्रधान- २४४	आत्मानमच् प्रति वर्तते तत् ३२१
अर्हस्याय न शकोऽभूत् २६७	त्रात्मा भवत्यात्मविचारकेन्द्रः २७१
अलब्बकारान्यसुरी रयेण ८३	
अवबुध्य जनुर्जिनेशिनः १११	
अविकल्पक्तोत्साहे १२६	
अवेत्य मुक्ते: समयं विवेकात् ६०	नाराजनाथा साह कार्यक्र
अष्टाधिकं सहस्रं ७४	आळोचनीयः शिवनाम भर्ता २४६
असुमाह पतिं स्थितिः पुनः ५५	[ ₹ ]
असृत साता विजयाथ पुत्र- २११	इक्ष्वाकुवंशपद्मस्य २३३
अस्माभिरद्यावधि मानवायुः २१८	इङ्गितेन निजस्याय १२४
अस्मिन्नहन्तयाऽमुख्य १५५	इतेरष्वपि लोकेषु २३७
अस्मिन्प्रदेशेऽस्त्यखिलासु २०१	इत: प्रभृत्यम्ब तवाननस्य ४७
अस्मिन्भुवोभाल इयद्विशाले २४	इतः प्रसादः कुमुदोद्गमस्य ३२०
अस्या भुजस्पर्धनगद्ध नत्त्रात् ४०	इति दुरितान्धकारके समये १७
अस्या महिष्या उद्रेऽवतार- ४७	इत्यं भवन् कब्चुकितासनाथः ५०
श्रहिंसा वर्त्म सत्वस्य २०७	इदमिष्टमनिष्टं वेति १७६
अहीनत्वं किमादायि १४६	इत्येकदेहक् समयो बभूव २७१
अहीनसन्तानसमर्थितत्वात् २६	इत्येवमनुसन्धान- १४६
श्रहो जरासन्धकरोत्तरै: शरै: २६७	इत्येवमाश्वासनतः सुरीणां ६६
	इत्येवमेतस्य सती विभूति २०१
	A P P THE THE TOTAL MODE
	0 C 2000 38
अहो पशुनां भ्रियते यतो बलिः १४०	Ediana

#### ( ४२६

	( 84	(4 )	
इन्द्रियाणां तु यो दासः [ ई ] ईर्ष्यामदस्यार्थयदस्य लेशः	१३३	एकाकी सिंहबद् वीरो एकास्य विद्या श्रवसोश्च तस्व एकेऽमुना साकमहो प्रवृत्ताः	१६३ १६७
[ उ ]	404	एको न सूचीमिं द्रब्दुमई: एकं विहायोद्वहतोऽन्यदङ्गं	३१६ २ <b>८</b> १
उच्चलान कचौघं सः उच्छालितोऽर्काय रजः समृह		एकः सुरापानरतस्तथा वत एणो यात्युपकारहकाधर-	883 883
उत्कुल्लोत्पलचलुषां उदियाय जिनाधीशात्	३४ २२६	एतद्धर्मानुरागेण एतद्वचो हिमाकान्त-	२३२ १३०
उद्योत्तयस्युदितद्दन्तविशुद्धरोनि उपद्भुतः स्यास्त्रयमिल्ययुक्ति-	838	एतस्य वे सौधपदानि पश्य एतस्याखिलपत्तनेषु	3.8
उपस्थिते वस्तुनि वित्तिरस्तु उपात्तजातिस्मृतिरित्यनेना-	३१८	एतादशीयं धरणी व्यवस्था एवं पर्यटतोऽमुख्य एवं पुरुमीनवधर्ममाह	१८८ २२६ २८६
उपान्त्योऽपि जिनो बाल- उर्वीप्रकुल्लस्थलपद्मनेत्र-	१३४	एवं विचार्याथ बभूव भूय- एवं समुल्छासितछोकयात्रः	28x
उशीरसंशीरकुटीरमेके उष्मापि भीष्मेन जितं हि येन	१८२ १४६	एवं समुत्थानितपातपूर्ण एवं सुविश्रान्तिमभीप्सुमेतां	7×4 = E
[ ऋ ] ऋतुश्रियः श्रीकरणञ्ज चूर्णं	१०२	एषोऽखिलज्ञः किमु येन सेवा	२१३
ऋदिं वारजनीय गच्छति	१०६	[ क ] कथमस्तु जडप्रसङ्गता	१२०
्ष ] एकस्य देहस्य युगेक एव	३०६	कदाचिच्चेद् भुवो भाल- कन्दु: कुचाकारधरो युवत्या	१८४
एक।किनीनामधुना वधूनां एकान्त्रिता वीजनमेव कर्तुः	६२	कन्याप्रस्तस्य धनुःप्रसङ्गतः कवरीव नभो नदीक्षिता	१४२ ११२
पका मृदङ्गं प्रद्धत् प्रवीणा	=3	करत्रमेकतस्तात	188

## ( 830 )

कणीटकस्थलमगात् स तु	३३४	किं तत्र जीयादिवरीधभावः पर
कर्णजपं यत्कृतवानभूस्त्वं	5	कि राजत्वनोद्दाहेन १३
कलकतामिति झंकतन्पुरं	१०३	की दक चरित्रं चरित त्वनेन दश
कलशद्विक इव विमलो	७३	कुच समुद्वाटयति प्रिये विकास १०००
कलाकन्दतयाऽऽहादि	385	छनाऽपहारा द्वावणस्य दृश्यते १५०
कल्याणाभिषवः स्यात्	७२	कुतोऽस्य वश्यः न हि तस्वबुद्धिः ==
कवित्ववृत्येत्युदितो न जातु	33	कुर्यान्मनो यन्महतीयमञ्चे २८३
कश्चित्र्वसिद्धमपि पत्रफला-	३३२	कुशीलवा गल्लकफुल्लकाः १४४
कस्यापि नापत्तिकरं यथा स्यान्	२००	कुसुमा अलिबद्धभूव साम्बु- ११६
कस्मै भवेत्कः सुखदुःखकर्ता	२४३	कूपादिसंखननमाह च कोऽपि ३४३
काचिद् भुजेऽदादिह बाहुबन्ध	i =3	कृत्वा जन्ममहोत्सवं १२१
काठिन्यं कुचमएडलेऽथ	35	कृपावती पान्थनृपालनाय १८६
कान्तालता वने यस्मात्	825	कृमिर्घु णोऽलिन्र एवमादि- ३०७
कामारिता कामितसिद्धये नः	8	केलिकलामाकलयन् ७४
कारयामासतुर्लोक-	२३३	को नाम जातेश्च कुलस्य गर्वः १४७
कालेन वैषम्यमिते नृवर्गे	१६६	कोपाकुलस्येव मुखं नृपस्य १५०
काशीनरेश्वरः शंखो	२३०	कौमारमत्राधिगमय्य कालं २५१
काँश्चित्पटेन सहितान्समु-	334	कोशाम्ब्या नरनाथोऽपि २३०
किन्तु वीरप्रभुवीरो	१६३	क्षणोत्तरं सन्निधिमाजगाम ७६
किन्नानुगृह्णाति जगन्जनोऽपि	320	चुधादिकानां सहनेष्त्रशक्तान् २७४
किमत्र नाज्ञोऽख्वति विद्विधा-	२४६	चल्लिकात्वमगाद्यत्र २५४
किसन्येरहमप्यस्मि	888	च्रेत्रेभ्य आकृष्य फलं स तेषु ३२६
किमस्मदीयबाहुभ्यां	838	[祖]
किमेवमाश्चर्यनिमग्नचित्ताः	२१३	
किसु राजकुलोत्पन्नो	230	मल नायसनिमितन न हैं
किलाकलङ्कार्थमभिष्दुवन्ती	28	खलस्य हलक्तामवाघवर १
कि छाग एवं महिषः किमश्वः	88	खारवेलोऽस्य राज्ञी च

[ग]		घूकाय चान्ध्यं दृद्देव भास्त्रान्	339
गङ्गातरङ्गायितसत्वराणि	२०२	[ ज ]	
गणी बभूवाचल एवमन्यः	288	चकार काचिद् युवति: सुलास	1 200
गतमनुगच्छति यतोऽधिकांशः	१६४	चकार शय्या शयनाय तस्याः	2.
गतागतैदीं लिककेलिकायां	ĘX	चकास्ति बीकासजुषां वराणाम्	80
गतानुगतिकत्वेन	820	चचाळ द्रष्टुं तदतिप्रसङ्ग-	RO8.
गतेर्निमित्तं स्वसु पुद्गलेभ्यः	३०८	चचाल यामिलामेषो	562
गतं न शोच्यं विदुषा समस्तु	28=	चतुर्गु णस्तत्र तदाद्यसार-	200
गत्त्रान्तिकं धर्मसुधां पिपासुः	१७४	चतुष्पदेपृत खगेष्वगेषु	298
गत्वा पृथक्त्वस्य वितर्कमारा-	039	चन्द्रप्रभं नौमि यदङ्गसार-	5
गत्वा प्रतोळीशिखरायळग्ने	3,0	चन्द्रमौलेस्तु या भार्या	238
गर्जनं वारिव्स्येव	२२४	चम्पाया भूमिपाछोऽपि	399
गर्भस्य षरमासमधस्त एव	83	चाञ्चल्यमङ्णोरनुमन्यमाना	85
गर्भार्भकस्येव यशःप्रसारैः	83	चित्ते शयः को जयतादयन्तु	६३
गाम्भीर्यमन्तःस्यशिशौ	x3	चिन्तिन्तं हृद्ये तेन	१६१
गाईस्थ्य एवाभ्युदितास्ति	१३८	चेत्कोऽपि कर्तति पुनर्यवार्थ	380
गुणो न कस्य स्वविधौ प्रतीतः	२४२	चैत्रशुक्लपक्षत्रिजयायां	१०६
गुरुमभ्युपगम्य गौरवे	११६	चौहानवंशभृत्कीर्ति-	२३६
गुरोगु हणां भवतो निरीक्षा	50	[8]	-10
गृहस्थस्य वृत्तोरभावो ह्यकृत्य-	२४६		Quali
गृहीतं वस्त्रमित्यादि	२०७	छत्राभिधे पुर्यमुकस्थलस्य	१७५
गोऽजोष्ट्रका वेरदलं चरन्ति	२६७	छाया तु मा यात्विति पादलग्न	88
ग्रीब्से गिरे: शृङ्गमधिष्टित:	378	छायेव सूर्यस्य सदानुगन्त्री	04
[日]		[ ज ]	
घटः पदार्थश्च पटः पदार्थः	339	जगत्तत्वं स्फुटीकर्तुः	880
घनैः पराभूत इवोडुवर्गः	48	जगत्त्रयानन्ददृशाममत्रं	२०३

#### ( 398 )

जनी जनं त्यक्तु मित्रामि-	359	ज्ञानेन चानन्द्रमुपाश्रयन्तः	
जनीसमाजादरणप्रणेतु-	33	ञ्चाला हि लोलाच्छलतो	5
जनैर्जशयामपि बाब्छथते रही	१३८		3=0
जनोऽखिलो जन्मनि शुद्र एव	२६४	[朝]	
जनोऽतियुक्तिगु रुभिश्च संस-	355	झषकर्कटनकनिर्णये	११२
जलनिधिरिव गम्भीरः	68	[त]	112
जलेऽविजनीपत्रवदत्र भिन्नः	220	तत्कालं च सुनष्टिनद्रनयना	-
जलं पुरस्ताचर्भूत् कूपे	350	ततः पुनद्दीदश कोष्ठकानि	20
जवादयः स्वर्णमिवोपलेन	२३१	ततः पुनर्यो यावत्या	२०१
जाकियव्ये सत्तरस	238	तस्वानि जैनागमविद्यमानित	38.5
जाडच पृथिव्याः परिहर्तु मेव	885	वतो वदानकिः -	38
जाता गौतमसंकाशाः		ततो नृजनमन्युचितं समस्ति	3=5
	388	ततोऽपि वप्रः स्फटिकस्य शेप-	. २०१
जातीयतामनुबभ्व च जैन-	380	ततो मराळादिदशप्रकार-	339
जानाम्यनेकासुमितं शरीरं	250	तत्रत्यधिम्मल्लधरासुरस्य	२१०
जायासुतार्थं सुवि विस्कुरन्मना	१३८	तत्रत्यनारीजनपूतपादै-	38
जिघांसुरप्येणगण शुभाना-	३२८	तत्रादिसश्चिकषु गौरवस्तुक्	र्द्ध
जिता जिताम्भोधरसारभासां	325	तत्राह्तोऽर्चासमयेऽर्चनाय	=3
जितचन्द्रमसं प्रपश्य तं	888	तत्सम्प्रदायाश्रयिणो नरा ये	280
जिना जयन्तूत्तमसौख्यकूपाः	3 ? 3	तथाच्यहो स्त्रार्थपरः परस्य	583
जिनवन्द् नवेदि हि एड मं	888	तद्द्य दुष्टभावानां	200
जिनराजतनुः स्वतः शुचिः	285	तदिह सुरसुरेशाः प्राप्य	52
जिनसद्मसमन्वयच्छल।त्	288	तदीयरूपसीन्दर्या-	१३२
जिनालयस्काटिकसौधदेशे	38	तदेतदाकएर्य विशाखभूति-	१इंह
जिनेन्द्रधर्मः प्रभवेत	348	तदेवेद्दियाधीनवृ त्तित्वम स्त	388
		तनुं परोद्वर्तयितुं गतापि	=3
जुगुप्सेऽहं यतस्तितंक	588	तमोधुनाना च सुधाविधान	1. 93.
ज्ञात्वेति शको धरणीमुपेतः	×39	तमाधुनाना न अगोपकत-	803
ज्ञानाद्विना न सद्वाक्यं	इ२३	तयोगीतोऽहं कुलसीयकेतु-	

तयोस्तु संमिश्रणमस्ति यत्र	२७६	
तरलस्य ममाप्युपायनं	550	
तल्छीनरोलम्बसमाजराजि-	378	दरहमापच
तस्मात्स्वपश्चपरिरक्षणवर्ध-	388	द्गडाकृति
तस्मादनल्पाप्सरसङ्गतस्वाद्	१७२	दस्या निर्ज
तस्माद् राष्ट्रवतीर्षणशील-	388	दयेव धर्मर
तस्मिन्बपुष्येव शिरःसमानः	38	दलाद्यमिन
तस्याः कृशीयानुद्रप्रदेशः	K3	दशास्य-नि
तपोधनश्चाक्षजयी विशोकः	398	दानं द्विर
तावत्त् सत्तमविभूषणभूषिता	- 5=	द्रास्पत्यमे
तारापदेशान्मणिसुष्टिमारात्		दिक्कुमार्
तिष्ठेयमित्यत्र सुखेन भूतले	230	दिगम्बरी
तुरुष्कताभ्येति कुरानमारात्	339	दिवानिश्
तुल्यावस्था न सर्वेषाम्	२६६	दिशि यर
तुषारसंहारकृती सुदक्षा	840	दीपकोऽ
ते शारदा गन्धवहाः सुवाहाः	378	दीपेऽअन
तेष्वन्तिमो नाभिरमुष्य देवी	२७३	दु:खमेक
त्यक्तं कतौ पशुबलेः करणं	380	दुःखं जन
स्यक्त्वा पयोजानि छताः	250	हुरभिनि
त्यागोऽपि मनसा श्रेयान्	2010	दुर्भोचमे
त्रिमेखलावापिचतुष्कयुक्ताः	039	दृढं कवा
त्रिवर्गमावात्प्रतिपत्तिसारः	83	दृश्यमस्य
त्रेता पुनः काल उपाजगाम	308	हच्टा नि
त्रेता बभूव द्विगुणोऽप्ययन्त	२=६	देवतानां
त्रैकालिक चाक्षमतिश्च वेति		देवद्धिरा
त्वं तावदीक्षितवती शयने	40	देवि पुत्र
त्वं ब्राह्मणोऽसि स्त्रयमेव विवि		देवैर्नरेर
ed substantial contraction (see	× 11	dance.

#### [3] वि मोही १२६ लोमलतास्वयाऽरं ४६ जीयं हृद्यं तु तस्य दर् स्य महानुभावा ना सिद्धमत्रासुकत्वं २४६ तर्भीषणयोश्च २६१ द इवाखिल-68 कं कुलमाश्रितानां २७१ ीगणस्यामे २८५ भूय तपस्तपस्यन् 808 होर्यंत्र न जातु भेदः २२४ स्यामनुगमः २२५ भ्युदियायाथ १६० नं वार्द्कुले तु शम्पा ३०२ स्तु सम्पर्के 380 नोऽभ्येति कुतोऽध 50 वेशमदोद्धुर-68 गोहस्य हिन: कुतस्तवा १४१ ाडं द्यितानुशायिन- <sup>१४४</sup> यभितो यहद-923 रशावसाने 88 ं करामे तु १२४ १प पुनरस्य हि सम्प्र- ३३४ १ इति भूत्रयाधिपो ७७ १प परस्परतः समेते- ३३२ 232

### ( 838 )

दोर्बलगंगहेमारिड-	२३४
दीस्थ्यं प्रकर्मानुचित्रक्रियत्वं	288
द्रव्यं द्विधेतिचिवद्चित्रभेदात्	३०३
द्राक्षा गुडः खरडमथो सिता-	785
द्विजा वलभ्यामधुना लसन्ति	१८१
द्विजिह्वचित्तोपममम्बु तप्तं	9=3
द्विदामवस्यात्सुमनःस्थलं	७६
द्वीपोऽथ जम्बूपपदः समस्ति	8=
[ध]	

धरा प्रभोगंभं मुपेयुपस्तु ४७ धर्मः समस्तजनताहितकारि- ३४२ धर्माधिक तृ त्वममी द्धाना २०५ धर्मार्थकामामृतसस्मिद्स्तान् १६२ धर्में ऽथात्मविकासे २६६ धर्में ऽथात्मविकासे २६६ धर्में ऽथात्मविकासे २६६ धर्में इसाच्छादि जनस्य सा ६४ ध्रूतः समाच्छादि जनस्य सा ६४ ध्रूतः पृथिव्याः कणशः ३०४ ध्रुवांशमाख्यान्ति गुर्गोति-

[ न ]
न कोऽपि लोके बलवान् २००
नकादिभिर्वक्रमथाम्बु ३१३
न चातकीनां प्रहरेत पिपासां ५४
न चौर्य पुनस्तस्कराया- २४०
न जातु ते दु:खदमाचरामः ६१
नटतां तटतामेवं १२४
नतभ्र वो ल्ट्यमहोत्सवेन १४५

नदीनभावेन जना लसन्त ननु रसालद्लेऽलिपिकावलि १०४ नभोगृहे प्राव्विपद्-नभोऽवकाशाय किलाखिले-308 न मनागिह तेऽधिकारिता नमनोद्यमि देवेभ्यो 340 नयनाम्बुजप्रसादिनी इन नरत्वमाप्त्वा भुवि मोह-308 तरपो वृषभावमाप्तवान् नरश्च नारी च पशुश्च पक्षी २२३ नरस्य नारायणताप्तिहेतो-नरस्य दृष्टी विडभक्ष्यवस्त 838 नरो न रौतीति विपन्निपाते २४४ नतंक्यां सुनिस्त्पाच सुतं 34% नवप्रसङ्गे परिहण्टचेताः 800 नवाङ्कुरेरङ्कुरिता घरा तु ६७ नवानिधीनित्यभिधारयन्तं 739 नवालकप्रसिद्धस्य 220 न वेदनाङ्गस्य च चेतनस्तु नव्याकृतिमें शृगु भो सुचित्वं १२ न शाकस्य पाके पलस्येव पू त:२४६ न सर्वथा तृलमुद्देति जातु नहि किञ्चिद्गन्थल-नहि पद्धशतीद्वयं दशा क्षमः ११० नहि पळाशतरोस् जुलोद्गतिः १०४ नाकं पुरं सम्प्रवदास्यहं तत् २६

नात्माम्भसाऽऽद्रेत्वमसौ प्रया-	१८८
नाना कुयोनी: समवेत्य तेन	१६८
नानाविधानेकविचित्रवस्तु	२२०
नानिष्टयोगेष्टवियोगरूपाः	१६६
नानौषधिस्फूर्तिधरः प्रशस्यः	X
नान्यत्र सस्मिश्रणकृतप्रशस्ति-	30%
नाम्ना स्वकीयेन बभूव योग्यः	२०२
नाभिमानप्रसङ्गे न	१२८
नालोकसापेक्ष्यमुल्कजातेः	३२१
नासौ नरो यो न विभाति भो	गी३?
निगोपयेन्मानसमात्मनीन <u>ं</u>	25%
निजनीति चतुष्टयान्वयं	994
निजञ्जिचगोप्रतिभयो	७३
निजेङ्गितात्ताङ्गविशेषभावा <b>न्</b>	308
नितम्बनीनां मृदुपाद्द्यें:	६२
नितान्तमुच्यैः स्तनशैलमूल-	35%
निरामया वीतभयाः ककुल्याः	244
निरियाय स नाकिनायकः	888
निरौष्टशकाव्येष्वपवादवत्ता । । । । । । । । । । । । । । । । । । ।	32
निर्गत्य तस्माद्धरिभूयमङ्ग	१७१
तिमोध्य जिनास्थानं	238
निवार्यमाणा श्रपि गीतवन्तः	२५६
निशम्य युक्तार्थधुरं पिता गिरः	
निशम्य सम्यङ् महिमान-	२२२
निशाचरत्त्रं न कदापि याया-	228
निशास चन्द्रोपलभित्तिनिर्य-	
	२३
नि:शेषनम्रावनिपालमौलि-	३८

निष्करदकादर्शमयी घरा या	328
नि:सङ्गतां वात इवाभ्युपेयान	940
निहन्यते यो हि परस्थ हन्ता	283
तीतिवीरोद्यस्येयं	390
नीलाम्बुजातानि तु निर्जितानि	1 12
नेश्चल्यमाप्त्या विलसेचदा	388
नैसर्गिका मेऽभिरुचिर्वितर्के	EX
नो चेत्परोपकाराय	980
न्यगादि वेदे यदि सर्ववितकः	325
न्यायाधिपः प्राह च पार्वतीयं	355

#### प

[4]	
पटहोऽनद्दद्रिशासिनां	980
पटं किमञ्चेद् घटमाप्रु मुक्तः	285
पतङ्गकं सम्मुखमीक्षमाणा-	१८६
पतङ्गतन्त्रायितचित्तवृत्ति-	१८६
पतितोद्धारकस्यास्य	२३६
पदे पदेऽनल्पजलास्तटाकाः	3,2
पयोधरोत्तानतया सुदे वाक्	Şo
पयोधरोल्छास इहाविरास	88
परप्रयोगतो हब्दे	37,5
परमारान्वयोत्थस्य	२३६
परस्परद्वेषमयी प्रवित्तः	१६
पराधिकारे त्वयनं यवाऽऽप	२६०
परार्थनिष्ठामपि भावयन्ती	38
परागनीरोद्धरितप्रस्त-	219
परिकानेतारि अगालितं व	558

परिस्कुरत्वेटिपुटे विडिन्मेः परिस्कुरत्विष्टिशरद् धराऽसी परोऽपकारेऽन्यजनस्य सर्वः पर्वत इव हरिपीठे फलस्याशनं चानकाङ्गिपहारः पले वा दले वास्तु कोऽसी पल्लबराट् काडुवेदी पल्लबाधिपतेः पुत्री पण्लबाधिपतेः पुत्री पण्लबाधिपतेः पुत्री पण्लबाधिपतेः पुत्री पण्लबाधिपतेः पुत्री पण्लबाधिपतेः पुत्री पण्लबाधिपतेः पुत्री पण्लबाधिपतेः पुत्री पादैः सरंः पूर्णदिनं जगुः पापं विमुच्येव भवेत्पुनीतः पावानगरोपवने पार्श्वप्रभोः सन्निधये सदा	११६ १८४ १८४ १८४ १८४ १८४ १८४ १८४ १८४ १८४ १८४	पुरोदकं यद्विपदोद्धवत्वात् ३२५ पुष्पाणि सूयो वर्षपुर्वभस्तः २०२ पूर्वक्षणे चौरतयाऽतिनिन्दः २५२ पूर्व विनिर्माय विद्युं विशेष- ५१ पूर्व विनिर्माय विद्युं विशेष- ५१ पृश्वीनायः पृश्वलक्ष्यनां ५० प्रदाकुद्गोद्धितचन्द्रनाकः ६६ पौत्रोऽहमेतस्य तत्प्रगामी १६७ प्रकम्पिताः कीशकुळोद्भया १४५ प्रगे ददौ दर्पणमादरेण ६१ प्रजासु त्राजीवनिकाभ्युपाय- १६७ प्रततानुस्तातमगात्रकं- ११२ प्रततानुस्तातमगात्रकं- ११२ प्रततानुस्तातमगात्रकं- ११० प्रत्युनाच वचस्तातो १३० प्रत्येकसाधारणभेदभिन्नं ३०६ प्रत्येतस्यशोकाभिधयाय ६६ प्रस्येस्यशोकाभिधयाय ६६
पक्लबराट् साबुनरा		नग ५५। ६५०। सादरण =१
पल्लवाधिपतः पुत्रा		अजासु आजावानकाभ्युपाय- १६७
पश्रूनां पक्षिणा यद्वत्		
पात्रोपसन्तर्पणपूर्वभोजी	2000	*15
पादै: खरं: पूर्णदिनं जगुः	8=8	
	378	
	338	प्रत्येति लोको विटपोक्तिसारा- १०३
पार्श्वप्रभोः सन्निधये सदा व	7: 3	प्रत्येत्यशोकाभिधयाय ६५
पार्श्वस्थसगमवशेन	३३६	
पितापि तावदावाञ्छीत्	१२३	प्रद्योतन उज्जयिन्याः २३१
पिता पुत्रश्चायं भवति गृहिण	. २६=	प्रभुराह निशम्येदं १२६
पिबन्तीक्ष्वाद्यो वारि	२२६	प्रभोः प्रभामगडलमत्युदात्तं २०३
पीडा ममान्यस्य तथेति जन्तु		प्रभोरभत्सम्प्रति दिव्यवीधः १६५
पाडा ममान्यस्य संयोग जन्तु		प्रमादतोऽसव्यवरोपण ११३
पुनः प्रवत्राज् स लोकधात	१३१	प्रयात्यगातिश्च गविहिंमस्य १८
पुत्रप्रेमोद्भवं मोहं	2000	प्रवर्धते चेत्पयसाऽऽत्मशक्ति- २६
युनरेत्य च कुण्डिनं पुरा-	११३	प्रवालता मूध्यधरे करेच ४
पुरतो वह्निः पृष्ठे भानुः	8 7 8	प्रवास्ता मुख्यप ११
पुरापि श्रूयने पुत्री	838	प्रविवेश च मापुराज
पुरुदिनं नाम पुनः प्रसाद्या-	२८६	Company of the last of the las

प्राग्धातकीये सरसे विदेहे	808	भूत्वा कुमारः प्रियमित्रनामा	१७४
प्राध्नपमुज्झित्य समेत्य पूर्व-	789	भूत्वा परित्राट् स गतो महेन्द्र-	१६८
प्रापाय ताहगनुबन्धनिबद्ध-	338	भूपालाः पालयन्तु	३४३
प्रायोऽस्मिन्भूतले पुंसो	१३१	भूमावहो वीतकलङ्कलेशः	38
प्रासादश्रङ्गाप्रनिवासिनीनां	3×	भूमिदानं चकारापि	२३४
प्रास्कायिकोऽङ्गान्तरितं यथेति	384	भूमिपालेष्विवामीपु	२३७
शिक्षापकाञ्चामानात् । स्टिक्स्याच्यास्यात्	228	भूयो भुवो यत्र हदा विभिन	नं १६
प्रीतिसात्रावगस्यत्वात् भूकत्राचीत्र प्रशंहीषं	222	भो भो प्रपश्यत पुनीतपुराण-	. ३३३
प्रोद्घाटयेन्नैव परं दोषं प्रौढिं गतानामपि वाहिनीनां	EX	[ म ]	
[ब]		मक्षिकावज्जना येषां	३४६
बबन्ध काचित्कवरी च तस्या	: 53	मदनमर्भविकाससमन्वितः	१०३
बभूव कस्यैव बलेन युक्त	838	मद्याङ्गवद्भृतसमागमेभ्य-	३०३
बभूव तच्चेतसि एव तकः	282	मध्येसभं गन्धकुटीमुपेतः	२०२
वसूव तच्यात र जा	२१२	मनुष्यता ह्यात्महितानुवर्ति	२४३
बल: पिताम्बास्य च	१७६	मनोऽङ्गिनां यत्पद्चिन्तनेन	
बहुकुत्वः किलोपात्तो	382	मनोऽधिकुर्यात्रतु बाह्यवर्गः	258
विम्बार्चनस्त्र गृहिणोऽपि	1000	मनोरथारूढतयाऽथवेतः	039
बीजादगोऽगाद् द्रुतबीज एव			205
बृहदुन्नतवंशशालिन्:	888	मनोवचःकायविनिमहे	
H	200	मनोवचोऽङ्गे: प्रकृतात्मशु	
भर्ताऽहमित्येष वृथाभिमानः	380	मनोऽहिवद्वकिमकल्पहेतुः	१६
भवन्ति ताः सम्प्रति नाटय-	500	मन्दत्वमेवसभवत्तु यतीश	
भविष्यतामत्र सतां गतानां	388	ममाऽमृदुगुरङ्कोऽय	380
भवेच्च कुर्योद्वधमत्र भेदः	388	सयाऽम्बुधेर्मध्यमतीत्य	२०४
भाष्ये निजीये जिनवाक्यसा	339-F	मल्लिका महिषी चासीत्	२३२
भुजङ्गतोऽमुच्य न मन्त्रिणोऽ	वि ४४	महात्मनां संश्रुतपादपानां	582
मुजन्नाउनुस्य सं सार्थनाव	१४३	महीपतेधां क्ति निजेक्तित	38
भुवने लब्धजनुषः	388	महीमहाङ्के मधुबिन्दुवृन्दे	३२६
भूतं तथा भावि खपुष्पवद्वा	410	म्राम्याक्ष मञ्जूष	

## ( 83K )

	२३३	गोगोगांजीक्याकिका (	
महीशूराधिपास्तेषां	33	मेरोर्यदीद्धत्यमिता नितम्बे	8=
महाराजा मानन्दवृत्द्प्रसवाभिसतुः	१७१	मोहप्रभावप्रसरप्रवर्ज	२०३
माडगा विषादं पुनरप्युदार-	२३४	मौर्यस्थले मण्डिकसंज्ञयान्यः	560
माचिकव्वेऽपि जैनाऽभू-		मौर्यस्य पुत्रमथ पौत्रमुपेत्य	33=
माता जयन्ती च पिता च देव	-111	[य]	
माता समास्वाद्य रसं तदीयं	0.3		222
मातुर्मनोरथमनुप्रविधानदक्षा	89	यज्ज्ञानमस्तसकलप्रतिबन्धि-	३२३
मातुमु खं चन्द्रमिवेत्य हस्तौ	===	यज्ञार्थमेते पशवो हि सृष्टाः	38
मानोन्नता गृहा यत्र	१२३	यत्कृष्णवत्मत्वसृते प्रताप-	80
मान्यं कुतोऽहंद्रचनं समस्तु	58	यत्खातिकावारिणि वारणानां	35
मार्गशीर्षस्य मासस्य	१६०	यतस्त आशीतलतीर्थमापु-	२८७
मार्तरहतेजः परितः प्रचरहं	१८१	यत्सम्प्रदाय उदितो वसन-	338
मासं चतुर्मासमथायनं वा	328	यतोऽतिवृद्धं जडधीश्वरं सा	28
मितम्पचेषूत किलाध्वगेषु	308	यतोऽभ्यपाता नवपुष्पतातिः	800
मित्रस्य दुःसाध्यमवेक्षणं तु	3%	यतो मातुरादौ पयो भुक्तवान	२४८
मुकुलपाणिपुटेन रजोऽव्जिनी	80%	यत्र श्राद्धे ऽपि गोमांस-	२३८
मुखश्रिय:स्तेयिनमैन्दवन्तु	Ex	यत्राप्यहो लोचनमेमि वंशे	२६४
मुद्रेषु कङ्कोड्डकमीक्षमाण-	२६३	यत्रानुरागार्यमुपैति चेतो	Ę
मुग्धेश्वरस्य प्रतिपत्तिहेतवे	888	यथा तदीयोद्रवृद्धिवीक्षा	EX
	20%	यथा दुरन्तोच्चयमभ्युपेता	३८६
मुहुस्त्वया सम्पठितः किला-		यथा रवेरुद्रमतेन नाशो	288
मूलगुणादिसमन्वित-	७२	यथा सुखं स्यादिह लोकयात्रा	208
मृगीदशश्चापलता स्वयं या	Xo	यथा स्वयं वाब्छति तत्परेभ्यः	282
मृदुपल्छवरीतिधारिणी	882	यथा स्वयं वाक्कात तरार	5%
मृदुपल्छवतां वाचः	१२८	यथेच्छमापूच्छत भो सुदेव्यः	388
मृत्युं गतो इन्त जरत्कुमारे-	200	यथैति दूरेक्षणयंत्रशक्तथा	300
मृरवं तु संज्ञास्विति पूज्यपा		यद्गिसिद्धं फलपत्रकादि	388
मेतायेवाक् तुङ्गितसन्निवेशः	368	यद्भावे यन्न भवितुमेति	-

यदस्ति वस्तूदितनामधेयं	३२०	[ <del>t</del> ]	
यदाऽवतरितो मातु-	२०६	रङ्गप्रतिष्ठा यदि वर्णभङ्गी	१६१
यदा समवयस्केषु	१२६	रजो यथा पुच्यसमाश्रयेण	×
यदीयसम्पत्तिमतन्यभूतां	२३	रतिरिव च पुष्पधनुषः	22
यहेतदी से जगतः कुरूसं	Sox	रस्तानि तानि समयत्रय-	305
यह शवासिनां पुण्यं	२२८	रत्नांशकैः पद्मविधिर्विचित्रः	735
यदोपसान्द्रे प्रविहर्तु मन्त्रा	63	रथाङ्गिनं बाहुबिल: स एक:	200
यद्वा सर्वेऽपि राजानो	२३८	रमयन् गमयत्वेष	388
यद्वा स्मृतेः साम्प्रतमर्थजातिः	388	रमा समासाद्य भुजेन सख्या	330
यन्मार्द्वोपदानायो-	१३२	रराज मातुरत्मङ्ग	858
यस्यानुकम्पा हदि स्दियाय	२७३	रविणा ककुबिन्द्रशासिका	200
यस्यानु तद्विप्रसतामनीकं	288	रविरयं खलु गन्तुमिहोद्यतः	80%
या पक्षिणी भूपतिमानसस्य	Xo	रविर्धनुप्राप्य जनीमनांसि	888
या पत्नी कदम्बराज-	२३४	रवेईशाशापरिपूरकस्य	38
यासामरूपस्थितिमात्मनाऽऽ	ह ४२	रसायनं काव्यमिदं श्रयामः	3
यां वीक्य वैनतेयस्य	१६२	रसैर्जगत्रलावियतुं क्षरोन	50
युतोऽग्निनाभूतिगिति प्रसिद	305	रसं रसित्वा भ्रमतो वसित्व	
युवत्वमासाद्य विवाहितोऽि	प १३७	रागः कियानस्ति स देहसेव	
चे केऽपि सम्प्रति विरुद्धि	यो १६४	राजगृहाधिराजो यः	355
येषां विभिन्नविपणित्वमनन		राजपुर्या अधीशानो	238
	338	राजवर्गमिहेत्येवं	२३७
ये स्पष्टशासनशिदः खलु		राजा तुजेऽदात्तद्हो निरस्य	258
योऽकस्माद्भयमेत्यपु सकत्य	स ४०	राज्यमेतदनर्थाय	234
योगः सदा वेदनया विधेः	٠٠٠ و	राज्यमतद्गवाय	
योऽभ्येति मालिन्यमतो न	जात द	गाउथ साव स्वर काञ्जा	10
यो बाऽन्तरङ्गे निजकल्मप यः क्षत्रियेश्वरवरैः परिधार	- 388	रात्रौ यद्भं लिह्हालयुङ्ग- रुचा कचानाकलयुङ्गनी-	688

	( 830	)	
ह्रपं प्रभोरप्रतिमं वदन्ति देखें किका नैव लघुर्न गुर्थी देभे पुनिश्चन्तियेषुं स एष [ल] लक्ष्मीं मदीयामनुभावयन्तः लेव सम्पल्लवभावयुक्ता लक्ष्में सुभगं वीरो लभेत मुक्ति परमात्मबुद्धिः ललाटमिन्दूचितमेव तासां लसन्ति सन्तोऽण्युपयोजनाय लुप्तं समन्त्रेपयितुं प्रदाव- लोकत्रयेकतिलको लोकत्रयोग्रोति-पवित्रविक्ति- लोकोपकारीणि बहू नि कृत्वा लोकोऽयमापनोति जहाश्यत्वं	१ ६ ३ ४ २ ४ ४ ६ ६ ४ ४ ७ १ ६ ४ ४ ७ १ ४ ४ ४ ४ ४ ४ ४ ४ ४ ४ ४ ४ ४ ४ ४ ४ ४ ४ ४	वस्तुता नैकपक्षान्तः वस्तुतो यदि चिन्त्येत वस्त्रेण वेष्टितः कस्माद् वहाविज्ञाच्छं समयं न कार्यः वाचां रुचामघमघिष्ठिपन्तं वर्णं क्षेप्रेणं चोपनिषत्समर्थं वर्णं चोपनिषत्समर्थं वर्णं चोपनिषत्समर्थं वर्णां वाद्यं क्ष्म्रेणं चोपनिषत्समर्थं वर्णां वाद्यं क्ष्म्रेणं चोपनिषत्ममोयमङ्गलमयी वर्णां द्वादशभागेषु वर्णं वाद्यं क्ष्म्रेणं वर्णां द्वादशभागेषु वर्णं वात्यं क्ष्म्रेणं क्ष्म्रेणं क्ष्म्रेणं वर्णां द्वादशभागेषु वर्णं वात्यं त्यातं तथा तं सहजप्रयातं वर्णं वात्यं तं सहजप्रयातं वर्णं विक्रमता वर्णं विक्रमता स्वात्यं वर्णं	1 1 1 3 0 4 9 9 4 4 9 0 4 7 3
			9
[ व ] वणिकपयः काव्यतुलामपीति	२७	विद्य च्चौरोऽप्यनः पद्ध २३	18
वणिक्पथस्तूपितरस्तजूटा	28	विनयेन मानहीनं रे	
वदत्यपि जनस्तस्मै	833	विनापि वाञ्छां जगतोऽखिल-२०	95
	887	विनादपूर्णा झव्यु स्वताः	
वनराजचतुष्टयेन		विपदे पुनरेतिसमन	
वन्या मधोः पाणिधृतिस्तदुक्त	200	विपन्निशेवाऽनुमिता भुवतिः १४	
वधमानाद्नभाज-		विभित्तमत्त्वं द्धताप्यनन	8
वसन्तसम्राड्विरहाद्पर्तुः वसुन्धरायास्तनयान् विपद्य	६०	विभेति मरणाद् दीनो १६	5

विमलाङ्गजः सुदृष्टिचरोऽपि	२६४	वीरस्य वर्त्मनि तकैः समकारि व	३६
विमानवद्यः सुरसार्थसंस्तवः	७६	वीरस्य विक्रममुपेत्य तयोः- ३	32
वियोगिनामस्ति च चित्तवृत्तिः	308	वीरस्य शासनं विश्व-	१३७
विरहिणी परितापकरोऽकरो	१०६	वीरवलाहकतोऽभ्युदियाय	205
विरोधिता पञ्जर एव भाति	32	वीरेण यत्रोक्तमदृष्टपार-	२३६
विलोक्यते हंसरवः समन्तान्	३२६	वीरोक्तमनुवद्ति	२२७
विलोक्य वीरस्य विचारवृद्धि-	20=	वीरोद्यं यं विद्धातुमेव-	8
विवर्णनामेव दिशन्प्रजास्त्रयं	883	वृत्तं तथा योजनमात्रमञ्चं	280
विवाहितो आतृजयाङ्गभाजा	272	वृथाभिमानं त्रजतो विरुद्धं	322
विश्वदांशुसमूहाश्रितमणि-	42	वृथा अयन्तः कुकविप्रयातं	६३
विशाखनन्दी समभूद् भ्रमित्व	1800	वृद्धस्य सिन्धो रसमाशु हत्वा	६१
विशाखभूतिर्नभसोऽत्र जातः	१७०	वृद्धानुपेयादनुवृत्तबुद्धथा	278
विश्वस्य रक्षा प्रभवेदितीय-	588	वृद्धिर्जदानां मिलनैर्धनैर्वा	¥Ε
विशाखभूतेस्तनयो विशाख	338		
विष्णुचन्द्रनरेशस्या-	२३६	वेदाम्बुधेः पारमिताय मह्यं	308
विष्णुवर्धनभूपस्य	२३४	वेश्यासुता भ्रातृविवाहितापि	२४६
विस्तारिणी कीर्तिरिवाथ	24	वेषः पुनश्चाङ्कुरयत्यनङ्गं	१८३
विहाय मनसा वाचा	328	वेमुख्यमप्यस्त्वभिमानिनीनां	388
वीक्येदशीमङ्गभृतामवस्थां	२७३	वैशाखशुक्ताभ्रविध्दितायां	038
वीणायाः स्वरसम्पत्ति	२२४	वैशाल्या भूमिपालस्य	२३०
वीतभयपुराधीश-	२३०	बोढा नवोढामिव भूमिजात	308 -
वीरचामुरहराजश्च	२३४		288
वीरता शिक्सावश्चेद्	१६१	बोढार एवं तव थूत्कमेते	२६०
वीर स्वमानन्दभुवामवीरः	3	वंशश्च जातिर्जनकस्य मातुः	
वीरस्तु धर्ममिति यं परितो	333	वंश्योऽहमित्याद्यभिमान-	२६०
वीरस्य गर्भेऽभिगमप्रकार-	20	व्यासर्विणायो भविता पुनस्त	ाः २मध
वीरस्य पञ्चायुतबुद्धिमन्सु	२२२	व्यासोपसंगृहीतत्व <sup>°</sup>	१२८

[ श ]  शक्तीऽथवाऽहं भविता शपित खुद्रजन्मानी शरीरतोऽसी ममताविंहीनः शशिनाऽऽप विभुस्तु काञ्चन- श्रास्त्रोपयोगिने शस्त्र- शास्त्रिषु विपल्छवत्वमथेतत् शिखावछीढाञ्चतयाऽप्यदूटा शिरो गुरुत्वाञ्चतिमाप भक्तिः शिवद्विपः शासनवत्पतङ्गः शिवद्विपः शासनवत्पतङ्गः शिवद्विपः शासनवत्पतङ्गः शीतातुरोः साम्प्रतमाशरीरं शीतातुरोः साम्प्रतमाशरीरं शीतातुरोः साम्प्रतमाशरीरं शीतातुरोः सोम्प्रतमाशरीरं शीतातुरोः सोम्प्रतमाशरीरं शीतातुरोः सोम्प्रतमाशरीरं शीतातुरोः सोम्प्रतमाशरीरं शीतातुरोः सोम्प्रतमाशरीरं शीतातुरोः सोम्प्रतमाशरीपं शुक्रेष्णामनेका वाक् श्रमुष्णामनेका वाक्ष्यामाविक् श्रमुष्णामनेका वाक्	१६४ १४७ १४५ १४५ १६४ १६४ १४६ १४६ १४६ १८४	श्रीभारतं सम्प्रवदामि शस्त- श्रीमङ्गलावत्यभिधप्रदेश- श्रीमतो वर्धमानस्य श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भु ज- प्रत्येः श्रीविश्वनन्द्यार्थमवेत्य श्रीविश्वनन्द्यार्थमवेत्य श्रीविश्वनन्द्यार्थमवेत्य श्रीविश्वनन्द्यार्थमवेत्य श्रीविश्वनन्द्यार्थमवेत्य श्रीविश्वनन्द्यार्थमवेत्य श्रीविश्वनन्द्यार्थमवेत्य श्रीवीरदेवेन तमामवादि श्रीवीरादासहस्राव्दी- श्री सिन्धुगङ्गान्तरतः स्थितेन श्रुताधिगम्यं प्रतिपद्य वस्तु श्रुती सुशास्त्रश्रवणात्युनीते श्रुतं विगाल्याम्यु इवाधिकुर्या- श्रेणी समन्ताद्विलसत्यलीनां श्रीष्ठिनोऽत्यर्दद्वासस्य श्लोकन्तु लोकोपकृतौ विधातु श्वश्च रूषा लुव्धकतावलेन श्रोत्रवद्विरलो लोके	२१६
श्रीगेन्दुकेळी विभवन्ति तासां श्रीगोवरप्रामिवसूपयुक्त- श्रीजनपदप्रसादादवनौ श्रीताळवृन्तभ्रमणं यदायुः	₹8 ₹8 ₹8 ₹4 ₹	स त्राह भो भन्य पुरुरवाङ्ग- सप्रस्थिकन्थाविवरात्तमारुते- सगरं नगरं त्यक्त्वा	8x= 888 888

#### (880)

स चात्मनोऽभीष्टमनिष्ट-	385	समन्त
सचेतन।चेतनभेदभिन्नं	28%	समभ
सञ्ज्ञानै कविलोचन	33	समव
सतामहो सा सहजेन शुद्धिः	Z	समस्व
सताऽर्हताऽभ्येत्य विधेर्विधानं	83	समि
सत्यसन्देशसंज्ञप्यै	२०६	समि
सरवानुकूलं मतमासमनीनं	385	समि
सत्त्रेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं	525	समस
सत्त्वेषु सन्निगद्ता करुणा-	388	समि
सद्नेकसुलक्षणान्विति-	900	समा
सद्।ऽऽत्मनश्चिन्तनमेव वस्तु	387	समा
सदुक्तये दातुमिवायनं सा	28	समी
सदंकुराणां समुपायने नुः	O	समी
सद्भिः परैरातुलितं स्वभावं	300	समुः
सद्योऽपि वशमायान्ति	१३४	समुर्ग
सनाभयस्ते त्रय एव यज्ञा-	30%	समुद
सन्तः सदा समा भान्ति	340	समुद
सन्तापितः संस्तपनस्य पादैः	8=8	समुल
सन्ति स्वभावात्परतो न भावा	839-	सम्प
सन्धूपधूमोत्थितवारिदानां	3,0	和主
सन्मार्जिता प्रोव्छनकेन तस्या	: पर	सम्म
सप्तच्छदाऽऽम्रोरुकचम्पकोप-	200	सम्ब
सप्तद्वयोदारकुळङ्कराणां	१६६	सम्बु
सप्तप्रकारत्वभुशन्ति भोक्तः	839	सक्ति
स सङ्गलद्रव्यगणं द्धानः	339	समा
समक्षतो वा जगदम्बिकाया-	84	समा
समन्ततो जीवचितेऽत्र लोके	288	सम

ततोऽस्मिन् सुमनस्त्व- १०२ यवाञ्छ यसेन 993 वशरणमेतन्नामतो 250 तसस्वैकहितप्रकारि 904 स्त नित्यं रेत भोगीन्द्रनिवास एष- २६ स्त वस्तुत्वमकाटचमेत- ३.६ तविद्यं कविभूतिपाता २७४ स्ति यष्टव्यमजैरमुच्य ानायुष्कदेवीघ-श्रिता मानवताऽस्तु तेन २४४ क्ष्य नानाप्रकृतीत्मनुष्यान् २८२ हिमानः स्वयमेष पायसं १४० **च्छलच्छीतलशीकरा**ङ्के 83 त्थित: स्तेहरुडादिदोष: 393 न्नतात्मा गजराजवत्त्रथा 50 दाराकुचाछ्चितां हितां 280 ल्लसत्पीनपयोधरा 23 गछवत्वेन हितं जनानां 23 मानयत्यस्यसतस्तु वर्ति 223 मानयामास स यज्ञसूत्र र्द्राड बोधयामास स चेति REE वृद्धिमन्वेति पराङ्गनासु 353 वद्धि सिद्धि प्रमुणामितस्तु । न ागमः क्षत्रियविष्रबुद्धयो ाययः किन्तु य एव देवा ।।सजन् स्नातकतां स वीरः१६३

## ( 888 )

	( 888	1	
A. Carata	2019	स्वर्ग गतोऽप्येत्य प्रनिर्देजत्व	880
सीरभावगतिस्तस्य सावयर्थमुद्रीक्य च धेर्यमस्य	35	स्ववाञ्छितं सिध्यति येन	380
संगाछिते वारिणि जीवनन्तु	30%	स्यस्वान्तेन्द्रियनिमहैकविभवो	200
संरक्षितुं प्राणभृतां महीं स	588	स्वस्थितं नाजनं येचि-	888
संविदन्निप संसारी	888	स्वाकृतस्योत्तरं सर्व-	994
स्तम्भा इतः सम्प्रति खातिका	725	स्वामी द्यानन्द्रवस्तदीय-	250
स्तनं पियन वा तनुजोऽ-	288	स्त्रायोच्च्युतिः स्त्रस्य विनाज्ञ	- 344
स्यानं श्रीपुरुषाख्येन	२३३	स्वीयां पिपासां शसयेत्परा-	830
स्ताता इवाभुः ककुभः प्रसन्नाः	284	[8]	
स्तानाऽऽचमादित्रिधिमभ्युप-	338	हन्तास्मि रे त्वामिति भाव-	200
स्तेहस्थितिदीपकवज्जनेषु	33	हरियवबरिसः पुत्री	324
स्फटिकाभकपोले विभो-	220	हरये समदाज्जिनं यथा	283
स्कृटमार्तवसम्बिधानतः	XX	हरिषेणरचितबृहद। ख्याने	२६६
स्कृरत्ययोजातमुखी समन्ताः	३२६	हरे: प्रिया सा चपलस्वभाव	T 88
स्मरः शरद्यस्ति जनेषु कोपी	325	हारायतेऽयोत्तमवृत्तमुक्ता-	88
स्यारसापरागस्य हृदीह् शुद्धःय	700	हिमारिणा विम्रहमभ्युपेतः	880
स्यृतिः पराभूतिरिव भ्रवस्वं	235	हिमालयोल्लासिगुणः स ए	व २०
स्वचेष्टितं स्वयं भुंक्ते	१४६	हिंसायाः समुपेत्य शासनित	
स्वतो हि संजुम्भितजात-	१७५	हिंसां स दूषयति हिन्दुरियं	334
स्वप्ने ऽपि यस्य न करोति	939	ह्रपीकाणि समस्तानि	१३२
स्वमात्रामतिक्रम्य-	285	हे गौतमान्तस्तव कीहगेष	288
स्वमुत्तमं सम्प्रति मन्यमानो	243	हे तात जानूचितलम्बबाहो	83
स्वयं शरच्चामरपुष्पिणीयं	330	हेतुर्नरद्वारि समागमाय	30
		9	२६६
स्वराज्यप्राप्तये श्रीमान्	१७६	हेनाथ केनाथ कुतार्थिनस्तु	837
स्वरोटिकां मोटयितुं हि शिक्ष		हे पितोऽयमितोऽस्माकं	ROX
स्वर्गप्रयाणक्षण एव पुत्र-	505	हे साधवस्तावद्बाधवस्तु	285
स्वर्गादिहायातवतो जिनस्य	६७	इंसस्तु शुक्तोऽसृगमुख्य	100

1	1433.50	
(	883	
N	004	

# : कतिपय क्लिष्ट शब्दों का अर्थ :

#### W

হাত্ব	श्चर्थ	ās	হাত্ত্	श्चर्य	gg
खक	दु:ख	385	अध्वतीन	पथिक	-
अकाण	चलुष्मान्	२६३	अनक	दोष-रहित	25
अक्ष	इन्द्रिय	(२४०	अनङ्ग	काम	२४६ ६३
		(३२१	अनच्छ	मलिन	44 45%
अग	पर्वत,वृक्ष	380	अनन्त	शेषनाग	२६
अगद	झौषधि	32	अनभ्राज्	मेघराज	200
স্বর	गोद,चिह्न	१२१	त्रनिश	निरन्तर	
अङ्गसार	शरीरवल	3		intent	{ 787 789
<b>अ</b> ङ्गारिका	<b>अं</b> गीठी	488	अनीक	सेना	388
ষ্প্ৰভি ্ল	चर्ण	३६	श्रनुपभ	उत्तम	22
अचित्	जड़	३०८	अनुमा	श्रनुमान	398
श्रवित्त	जीव-रहित	३४२	अनूचान	ब्रह्मचारी	१३४
श्रज	वकरा	236	श्रनोकह	वृक्ष	37
अजस्र	निरन्तर	35	<b>ब्रान्यपु</b> ष्ट	कोकिल	3.8
अगु	परमागु	३०५	अन्वय	वंश	230
अदन	भक्षण	3=8	अप	जल	३०२
श्रदिति	देव-माता	وع	अपराग	विरक्त	55
अदिशासिन्	देव	880	अपर्तु	निष्प्रभ	XE
अप्रशासन् अधीत	I State of the last	42	अपाङ्ग	कराक्ष	३२
	श्रध्ययन		স্থান	कमल, चन	82
अध्यक्ष	प्रत्यक्ष	३२०		सूर्य	२२
अध्वग	यात्री	308	श्रद्भप	.04	

### (888) अर्थ व्रहरू शब्द अर्थ হাত্ত व्य कमलिनी 220 अवश्याय अविजनी हिम 840 दक्षिणदिशा अवाची अव्धित्क 803 चन्द्र अविनाभावी ३१६ श्रभिजात अंष्ट 3 अविनाभू अभिधा अवीर एकरंग, गुलाल ३ नाम अभ्यस्या ईच्या 254 अश्न भोजन अभ्रं लिह आकाशव्यापी ३७ अस प्राण 288 03 असुभृत् प्राणी अमत्र 800 पात्र २०३ त्रमृज रक्त 130 अमन्द तेज 330 अस्तिकाय बहुप्रदेशी द्रव्य ६२ अमीर धनवान् 3 **अहस्कर** सूय 283 अमृताशन देव १७२ अहिपति सपराज 83 अम्बर ३२४ সাকাহা अहीन शेषनाग 348 अम्ब्रह कमल 338 **अं**शिकन् विचारशील 58 अयुत हजार 88 आगार गृह 380 अयुति वियोग 88 F, 293, आख् चूहा अयन स्थान, मार्ग 58 २६२ अर शीघ 53 338 श्राचमन जलपान अरम शीव 939 १६६ आण नाम अर्क सूर्य 285 द्यातपत्र 203 छत्र आत पीडा 30 252 आतोद्य वाजा ?3= आत्माका हितर१७ आत्मनीन अर्यमन् सूर्य 25 दूर, सपीप 232 आरात् अछि भ्रमर 803 क्यारी 8=8 ग्रालबाल अवट 85 कुप,खड़ा 888 सखी आली 88 अवनिपाल शीवकर्ता राजा 35 आशुकारिन्

		( 88	x )		
হাত্র	अर्थ	ges.	হাহৰ	श्रर्थ	55
बागुग	वाण, वायु । ४०	988 , 60	उर्वी	पृथ्वी -	20 202
जास्य	मुख {	१३६	<b>उल्</b> क	उल्लू	328
इङ्गित	चेष्टा	68	<b>उल्का</b>	विजली	२२६
इङ्गिनी इङ्गिनी	चेद्यावाली	३३२	उज्ञीर	खस	8=3
इ।ज्ञ <sup>.स</sup> । इन	स्वामी, सूर्य	१०३	उ.ह	तर्क रे	२,३२६
इंद	समृद्ध	308	एण	1	285
इन्दिरा	लक्ष्मी	883	एनस्	मृग	३२८
इन्दु	चन्द्र	३२७	श्रोकस्	स्थान	३४०
इला	भूमि	२२=			
इंडिट	यज्ञ	308	त्र्योतुक -	बिछाव	293
<b>ई</b> रण	प्रेरणा	888	क	जल	394
ईशायिता	ईसाईपन	२६६	ककुभ्	दिशा	1 964
उच्चय	समृह	१४४	ककुल्य	सुखी	१६४
उच्छिट	जूठा	204	कङ्कोडुक	नहीं सीझने	गलार६३
उड्डबर उडु	उड्डन् नक्षत्र	48	कच	केश	१३०
उत्सङ्ग	गोद	१२४			228
उत्से क	गर्व	277	कअ	कमल	
उदक	जल	३२४	कवरी	केश-कल	। इर
उदीची	<b>उत्तर</b> दिशा	<b>२</b> 5	करक	ओला	388
उपायन	भेंट, नजरा			विदारी	380
उरग	सर्प	880	करएडक	2	138
उक्	जंघा	73	करंत्र (कल	3)	

### (884) হাত্ত अर्थ SB अर्थ BB হাতব্ कली 308 कुङ् मछ हाथी करिन् 53 कर्क एक राशि 二义 भाले वाला कुन्तिन् 230 कॅकड़ा ११२ कर्कट उत्तर दिशा कुवेरकाष्टा 33 कर्णेजप चुगलखोर बालब्रह्मचारी १३४ कुमारश्रमण २४२ केंची कर्तरी श्वेत कमल ३२७ कुमुद १०३ कोयल कलकृत मृग 22 कुरङ्ग ६१ भान्य कलम मुस्लिम-प्रनथ २६६ कुरान चन्द्र 838 कलाधर कुम्हार 85 कुलाल 80 कलापिन् मोर ११२, ४७ मोती X किछ कलिकाल कुवल 350 880 कवरस्थली कत्रिस्तान चारण,भाट,ऊंट १४४ कुशीलव 838 कवल ग्रास ६२ कुशेशय कमल १०२ चाबुक कशा 838 पुच्प कुसुम प्रश्न 288 काकु कोहरा 8=8 कुहर कापर्दक कौड़ी 83 28 कृत्ति शस्त्र, छुरी काकारिलोक 8 उल्लू 283 तलवार कुपाण 225 कासार तालाव छुरी १६ कुपाणी 1 3=3 १८६ अग्नि किङ्किणिका 30 कुपीट **जुद्रघंटिका** 80 कुष्णवर्त्मन् अमि किङ्किणी 803 57 २०५ मोर किरि केकिन 839 सूकर १३७ ध्वज कीशकुलोद्भव वानर 88% केल 50 सिंह 290 केशरिन् कुच स्तन २६५ चकवा नीच जाति, कोक कुजाति 828 भूमिज वृक्ष खोखल कोटर

	193	( 88	(a)		
হাব্	अर्थ	ã8	হাতব্	अर्थ	25
कोष	खजाना	38	चकवाकी	चकवी	
कौतुक	पुष्प, तमाशा {	93	चक्रिशक	भ्रमर {	38 800,
कौमुद	कुमुद-समूह	1 23,	चन्द्राश्म चीर	चन्द्रकान्त वस्त्र	३२६ ३४
कौशल	चातुर्य	と云	चेतस्	चित्त	१४०
क्रम	श्रम	80	चैत्यद्रुम	मृतिंयुक्त-वृष्ट्	२४२ १ २००
क्लेद	गलन, सड़न		छगल	वकरा	780
न्नेम	कल्याण, प्राप्त वस्तु रक्षण	1-208	छाग	वकरा	{ 28,
खट्टिक	खटींक	388	जडज	(जलज)का	मल १३
खद्योत	जुगन्	58	जनी	स्त्री	03
खर्ब	नाश	87	जनुष्	जन्म	१४३
खल	दुष्ट	U	जम्पती	स्त्री-पुरुष	399
खातिका	खाई	२म	जलद	मेघ	388
गन्धकुटी	समवसरण	२०२	जलौकस्	जलचर	२४७
गन्धवाह गर	वायु विष	१४५	जव	वेग	{ 222,
गवाक्ष	झरोखा स्वभाव, डोरी	३२	जवञ्जव	संसार	{ % \
गुण		१ ३४	जातिस्मृति	पूर्व जन्म-	
गोपुर	नगर-द्वार	१११३	जायु	ऋौषधि	२१=
घनसार	कपूर	83	जोष	मौन	{ RXX
घुक घूर्ण	उल्लू घूमना, कांपर	न २६ <del>५</del> ना २१७	झब्झा	श्रांघी	<b>8 x</b> 8

		( 885	( )		
		4 44	*		
इंग्डब्	श्चर्य	ãã.	হাত্র	अर्थ	88
झलंझला	झब्झावायु	१४६	दन्तच्छद	त्रोष्ट	39
2020	11	9इ,१३२	दन्तिन्	हाथी	७२
झप	मच्छ {	885	दरी	गुका	8=8
डम्बर	श्राहम्बर	382	दल	पत्र	582
<b>डि</b> म्भ	बालक	8=8	दस्यु	चोर	१६०
		1 24,	दाम	माला	७इ
तटाक	तालाब	७६	दार	स्त्री	३३७
तनय	पुत्र	१७०	दिनप	सूर्य	95
तनुजा	पुत्री	४३	दिनेश	सूर्य	७इ
त्रति	समूह	398	दिव्	आकाश	३२४
तमस्	श्चन्धकार	28%	दिशा	दिशा	25
तरणि	सूर्य	280	दुकूल	वस्त्र	44
ताति	पृत्य पंक्ति	323	दुरन्त	श्रमीम	२४७
		3 ? 3	दुर्दिन	मेघ-युक्त-ि	दंन ४६
ताक्ष्य	गरुड		दुरित	पाप	<b>REX</b>
ताक्ष्यंकेतु	गरुड्ध्वज	१७१	द्य	उद्धत	308
तिमिर	अन्धकार	88	हश	नेत्र	33
तुक्	पुत्र	{ ? ? X ,	द्रेक्षणयन्त्र	दूरबीन	३१६
			दोर्बली	बाहुबलि	२६७
तुरुष्क	यवन	284	दोःशक्ति	बाहुबलि	934
तूर्ण	शीब	305	વાના હ	418 410	134.
नूल	रुई, विस्तार	1 828,	दोषाकर	चन्द्र	1 85
200		1 282	दंशन	काटना	820
त्रिदिव्	स्बर्ग	28			18081
त्रिविष्टप	स्बर्ग	१०	द्रविण	धन	1 888
त्रेता	वीसरा युग	र २५६	द्रह	सरोवर	48

		( 881	٤)		
ज्ञाब्द	अर्थ	ás	शब्द	अ '	
हुय	दो	38	नाद	হাহৰ্	
द्राक्षा	दाख	8	निक्रन्तिन्	कारने वालः	३०
द्वापर	दूसरे युगका		निगड़	3-2-	(00
द्विज	पक्षी	888	निगल	गला	88
द्विजिह	सर्प, तिन्द		नितिक्वनी		२३२
द्विरद	हाथी	५१	निपात	पतन	244
गु सद्	देवता	880	निमेषभाव	पलक गिराना	3
वरा	पृथ्वी	X38	निम्नगा	नदी	28
वरासुर	त्राह्मण	२१०	निरम्बर	वस्त्र-रहित	883
	पति	1888	निरेनस्	पाप-रहित	338
व	410	1 २७२	निर्घू ण	निर्दय	
बुरन्धर	भार-धारव	न बैल७२	निर्निमेष	पळक-रहित	११६
यूम के यूम के	पुच्छलतार	1.अग्निहर	निर्भीषण	विभीषण	
44 m	गौ	24	निर्मोक	कां चली	२६१
वेतु -	ध्यान	२७६	निव <sup>°</sup> ति		१८८
ध्याति				मुक्ति	२३१
<b>गुव</b>	निश्चित, नि		निलय	निवास	588
वान्त	अत्धकार	568	निवह	समृह	30
नक	मगर	1 888,	निशा	रात्रि	33,
ten	11000	1 383			1 88
नमुचि	एक राक्षर	03 F	निशाचर	राक्षस,	{ २२१, २८३
तमोह	मोह-रहित		Pikii 40	रात्रि भोजी	र २५३
नळाश्य	जलाश्य	328	निष्क	बहुमूल्य	328
नवोडा	नवविवाहि	-	निष्ठा	श्रद्धा	783
नवाडा	चनाननाह		निस्तुल	अनुपम	१७४
नाक	स्वर्ग	े २६,	नि:स्व	निर्धन	888

		( 8%	2 )		
হাতব্	ऋर्थ	ää	হাবৰ্	अर्थ	ā8
नि:सङ्गता	अपरिग्रहता	250	पल्लव	किश्लय	१२४
नीर	<b>ज</b> ਲ	880	पाणि	हाथ	488
नीरद	मेघ	६२	पाथेय	सार्ग का भोजन	7 95
नूरन	नवीन	308	पाथोज	कमल	00
नूपुर	पायजेब, विछु	ड़ी=३	पाद	किरण, चरण	828
नेक	भद्र	3	पादप	बुक्ष	३४६
पञ्चानन	सिंह	२६२ ३३४	पामर	{ दीन, नीच, किसान	२६४
9Z	वस्त्र		पायस	खीर	880
पतङ्ग	पतंग,चंग 🚽	388	पिक	कोयल	33
पत्तन	नगर	888	पिच्छिल	कीचड़ वाल	378
पयोदमाला	सेघपंक्ति	EX	पित्सत्	शिशुपक्षी	Rox
पयोमुच्	मेघ	२२६	पीयूष	श्रमृत	3
पराग	पुष्पराग	203	पुरु	ऋषभदेव	२८६
पराभूति	तिरस्कार	339	पुलोमजा	इन्द्राणी	858
	प्रसाधनः	050	पु स्कोकिल	नर कोयल	23
परिकर्म	समारंभ	848	पूत	पवित्र	७४
(	अविशद और		पूतना	एक राक्षसी	359
परोक्षज्ञान	इन्द्रिय-जनित	358	पूषन्	सूर्य	838
(	ज्ञान		पृथ्वीसुत	मङ्गल, वृक्ष	203
पर्यट	घूमने वाला	२२८		सर्प	33
पर्वत	पहाड़	388	पूदाकु	गुप्त, छिपा हु	आ३१४
	215	1803	সহতল	वृद्धा	888
पढाश	ढाक	रे रम३	प्रजरित	प्रेम	२४६
पल	क्षण, मांस	58=	प्रणय		७३
पछित	वृद्धताकी सफे	दी१३६	प्रतति	विस्तार	

		( 886	)		1
হাত্ত	અર્થ	ãa	शब्द	त्रर्थ	ā8
प्रतिरूपक प्रतीची	प्रतिविस्व पश्चिमदिशा (विशद श्रौर	२२	भगण भसद भाभिनी	नक्षत्र-समृह भयंकर	२७ १४२
प्रत्यक्ष ज्ञान	्रे साक्षात्कारी   ज्ञान	३२१	भावन भाववन्ध	भवनवासी देव निदान	
प्रत्यभिज्ञा	प्रत्यभिज्ञान प्याऊ	३०१	भाल	ललाट	१७०
प्रया प्रमद्	स्त्री	१३२	भास्वत् भुजङ्ग	सूर्य सर्प	२६५
सवङ्ग प्रवित्	व।नर ज्ञानी	१६४	भूमिरुह भेक	वृक्ष संदक	श्मर इड्र
प्रसत्ति प्रसव	प्रसन्नता मखरी	33	भोगभुक्	{ भोगी, सर्प- भक्षी मयूर	
प्रसृत	पुष्प पूर्व दिशा	्ठ इइ	मघवन् मञ्जूल	इन्द्र	२०६
प्राची प्रावरण	आच्छादन,कोट	785	मंजुळापिन्	सुन्दर मधुरभाषी	१३६
प्रावृष् प्रासाद	वर्षा ऋतु महल	६० ३४	मग्ड मग्डल	मांड, कृत्य कुत्ता	२४६
प्रास्कायिक	श्रंग-निरीक्षव ऐक्सरे	३१४	मतल्ल मधु	प्रख्यात वसन्त, शह	१६३
प्रोच्छनक	अंगोछा ्	=	मनाक्	थोड़ा, अल	न २४७
प्रोथ फिरङ्गी	नितम्ब प्रदेश स्रंभेज	२६१	मन्दार	वृक्ष विशेष आकड़ा	100
बलाहक वास्त्रल	मेघ सरस्य सन	२०५	मयूख मराळ	किरण हंस	१८४ ३२७
वाम्यूल बाहु-बन्ध	बबूल वृत्त भुज बन्ध	<b>5</b> 3	मर्जू	कृपा	340
वोध	ज्ञान	75	मर्त्य	मानव	444

		( 8%	२ )		
	छर्थ	ăs	शब्द	ऋर्थ	23
महिष	भेंस।	88	रध्या	गली	3=8
महिषी	रानी या भैंस	२३४	रद	दांन	58
माकन्द	आम का वृक्ष	35	रय	वेग	1 =3
भितंपच	<b>कु</b> पण	308	***	3.3	ो ३२३
भित्र	सुहत्	3.8	रस	जलस्वाद्।	1 90,99
मित्र	सूर्य	828		पारद आदि	) ६६
मिलिन्द	भ्रमर	३३७	रसज्ञ	रस ज्ञाता	28
मीन	मछली	68	रसा	पृथ्वी, जिह्न	1 985
मुकुर	द्र्पण	320		4 2	1. 154
मृड	शिव	४६		श्वर वैद्य, वर्षा	काल ४
मृणाल	कमल-द्रह	308	रसाल	श्राम	7
मृत्त्व	प्रातिपदिकस	<b>ां</b> ज्ञा४१	रुष	क्रोध	383
मेथा	बुद्धि	३०२	रोचिष्	कान्ति	Ę
मेवा	मेवा, सूखे प	तल १	रोटिका	रोटी	१३१
मौका	ग्रवसर	२८१	रोलम्ब	श्रमर	३२
मोढच	छात्र, शिष्य		रोष	क्रोध	२४.
मोहूर्तिक	ज्योतिषी	१०इ	रौरव	एक नरक	30
<sub>यामिनी</sub>	रात्रि	840	<del>खास्</del> य	नृत्य	5
	संयोग	६६	लोचन	नेत्र	2
युति	श्रप्राप्त की प्रा		वक्षोज	स्तन	3
योग		37	वठर	मूर्ख	23
रङ	द्रिद्र	838	वणिक्पथ	बाजार	२
रजस्वला	ऋतुमती		वतंस	भूषण	24
रणन	शब्द	२२४	144	(अच्छा बो	
रत्नाकर	समुद्र	355	वद्तांवर	वाला आ	चार्य१७
रथाङ्गिन्	चकवा	1 200	44/1146	) श्रेष्ठ	

		( 8%	<b>(</b> )		
ज्ञाहर	ऋर्थ	विष्ठ	शब्द	ऋर्थ	ga ga
FL	उदार }	=2	वारिमुच	मेघ	25
वदान्य		278	वारिवाह	मेघ	22=
वधूटी	स्त्री	800	वार्द	मेघ	302
वन्ध्या	बांझ	१२३	वादेल	मेघ	6.3
वपर	बोने वाला	280	वाविल	ईसाई धर्मप्रन	थ २६६
वप्र		,200,	बाहुज	क्षत्रिय	२२२
	( 10	,38,3	वासर	दिन	3
विम	वसन	388	वाहद्विषन्	भैंसा	१८२
वयस्या	सखी	72	वाहिनी	सेना	Ę¥.
वरण	परकोटा	{ <del>3</del> 5	विचित्	∫ अचित्तः जीव-रहित	
वर्त्मन्	मार्ग -	1880	विटप	वक्ष	१०३
		1 338	विड्	वैश्य	283
वर्व	धूर्त	87	वित्ति	ज्ञान	33
वलभी	श्रटारी	१=१			१४३
वलय	कङ्गण	३३८	विधु	चन्द्र	38,385
वल्ली	<b>ल</b> ता	१२४	विपणि	बाजार	38%
वसन	वस्त्र	३३४	विभावसु	अग्नि	88=
वसु	धन	२२५	विश्	वैश्य	२७३
वाचना	पढ़ना	280		सरस्वती	६१
वाडव	समुद्र की अ	मि३०२	विशारदा		328
वातवसनता	दिगम्बरता	२०६	विशांपति	राजा	32%
वान	व्यन्तरदेव	200	विष	जल	80
	10000	( २५	वीजन	पंखा	878
वारण	हाथी	१२३	वीनता	गरुडता	1 80
वारिद	मेघ	२२४	वृत्त	चरित्र	र १६8

		( 8%;	8 )		
शब्द	ऋर्थ	ges.	शब्द	व्यर्थ पूर	3
वृष	बैल, धर्म	{ 205	शशधर	चन्द्र	¥3
	61	७२	शात	सुख	25
वृषभ	बैल		शान	गौरव, प्रतिष्ठा	२४७
बुषल	श्रद	२५७ स २६७	शाप	दुष्कृत्य,वद्दुश्रा	
वेरदल	वेरी का पत्त	१६३	शिखावल	मोर	8=8
वेला	तट		शिवद्विष्	शिव-श्त्रु काम	18=7
वैनतेय	गरुड	१६२	शिश्न	पुरुषलिङ्ग	18
वैश्वानर	अग्नि	१८०	शीकर	जलकण	६३
व्योमन्	त्राकाश	1 80	शुनी	कुतिया	२६३
		1 888	शुल्क	कर, मूल्य	58
शकट	गाडी	७२	शूलिन्	शिव	80
श्कुनि	पक्षी	२२६	शेष	सर्पराज	२६
श्कुनी	शकुन-शास्त्र	।-वेत्ता ,,	शोणित	रक्त	१३८
शकुन्त	पक्षी	२७=	रमश्रू	दाढ़ी मूंछ	84
शक	इन्द्र	50	श्रवस्	कान	233
शची	इन्द्राणी	1 883	श्लक्ष्ण	चिकना	¥:
20.00		P. P. C.	रवभ्र	नरक	288
शस्पा	बिजली (	६०, ३०	रवश्रू	सास	83
		३२६	श्रोणि	जघन	8
श्य	हाथ	200	षट्पदी	भ्रमरी	X
शयान	सोता हुआ		-	/ज्योतिष के	2
शर	बाण	(१०६	षड्वर्गक	(६ वर्ग	
शरधि	तरकस,तू		सकाश	समीप	38
शर्मन्	सुख सलाई, श्र	380	सचित्त	सजीव	(38

		( 87	(* )		
शब्द	ऋर्थ	ás	शब्द	ষ্ঠ্য ,	25
सटा	केशर	888	सुचित्		3.4
सदारता	सस्त्रीकता	358	सुदामन्	सुहदय, विद्वार उत्तममाळा-घारव	र्१२
	घर	(887	सुघा	अमृत ह	१७४
सद्मन्		(880	सुधाकर	चन्द्र	, १३
सत्तम	श्रेष्ठ	55	सुधांशु	100000	३२४
सत्र	अन्ननेत्र,सदा		सुनाशीर	इन्द्र	2,80
सत्रा	साथ	२२३	सुभास	गिद्ध पक्षी	२६
सत्वर	शीव	378		and the last	
सधर्मिणी	स्त्री	२३४	सुपर्वन्	देव (3	9,88=
	(सप्तपर्ण, सा	त ३२६	सुपर्वभू	स्वर्ग	.137.12
सप्तच्छद	(पत्ते वाला वृ	হা	सुपीठ		२७१
समक्ष	प्रत्यक्ष	87	3,110	सुन्दर आर	
समिद्धि	प्रकाशमान	२७६	सुम	पुष्प	( 808
समीर	वायु	20%		32.00	1308
समीरण	वायु	285	सुमाशय	वसन्त	808
	नदी	28	सुरप	इन्द्र	388
सरित्	अभिषेक	388	सुराद्रि	सुमेरु	36
सव			सुरीण	क्षीण	===
सवितृ	सूर्य	१८४	सूची	सुई	२४२
सहकार	श्राम	800	सूपकार	रसोईदार	
सहस्रदिम	सूर्य	३७	सेतु	पुल	208
साकम्	साथ	१६७	सोम	चन्द्र	320
सान्द्र	घना	245	CITY		
सायम्	सन्ध्या काल	3	The Com-	(सूंघकर व	नूम-
सित	गुक	३२४	सौगन्धिक		का ३१४
सिन्धु			-9-	(जानने वा	
	समुद्र	६१	सोध	महल	885
सुकन्द्त्व	सुव्याप्त	६७	संगर	युद्ध, वाद	२८

## ( 848 )

शब्द	ऋर्थ	ăā	शब्द	अर्थ	ās
संविधा	समृह	Ę	स्यूति	उत्पत्ति	339
संसद्	सभा	२२४	स्राक्	शीघ	१३६
	(अनेक परमा		स्रुति	टपकना	२८६
स्कन्ध	रे गुत्रों का	३०५	स्रोतस्	सोता, झरना	१८७
	( समूह	१०४	स्वान्तस्	चित्त	२४०
स्तबक	गुच्छा		स्वेद	पसीना	2=2
स्तेयिन्	चोर	६४	हरि	सिंह	१७१
स्तोम	समूह	2			
स्मय	<b>ऋ</b> ।श्चर्य	२०४	हिविष्टर	सिंहासन	880
रमञ	2017.1	33 \	हिमारि	सूर्य	180
स्मर	काम	(३२८	हुषीक	इन्द्रिय	१३२



### (880) गणधर नाम-मुची तीर्थङ्कर नाम-सूची परिचय नाम नाम परिचय द्वितीय तीर्थं दूर २८६ अकस्पित अजित अष्टम गणधर 388 अग्निभृति प्रथम तीर्थक्रर १७१ द्वितीय आदीश अचल ऋषभ आर्यव्यक्त चतुर्थ इन्द्रभूतिगौतम प्रथम वृषभ अष्टम तीर्थङ्कर प्रभास ग्यारहवें चन्द्रप्रभ मिएडक षष्ठ तेईसवें " पार्श्व प्रभु मेतार्य दशम चौबीसवें " वीर मौर्य पुत्र सप्तम १२४ श्री वर्धमान वायुभूति तृतीय सुधर्म 385 पंचम सन्मति आचार्य नाम-सूची परिचय नाम प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य अकलङ्कदेव प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य देवर्द्धिगणी गोम्मटसार-कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्ती दक्षिण के एक आचार्य पद्मनिन्द सिद्धान्ती जैनेन्द्र व्याकरण-कर्ता पूज्य पाद प्रभाचन्द्र प्रमेय कमल मार्तएड-कर्ता अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु शुभचन्द्र दक्षिण के एक आचार्य श्रतसागर एक पूर्व कालीन आचार्य समन्तभद्र न्याय के प्रस्थापक स्तुतिकार स्यूलभद्र श्वेताम्बर-मत-प्रस्थापक

### (842) ग्रन्थ-नाम-सूची रचयिता यन्थ-नाम ás श्राप्तमीमांसा समन्तभद्र 50 श्राराधना (भगवती) शिवार्य 245 पात जल महाभाष्य पतञ्जलि 339 प्रद्युन्न चरित महासेन २६३ मीमांसा-ऋोकवार्तिक कुमारिल 339 वृहत्कथा कोष हरिषेण २६४ विद्वज्जन-नाम-सूची मुनि ज्ञान सागरजी के विद्यागुरु ( ब्र० ) ज्ञानानन्द 3 (पं०) दरबारीलाल सत्य समाज के संस्थापक 285 आर्य समाज के संस्थापक (स्वामी) द्यानन्द 039 व्यास ऋषि वेद-संकलियता 375 ( ब्र० ) शीतलप्रसाद विधवा विवाह के पोषक ब्रह्मचारी १४३ वंश नाम-सूची इक्ष्वाकु वंश परमार वंश २३६ २३६ चौहान वंश सूर्य वंश २३१

\*\* × \*\*

## (888)

# विशिष्ट व्यक्ति-नाम-सूची

नाम	परिचय	ā8
श्चचल देव	मंत्री चन्द्रमौिळ की स्त्री	२३४
अपि र	राजा नागदेव की स्त्री	२३४
अभया	राजा दार्फवाहन की स्त्री	२३२
अभिनन्दन	छत्रपुरी के राजा	Sax
श्रमरसिंह	राणौली के राजा	888
श्रहंदास	मधुरा के एक सेठ	२३१
अश्वग्रीव	प्रथम प्रतिनारायण	१७०
उद्दायन	वीतभयपुर का राजा	२३०
कदम्बराज	एक कदम्ब वंशी नरेश	२३४
कदाव्छी	राजा मरु वर्मा की रानी	२३३
कनकमाला	राजा कनक की रानी	१७२
काडुवेदी	पल्लव देश का राजा	२३४
कार्त्तिकेय	एक प्रसिद्ध आचार्य	२४८
कीर्त्तिदेव	एक कदम्ब वंशी राजा	२३४
कीर्त्तिपाछ	एक चौहान वंशी नरेश	२३६
कुष्ण	नवम नारायण	245
खारवेळ	कलिंग-नरेश	२३२
गङ्गराज	एक प्रसिद्ध सेनापति	२३६
गङ्ग हेमारिह गौतम	दक्षिण देश का एक नरेश	२३४
घुतवरी देवी	प्रथम गणधर	278
चट्टला	कवि की माता	80
चतुर्भं ज श्रेष्ठी	काडुवेदी की राजी	-
তও ল প্রস্তা	कवि के पिता	२३३
		80

### ( 840 ) परिचय नाम Bes चन्द्रगुप्त मौर्य एक प्रसिद्ध नरेश 233 राजा वीरवल्लाल के मन्त्री चन्द्रमौिछ 23% एक प्रसिद्ध जैन सेनापति चामुग्डराज 238 कोटि वर्ष देश का स्वामी चिलाति 230 वैशाली का एक नरेश 230 चेटक अन्तिम केवली 238 जम्बू कुमार राजा विष्णुचन्द्र की भावज २३६ जयकणि आठवें गणधर अकंपित की माता 288 जयन्ती २६७ जरत्कुमार एक यदुवंशी राजकुमार नवम प्रतिनारायण २६७ जरासन्ध राजा नागार्जुन की स्त्री जाकियव्ये 238 238 जीवन्धर स्वामी जीवक विश्वनन्दी की माता १६८ जेनी 322 तथागत 200 त्रिपुष्ठ प्रथम नारायण दसवें गणधर मेतार्थ के पिता 288 दत्त विप्र 399 एक चम्पा नरेश दधिवाहन २३१ एक सूर्य वंशी नरेश दशस्थ २६१ रावण ( अष्टम पतिनारायण ) दश्गस्य २३२ एक दक्षिणी नरेश दार्भवाहन २६४ कृष्ण की माता देवकी 388 अकंपित गणवर के पिता देव प्रिय २६७

बाहुबली

छठे गणधर मंहित के पिता

चौथे गणधर आर्य व्यक्त के पिता

280

280

दोर्बलि

धनदेव

धनमित्र

(843		
1 641	135 h	
	041	

नाम	परिचय	
वाम धनवती धम्मिल्ल द्विज धरावंशराज नन्द कुमार नन्दादेवी नागार्जु न नाभिराज निर्भीषण नीलंयशा पद्मावती परंलूर पल्लवराज पाराशरिका पुरूरवा पुरुषराज पृथिवी देवी प्रजापति	परिचय  उष्ट देश के राजा यम की रानी पांचवें गणधर सुधर्म के पिता एक परमार वंशी राजा भगवान महावीर का ३१ वां पूर्वभव नवें गणधर अचल की माता एक दक्षिणी नरेश  अन्तिम कुलकर विभीषण अश्वप्रीव की माता राजा दिधवाहन की रानी निर्गुन्द देश के एक राजा पल्लव देश के एक नरेश शारिहल्य ब्राह्मण की स्त्री भगवान महावीर का प्रथम पूर्व भव एक दक्षिणी नरेश गौतम गणधर की माता प्रथम नागयण के पिता	मुख्य २३० २३० २३४ २३४ २३४ २३४ २३४ २३४ २३४ २३४ २३४ २३४
	प्रथम नारायण के पिता	800
प्रद्योतन	एक उज्जयिनी नरेश राजा उद्दायन की रानी	२३१ २३०
प्रभावती प्रसेनजित	एक दक्षिणी नरेश	२३२ ४४
प्रियकारिणी प्रियमित्र चलविप	वीर भगवान की माता भ० महावीर के २६ वे भव का नाम ग्यारहवें गणधर प्रभास के पिता ऋषभदेव के पुत्र	१७४ २१२ २७०
बाहुबली	अध्यक्षरंत क उ	

## ( ४६२ )

नाम	परिचय	ā3
भद्दिला	पांचवें सुधर्म गणधर की माता	280
भद्रा देवी	प्रभास गणधर की माता	282
भरत चकी	ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र	२८७
भीष्म	पांडवों के दादा	१३४
भूरामल	प्रस्तुत काव्य-कर्ता	१७
<b>मयूरराज</b>	प्रथम प्रतिनारायण के पिता	१७०
मरीचि	भरत का पुत्र	१६७
मरुद्वी	ऋषभदेव की माता	१६६
मल्लिका	राजा प्रसेनजित की रानी	२३२
माचिकव्वे	राजा मारसिंगच्य की स्त्री	२३४
मान्धाता	एक दक्षिणी नरेश	२३४
मारसिंगय्य	एक दक्षिणी नरेश	२३४
मुरारि	श्रीकृष्ण	२६७
मृगावती	प्रथम नारायण की माता	१७०
मौर्य	सातवें गणधर के पिता	288
यमपाश	चारहाल	२६६
राजमुनि	एक पौराणिक मुनि	२६४
लक्ष्मीमती	सेनापति गंगराज की पत्नी	२३६
वज्रवेम	भ० महावीर के २७ वें भव के पिता	१७३
	श्री कृष्ण के पिता	225
वसुदेव	गौतम गणघर के पिता	305
वसुभूति	तवें गणधर के पिता	288
वसुविप	चौथे गणधर की माता	२१०
वारुणी	राजा विक्रमादित्य	23%
विकसराज विजया	होजा विक्रमादित्व छठे गणधर की माता	२१०

	( ४६३ )	
नास	परिचय	gs.
विद्युच्चर	एक प्रसिद्ध चोर	
विद्यु चौर	27	575
विमला	सुद्दि सुनार की स्त्री	२३१
विशाखनन्दी	भ० महाबीर के १७ वें भव का चचेरामा	४३६
विशाखभूति	विशासनन्दा के पिता	
विश्वनन्दी	भ० महावीर के १७ वें भव का नाम	338
विश्वभूति	विश्वनन्दी के पिता	१६=
बिष्णुचन्द्र	एक दक्षिणी नरेश	१६८
विष्णु वर्धन		२३६
वीरमती	भ० सहात्रीर के ३१ वें भव की माता	२३४
बीर बल्लाल	एक दक्षिणी नरेश	१७४
	एक काशी नरेश	२३४
शङ्ख राजा		२३०
शास्डिल्य	भ० महाबीर के १४ वें भव के पिता	१६५
शान्तला	एक दक्षिणी नरेश् की पत्नी	२३४
श्चिव	एक हस्तिनापुर नरेश	२३०
शिव	<b>महादेव</b>	3%5
शिवादेवी	राजा प्रचोत की रानी	२३१
शृङ्गारदेवी	राजा धारावंश की रानी	२३६
श्री पहुद्महादेवी	मान्धाता की पत्नी	२३४
श्री विजय	प्रयम बलभद्र	१७०
श्रेणिक	मगध नरेश बिम्बसार	२२६
सतानिक	एक कौशम्बी नरेश	२३०
		238
सतरस	एक दक्षिणी नरेश	3=
सिद्धार्थ	वीर भगवान के पिता	२३२
सिंहयशा	सम्राट् खारवेल की रानी	11,

### (848) परिचय नाम ā5 सुद्दिट एक सुनार 254 सुमित्र राजा भ० महाबीर के २६ वें भव के पिता 808 राजा दशरथ की रानी सुप्रभा २६१ सुव्रता रानी भ० महाबीर के २६ वें भव की माता 808 सौगत बौद्ध 888 हरियव्वरसि एक दक्षिणी रानी २३४ भौगोलिक नाम-सूची अलकापुरी एक विद्याधरपुरी 240 उज्जयिनी मालव राजधानी 738 उष्ट देश एक प्राचीन देश २३२ कद्म्ब देश एक दक्षिणी देश २३४ कनकपुर एक पौराणिक नगर 900 काशी वाराणसी २३० वीर-जन्म भूमि 27 कुरहपुर कोटि वर्ष लाड़ देश की राजधानी 230 280 कोल्लाग ग्राम मगध देश का एक प्राम २३० कौशाम्बी एक प्राचीन नगरी 20 गङ्गा भारत की प्रसिद्ध नदी 308 गोबर ग्राम मगध देश का एक प्राम 398 अंग देश की राजधानी चम्पा 302 एक पौराणिक नगरी छत्रपुरी 8= जम्बू द्वीप मध्य लोकस्थ प्रथम द्वीप 288 तुङ्गिक सन्निवेश मगध देश का एक प्राम

900	( ४६% )	
नाम	परिचय	
द्शार्ण धातकी खरड	मध्य प्रदेश का एक देश मध्य छोकस्य द्वितीय द्वीप	ā8
निग्न्द देश	एक दक्षिणी देश	२३० १७२
पल्छव देश पुरहरीकिणी नगरी	" " एक पौराणिक नगरी	<b>२३३</b> <b>२३३</b>
पुष्कल देश पूनल्लि याम	एक पौराणिक देश एक दक्षिणी प्राम	908 908
भारतवर्ष	हिन्दुस्तान	२३३
मथुरा महीशूर	प्रसिद्धपुरी मेसूर	38 १६६
<b>मिथिछापुरी</b>	जनकपुरी	२३३ २११
मौर्यप्राम मंगलावती	मगध देश का एक प्राम एक पौराणिक नगरी	२१०
रजताचल	विजयार्धपर्वत	१७२ १७२
राजगृह राजपुरी	विहार का प्रसिद्ध नगर हेमांगद देश की राजधानी	२१२ २२६
वीतभयपुर	सिन्धु देश की राजधानी	930
विदेहदेश	विहार प्रान्त का एक देश	{ ? ? ?
वैशाली साकेत	वडजी जनपद की राजधानी	२३० १७३
साकत सिन्धु हस्तिनागपुर	श्चयोध्यापुरी कोसल की राजधानी प्रसिद्ध नदी प्रसिद्ध नगर	<b>२०</b> <b>२३०</b>

## ( ४६६ )

# : वीरोदय-गत-सूक्रयः :

	सूक्तयः	g8
अगदेनैव निरे	ति रोगः।	55
बानेकशक्यात्म	कवस्तु तत्त्वम्।	288
बात्सम्य होचे वि	स्वद्वाग्विसर्गः।	२८४
वार्थिकयाकारि	तयाऽस्तु वस्तु ।	787
च्यक्तित्वमेकत्र	च नास्तितापि।	252
त्र्यहो निज्ञाया	मिप अर्थमोदितः।	१३८
च्यहो मरीमर्ति	र्विकलाकलत्रः।	882
आचार एवाभ	यदयप्रदेशः ।	२६१
ज्यान्या यथा र	वस्य तथा परस्य।	२४३
मित्रमाणां त	यो दासः स दासो जगतां भवेत्।	१३३
विक्रमाणि वि	जित्येव जगन्जेतृत्वमाप्र्यात्।	933
	हीय रजःसमहः पतीच्छरस्यव तथायमृहः।	
क्रमं त्रासी फ	छति स्त्रयं तिन्नजात्मनीत्येव वदन्ति सन्तः ॥	२४३
	जियतेर सच्छे ।	25%
जन्मागामा	तरु रसालं फलं श्रुणत्यङ्गभृते त्रिकालम्।	X
चपद्रुताउच्य	त्क रवे: प्रभाव:।	5
C	रीज गहलांत वर्ता ।	१०६
ऋदि वारजन	यमयीयमिष्ट्रियतः समुत्या स्वयमेव सृष्टिः।	308
एव तु पड्र०	क्षायामाठ्यसम्बद्धाः	२७७
एवाऽमृताक	: स्फुटनस्य पेया ।	२७०
किन्नाम मूल्य	ं बलविकमस्य । ६ नरेने सम्बर्ध	४३
कणा चकारा	हिपतेन धाता।	488
कर्तव्यमञ्चेत	स्ततं प्रसन्नः।	25
कलिनुं वर्षा	वसरोऽयमस्तु ।	

## ( 840 )

## स्कतयः

A A A A A A A A A A A A A A A A A A A	
कस्मै भवेत्कः सुखदुःखकर्ता स्वकर्मतोऽङ्गी परिपाकभर्ता।	त्र
किं कदेतन्मयाऽवोधि कीह्शी मिय वीरता।	२४३
िया सम्भवनात्माता मोत्रे क्या ।	१६१
कोषेकवाञ्छामनसन्द्रधाना वेद्यापि	१२३
गतं न शोच्यं त्रिदुपा समस्तु गन्तव्यमेवाश्रयणीयवस्तु ।	38
को नाम बाब्छेच्च निशाचरत्वम्।	282
गन्तुं नभोऽवाञ्छद्तोऽप्यधस्तात् ।	98
गायक एव जानाति रागोऽत्रायं भवेदिति।	१६
गुणभूमिहिं भवेद्विनीतता	२२४
गणं जनस्यानुभवन्ति सन्तः।	888
गुण सदवानुसरेदरोषम् ।	Ę
गुण सद्वानुसर्दरायम् ।	RXX
ग्रामा लसन्ति त्रिदिवोपमानाः ।	38
जलेऽव्जिनीपत्रवदत्र भिन्नः सर्वत्र स ब्राह्मणसम्पदङ्गः।	२२०
जित्वाऽक्षाणि समावसेदिह जगज्जेता स आसप्रियः।	240
जीयादनेकान्तपदस्य जातिः।	३०२
झब्झानिलोऽपि किं तावत् कम्पयेन्मेरुपर्वतम् ?	१६३
तच्चन्द्राश्मपतत्पयोधरमिषाच्चन्द्रप्रहो रोदिति।	32
तपोधनश्चाक्षजयी विद्योकः न कामकोपच्छलविसमयौकः।	
शान्तेस्तथा संयमनस्य नेता स त्राह्मणः स्यादिह गुद्धचेताः॥	388
	TX.
तर्के रुचि किन्न समुद्धरेयम् ?	२६६
तुल्यावस्था न सर्वेषाम्।	२६३
त्रयात्मिकाऽतः खलु वस्तुजातिः ।	90
त्रिविष्टपं काव्यमुपैम्यहन्तु ।	88
कार करिकारियाचे कियात	8
द्धास्यहं सम्प्रति वालसत्त्वं वहन्निदानीं जलगेन्दुतत्त्वम्।	
341,46 4,410 4100,41	

## ( 845 )

सूक्तयः	ăB
हम्देवतानामपि निर्निमेषा।	33
े . ८ को चित्रमते तस्यात्र सहिरिका का स्थात !	578
दोषानुरक्तस्य खलस्य चेश काकारिलोकस्य च को विशेषः	38
द्राच्चेव याऽऽसीन्मृदुता-प्रयुक्ता ।	80
प्राचित्रकत् ज्यातोऽस्त नीतिः।	328
वर्गेद्यात्मविकासे नेकस्यवास्ति नियतमधिकारः।	
योऽनष्टातं यतते सम्भाल्यतमस्तु स उदारः।।	२६६
न काचिदन्या प्रतिभाति भिक्षा।	50
न कोऽपि कस्यापि बभूव वश्यः।	१६
न नामलेकोरपि च साधतायाः।	87
नम्रीभवन्नेष ततः प्रयाति हियेव संल्लब्धकलङ्कजातिः।	38
न यामिनीयं यमभामिनीति ।	870
नरो नरीतर्ति कुचोध्मतन्त्रः।	88=
ज्ञां च मोक्त भशकत्सहसात्र प्तः।	३३२
जानिधानेकविचित्रवस्त स बाह्मणो बुद्धिविधानिधानः।	२२०
नारी विना क नुश्छाया निःशाखस्य तरोरिव।	१३१
नार्थस्य दासो यशसश्च भूयात्।	२८३
नित्यं य पुरुषायतामद्श्वान् वीरोऽसकौ सम्प्रति ।	३४७
तिनादिनो वारिमुचोऽप्युदाराः।	२८
नित्वचिमिकभावतस्त रूपान्तरं सन्द्धदास्त वस्तु।	308
निम्बादयश्चन्दनतां लभन्ते श्रीचन्दनद्रोः प्रभवन्तु श्रन्ते।	२२२
निशाचरत्वं न कदापि यायात्।	२२१
निहन्यते यो हि परस्य हन्ता पातास्तु पूज्यो जगतां समस्तु ।	
किमङ्ग न ज्ञातमहो त्वयेव दगक्षनायाङ गुलिरिक्तिव ॥	२४२
नीलाम्बरा प्रावृहियं च रामा रसौघदात्री सुमनोभिरामा।	६०

## ( 888 )

सूक्तयः	
	ã8
नृलोकमेषा प्रसते हि पूतना	938
परस्य शोषाय कृतप्रयत्नं काकप्रहाराय यथैव रत्नम्।	38=
परस्याचात एव स्यादिगान्ध्यमिति गच्छत:।	१२७
पराधिकारे त्वयनं यथाऽऽपन्निजाधिकाराच्च्यवनं च पापम	250
परित्यजेद्वारि अगालितन्तु श्रीत्राह्मणोऽन्तः प्रभुभक्तितन्तः।	२२१
पापप्रवृत्तिः खलु गहणीया ।	3%8
पापाद् घृणा किन्तु न पापिवर्गात्।	248
पापादपेतं विद्धीत चित्तं ।	348
पापं विमुच्येव भवेत्पुनीतः स्वर्णं च किट्टिप्रतिपाति हीतः।	248
पितुर्विलव्धाङ गुलिमूलतातियथेष्टदेशं शिशुकोऽपि याति।	8
पीडा ममान्यस्य तथेति ।	398
प्रायोऽस्मिन् भृतले पुंसो बन्धनं स्त्रीनिबन्धनम्।	१३१
कल्याणकुम्भ इव भाति सहस्ररिमः।	30
बलीयसी सङ्गतिरेव जातेः।	३२४
भुवने लब्धजनुषः कमलस्येव मादृशः।	
क्षणादेव विपत्तिः स्यात्सम्पत्तिमधिगच्छतः ॥	१४३
मनस्वी मनसि स्वीये न सहायमपेक्षते।	१६३
मनुष्यता ह्यात्महितानुवृत्तिर्न केवलं स्वस्य सुखे प्रवृत्तिः।	२४३
मितो हि भूयादगदोऽपि सेव्यः।	37
मुख्चे दहन्तां परतां समख्चे त्।	२८४
मूळोच्छेदं विना वृक्षः पुनर्भवितुमर्हति ।	२०७
मृदङ्गिनःस्वानजिता कलापी ।	60
	१६३
यस्त्रथा खलु घीराणामपि रोमाञ्चकारिणी।	388
यदभावे यन्न भवितुमेति तस्कारणकं तत्सुकथेति।	28
यस्मात् कठिना समस्या ।	

( 800 )	
सूक्तयः	<b>ब्र</b> ड
रसायनं काव्यमिदं श्रयामः।	3
रसोऽगदः स्नागिव पारदेन ।	558
राजा सुनाशीरपुनीतधामा।	२६
रात्रौ गोपुरमध्यवर्ति सुलसच्चन्द्रः किरीटायते ।	३४
रुषेव वर्षा तु कृतप्रयाणा ।	३२७
छता यथा कौतुकसंविधाना ।	83
लोकोऽयं सम्प्रदायस्य मोहमङ्गीकरोति यत्।	१४७
वर्षेत्र पूर्णोदरिणी रराज ।	83
बाञ्छा वन्ध्या सतां न हि ।	१२३
वाणीव याऽऽसीत्परमार्थंदात्री ।	४६
विकीर्यते स्वोदरपूर्तये सटा।	888
विशोऽपि चेन्मांसभुगस्ति निन्दाः सद्वृतभावाद् वृषछोऽपि व	न्दाः २४४
विभूषणत्वेन चतुष्पथस्य हिमे बभावाऽऽत्मपद्कशस्यः।	378
विभेति मरणाद्दीनो न दीनोऽश्रामृतस्थितिः।	१६१
विश्वमभरस्याद्य सती कृपा तु सुधेव साहाय्यकरी विभातु।	54
विस्फालिताक्षीत्र विभाति धात्री।	३२६
वीरता इस्त्रिभावश्चेद्भीरुता कि पुनर्भवेत् ?	१६१
वारता शास्त्रमावरपद्भारता । क उत्तर्मन ( !	22.0
शपन्ति चुद्रजन्मानो व्यर्थमेव विरोधकान्।	१६२
सत्यात्रहप्रभावेण महात्मा त्वनुकूलयेत् ॥	8==
शरीरमेतत्परमीक्षमाणः वीरो बभावात्मपदैकशाणः।	२७७
शरीरहानिर्भवतीति भूयात्।	23
श्राह्मधरसुपमेवाऽऽह्णादसन्दोहसिन्धुः।	385
शान्तेस्तथा संयमनस्य नेता स ब्राह्मणः स्यादिह शुद्धचेताः।	200
श्रोत्रविद्वरलो लोके छिद्रं स्वस्य प्रकाशयेत्।	822
श्रुणोति सुखतोऽन्येषामुचितानुचितं वचः ॥	1000

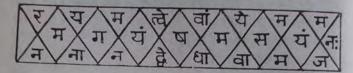
## (808)

सूक्तयः	43
सक्चरेदेव सर्वत्र विहायोच्चयमीरणः )	944
नःगान्यायिना तस्मात्संप्राह्यस्त्याग एव हि ।	200
न आति श्राखोः पिशुनः सजातः।	=
्राच्या महायम् ।	१०३
व्याजियताशेषपरिच्छदोऽपि अमुत्र सिद्धच दुरितकलापी।	3=x
यस्वादमानन्दकरं द्धाति ।	२७
सरसम्बल्चेटा सानुकूला नदीव।	78
मरोजल व्योमतलं समानम्।	३२७
मनमान एव मखदस्तीर्थेश्वरे किम्पुनः।	00
सदर्जना प्रथपरम्परा वा विश्राजते धनुत्तिः स्वभावात्।	57
मधेव साधो रुचिराऽथ सुक्तिः।	Ę
सवर्णमर्तिः कवितेयमार्था लसत्पद्न्यासत्येव भायो ।	१२
मंविद्त्रपि संसारी स नष्टो नश्यतीतरः।	
नावत्यहो तथाप्येवं स्वयं यममुखे स्थितम् ॥	388
स्मरस्तु साम्राज्यपदे नियुक्तः ।	३३०
स्यात्सफलोऽपि भाग्यात् ।	50
स्वप्नवृत्दमफलं न जायते।	60
स्वस्थितं नाश्चनं वेत्ति वीक्षतेऽन्यस्य लाव्छनम्।	
चक्षर्यथा तथा लोकः परदोषपरीक्षकः ॥	888
खार्याच्च्यतिः स्वस्य विनाशनाय ।	588
हा शीताऽऽकमगोन यात्यपि दशां संशोचनीयां जनः।	878
हिंसामुपेक्ष्येव चरेत्किलार्थः ।	03,9
हिंसां स दूपयति हिन्दुरियं निरुक्तिः।	332
ह्यीकाणि समस्तानि माद्यन्ति प्रमदाऽऽश्रयात् ।	१३२

\*××

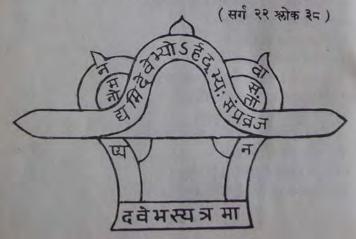
## गोसूत्रिक बन्ध रचना-

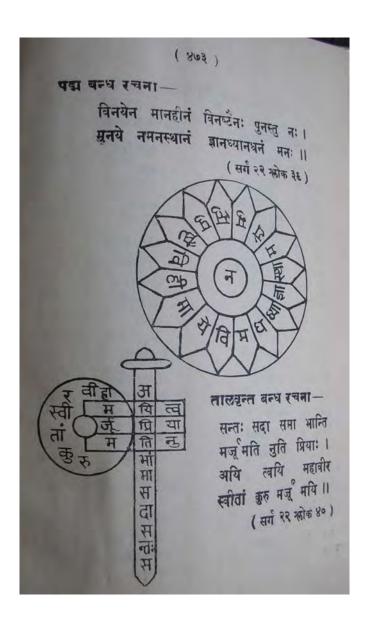
रमयन् गमयत्वेष वाङ्मये समयं मनः । न मनागनयं द्वेष-धाम वा सभयं जनः ॥ (सर्गं २२ ऋोक ३७)



## यान बन्ध रचना-

न मनोद्यमि देवेम्थोऽईद्भ्यः संव्रजतां सदा। दासतां जनमात्रस्य भवेदप्यद्य नो मनः ॥





# शुद्धि-पत्र

पत्र	पंक्ति	শ্বযুদ্ধ	शुद्ध
2	38	शरीरिक	शारीरिक
२२	20	जनः	जनाः
8		कहते	करते
88	85		स्वरसेन
१६	2	इस	इन
१६	×	कोऽपि चित्तं	कोपि चित्तं
20	x	दुरितान्धारके	दुरितान्धकारके
38	38	चारितस्तत्	वारितस्तत्
20	5	लासि गुणः	लासिगुण:
28	2=	को व्यक्त	<b>ठयक्त</b>
34	28	गोपु	गोपुर
88	20	गुणों	गुणों के
88	20	तत्वदाधान	तत्पदाधीन
Xq	25	निनिर्माय	विनिर्माय
78	१६	समतां	स मतां
६६	U	वसित्वाऽप्य	वसिस्त्राऽप
400	20	तथा स्याः	तथाऽस्याः
54	8	सुदेव्या	सुद्देव्यः
55	20	वश्य:	वश्यो
03	28	तदा	स्तदा
23	3	भो भोजनाः	भो भो जनाः
83	28	नर्तिमुखेन	नतिं मुखेन
१०३	x	'विषट'	'विटप'

## ( 80% )

280	88	सरिताम्	सारिनाम्
880	20	कि अब	कि देहरे! अब
285	39	कुवलप्रकारान्वये	कुवलप्रकरान्वये
883	5	जिनभक्तिसत्तुगः	जिनभक्तिसत्त राः
१२४	×	तटता	सदता
१२५	2	की वासना से	वामना से
359	X	संसेजन्	संसजेत्
883	8	नूतनं तमः	नूतनं वयः
88%	88	होने	होने से
920	25	कोरकारणाम्	कोरकाणाम
822	v	तादशं	तादृक्षं
१६०	2	जाक	जाकर
१६४	१२	देती है,	देते हैं,
१६४	82	ककुल्पाः	ककुल्याः
785	5	नि:सारवाली	नि:सारतावाली
800	3	वशाख	विशाख
१७१	5	कञ्चिन्	कश्चिन्
१७४	88	हितकारीणी	हितकारिणी
850	१३	लगाकर	लगातार
१८२	२०	शीतलं	सुशीतलं
₹=३	2	करता है। तथा	ऋर्थान् ब्रीष्म कालमें लोगों लोगों के द्वारा बरावर पंखे की हवा ली जाती है। तथा
PEK	Ł	স্থানাহা	श्राकाश में

### ( 865 )

१६८ ४ मानस्तंभों के इधर ऋौर उस श्रेष्ठ खाई से उधर पुष्प-त्राटिका थी। खाई के बाहरी भाग में मानस्तंभ थे और खाई के भीतरी भाग पर पुष्प-बाटिका थी।

मयाऽम्बुधे-

तन्भृत्त-

नासी-

जिसमें

च निरेति तेन आदिक

एवं रेकरूपा सत्याख्ययोः ऋवसर्पिणी प्रचेताः मम्बेति में माता की

२८४ २२ नारकीय या २८६ १० तन्तु २८७ ६ पुरोरबाह्यः

१७ में

२८२

तन्तुः पुरोरबाह्यं भृताऽवगाह्यं

नारकीय

२८७ ६ भृताऽवगाद्यः २८७ १० रूप सृत्र २८८ ७ हुए से

सूत्र हुए दो वाढं

२६० १० वाढ २६० १३ मंत्रों के

मंत्रों के अर्थ के

२६१ १ अपेक्षा

उपेक्षा

## (800)

787	20	मानने	मानते
		ततोस्तु	तयोस्त
		तमाममीमां सकनाम कोऽपि	तमां स मीमांसकनामकोऽपि
300	१३	सा ान्यमूर्ध्व	सामान्यमूध्व
३०२	Ę	बढ्वानल	बहवानल
३०२	23	'ऋप्'	'श्रापः'
३०६	2=	जिस एक वनस्पति रूप	जिस वनस्पति में एक
३०६	39	<b>उसे</b>	उसे संसार के दु:ख नष्ट करने वाले
३०६	20	जिस एक वनस्पति रूप	जिस वनस्पति में एक
300	88	सभी वायुकायिक	इन सभी स्थावर कायिक
		यह वायु भी	ये सभी
300		हो जाती है	हो जाते हैं
385			भेद्मवैति
३१८	१०		ज्ञान में दु:खातीत सर्वज्ञ ने कहा है, ऐसा जानना चाहिए
३२४	28	रिस्फुर-	परिस्कुर-
		लाशयं	जलाशयं
३२७		मुष्ठिमारात्	मुब्छिनारात्
३३२		करके	करने
334		उनसे	जो विक्रम से
389	2		हम्बर
340	90	त्ययि	त्वयि